जैनदर्शनसार

(तृतीय भाग)

108 आचार्य श्री धर्मभूषण जी महाराज

सम्पादक

डॉ. नरेन्द्रकुमार जैन

डॉ. नीलम जैन

प्रकाशक

श्री दिगम्बर जैन मन्दिर समिति

कविनगर, गाजियाबाद (उ० प्र०)

108 आचार्य श्री धर्मभूषण जी महाराज
के प्रवचन एव जैनधर्म, दर्शन, आचार विषयक
तीन भागों में निबद्ध
जैनदर्शनसार का तृतीय भाग

सम्पादक :
डॉ. नरेन्द्रकुमार जैन, *उपाचार्य*, गाजियाबाद
डॉ. नीलम जैन, गाजियाबाद

प्रकाशक :
© श्री दिगम्बर जैन मन्दिर समिति
कविनगर, गाजियाबाद (उ॰प्र॰)

प्रबन्ध संयोजक :
श्री बी॰ डी॰ जैन
II-A-128, नेहरु नगर, गाजियाबाद
फोन - 2792298

प्रथम सस्करण : सन् 2003
मूल्य तीनो भाग : 100/-

प्राप्तिस्थान :
श्री पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर
कविनगर, गाजियाबाद (उ॰प्र॰)
फोन - 2711083

●

श्री नवनीतकुमार जैन
86, ठठेर वाड़ा, मेरठ शहर
फोन - 2520073

मुद्रक :
दीप प्रिंटर्स
70ए, रामा रोड, इन्डस्ट्रियल एरिया
न्यू दिल्ली - 110015
दूरभाष : 25925099

वीतरागी ही पूज्य है

णमोकार मंत्र जैसा मन्त्र नहीं

वीतरागी जैसे देव नहीं

निर्ग्रन्थ जैसे गुरु नहीं

अहिंसा जैसा धर्म नहीं

आत्मध्यान जैसा ध्यान नहीं



वीतराग ही धर्म है

मिथ्यात्व का वमन

सम्यक्त्व उत्पन्न

कषायों का शमन

इन्द्रियों का दमन

आत्मा में रमण

आचार्य परम्परा
में
१०८ आचार्य श्री धर्मभूषणजी महाराज



परम पूज्य आचार्य १०८ श्री शान्तिसागर जी महाराज (छाणी)

परम पूज्य आचार्य १०८ श्री सूर्यसागर जी महाराज

परम पूज्य आचार्य १०८ श्री विजयसागर जी महाराज

परम पूज्य आचार्य १०८ श्री विमलसागर जी महाराज (भिण्डवाले)

परम पूज्य आचार्य १०८ श्री निर्मलसागर जी महाराज

समकालीन – परम पूज्य आचार्य १०८ श्री जयसागर जी महाराज

परम पूज्य आचार्य १०८ श्री शान्तिसागर जी महाराज (हस्तिनापुर वाले)

परम पूज्य आचार्य १०८ श्री धर्मभूषण जी महाराज



बाल ब्रह्मचारी, प्रशान्तमूर्ति आचार्य 108
श्री शान्तिसागरजी महाराज (छाणी)



जन्म तिथि	- कार्तिकबदी एकादशी वि०सं० 1945 (सन 1888)	मुनि दीक्षा	- भाद्र शुक्ला 14, सन् 1923
जन्म स्थान	- ग्राम छाणी, उदयपुर (राजस्थान)	स्थान	- सागवाड़ा (राजस्थान)
जन्म नाम	- श्री केवलदास जैन	आचार्य पद	- सन् 1926
पिता का नाम	- श्री भागचन्दजी जैन	स्थान	- गिरीडीह (झारखड प्रान्त)
माता का नाम	- श्रीमती माणिकबाई	समाधिमरण	- 17 मई 1944 ज्येष्ठ बदी दशमी
क्षुल्लक दीक्षा	- सन् 1922 वि०सं० 1979	स्थान	- सागवाड़ा (राजस्थान)

परमपूज्य आचार्य 108 श्री सूर्यसागरजी महाराज

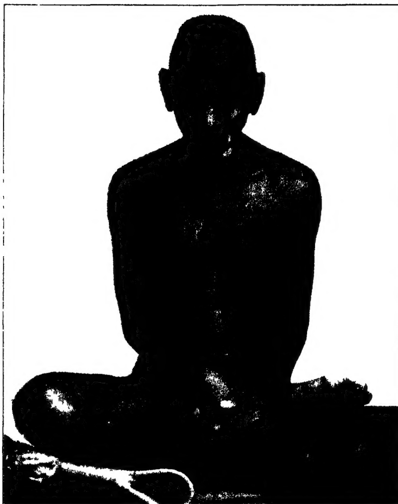


जन्म तिथि - कार्तिक शुक्ला नवमी वि॰स॰ 1940 (सन् 1883)
जन्म स्थान - प्रेमसर, जिला - ग्वालियर (म॰प्र॰)
जन्म नाम - श्री हजारीलाल जैन
पिता का नाम - श्री हीरालालजी जैन
माता का नाम - श्रीमती गैंदाबाई
ऐलक दीक्षा - वि॰स॰-1981 (सन् 1924) (आ॰ शान्तिसागरजी)
स्थान - इन्दौर (मध्य प्रदेश)

मुनि दीक्षा - 51 दिन पश्चात् आचार्य शान्तिसागरजी (छाणी)
स्थान - हाटपीपल्या, जिला - देवास (म प्र)
आचार्य पद - वि॰ स॰ 1985 (सन् 1928)
स्थान - कोडरमा (झारखण्ड)
समाधिमरण - वि॰ स॰ 2001 (14 जुलाई 1952)
स्थान - डालमिया नगर (झारखण्ड)
साहित्य क्षेत्र में - 33 ग्रन्थों की रचना की।

108 आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज (हस्तिनापुर वाले)

संक्षिप्त जीवन परिचय



जन्म दिवस	-	श्रावण शुक्ल 2, वि०स० 1972
गृहस्थ नाम	-	सुखराम
जन्म स्थान	-	ग्राम अलावडा (अलवर) राज०
माता	-	श्रीमती चन्दना जी
पिता	-	श्री छोटेलाल जैन
धर्मपत्नी	-	श्रीमती चन्द्रकला जैन
ब्रह्मचर्य	-	वि० स० 2012 में
मुनि दीक्षा	-	मुजफ्फरनगर मे सम्वत् 2028 मे आचार्य 108 श्री निर्मलसागर जी महाराज से
आचार्य पद	-	दिनाक 3.11 1979 को हस्तिनापुर में आचार्य 108 श्री जयसागर जी महाराज के आशीर्वाद एव अनुमोदन से
समाधि	-	सन् 1996 में, फिरोजपुर झिरका (हरियाणा)

108 आचार्य श्री धर्मभूषण जी महाराज के संघ की आचार संहिता

1 सघ के साथ कोई आर्यिका, क्षुल्लिका व ब्रह्मचारिणी नही रहेगी।
2 संघ के त्यागीगण आहार व विहार के समय किसी भी प्रकार के बाज साज नही बजने देगे।
3 कोई भी त्यागी अपनी जन्म-तिथि व दीक्षा-तिथि नहीं मनवायेगे।
4. सघ के आहार के पश्चात् किसी प्रकार का प्रसाद नही बटेगा।
5. किसी भी सस्था या मन्दिर निर्माण के लिए, सघ का कोई भी त्यागी चदा एकत्रित नही करेगा।
6 आचार्य पुष्पदन्त, भूतबली एव कुन्दकुन्द -आम्नाय के किसी भी ग्रन्थ का (चाहे वह कहीं से भी प्रकाशित हो) निषेध नही किया जायेगा और न ही जिनवाणी माँ का अपमान होने देंगे।
7 अग्नि मे धूप डालना, दीपक से आरती उतारना, निर्वाण दिवस के दिन किसी भी प्रकार का मीठा लड्डू चढ़वाना, सामग्री मे हार-सिगार के फूल का प्रयोग, पचामृत एव स्त्री द्वारा अभिषेक, भगवान को चदन लगाना व हरे फूल एवं फल चढाना, इन बातो का इस सघ मे कोई समर्थन नही होगा।
8. कोई भी संघस्थ त्यागी वीतराग भगवान के सिवाय पद्मावती, क्षेत्रपाल व अन्य किसी भी देवी- देवताओ का किसी भी प्रकार से प्रचार-प्रसार नही करेगा।
9. आहारचर्या के समय किसी भी सघस्थ त्यागी का हरे सचित्त फलो से पडगाहन नही होगा।
10 किसी भी सघस्थ त्यागी की दीपक आदि द्वारा आरती नही होगी।
11 पिच्छीधारी किसी भी त्यागी को वाहन का उपयोग करने की आज्ञा नही होगी।
12 सघस्थ कोई भी साधु अपने पास पिच्छी, कमण्डल व शास्त्र के अलावा अन्य किसी प्रकार का परिग्रह नही रखेगा।
13. रात्रि मे तेल–मालिश का निषेध होगा।
14. सघ मे पखा, कूलर व हीटर, टेलीफोन, मरकरी, लाईट, एयर कडीशन और मच्छरदानी एव इसी प्रकार के अन्य साधनो का कोई भी त्यागी उपयोग नही करेगा।
15 आचार्य श्री की आज्ञा के बिना सघ मे कोई कार्य नही होगा।
16 त्यागियो द्वारा महिलाओ से चरणस्पर्श कराना वर्जित है। सूर्यास्त के पश्चात् महिलाओं का मुनियो के पास आना वर्जित है।
17 सघ के साधुओ द्वारा नकली दाँत लगाकर आहार लेना व दातार द्वारा नकली दात लगाकर देना दानो वर्जित है।
18 सघ के कोई भी त्यागी हल्दी, टमाटर, पपीता, भिण्डी, तरबूज, पत्ती वाली वनस्पति, आडू, लीची व टाटरी आदि का उपयोग नही करेंगे व गैस व कुकर का बना भोजन नही लेंगे।
19 सघ का कोई भी त्यागी ऐसे मच पर नहीं जायेगा जहा हरे फूलों का उपयोग किया गया हो।
20. सघस्थ साधुओं (मुनियों, ऐल्लक, क्षुल्लक) के केशलुञ्च का कोई समारोह नही होगा एव इसकी कोई पत्रिका भी नही छपेगी।
21 सघ का पिच्छीधारी कोई भी साधु रथयात्रा के साथ नही चलेगा व सघ मे जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमा साथ नही रहेगी।
22 कोई भी साधु व्यक्तिगत कुटिया या मठ बनाकर नही रहेगा एव सामाजिक स्थान उपलब्ध होते हुए किसी श्रावक के निवास स्थान पर नही ठहरेगे।
23 सघ मे कोई भी शिथिलता (जैसे-समय पर सामायिक, प्रतिक्रमण, भक्ति व स्वाध्याय न करना किसी भी प्रकार की विकथा करना) सहन नहीं होगी। अगर कोई त्यागी नियम के विपरीत क्रिया करेगा तो उसे पद छोड़कर जाना होगा।
24 समाज के पक्ष विपक्ष आदि में नहीं उलझना, स्वय आत्मकल्याण मे लगे रहना तथा समाज के लोगो को भी आत्मकल्याण के लिए प्रेरित करना।



108 आचार्य श्री धर्मभूषणजी महाराज

जीवन परिचय

सभ्यता एव सस्कृति की भूमि, कौरव पाण्डवो की कर्मस्थली, भगवान ऋषभदेव की विहारस्थली, तीर्थङ्करो की कल्याणक भूमि के रूप मे प्रसिद्ध धर्मनगरी हस्तिनापुर की प्राकृतिक सुषमा का निकटस्थ साक्षी ग्राम करनावल (मेरठ) पूज्य आचार्य 108 श्री धर्मभूषण महाराज जी की पवित्र जन्म स्थली है। एक लघु शिशु को माता श्रीमती हुकमा देवी जी और पिता श्री डालचन्द्र ने 65 वर्ष पूर्व जन्म दिया था। 2 पुत्रो (श्री सलेक चन्द्र जैन एव श्री रूपचन्द्र जैन) तथा दो पुत्रियो (श्रीमती कमला देवी एव श्री जयमाला जैन) के साथ ही पुत्र प्रेम चन्द्र खेले, पले और बढे। पिताजी की आशीष छाया बहुत कम समय साथ रही। दोनो भाईयो ने ही प्रेमचन्द को पिता तुल्य वात्सल्य प्रदान किया। किसे ज्ञात था कि वह लघु शिशु एक तेजस्वी दिव्यात्मा है जो भविष्य मे विश्व के कल्याण और सुरक्षा हेतु अपना सर्वस्व त्याग देगा। बाल्यावस्था से ही आप धुन के धनी, अपूर्व साहस से सयुक्त और कुछ कर दिखाने की भावना से ओतप्रोत थे। युवावस्था मे भी उनकी स्वतत्र चिन्तनधारा निष्काम साधना की ओर अग्रसर थी, दिनरात यही चिन्तन करते रहते थे कि इस अमूल्य मानव जीवन को किस प्रकार आत्मविकास के मार्ग पर अग्रसर किया जाय। माता-पिता का दिया नाम "प्रेम" उनके अन्तरग और रोम रोम मे बसा हुआ था। युवा प्रेमचन्द ने 15 वर्ष की आयु में विवाह भी किया। पत्नी शीलवती एव धर्म परायणा थी। दो सताने भी हुई पुत्र आदीश जैन और पुत्री अजना जेन। अनमने मन से व्यापार भी किया लेकिन पूर्व जनित सस्कार इस मध्य मे भी उनके साथ रहे। श्रावक के षट्कर्मो का नियमित पालन करते हुए, साधुओं की वैय्यावृत्ति में आपको विशेष आनन्द आता था। पुत्री जब गर्भ मे थी तभी आजीवन ब्रह्मचर्य लेकर गृहस्थ जीवन को साकेतिक तिलाजलि दे दी तथा 17 वर्ष की अवस्था मे ही आपने 108 आचार्य श्री विमलसागर जी महाराज से सयम ले लिया।

कपडा का व्यवसाय भी किया पर वणिक् वृत्ति से नही, मात्र गृहस्थ धर्म का पालन करने हेतु पूर्ण ईमानदारी से। गृहस्थ अवस्था मे वे सदैव यही ध्यान रखते थ कि शाश्वत सुख के लिए राग से विराग की ओर बढ़ना है, अगारी से अनगारी बनना है। गृहस्थ जीवन मे रहते हुए वे कर्तव्यनिष्ठ सामाजिक कार्यकर्ता भी रहे। करनावल वाले विभिन्न क्षेत्रो में प्रदत्त आपके अवदान का आज भी स्मरण कर रोमाचित हो जाते है। एक बार सरकारी योजना बनी कि करनावल मे स्थित तालाबो मे मछली पालन होगा, यह प्राणीमात्र के प्रति करुणा भाव रखने वाले सवदेनशील प्रेमचन्द्र जी को कैसे सहन होता कि उनकी मातृभूमि पर यह नृशस कार्य हो, उन्होने पुरजोर विरोध किया और प्रशासन की इस योजना को निरस्त कराया। देखने मे भले ही कृशकाय थे पर रहे अतुल बलशाली। एक बार गाँव मे डाकू आ गए प्रेमचन्द ने अपूर्व सूझबूझ और शक्ति का परिचय दिया और डाकुओ को गाँव से बाहर खदेड़ा। न जाने

ऐसे कितने प्रसग इनके जीवन के साथ संलग्न हैं। सच में जब व्यापार भी उत्कर्ष पर था और छोटी बेटी और बेटे किशोर भी नहीं हुए थे तभी आचार्य 108 श्री विमलसागर जी महाराज से स्वीकृत आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत का वर्षो तक निरतिचार शीलव्रत का पालन करते हुए मिति फाल्गुन सुदी दशमी वि.स. 2037 मे 15 मार्च 1981 को रामपुर मनिहारान (सहारनपुर) में समाधि सम्राट आचार्य प्रवर गुरु 108 श्री शांतिसागर जी महाराज से क्षुल्लक दीक्षा ग्रहण की और आप ब्र० प्रेमचन्द से पूज्य 105 श्री क्षुल्लक कुलभूषण जी बन गए। संभवतः आचार्य श्री शातिसागर जी (हस्तिनापुर वाले) भी भली भांति जानते थे ऐसे तेजस्वी प्रतिभा सम्पन्न व्यक्तित्व का धनी शिष्य ही मेरे कुल का अलकरण हो सकता है, जैसे शिष्य वैसे ही गुरु और जैसे गुरु वैसे ही शिष्य। न जाने कितने वर्ष प्रेमचन्द्र जी ने छाया की भाति रहकर गुरुचरणो में व्यतीत किए थे। सुयोग्य गुरु को सुयोग्य शिष्य का मिलना सहज नही होता। प्रारम्भ से ही सम्पूर्ण जैन समाज को प्रसन्न और समृद्ध देखने की ही आपकी भावना रही है और अब तो पूर्णतया समाज के ही मध्य हैं।

उत्तर प्रदेश, हरियाणा, दिल्ली आदि जितने भी प्रदेशों में आचार्य श्री के चातुर्मास अथवा विहार हुए वहाँ-वहाँ उनके आशीर्वाद ने मूर्तरूप लिया है। हरियाणा प्रान्त के अम्बाला नगर मे त्यागी भवन, गन्नौर मे शिखर युक्त मन्दिर, धर्मशाला, आचार्य श्री शान्तिसागर हाईस्कूल व डिग्री कालेज, औषधालय, गुहाना मे जैन इण्टर कालिज, सोनीपत मे त्यागी भवन, जैन पाठशाला का विकास एव मन्दिर का जीर्णोद्धार, हासी मे भूगर्भ से प्राप्त 57 प्रतिमाए स्थापित करने हेतु भूमि प्राप्त कर मन्दिर निर्माण, उत्तर प्रदेश मे-गाजियाबाद मे पक्षी चिकित्सालय एवं श्री शांतिनाथ पब्लिक स्कूल (निर्माणधीन), कैराना मे त्यागीभवन, धर्मशाला एव श्री मन्दिर जी का जीर्णोद्धार, सरधना मे कुन्दकुन्द जिनवाणी भवन (शहर), कुन्दकुन्द अतिथि भवन (मण्डी), बावली में औषधालय एव पाठशाला का विकास, छपरौली (मेरठ) मे श्री दि. जैन मन्दिर जी का जीर्णोद्धार, रथ निर्माण, औषधालय, धर्मशाला, त्यागी भवन, प्राइमरी स्कूल, गर्ल्स डिग्री कालेज, रामपुर मनिहारान (सहारनपुर) में त्यागी भवन निर्माण एव श्री सुपार्श्वनाथ दि. जैन मन्दिर का जीर्णोद्धार, नकुड (सहारनपुर) मे त्यागी भवन निर्माण तथा राजधानी दिल्ली के उपनगरों-शाहदरा गली न 10 मे त्यागी भवन, कैलाश नगर मे त्यागी भवन एव धर्मशाला निर्माण अशोक विहार फेज - 1 मे त्यागी भवन का विकास, दिलशाद गार्डन मे विशाल भव्य जैन मन्दिर आपकी ही पावन प्रेरणा एव मगल आशीष का अमृत फल है। शिक्षा के प्रति आपका अनुराग विशेष है। आपकी प्रेरणा से ही गन्नौर (हरियाणा) का विद्यालय तो भारत का वह पहला विद्यालय है जहाँ शिक्षक, विद्यार्थी और कर्मचारी विद्यालय में चमड़े का उपयोग नहीं करते।

महापुरुषों के साथ संघर्ष और उपसर्ग तो सभवतः अपनी उग्रता दिखाये बिना नही रहते, ब्रह्मचारी अवस्था से ही उपसर्ग आपके साथ रहे। एक बार चिलकाना मे मधुमक्खियो ने भयकर आक्रमण किया। सारा समाज दु:ख में डूब गया पर आपने शान्ति से, सहजता से उपसर्ग को सहा। शारीरिक, वैचारिक किसी भी प्रकार की विपरीतता में आप धैर्य नहीं छोड़ते। आप तो अहर्निश यही सोचते है कि मानव मात्र के लिए ऐसी कौन सी व्यवस्था दी जाए जिससे वह भी शांति के वातावरण में जीवन यापन कर सके। ग्राम से लेकर विश्व तक के लिए शांति का सुखद वातावरण निर्मित किया जाय जिससे विषमता

की धू-धू करती ज्वालाएं शांत हो सकें। उनके अन्तरंग में एक संवेदनशील हृदय धड़कता है जिसमें करुणा का सागर हिलोरे लेता है, इसलिए तो क्षुल्लक बनकर भी वे संतुष्ट नहीं हुए और सम्पूर्णता के लिए प्रयत्नशील रहे। लंगोटी और चादर भी परिग्रह है, बोझ है, भार है यह समझकर एक दिन 108 आचार्य श्री शान्तिसागर जी महाराज (हस्तिनापुर वालों) से गन्नौर मण्डी, जिला सोनीपत (हरियाणा) में चैत्र वदी 15 सम्वत् 2051 (10 अप्रैल सन् 1994) को लगोटी के भार से भी निर्भार होकर बन गए पूज्य मुनि 108 श्री धर्मभूषण जी महाराज और समृद्ध कर दी वह पुनीत पावन परम्परा जिसके संवाहक **श्रमणरत्न संतशिरोमणि चारित्र रत्नाकर 108 श्री शांतिसागर जी "छाणी"** आचार्य श्री सूर्यसागर जी, आचार्य श्री जयसागर जी और आचार्य श्री शांतिसागर जी (हस्तिनापुर) महाराज हैं। उर्जस्वित, पवित्र और प्राणवंत होती इस सशक्त विरासत के ही उत्तराधिकारी पट्ट शिष्य हैं **श्री आचार्य 108 श्री धर्मभूषण जी**। मुनिदीक्षा के समय इस भव्यात्मा के धर्मपिता और माता बनने का सौभाग्य मिला श्री मूलचन्द जी जैन मेरठ एवं उनकी धर्मपत्नी श्रीमती सरला देवी को। पूज्य मुनि श्री की साधना अनवरत चलती रही और मुजफ्फरनगर (उ० प्र०) मे ज्येष्ठ सुदी 3 सम्वत् 2054 (8 जून 1997) को उन्हें आचार्य पद प्रदान किया गया। पश्चिमी उत्तर प्रदेश के गौरव **प्रथम आचार्य श्री धर्मभूषण जी** सम्पूर्ण भारत में आज अपनी कठोर तपश्चर्या और सैद्धान्तिकता के कारण विख्यात है। वस्तुतः श्रमणत्व पूज्य आचार्यश्री से धन्य हुआ है। आपके द्वारा 108 मुनि श्री ज्ञानभूषण जी को 8 जून 1997, मुजफ्फरनगर मे, 108 मुनि श्री सम्यक्त्वभूषण जी को 10 मार्च 2000, मेरठ मे, 108 मुनि श्री चारित्रभूषण जी को 10 मार्च 2000, मेरठ में मुनि दीक्षा प्रदान की गई। आपकी पावन प्रेरणा से श्रीमति गुणमाला जैन (अम्बाला), श्रीमति कमला जैन (रामपुर मनिहारन) सातवीं प्रतिमा के व्रत स्वीकार कर चुकी है तथा श्री कैलाश चन्द्र एवं रिपुदमन ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण कर संयम मार्ग पर अग्रसर हैं। श्री शिखर चन्द्र जैन ने आपसे ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण किया और अब मुनि नियमभूषण जी बनकर आपके ही संघ मे विराजमान हैं। आपके द्वारा और भी अनेक गृहस्थ अपने जीवन को संयम मार्ग पर लगा रहे हैं।

चातुर्मास

क्षुल्लक अवस्था में आपके चातुर्मास सन् 1981 में अम्बाला छावनी, सन् 1982 में गोहाना (हरियाणा), सन् 1983 में गन्नौर मण्डी (हरियाणा), सन् 1984 में छपरौली (मेरठ), सन् 1985 में ग्राम बावली (मेरठ), सन् 1986 में काँधला (मुजफ्फरनगर) सन् 1987 में कैलाशनगर, (दिल्ली), सन् 1988 में सोनीपत (हरियाणा), सन् 1989 में हाँसी (हरियाणा), सन् 1990 में छपरौली (मेरठ), सन् 1991मे अम्बाला छावनी, सन् 1992 में रामपुर मनिहारन (सहारनपुर), सन् 1993 में कैराना (मुजफ्फरनगर) मे हुए। मुनि अवस्था में सन् 1994 में कैलाशनगर (दिल्ली), सन् 1995 में अशोक नगर (दिल्ली), सन् 1996 में रामपुर मनिहारन (सहारनपुर), सन् 1997 में कैराना (मुजफ्फरनगर), सन् 1998 में गाजियाबाद, सन् 1999 में गन्नौरमण्डी (हरियाणा), सन् 2000 में सरधना नगर, सन् 2001 में रामपुर मनिहारन (सहारनपुर) तथा सन् 2002 में गाजियाबाद नगर आपके चातुर्मास सम्पन्न कराने का गौरव प्राप्त कर चुके हैं।

आचार्यश्री की प्रमुख विशेषता है प्राणी मात्र के प्रति समभाव और सहृदयता। वे संत हैं, तुलसी ने लिखा है 'संत हृदय नवनीत समाना' नवनीत का गुण यही है कि वह स्वयं तो कोमल, स्निग्ध और शीतल है ही बाहर का जरा सा ताप मिलते ही द्रवित भी हो जाता है, इसी तरह आचार्य श्री भी सांसारिक दुःख से दुःखी प्राणियों को देखकर उनके कल्याण के लिए द्रवित हो जाते हैं। विचारों की उर्जस्वित धारा, पवित्र चिन्तन और दृढ़ संकल्प के साथ गुरुवर ने भारत के विभिन्न प्रान्तों को अपनी चरण रज से पवित्र किया है।

जिनवाणी के प्रति आपका अनुराग अनन्य है आपकी प्रेरणा से नगर-नगर में आगम संरक्षण एवं जिनवाणी जीर्णोद्धार हुआ है आपकी प्रेरणा से आचार्य श्री सूर्यसागर जी द्वारा रचित महत्त्वपूर्ण ग्रंथ **'संयम प्रकाश'** के चार भाग तथा **'श्रावकधर्म'**, **लघु पद्मपुराण**, **जैनधर्म की प्राचीनता**, **भक्तामर स्तोत्र**, **आत्मप्रबोध** आदि ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं, **प्रश्नोत्तरी**, **श्रद्धापुष्प**, **पतित से पावन कैसे बनें** और **जैन दर्शन गणित** आपकी स्वतन्त्र रचनाएं हैं।

वर्तमान में आचार्य श्री ने द्वादश वर्षीय सल्लेखना धारण की हुई है सात वर्ष शेष हैं। जिसके उत्तरोत्तर तप त्याग में वृद्धि करते हुए सम्प्रति वे श्रमणधर्म को गौरवान्वित कर रहे हैं। आचार्य श्री के संघ के सभी त्यागी निर्दोष तपश्चर्या का पालन करते हैं। पूरे संघ का चारित्र हमारे लिए अनुकरणीय है।

मूलोत्तर गुणनिष्ठ, दृढ़ चारित्र पालक, महान् साधक, दिगम्बर सन्त पूज्य आचार्यश्री का चिरकाल तक ज्ञानपिपासुओ को ज्ञानामृत का लाभ मिलता रहे ऐसी हम भावना करते हैं।

---

108 आचार्य धर्मभूषण जी महाराज द्वारा दीक्षित मुनिराजों का संक्षिप्त परिचय

108 श्री ज्ञानभूषण जी महाराज



जन्म तिथि	1 नवम्बर, 1962	जन्म स्थान	दिल्ली
पिता	श्री सुखवीर सिंह	भाई	तीन
माता	श्रीमती समन्दरी देवी जैन	बहन	दो
क्षुल्लक दीक्षा	1993, नौगावा (अलवर)	ब्रह्मचर्यव्रत	1992
ऐलक दीक्षा	1996, आचार्य शान्तिसागर जी द्वारा, फिरोजपुर झिरका (गुडगाव)		
मुनि दीक्षा	8 जून 1997, आचार्य धर्मभूषण जी द्वारा, मण्डी, मुजफ्फरनगर		

108 श्री सम्यक्त्वभूषण जी महाराज



गृहस्थ नाम	श्री अमर चन्द्र जैन	माता	श्रीमती भगवती जैन
जन्म तिथि	सम्वत् 1990	पिता	श्री आनन्दी लाल जैन
	शक् सम्वत 1885	धर्मपत्नी	श्रीमती मुन्नी देवी
जन्म स्थान	बडोदा कान (अलवर)	सुपुत्र	श्री मुकेश जैन
शिक्षा	बी ए, बी एड	ब्रह्मचर्यव्रत	1992
भाई	श्री सुमेरचन्द्र		
सुपुत्रियाँ	छह		
ऐलक दीक्षा	10 नवम्बर 1999, आचार्य कल्याणसागर द्वारा सिद्धक्षेत्र सोनागिरि		
मुनि दीक्षा	10 मार्च 2000, आचार्य श्री धर्मभूषण जी द्वारा, मेरठ		

108 श्री चारित्रभूषण जी महाराज



गृहस्थ नाम	श्री महेन्द्रकुमार जैन	पिता	श्री स्व० डॉ० हरद्वारी लाल
जन्म तिथि	11 नवम्बर 1936	धर्मपत्नी	श्रीमती राजदुलारी जैन
जन्म स्थान	छपरोली (बागपत)	सुपुत्र	तीन
शिक्षा	सिविल इन्जीनियरिंग	सुपुत्रियाँ	दो
सातवी प्रतिमा	7 फरवरी 1995 आचार्य श्री विद्यानन्द जी द्वारा, ऋषभ विहार, दिल्ली		
मुनि दीक्षा	10 मार्च 2000, आचार्य श्री धर्मभूषण जी द्वारा, मेरठ		

प्रकाशकीय

भारत की राजधानी दिल्ली के समीपस्थ औद्योगिक नगरी गाजियाबाद में परमपूज्य आचार्य 108 श्री धर्मभूषण जी महाराज का पावन वर्षायोग हमारे शतसहस्रपुण्यो का अमृत फल रहा। अपनी सैद्धान्तिक दृढ़ता और निर्दोष तपश्चर्या के पालन के लिए विख्यात आचार्य श्री के चरण सामीप्य मे आने के पश्चात् हमने देखा सघस्थ ब्रह्मचारी गण कतिपय डायरियो मे कुछ लिखते रहते है। एक दिन हमने पूछा ब्र० जी आप रात दिन क्या लिखा करते है। ब्र० जी बोले- पूज्य आचार्य श्री सदैव ज्ञान पिपासु एव स्वाध्याय प्रेमी रहे है। कुछ डॉयरियाँ तो इनके द्वारा किए गए सकलन की है एव कुछ हमने गुरुदेव के प्रवचनो को सग्रहीत किया है जिनको हम व्यवस्थित कर रहे है इनसे हमारा ज्ञानोपार्जन भी ही रहा है साथ ही आचार्य श्री के सघ के विशेष नियमो और सिद्धान्तो को लिख देने से परम्परा मे भी इनका पालन होता रहेगा। हमे भी लगा ब्रह्मचारी जी बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहे है। आचार्य श्री के प्रवचनो और सघ के सिद्धान्तो को तो स्थाई रूप से लिखित करके रखना ही चाहिए। हम सबने बैठकर सर्वप्रथम निर्णय लिया कि यदि इन मब प्रवचनो/सकलनो को सुव्यस्थित कराके जैन समाज, गाजियाबाद द्वारा प्रकाशित कर दिया जाय तो यह समाज के लिए बहुत उपयोगी रहेगा तथा समाज की धरोहर बन जाएगे ये ग्रन्थ। हमने पूज्य आचार्यश्री जी से अपनी भावना अभिव्यक्त की, कुछ सकोच के साथ उन्होने यह आदेश देते हुए स्वीकृति दी "भाई देखो मै सदैव नाम ख्याति से दूर रहा हूँ प्रकाशन ऐसा हो जिससे हमारी परम्परा व सघ की गरिमा यथावत् रहे कही भी ऐसा न लगे हम अपने नाम के लिए आज्ञा दे रहे है।" हमने उन्हे पूर्ण आश्वस्त किया। अब समस्या यह थी कि यह लगभग 2000 पृष्ठो का विशाल, अत्यधिक श्रम साध्य कार्य सैद्धान्तिक एव प्रमाणिकता सम्पन्न कैसे हो क्योंकि यह कार्य जैनदर्शन हिन्दी सस्कृत के अध्येता के साथ जैनत्व एव गुरुओ के लिए समर्पित विद्वानो के बिना सभव नही हो सकेगा। हमे भी समाधान मिल गया। इसके लिए हमने हमारे नगर मे विद्यमान डॉ० नरेन्द्रकुमार जैन और डॉ० नीलम जैन से अनुराध किया कि वे अपना अमूल्य समय हमे देकर समाज की ग्रथ प्रकाशन की प्रबल भावना को साकार कर कृतार्थ करे। दोनों विद्वानो ने सहर्ष अपनी सहज स्वीकृति प्रदान की। हम दोनो विद्वानो के प्रति सर्वप्रथम आभार प्रकट करते हैं जिन्होने नि:स्वार्थ भाव एव अत्यधिक निष्ठा से इस महनीय कार्य को सम्पादित कर ग्रथों को श्लाघनीय स्वरूप प्रदान किया। एतदर्थ हम दोनो नि:स्पृह विद्वद्रत्नो के अत्यन्त-कृतज्ञ एव उनके प्रति श्रद्धावनत है।

आचार्य श्री की भावना है कि सरल भाषा में लिखे गये ये ग्रन्थ जन-जन तक पहुँचें और वे इनका सदोपयोग करे इसलिये इन ग्रन्थों को लागत मूल्य से आधे मूल्य पर उपलब्ध कराने का निर्णय लिया गया है। सभी दानवीरो की सूची इन ग्रन्थो के पिछले पन्नो पर छपी हुई है।

इस सुकृत्य के लिए ग्रन्थों के तीनों भागों के प्रकाशन हेतु द्रव्य प्रदान करने वाले धर्म परायण बन्धु भी श्लाघ्य हैं। धार्मिक समाज की जितनी प्रशसा की जाय उतनी कम हैं क्योंकि उसके प्रत्यक्ष/अप्रत्यक्ष सहयोग से ही आज जैनदर्शनसार के तीनो भाग प्रकाशित होकर स्वाध्यायार्थ सम्मुख है।

कुशल मुद्रक श्री रवि जैन, दीप प्रिण्टर्स ने यथासमय सुन्दर छपाई मे ग्रथ मुद्रित कर हमे सौप दिए। एतदर्थ उन्हे हमारा हार्दिक धन्यवाद।

अन्त मे, सभी स्वाध्याय प्रेमी इस कृति से लाभन्वित हो, ऐसी भावना के साथ परम पूज्य आचार्य श्री के चरणो मे त्रिधा नमोऽस्तु करते हुए हम अपने निवेदन पूर्ण करते हैं।

डी.के. जैन, अध्यक्ष
रवि कुमार जैन, मत्री
श्री दि. जैन मन्दिर समिति
कविनगर (गाजियाबाद)

बी.डी.जैन
प्रबन्ध-सयोजक

सम्पादकीय

युगद्रष्टा, युगशिल्पी एव श्रमणसस्कृति के समर्थ सवाहक, चारित्र चूड़ामणि परम पूज्य 108 आचार्य प्रवर श्री शान्तिसागर जी 'छाणी' की गौरवमयी परम्परा के यशस्वी सवर्द्धक 108 आचार्य श्री धर्मभूषण जी महाराज वर्तमान मे ऐसे गरिमामण्डित श्रमणरत्न है, जो अपनी कठोर निर्दोष मुनिधर्मचर्या एव आगमसम्मत सैद्धान्तिक धर्मचर्चा से सर्वत्र विख्यात है। 'जे कम्मे सूरा ते धम्मे सूरा' के जीवन्तरूप आचार्य श्री गृहस्थ जीवन से अपने निरन्तर चिन्तन, मनन तथा आचरण द्वारा अपनी अन्तश्चेतना की उन गहराईयो मे स्थापित रहे जहा से उनकी आत्मानुभूति परिष्कृत होकर उदात्त साधना से आत्मिक विकास के सोपानो पर उर्ध्वारोहण हेतु अनवरत गतिमान रही। स्वाध्याय, साधु सगति एवं वैयावृत्ति के पावन-परस से विकास पथ की समस्त बाधाओ एव व्यवधानो से परे शान्ति, पवित्रता, कल्याण, सद्भावना तथा सद्विचार कोष से अक्षयदान करते हुए दिव्य एव चरम सत्य से अनुप्राणित सद्गृहस्थ, श्रेष्ठ श्रावक की समस्त क्रियाओ के समुचित अनुपालन के साथ जीवन के परम साध्य उस अन्तर्रात्मा मे रम गए, जो मानव उन्नति की पराकाष्ठा है एव उत्तम पुरुषार्थ की चरम परिणति है।

जैनदर्शन जिन्हे सच्चा साधु, वीतरागी सन्त तथा उत्कृष्ट श्रमण कहता है, गृहस्थ प्रेमचन्द्र ने ब्र० प्रेमचन्द्र, क्षुल्लक कुलभूषण, मुनि धर्मभूषण और आचार्य धर्मभूषण ने खुली खड्ग पर नगे पाव चलने जैसे कठोर तप के कण्टकाकीर्ण पथ को बहुत विवेक और साधना से तय किया है। शुभ्र आध्यात्म शिखर के ध्यानस्थ योगी और साधक होते हुए भी आचार्य श्री की करुणा एव वात्सल्य सरिता का पवित्र एव दिव्य स्रोत प्रतिपल जगतीतल पर प्रवहमान रहता है। मानवता के प्राङ्गण को अभिसिञ्चित करती हुई उनकी करुणा आशीष बनकर हरपल झलकती और छलकती है। प्रत्येक के शीष पर उनके आशीष की छत्रछाया है। समदिक् ऊर्ध्वविकास की भावनाए उनके रोम-रोम से प्रस्फुटित होती है। ससार के दु:खी प्राणियो का चित्त अनायास उस ओर आकर्षित होता है। प० दौलतराम जी कहते है, करुणा को धारण करके ही गुरु ससारी प्राणियों को शिक्षा देते है, उपदेश देते है 'कहे सीख गुरु करुणा धार'।

आध्यात्म शिखर पर आरूढ़ सन्त कल्पनाओ मे नही जीता। वह एक आत्मरस मे ही लीन रहता है। उसकी वह आत्मलीनता स्वय प्रकाश रूप है, जो अपनी ही दीप्ति से दैदीप्यमान रहती है, पर का उसे भान नही रहता। शरीर के सयोग बने रहने तक उनके आत्मानुभव के विकीर्ण होते प्रकाश पुञ्ज से दूसरे भी प्रकाशित होते है। अहिसा और अनेकान्तात्मक दृष्टि के स्पर्श से परिमार्जित उनकी स्याद्वादमयी वाणी के समक्ष व्यक्ति एकान्त और दुराग्रह का परित्याग कर वस्तुस्थिति को समझने की ओर अग्रसर होता है। शनैः शनैः उसके हृदय मे उद्भूत अहिंसा, अनेकान्त और अपरिग्रह का प्रबल प्रवाह वृद्धिगत होता हुआ वीतरागता को प्राप्त करा देता है। वीतरागता की पूर्णता मे शिवत्व और

आंशिकता में मोक्ष का मार्ग प्रशस्त होता है, क्योंकि ये ही त्रिरत्न है। अपरिग्रह सम्यग्दर्शन है, अनेकान्त सम्यग्ज्ञान का प्रतिरूप है और अहिसा सम्यक् चारित्र है। इन त्रय-रत्नो को अपने जीवन का पाथेय बनाकर अद्यावधि आचार्य धर्मभूषण जी ने मुक्ति पथ पर बढ़ते हुए दिग्भ्रमित जीवो को वीतरागता की ओर उन्मुख किया है।

'वीतरागता' आचार्य श्री के सघ का अटल नियम है। महाव्रती मूलधारा के इसी मार्ग पर चलकर मुक्ति को प्राप्त कर सकता है। राग और हिंसा को बढ़ावा देने वाली आधुनिक भौतिकता की चकाचौंध का सघस्थ आपके किसी पर भी कोई प्रभाव दृष्टिगोचर नही होता। कूलर, हीटर, मच्छरदानी, फोन, मोबाईल फोन, आदि का प्रयोग सघ मे पूर्णत: वर्जित है। केशलुञ्च, दीक्षा दिवस, जन्मदिन आदि का समारोह भी नही मनाया जाता। अनेक विद्यालय, इण्टर कालेज, डिग्री कालेज, धार्मिक पाठशालाए, धर्मशालाए एव अस्पताल आचार्य श्री के आशीर्वाद से सञ्चालित हैं, परन्तु उनके नाम से कोई भी संस्था नही है। किसी भी सस्थान को केन्द्र बिन्दु बनाकर कभी आपने उसके लिए धनसग्रह आदि का विकल्प नही बनाया, उदार भक्तों ने स्वत: ही आपके वीतराग भाव से प्रेरणा लेकर परकल्याण हेतु उन्हे समृद्ध बनाया। आप इस प्रतिबन्ध के साथ कही ठहरते या चातुर्मास करते है, जहा धूप खेवन, दीप जलाना, हवन करना, लाईट की सजावट आदि जीवो के घात होने वाली क्रियाए नही होगी। कलिकाल एव अन्यधर्मों की विकृतियो के गहराते प्रभाव से जिनभक्तो को बचाने के लिए कतिपय महाव्रतियो ने सम्प्रति इन विभिन्न क्रियाकलापो के सम्बन्ध मे शिथिलता मूलक उदारता का भी परिचय दिया है, परन्तु आचार्य धर्मभूषण जी ने विषम परिस्थितियों में भी दृढ़तापूर्वक मूल सिद्धान्तों पर ही दृढ रहने का उपदेश दिया है।

मिथ्यात्व एव आगम विरोधी गतिविधियो, क्रियाओ और परम्पराओ मे जैनकुल दीपो की अभिलिप्तता के कारण जैन सस्कृति के सितारो के ज्ञान प्रकाश को धूमिल देख आचार्य श्री के हृदय की अजस्र करुणरसधारा आदिकवि की भाति वाणी मे अधिष्ठापित हो गयी। साधु जीवन की कठिन, नियमित और सयमित दिनचर्या मे उपदेश का समय सीमित है तथा इस कलिकाल मे उसका प्रभाव भी स्थायी नही, यह जानकर वे अपनी विलक्षण स्वानुभूति को लेखनी के माध्यम से मूर्तरूप देने का प्रयत्न करते रहे। प्रारम्भ से ही आचार्य श्री स्वाध्याय रसिक, उत्कृष्ट क्षयोपशमी एव विलक्षण धारणा शक्ति सम्पन्न रहे है। न जाने कितने श्लोक, गाथाए, सवैये, भजन, दोहे आदि उनको कण्ठस्थ है। पूज्य 108 आचार्य श्री शान्तिसागर जी हस्तिनापुर वालो के इन सुयोग्य शिष्य ने जैसे अन्तरग की आख से समयपूर्व ही अनागत देख/पढ़ लिया। यही कारण है कि वे जो पढ़ते, चिन्तन करते अथवा कहीं कोई जनोपयोगी मानव मात्र को सम्यक् पथारूढ़ करने वाला सहज/सरल दृष्टान्त प्राप्त करते उसे तुरन्त नोट कर लेते और देखते देखते, चतुरनुयोग समन्वित सैद्धान्तिक, रूढिभजक, मिथ्यात्व नाशक वह संग्रह विशाल ग्रन्थ रूप हो गया। शिष्यो का एक विशाल समुदाय अहर्निश अपने गुरु की चर्या का अन्तर्साक्षी था ही, बहु आयामी बनकर वह क्षण भी आया जब उन्होने भावभीना निवेदन किया - 'गुरुदेव, जब से आपने सल्लेखना धारण की हमारा मोही मन भयभीत रहता है। हम रागी और लोभी प्राणी हैं, हम चाहते हैं आप अपनी धरोहर हमें सौप दे। यह हमे ज्ञान समर्थ/सम्पन्न बनाएगी तथा चारित्र

मोहनीय के उदय से जब कभी, हमारे पग डगमगाएंगे, हमें सावधान भी रखेगी।' गुरुदेव अपनी शिष्य मण्डली की प्रार्थना को अस्वीकार नहीं कर सके और उन्होंने अपने भक्तो के अन्तरङ्ग से प्रसूत आग्रह को स्वीकार कर लिया। राग और अहमन्यता के बिना, स्वान्त:सुखाय लिपिबद्ध किया गया अनुभव/सग्रह यदि परकल्याण का कारण बन जाये तो एक सन्त के लिए इससे बढ़कर और क्या प्रसन्नता होगी।

विभिन्न स्थानो पर प्रदत्त आचार्य श्री के प्रवचन, जो अपनी ज्ञानवृद्धि के लिए उनके अन्तेवासी शिष्यो द्वारा लेखनीबद्ध कर लिये गये थे, उनको भी इस ग्रन्थनिधि के साथ सयुक्त कर लिया गया है। इस पुनीत कार्य में अग्रणी आचार्य श्री के साथ छाया की भाँति रहते ब्र॰ रिपुदमन प्रवचनो को व्यवस्थित रूप देते रहते। सुश्री निधि जैन मुजफ्फरनगर ने भी इस ग्रन्थ के सयोजन मे महत्त्वपूर्ण सहयोग दिया है। भारत की राजधानी के समीपस्थ औद्योगिक नगरी गाजियाबाद के मध्य स्थित कविनगर के श्री पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर मे आचार्य श्री का पावन वर्षायोग 2002 सभी को कृत्यकृत्य कर गया। इस अवधि मे ब्र॰ राजकुमार जैन, रघुवरपुरा, दिल्ली, बालब्रह्मचारी श्री मुकेश जैन एव ब्र॰ रेणु जैन, मेरठ ने अहर्निश अथक प्रयास करते हुए समस्त विषयवस्तु को प्रेस कापी का रूप दे दिया। सौभाग्य से गाजियाबाद मे अवस्थित होने के कारण हम लोग भी गुरु आशीष रूपी मेघ की शत-सहस्र धाराओ से अभिसिञ्चित, अभिभूत हो गये। षट्खण्डागम तुल्य इस जैनदर्शनसार ग्रन्थ के ज्ञानकोष से ज्ञानवृद्धि करते हुए अपनी अल्पज्ञता का पूर्ण अनुभव होते हुए भी 'तेरा तुझको अर्पण' की भावना से सपृक्त हो उनके व्यक्तित्व को प्रमुख मानकर विषयगत वैचारिक गम्भीरता के अनुरूप विवेचन को हम लोगों ने 'जस का तस' रखा है।

तीन भागो मे विभक्त इस विशाल ग्रन्थ मे आचार्य श्री ने प्राय: जैनधर्म-दर्शन की सभी सूत्र सलिलाओ को समाहित किया है। प्रथम भाग मे बारह अध्याय है। शास्त्र मङ्गलाचरण, विभिन्न ग्रन्थो के मङ्गलाचरण, जिनवन्दना, जिनवाणी स्तुति और गुरुभक्ति के पश्चात् प्रथम अध्याय मे वक्ता एव श्रोता के स्वरूप को विभिन्न दृष्टान्तो के माध्यम से स्पष्ट किया गया है कि सच्चे वक्ता तो वीतरागी जिन-अर्हन्त ही है एव लौकिक वक्ता भी वही हो सकता है जो आकर्षक व्यक्तित्व का धनी, बुद्धिमान और आचार सम्पन्न हो। श्रोता को भव्य, जिज्ञासु, आदि सापेक्षिक दृष्टि वाला होना चाहिए। 'पतित से पावन तक' द्वितीय अध्याय मे मानव के प्रकार धर्म, कर्म और पुरुषार्थ पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है। तृतीय अध्याय मिथ्यात्व से सम्बन्धित है, जिसमे मिथ्यात्व के भेद, प्रभेदादि की चर्चा पूर्वक बताया गया है कि सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए मिथ्यात्व को कैसे दूर करे। चतुर्थ से अष्टम अध्याय तक क्रमश: सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र का विशद वर्णन किया गया है। चतुर्थ अध्याय मे सम्यग्दर्शन के चार सोपान, तत्त्वो का श्रद्धान, स्व पर की यथार्थ श्रद्धा और सम्यक्त्वाचरण के बाद यथार्थ श्रद्धान के लिए आवश्यक जीव, अजीव प्रभृति सात तत्त्वो का पचम अध्याय मे स्वतत्र विवेचन किया गया है। सम्यक्त्व, उसके दोष तथा नि:शक, नि:काक्ष, निर्विचिकित्सा आदि आठ अगो का सदृष्टान्त विवरण षष्ठ अध्याय मे है।

सम्यग्ज्ञान नामक सप्तम अध्याय में सम्यग्ज्ञान का स्वरूप महत्त्व प्रयोजन और प्रमाण-नय के भेद प्रभेदादि की चर्चा के बाद, स्वाध्याय, नौ पदार्थ, स्वपर भेद विज्ञान और स्वसंवेदन ज्ञान के रूप मे

सम्यग्ज्ञान के क्रमशः चार सोपानो पर विचार निबद्ध है। अष्टम अध्याय में सम्यक् चारित्र का स्वरूप, अणुव्रती-महाव्रती के लिए आवश्यक संयम, अणुव्रत, महाव्रत, दिग्व्रत, देशव्रत आदि के विशेष विवरण सहित सम्यक् चारित्र को अशुभ से निवृत्ति-शुभ में प्रवृत्ति, दर्शन ज्ञान की एकता, समता-शमता और आत्मा मे स्थिरता इन चार सोपानो के माध्यम से स्पष्ट किया गया है। नवम अध्याय 'दिगम्बर मुनिराज' मे दिगम्बरत्व का स्वरूप, अन्य मतों में दिगम्बर साधु, दिगम्बर मुनिराजों की सख्या आदि बताते हुए मुक्ति के लिए आवश्यक दिगम्बरत्व के महत्त्व का आकलन किया गया है। दशम अध्याय व्रतो से सम्बन्धित है, जिसमे अणुव्रतों और महाव्रतो का विशद विवेचन है। एकादश अध्याय मे गृहस्थो के षट् आवश्यक देवपूजा, गुरूपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान पर आचार्य श्री के विचारों का सटीक प्रतिपादन है। इसमे वर्तमान में प्रचलित कुप्रथाओ, निर्वाण लाडू, दीपक-आरती , अखण्ड ज्योति, आशिका लेना, पञ्चामृत अभिषेक आदि की समीक्षा पूर्वक जिनभक्तों को मूल-आम्नाय से सयोजन हेतु सम्यक् उपासना पद्धतियो पर गम्भीर विवेचन प्रस्तुत किया गया है। राग से वैराग्य पथ पर चलकर मुक्ति कैसे प्राप्त करे, इसका सदृष्टान्त विवेचन अन्तिम द्वादश अध्याय मे है।

जैनदर्शनसार के द्वितीय भाग मे सात अध्याय है। ग्रन्थ का प्रारम्भ प्रथम भाग की तरह शास्त्र मङ्गलाचरण और जिनवन्दना से होता है। 'प्रथम अध्याय गुणस्थान' में चौदह गुणस्थानो के स्वरूप, गुणस्थानो में जीवो की सख्या, कर्मोदय सम्बन्धी सामान्य नियम, सत्ता, काल, मरण आदि का विस्तृत विवेचन है। द्वितीय अध्याय मार्गणाओ और ठाणाओ विषयक है। बारह भावनाओ और सोलहकारण भावनाओ का मार्मिक स्पष्टीकरण तृतीय अध्याय मे है। धर्म का स्वरूप, उसके उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव आदि दश धर्मो तथा क्षमावाणी का चतुर्थ अध्याय मे प्रतिपादन मानव कल्याण के लिए अत्यन्त उपादेय है। पचम और षष्ठ अध्यायो मे क्रमशः षट् लेश्याओ और कषायो का दिग्दर्शन है। पर्व नामक सप्तम अध्याय मे रक्षाबन्धन, दीपावली, भगवान महावीर जयन्ती और वीर शासन जयन्ती पर आचार्य श्री के व्याख्यान निबद्ध है।

मङ्गलाचरण और जिनवन्दना से 'जैनदर्शनसार' तृतीय भाग का भी प्रारम्भ होता है। इसके प्रथम अध्याय में राम, सीता, सूर और तुलसी आदि के दृष्टान्त देकर मोहनीय कर्म की विचित्रता पर प्रकाश डाला गया है। द्वितीय अध्याय मे कतिपय शलाका एव पुराण पुरुषो के चारित्र का प्रतिपादन है। ऐतिहासिक प्रमुख आचार्यो और विद्वानों के व्यक्तित्व एव कृतित्व का आकलन तृतीय अध्याय मे किया गया है। 'जैन तथा अन्य भारतीय दर्शन' नामक चतुर्थ अध्याय में स्याद्वाद, अनेकान्त, सप्तभङ्गी, द्रव्य, गुण और पर्याय आदि- जैनदर्शन के प्रमुख सिद्धान्तो के विवेचन पूर्वक न्याय, वैशेषिक, योग, चार्वाक आदि अन्य भारतीय दर्शनो का सामान्य परिचय दिया गया है। पचम अध्याय मे पंचपरमेष्ठी का स्वरूप, पाच लब्धियो, भोग से योग की ओर, ज्ञान धारा और कर्मधारा, लोक और ससार मे अन्तर, योग नही गुप्ति शान्ति कहा, इन्द्रिय अतीन्द्रिय आनन्द में अन्तर, सप्त व्यसन, मूर्ति पूजन तथा ध्यान के स्वरूप पर आचार्य श्री के विचार निबद्ध है।

सम्पूर्ण ग्रन्थ के तीनो भागों के अवलोकनोपरान्त हमारे विश्वास को स्थायित्व एव सबल मिला है कि जिनभक्तो के लिए ये भागत्रय मोक्षमार्ग में रत्नत्रय की तरह सहायक होंगे। उसमे जो भी, जिस रूप

मे व्यवस्थित है, वह पूज्य आचार्य श्री की ही भाषा शैली मे उनके ही प्रवचनो की लिपिबद्धता है, हम लोगों ने मात्र ग्रन्थ के बहिरङ्ग स्वरूप को ही संवारा है। वैचारिक साम्यता की किन्हीं बिन्दुओं पर हमारी अनिवार्यता नहीं है। आचार्य श्री ने हमें इस विषय मे स्वतन्त्र रखा है तथा बार-बार यही आदेश दिया है कि उनकी विचारधारा और सिद्धान्तो को यथावत् ही रखना है। हम लोगो ने भी आचार्य श्री की आज्ञा का अक्षरशः पालन किया है। यह अवश्य है कि शुद्धिकरण के क्षणों मे अपने दृष्टिपथ के साथ हम जब-जब पृष्ठो पर रहे हैं, आचार्य श्री के ज्ञान, चिन्तन, मनन और आचरण से अभिभूत हुए हैं। पूर्ण विश्वास है आचार्य श्री की तप:साधना की अन्त:प्रेरित दिव्य देशना से सभी उपकृत होगे।

हम उन सभी बधुओ के अनुगृहीत है जिनकी उदार सहायता के बिना ग्रथ का कार्य पूर्ण होना असभव था। प्रारभ से अत तक सहयोगी बने रहे श्री मदन लाल जैन, गांधीनगर दिल्ली, श्री बी.डी. जैन, श्री रवि जैन, श्री डी.के. जैन, गाजियाबाद, श्री देवेन्द्रकुमार जैन, सर्राफ, मेरठ इस आयोजन से इतने अभिन्न है कि उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करना मात्र औपचारिकता होगी।

जिन परम पूज्य आचार्यों, विद्वानो के ग्रथो का कृति को सुव्यवस्थित करने में सहयोग लिया गया है उनके प्रति हम नत-शीश है।

दीप प्रिण्टर्स के प्रबन्धक श्री मनोहर लाल जैन तथा उनके कर्मचारियों का भी हम आभार प्रकट करते है जिनकी सहायता से ग्रथ की छपाई इतनी साफ और सुन्दर हो सकी।

पूर्ण सावधानी रखते हुए भी प्रमादवश कही सिद्धान्त, व्याकरण, वाक्य विन्यास एव प्रूफ रीडिग आदि से सम्बन्धित- त्रुटिया रह गयी हो उन्हे सुधीजन हम लोगों को अल्पज्ञ समझकर क्षमा करेंगे तथा आवश्यक सुधारकर पढ़ने का कष्ट करेगे।

महावीर जयन्ती, 2003

– डॉ॰ नरेन्द्रकुमार जैन

– डॉ॰ नीलम जैन

अनुक्रमणिका

मङ्गलाचरण

ओं नमः सिद्धेभ्यः

ओं जय जय जय, नमोस्तु! नमोस्तु!! नमोस्तु!!!
णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं।।
ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं, नित्यं ध्यायन्ति योगिनः।
कामदं मोक्षदं चैव, ओंकाराय नमो नमः।।१।।

अविरलशब्दघनौघप्रक्षालितसकलभूतलमलकलङ्का
मुनिभिरुपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितान्।
अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः।।2।।

।। श्री परमगुरवे नमः, परम्पराचार्यगुरवे नमः।।

सकलकलुषविध्वसकं, श्रेयसां परिवर्धकं, धर्मसम्बन्धकं, भव्यजीवमनः प्रतिबोधकारकमिद शास्त्रं श्री नामधेयम्। अस्य मूलग्रन्थकर्तारः श्रीसर्वज्ञदेवास्तदुत्तरग्रन्थकर्तारः श्रीगणधरदेवाः प्रतिगणधरदेवास्तेषा वचोनुसारमासाद्य श्री.... आचार्येण विरचितम्। श्रोतारः सावधानतया श्रृण्वन्तु।

मङ्गलं भगवान् वीरो, मङ्गलं गौतमो गणी।
मङ्गलं कुन्दकुन्दाद्यो, जैनधर्मोऽस्तु मङ्गलम्।।
सर्वमङ्गलमाङ्गल्यं, सर्वकल्याणकारकं।
प्रधान सर्वधर्माणां जैन जयतुशासनम्।।

मङ्गलाचरण ''मङ्गल'' और आचरण इन दो शब्दों की सार्थक युति है। मङ्गल में दो शब्द हैं 'मं' और 'गल'। 'मं' का अर्थ है विकृति (पाप, अहंकार आदि अन्य विकारी भाव) 'गल' का अर्थ है 'गलना' अथवा नष्ट होना, जिसके आचरण करने से अथवा जिसको जीवन में धारण करने से विकृतियों का समूह विगलित होता है, पाप नष्ट हो जाते हैं जो मुक्ति के लिए उत्साह, प्रेरणा और उमंग देता है वह मङ्गलाचरण है। सभी महान् ग्रन्थों का प्रारंभ मङ्गलाचरण से होता है जिससे वे ग्रन्थ श्रोताओं, रचनाकार एवं वक्ता सभी के जीवन पथ को मङ्गलमय करने में कारण बनें तथा भवसागर पार करने में सहायक हों। मङ्गलाचरण करते ही हमारा उपयोग लौकिकता से हटकर आध्यात्मिकता की ओर मुड़ जाता है, भाव निर्मल एवं विशुद्ध होते हैं तथा मन भी एकाग्र हो जाता है।

विभिन्न ग्रन्थो के मङ्गलाचरण

वंदित्तु सव्वसिद्धे धुवमचलमणोवमं गइं पत्ते।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुयकेवलीभणियं॥

(समयसार)

नित्य, शुद्ध अनुपम, सिद्धगति को प्राप्त, सर्व सिद्धों को नमन करके मैं श्रुतकेवली कथित समयप्राभृत को कहूँगा।

णिम्मलझाणपरिट्ठिया कम्मकलंक डहेवि।
अप्पा लद्धउ जेण परू ते परमप्प णवेवि॥

(योगसार)

जिन्होंने शुद्ध ध्यान में स्थित होकर कर्मो के मल को जला डाला है तथा उत्कृष्ट परमात्म पद को पा लिया है उन सिद्ध परमात्माओं को नमस्कार करता हूँ।

झाणग्गिदड्ढकम्मे णिम्मलविसुद्धसब्भावे।
णमिऊण परमसिद्धे सु तच्चसारं पवोच्छामि॥

(श्री देवसेनाचार्य तत्त्वसार)

ध्यान रूपी आग से कर्मो को जलाने वाले व निर्मल शुद्ध निज स्वभाव को प्राप्त करने वाले सिद्ध परमात्माओं को नमन करके तत्त्वसार को कहूँगा।

एस सुरासुरमणुसिंदवंदिदं धोदघाइकम्ममलं।
पणमामि वड्ढमाणं तित्थं धम्मस्स कत्तारं॥

(प्रवचनसार)

आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि मैं सुर, असुर एवं मनुष्यों से वन्दित, चार घातिया मल से रहित ससार समुद्र से तारने वाले भगवान वर्द्धमान को नमस्कार करता हूँ।

सुर-असुर-इन्द्र-नरेन्द्र-वंदित कर्ममल निर्मलकरन।
वृषतीर्थ के करतार श्री वर्द्धमान जिन शत-शत नमन॥

सुध्यान में लवलीन हो, जब घातिया चारों हने।
सर्वज्ञ बोध विरागता को, पा लया तब आपने॥

उपदेश दे हितकर अनेकों, भव्य निजसम कर लिये।
रविज्ञान-किरण प्रकाश डालो, वीरप्रभुमेरेहिये॥

घाइचउक्कहँ किउ विलउ णंतचउक्कपदिद्ठु।
तहिं जिणइंदहँ पय णविवि अक्खमि कव्वु सुइट्ठु॥

(योगसार)

जिसने चार घातिया कर्मों का क्षय किया है तथा अनन्तचतुष्टय का लाभ किया है उन जिनेन्द्र के पदों को नमस्कार करके सुन्दर प्रिय काव्य को कहता हूँ।

जे जाया झाणग्गियएं कम्मकलंक डहेवि।
णिच्च णिरंजण णाणमय ते परमप्प णवेवि॥

(श्री योगीन्द्रचन्द्राचार्य परमात्मप्रकाश)

जो ध्यान की आग से कर्म-कलंक को जलाकर नित्य, निरंजन तथा ज्ञानमय हो गये हैं, उन सिद्ध परमात्माओं को मैं नमन करता हूँ।

येनात्मा बुध्यतात्मैव परत्वेनैव चापरम्।
अक्षयानन्तबोधायतस्मै सिद्धात्मने नमः॥

(श्री पूज्यपाद स्वामी समाधिशतक)

जिसने अपनी आत्मा को आत्मारूप व पर पदार्थों को पररूप जाना है तथा इस भेद विज्ञान मे अक्षय व अनन्त केवलज्ञान का लाभ किया है उन सिद्ध परमात्मा को नमस्कार हो।

यस्य स्वयं स्वभावाप्तिरभावे कृत्स्नकर्मणः।
तस्मै संज्ञानरूपाय नमोऽस्तु परमात्मने॥

(पूज्यपादस्वामी, इष्टोपदेश)

सर्व कर्मो का क्षय करके जिन्होंने स्वयं अपने स्वभाव का प्रकाश किया है उन सम्यग्ज्ञान स्वरूप सिद्ध परमात्मा को नमन हो।

हे त्रिभुवन के संकटहर्ता, अगर तुम्हारे में नत मात।
सकलधरा के आभूषण हो, अति निर्मल तुम्हें नमन हो नाथ॥
परमेश्वर हो तीन लोक के मम प्रणाम करलो स्वीकार।
नमस्कार तुमको जिनेन्द्र हे भव समुद्र के शोषणहार॥

जीवमजीवं दव्वं, जिणवरवसहेण जेण णिद्दिट्ठं।
देविंदविंदवंदं वंदे तं सव्वदा सिरसा॥

(द्रव्यसंग्रह)

जिस तीर्थङ्करदेव ने जीव अजीव द्रव्य कहे हैं, इन्द्रों के समूह से नमस्कार करने योग्य उस तीर्थङ्कर प्रभु को मैं (नेमिचन्द्र) सिर झुकाकर हमेशा नमस्कार करता हूँ।

नमः श्री वर्धमानाय, निर्धूतकलिलात्मने।
सालोकानां त्रिलोकानां, यद्विद्या दर्पणायते।।

(रत्नकरण्डश्रावकाचार)

जिन्होंने अपनी आत्मा से कर्मो रूपी काजल को नष्ट कर दिया है और जिनके केवलज्ञान म अलोकाकाश सहित तीनो लोक दर्पण के समान झलकते हों उन श्रीवर्धमान स्वामी को मैं नमस्कार करता हूँ।

नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते।
चित्स्वभावभावाय सर्वभावान्तरच्छिदे।।

(अमृतकलश)

चैतन्य ही है स्वभाव जिसका ऐसे शुद्धात्म स्वरूप पदार्थ को जो अपनी स्वानुभूति से प्रकाशमान होता है तथा जो सम्पूर्ण पदार्थो मे भिन्न है उसे नमस्कार करता हूँ।

मङ्गलमय मङ्गलकरण, वीतराग-विज्ञान।
नमो ताहि जातैं भये, अरहंतादि महान्।।

चिदानन्दैकरूपाय, जिनाय परमात्मने।
परमात्मप्रकाशाय, नित्यं सिद्धात्मने नमः।।

(दर्शनपाठ)

चिदानन्दमय एकरूप, वंदन जिनेन्द्र परमात्माको।
हो प्रकाश परमात्मनित्य, मम नमस्कार सिद्धात्माको।।

विधि की विशेषता से, द्रव्य की विशेषता होने से, दाता की विशेषता होने से और पात्र की विशेषता होने से दान में भी विशेषता हो जाती है। प्रतिग्रह उच्चस्थान आदि नवधा भक्ति की क्रियायें हैं, उन्हें आदरपूर्वक करना विधि की विशेषता कहलाती है। भिक्षा में भी जो अन्न दिया जाये वह यदि आहार लेने वाले साधु के तपश्चरण, स्वाध्याय आदि को बढ़ाने वाला हो तो वही द्रव्य की विशेषता कहलाती है।

- चामुण्डराय

जिन-वन्दना

जो मोह माया मान मत्सर, मदन मर्दन वीर है।
जो विपुल विघ्नों बीच में भी, ध्यान धारण-धीर है॥
जो तरण-तारण, भव-निवारण, भव जलधि के तीर है।
वे वंदनीय जिनेश तीर्थङ्कर स्वयं महावीर है॥१॥

जो राग-द्वेष विकार वर्जित, लीन आत्मध्यान में।
जिनके विराट, विशाल निर्मल, अचल केवलज्ञान में॥
युगपद् विशद सकलार्थ झलके, ध्वनित हों व्याख्यान में।
वे वर्द्धमान महान जिन, विचरें हमारे ध्यान में॥२॥

जिनका परम पावन चरित, जल निधि समान अपार है।
जिनके गुणों के कथन में गणधर न पावैं पार है॥
बस वीतराग-विज्ञान ही, जिनके कथन का सार है।
उन सर्वदर्शी सन्मति को, वंदना शतबार है॥३॥

जिनके विमल उपदेश में, सबके उदय की बात है।
समभाव समताभाव जिनका, जगत में विख्यात है॥
जिसने बताया जगत को, प्रत्येक कण स्वाधीन है।
करता न धर्ता कोई है, अणु-अणु स्वयं में लीन है॥४॥
आतम बने परमात्मा, हो शांति सारे देश में।
है देशना सर्वोदयी, महावीर के सन्देश में॥

जिनवाणी: स्तुति

वाणी सरस्वती तू जिनदेव की दुलारी, स्याद्वाद नामतेरा ऋषियों की प्राण प्यारी॥
सुर नर नरेन्द्र सब ही तेरी सुकीर्ति गावें, तुम भक्ति में मगन हो तो भी न पार पावें॥
इस गाढ़ मोहमद में हमको नहीं सुहाता, अपना स्वरूप भी तो नहीं मात याद आता॥
ये कर्म शत्रु जननी हमको सदा सताते, गतिचार माहिं हमको नित दुःख दे रुलाते॥
तेरी कृपा से माँ कुछ हम शांति लाभ करले, तुम दत्त ज्ञान बल से निज पर पिछान करले॥
हे मात तुम शरण में हम शीश को झुकावें, दो ज्ञान दान हमको जब लो न मोक्ष पावें॥
वाणी सरस्वती तू जिनदेव की दुलारी, स्याद्वाद नाम तेरा ऋषियों की प्राण प्यारी॥

भगवान महावीर के तीन सिद्धान्त

हम स्याद्वाद का डंका फिर, दुनिया में आज बजायेगें।
प्रभु वीर जिनेश्वर के गुण गा, जग से मिथ्यात्व हटायेगें॥
हठ का हम भूत भगायेंगे, अपेक्षा से समझायेगें।
अनेक गुण हैं वस्तु में, स्याद्वाद से बतलायेगें॥
है एक उमंग भरी दिल में, लहराये अहिंसा का झण्डा।
हो भव्य जीवों से भरी हुई, पृथ्वी को कर दिखलायेगें॥
परिग्रह वृत्ति को दूर भगा, आकिंचन धर्म अपनायेगें।
सिद्धान्त तीन महावीर के हैं, जन जन में हम पहुँचायेगें॥
समंतभद्र जैसा डंका, अकलंक बन आज बजायेगें।
आचार्य कुन्द-कुन्द कह गये, अध्यात्म सुमन संजोयेगें॥
जिन धर्म का बिगुल बजायेंगे, हम दूर हटा कायरता को।
सब छोड़ वृथा झगड़ों को हम, झण्डे की लाज बचायेगें॥

गुरु भक्ति का भजन

है परम-दिगम्बर मुद्रा जिनकी, वन-वन करे बसेरा।
मैं उन चरणों का चेरा, हो वंदन उनको मेरा..........।
शाश्वत सुखमय चैतन्य-सदन में, रहता जिनका डेरा॥ मैं उन......।
जहाँक्षमा मार्दव आर्जव सत् शुचिता की सौरभ महके।
संयम तप त्याग आकिंचन स्वर परिणति में प्रतिपल चहके।
है ब्रह्मचर्य की गरिमा से, आराध्य बने जो मेरा॥ मैं.........।
अन्तर-बाहर द्वादश तप से, जो कर्म-कालिमा दहते।
उपसर्ग परिषह-कृत बाधा जो, साम्य-भाव से सहते।
जो शुद्ध-अतीन्द्रिय आनन्द रस का, लेते स्वाद घनेरा॥ मैं........।
जो दर्शन ज्ञान चरित्र वीर्य तप, आचारों के धारी।
जो मन-वच-तन का आलम्बन तज, निजचैतन्य विहारी।
शाश्वत सुख दर्शक वचन-किरण से, करते सदा बसेरा॥ मैं....।
नित समता स्तुति वंदन और, स्वाध्याय सदा जो करते।
प्रतिक्रमण और प्रति-आख्यान कर, सब पापों को हरते॥
चैतन्यराज की अनुपम निधियाँ, जिनमें करें बसेरा॥ मैं....।

प्रथम अध्याय : चारित्रमोहनीय की विचित्रता

मोहनीय कर्म आत्मा को मोहित करता है मूढ़ बनाता है। इस कर्म के कारण जीव मोह ग्रस्त होकर संसार में भटकता है। मोहनीय कर्म संसार का मूल है। इसलिए इसे "कर्मों का राजा" कहा गया है। समस्त दु:खों की प्राप्ति मोहनीय कर्म से ही होती है। इसीलिए इसे "अरि" या "शत्रु" भी कहते हैं। अन्य सभी कर्म मोहनीय के आधीन हैं। मोहनीय कर्म राजा है, तो शेष कर्म प्रजा। जैसे राजा के अभाव में प्रजा कोई कार्य नहीं कर सकती, वैसे ही मोहनीय के अभाव में अन्य कर्म अपने कार्य में असमर्थ रहते हैं। यह आत्मा के वीतराग-भाव तथा शुद्ध स्वरुप को विकृत करता है, जिससे आत्मा राग-द्वेषादि विकारों से ग्रस्त हो जाता है। यह कर्म स्वपर-विवेक एवं स्वरुप-रमण में बाधा डालता है।

इस कर्म की तुलना मदिरापान से की गयी है। जैसे मदिरा पीने से मानव परवश हो जाता है, उसे अपने तथा पर के स्वरुप का भान नही रहता। वह हिताहित के विवेक से शून्य हो जाता है वैसे ही मोहनीय कर्म के उदय से जीव को तत्त्व-अतत्त्व का भेद-विज्ञान नहीं हो पाता। वह ससार के विकारो मे उलझ जाता है।

दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय के भेद से मोहनीय कर्म दो प्रकार का है -

(क) दर्शनमोहनीय - दर्शनमोहनीय कर्म आत्मा के दर्शन गुण/श्रद्धान को विकारग्रस्त बना देता है। इस कर्म के उदय से व्यक्ति अपने सम्यक् स्वरुप को भली-भांति पहचान नहीं पाता है जैसे मदिरा पीने से व्यक्ति की बुद्धिमूर्च्छित हो जाती है वैसे ही इस कर्म के उदय से आत्मा का विवेक विलुप्त हो जाता है। वह हित-अहित निज-पर का भेद नही कर पाता है। परिणामत: वह दिग्मूढ़ बनकर घातक इन्द्रिय विषयो को ही प्रिय मानने लगता है। शरीर, स्त्री; धन, संतति जैसी पर वस्तुओं के प्रति घोर ममता का शिकार हो जाता है। वह सांसारिक मोह जाल मे जकड़कर मोक्ष लक्ष्य से दूर हो जाता है।

दर्शन मोहनीय के तीन भेद है - 1. मिथ्यात्व 2. सम्यक्-मिथ्यात्व 3. सम्यक्त्वप्रकृति।

(१) मिथ्यात्व - जो कर्म तत्त्व में श्रद्धा उत्पन्न नहीं होने देता और विपरीत श्रद्धा उत्पन्न कराता है, वह "मिथ्यात्व" कर्म है। इस कर्म के उदय से जीव की वह मूढ़ अवस्था उत्पन्न हो जाती है, जिससे वस्तु के वास्तविक स्वरुप के ग्रहण की योग्यता सर्वथा तिरोहित हो जाती है।

(२) सम्यक्-मिथ्यात्व - यह कर्म तत्त्व श्रद्धा में दोलायमान स्थिति उत्पन्न कराता है। इस कर्म के उदय से न तत्त्व के प्रति रुचि रहती है, न अतत्त्व के प्रति । इसलिए इसे मिश्र-मोहनीय

कर्म भी कहते है। यह सम्यक्त्व और मिथ्यात्व का मिश्रित रुप है।

(3) **सम्यक्त्व प्रकृति**- जो कर्म सम्यक्त्व को तो नही रोकता, किन्तु उसमें चल, मलिन और अगाढ़ दोष उत्पन्न करता है। वह "सम्यक्त्व" मोहनीय कर्म है।

इस प्रकार मिथ्यात्व - प्रकृति अश्रद्धा रुप होती है तथा सम्यक्मिथ्यात्वप्रकृति श्रद्धा और अश्रद्धा से मिश्रित होती है तथा सम्यक्त्व-प्रकृति से श्रद्धा में शिथिलता या अस्थिरता होती है, जिसके कारण चल, मलिन और अगाढ़ ये तीन दोष उत्पन्न होते हैं। यह प्रकृति सम्यक्त्व का घात तो नहीं करती, परन्तु शंका आदि दोषों को उत्पन्न करती है।

(ख) **चारित्रमोहनीयः** चारित्रमोहनीय कर्म आत्मा के चारित्र गुण को विकृत कर देता है। यह कर्म जीव की सन्मार्ग यात्रा में बाधा उपस्थित करता है। इस कर्म के उदय से जीव के आचरण मे विकार आ जाता है। वह अहिसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह जैसे सदादर्शो को अपना नही पाता। यह कर्म आत्मा को राग द्वेष आदि विकारो मे उलझाकर स्वरुपरमण मे बाधा डालता है। कषाय-वेदनीय और नोकषाय-वेदनीय के भेद से चारित्र मोहनीय के भी दो भेद है। कषाय वेदनीय मुख्य रुप से चार प्रकार का है।

1. क्रोध 2. मान 3. माया और 4. लोभ।

चारित्र मोहनीय कर्म का स्वरुप

मोह के दो भेद हैं (1) दर्शन मोह (2) चारित्र मोह। (दर्शनमोह का तो जैनदर्शन प्रवचन भाग-1 में वर्णन कर आये है। समझने के लिए थोडा यहाँ भी वर्णन करते हैं।) दर्शन मोह का नाम मिथ्यात्व है। उसके तीन भेद हैं। (1) मिथ्यात्व (2) सम्यक् मिथ्यात्व (3) सम्यक् प्रकृति। चारित्र मोह के भी दो भेद है। (1) सोलह कषाय और (2) नो किंचित कषाय।

सोलह कषाय

(1) क्रोध (2) मान (3) माया (4) लोभ

एक-एक कषाय के चार-चार भेद है।

(1) अनन्तानुबन्धी (2) अप्रत्याख्यान (3) प्रत्याख्यान (4) सज्वलन।

अनन्तानुबधी कषाय सम्यक्त्व नही होने देती। अप्रत्याख्यान कषाय अणुव्रत नही लेने देती। सज्वलन यथाख्यात चारित्र नही होने देती।

आचार्यो ने लिखा है - कर्मो मे कर्म मोहनीय कर्म है, व्रतो में व्रत ब्रह्मचर्य, इन्द्रियों में इन्द्रिय रसना, गुप्ति मे मन, इन सबका मोह ही कारण है। मोह कर्म सबसे पहले बधता है और बारहवे गुणस्थान मे सबसे पहले छूटता है।

मोह महाविष पी रहा, जो है शत्रु समान।
इसको चेतन त्याग दे, तब होगा कल्याण।।

मोह महापद पियो अनादि । भूल आपको भरमत वादि।।

मोहरुपी तेज शराब पीकर जीव अपनी आत्मा को भूल रहा है। मोह इतना बड़ा शत्रु है कि विष तो एक भव में ही प्राण हरता है, लेकिन मोह रुपी विष भव-भव में दुख देता है। मोह कर्म ऐसा ही होता है जैसे फौज का कमाण्डर अगर मारा जाए तो फौज ठहर नहीं सकती अगर मोह कर्म को जीत लिया जाए तो कर्म ठहर नहीं सकता। इसलिए भाई पहले मोह कर्म को खत्म करो। मोह का अर्थ संसार है, संसार का अर्थ है विकारी पर्याय। जितने भी संसारी ठाट-बाट हैं, मोह के कारण दिखाई देते हैं। मोह ही जीव का प्रबलशत्रु है। मनुष्य और तिर्यञ्च का मोह अत्यन्त प्रबल होता है। इसमें मनुष्य का मोह और भी अधिक प्रबल है। वैसे मोह दो प्रकार का है। एक मोह तो भोगों का है वह संसार का कारण है। दूसरा मोह धर्म सम्यक्त्व है, वह परम्परा से मोक्ष का कारण है। वैसे दोनों मोह बन्धन के प्रतिरुप हैं। परन्तु दोनों में पर्याप्त अन्तर है। दोनों ही संसार में रुलाने वाले हैं। संसार की अपेक्षा अशुभ से शुभ अच्छा है। एक सुबह की लालिमा है और एक सन्ध्या की लालिमा। लालिमा दोनों हैं परन्तु दोनों में धरा व गगन का अन्तर है। सन्ध्या की लालिमा मानों इस बात को इंगित करती हुई प्रतीत होती है कि अन्धकार की ओर चलो और भोगों में मग्न हो जाओ। अत: सन्ध्या की लालिमा अन्धकार और भोग का सूचक है इसके विपरीत सुबह की लालिमा प्रकाश की ओर ले जाती है। वह इस बात को इंगित करती है कि समस्त भोगों को छोड़कर प्रकाश की ओर आ जाओ। उठो सामायिक करो, पूजा में लगो और मुनियों को आहार दो। लेकिन लालिमा दोनों ही है, दोनों ही बन्धन रुप हैं। दोनों से हटकर सम्यक्त्व, अणुव्रत, महाव्रत ये ही वास्तव में मोक्ष के स्वरुप हैं। मोहनीय कर्म का बन्धन करते समय पसीना बहाने की आवश्यकता नहीं पड़ती है अपितु मोहनीय कर्म उपशम क्षयोपशम या क्षय करते समय पसीना बहाना पड़ता है। पसीने का अर्थ है तप, त्याग करना। मोहनीयकर्म अगर उपशम करे तो ग्यारहवें गुणस्थान से गिरकर पहले तक पहुँच जाता हैं। अगर मोहनीयकर्म क्षय करे तो दसवें गुणस्थान से बारहवें में, बारहवें से तुरन्त तेरहवें में पहुँच कर केवलज्ञान हो जाता है।

मोहनीय कर्म ने आदिनाथ भगवान को 83 वर्ष लाख पूर्व घर में रखा। जब मोह का अभाव हो गया तो नीलाञ्जना के निधन को देखकर वैराग्य हो गया। तुरन्त दीक्षा ले ली। संसार की जड़ मोह है। मोह से सुकौशल की मां आर्त्तध्यान में मरकर व्याघ्री बनी और सुकौशल को ही खाया। किवदन्ती है - सूरदास नाम के कवि सात भाई थे। एक समय कि बात है कि सूरदास

के छह भाई युद्ध के लिए चल दिए। सूरदास का अपने भाईयो से अत्यन्त स्नेह था। सूरदास जी उनके जाते ही तडपने लगे। कुछ दिनो बाद खबर आयी कि दो भाई युद्ध मे मारे गए। अब क्या था सूरदास रोते-रोते अन्धे बन गए और सदा के लिए अपने आप को एक घनिष्ठ दुःख मे डाल दिया। क्या वे भाई रोने से वापिस आ गए, नही आये।

तुलसीदास जी को अपनी पत्नी रत्नावली से इतना मोह था कि एक बार उनकी पत्नी बिना पूछे अपने पीहर चली गई। तुलसीदास जी उनके मोह में तड़प गए तीसरे दिन ही उनके पीछे-पीछे अपनी ससुराल पहुँच गए। उनको देख रत्नावली बहुत लज्जित हुई और उन्होंने कहा कि जितना मोह तुम्हें हड्डी तथा मांस से बने मेरे शरीर से है इतना मोह तुम्हें अन्तरात्मा से हो जाये तो यह भ्रमण चक्कर ही छूट जाये। मोह के वश ही तो होकर उस वीर पुरुष ने स्त्री से अनादर कराया। जब जीव मोह में फंसता है, तो जैसे प्रद्युम्नकुमार अपने पिता, बाबा से पूछने गया कि मैं दीक्षा लेता हूँ, वे बोले अभी उम्र थोड़ी है कुछ दिन बाद दीक्षा ले लेना तो प्रद्युम्न कुमार कहते है कि तुम मोह में फँस कर सदा के लिए थम्ब बन जाओ मैं जाता हूँ तभी पत्नी के पास पहुँचा - बोला कि मैं दीक्षा लेता हूं, तब महान स्त्री कहती है कि जब तुम्हें संसार और भोगों से वैराग्य है तो तुम पूछने क्यों आये हो? अब तुम जाओ अथवा मत जाओ मैं तो आर्यिका बनकर तपस्या करुँगी। संसार में कोई किसी का नहीं है। ऐसी होती है निर्मोही पत्नी। प्रद्युम्न कुमार की पत्नी के समान। तुम भी तो निर्मोही बनो वह भी तुम्हारे जैसी ही मानव थी। ब्रह्म गुलाल की कथा कहती हैं कि हंसी में मुनि वेश धारण कर लिया लेकिन बाद में मित्र मथुरामल ने और माता-पिता ने बहुत कहा कि यह तो तुम खेल ही कर रहे थे अब कपड़े पहन लो। ब्रह्म गुलाल कहता है कि ये मुनि वाला वेश त्यागा नहीं जाता। अब तो हम कर्मों से लड़ेगें। कुटुम्ब ने बहुत ही भय दिखाये मुनिव्रत के। आखिर मथुरामल ने भी श्रावक व्रत ले ही लिए। क्षुल्लक बन कर कल्याण करने लगे। निर्मोही प्राणी दूसरों को भी निर्मोही बना देता हैं। एक समय कहीं पर देव सभा मे निर्मोही राजा की प्रशंसा हो रही थी कि मध्यलोक में एक राजा बिल्कुल निर्मोही है उसका कुटुम्ब भी निर्मोही है तुरन्त एक देव परीक्षा लेने के लिए आया और उस देव ने योगी का रुप धारण कर लिया। राजा का लड़का उस समय वन में घूमने के लिए जा रहा था उसी समय देव कुंवर का मृतक शरीर लेकर महल में आया, दरवाजे पर उसको दासी मिली और उससे कहा कि राजकुंवर को शेर ने खा लिया है मैं तुम्हें खबर करने आया हूँ। तब दासी कहती है कि इतने क्यों घबरा रहे हो तूने कपड़े ही रंगे हैं। योगी मर्म नहीं जानते, योगी निर्मोही होते हैं। तब देव सोचता है कि यह तो दासी है, यह तो नौकरी करती है ये भला क्यों रोएगी? तुम माता के पास चलो जिसको दुःख होवे। वहाँ जाकर बोले, "माता सुन - "तेरा बेटा शेर ने खा लिया है।" माता कहती है - "हे जोगी! तुम किस लिए चिन्तित हो रहे हो इस संसार में तो जन्म-मरण होते रहते हैं।" तब देव बोला कि यह माता बड़ी कठोर है, गम नहीं खाती। अब

तू इसकी पत्नी के पास चल, वही जाकर असली मुर्दे का रुप कुवंर का नौकर पत्नी को दिखाता है कि तेरा पति सिंह ने खा लिया है। तब रानी कहती है कि - "हे योगी! तेरी बुद्धि कहाँ चली गयी है, तेरे हृदय में मिथ्यात्व का अन्धेरा छा गया है इस संसार में कोई किसी का नहीं है, यह जगत झूठा है, योगी तूने उम्र वैसे ही गंवा दी।" देव शर्मिन्दा होकर राज सभा में आया और बोला राजा साहब तुम्हारे एक ही लड़का है उसे सिंह ने खा लिया। राजा योगी से कहता है "तुम इतना क्यों घबरा रहे हो, होनी थी हो गयी, कर्मों की माया है। जो जन्मा है वह नियम से मरेगा भी। तब देव ने अपना असली रुप बनाया और सामने खड़ा हो गया और कहने लगा - "हे राजन! इन्द्रसभा में जैसी आपकी प्रशंसा सुनी थी उससे अधिक पाया। देवता नमस्कार कर देव लोक को चला गया। हे भव्य प्राणियों तुम भी निर्मोही बनो मोह में पड़कर ही तो जीव अनादि से अनेक भोग भोगता आया। जैसा कहा है -

मोह उदय यह जीव अज्ञानी, भोग भले कर जाने।
जो कोई जन खाय धतूरा, सो सब कंचन मानें॥
मैं चक्री पद पाय निरन्तर, भोगे-भोग घनेरे।
तो भी तनिक भये नहीं पूरण, भोग मनोरथ मेरे॥

आइये, अब हम राम के पास चले, मै आपको राम के पास ले चलता हूँ। उनके उस जीवन के पास जिसके कारण उन्हे पुरुषोत्तम राम की उपाधि प्राप्त हुई है। किस प्रकार राम ने मोह को तोड़ा। सारे नगर मे यह वार्ता फैल चुकी थी कि कल राम को राज गद्दी मिलने वाली है। सम्पूर्ण नगरी इस स्वर्णिम अवसर की आतुरता से प्रतीक्षा कर रही थी। समस्त नगरी मे भव्य तैयारिया हो रही थी। सम्पूर्ण नगर सुन्दरता से सजाया, सवारा जा रहा था। रात्रि को नगरवासियो ने अपने-अपने दरवाजो पर घी के दीपक जलाये। लोग खुशिया मना रहे थे गीत सगीत की बड़ी-बड़ी सभाओ के आयोजन हो रहे थे, मनोरजन के कार्यक्रम निरन्तर चल रहे थे। जिस प्रकार आजकल आप लोग भी दीवाली की रात्रि को रात भर जागरण करते हो खुशिया मनाते हो, और न जाने क्या-क्या करते हो, यह सब बाते आप सब को ज्ञात है ही (हसी का ठहाका) मै स्वय उस विषय मे कुछ नही कहूँगा। किन्तु उस नगरी मे सुबह कुछ अलग अनपेक्षित दृश्य दिखाई दिया। रात भर मे राजगद्दी का सम्पूर्ण कार्यक्रम ही बदल गया सारी प्रजा यह सुनकर अत्यन्त दुखित हुई, उनके चेहरो की हसी न जाने कहाँ विलीन हो गयी। सारा ही परिदृश्य परिवर्तित हो गया, जलते दीप बुझ गए, सारी खुशिया विलीन हो गई सब हतप्रभ रह गए हुआ क्या? कुछ भी तो नही हुआ केवल राम के स्थान पर भरत को राजगद्दी व रामचन्द्र जी ने स्वेच्छा से वन मे जाने का निश्चय किया। बस इतना ही तो हुआ, परन्तु इस खबर को सुनते ही मानो समस्त नगरवासियो को लकवा सा मार गया है। परन्तु राम पर इसकी क्या प्रतिक्रिया हुई -

उनका चेहरा तो ऐसा खिल रहा था जैसे मयूर का मन वर्षा के कजरारे मेघो को देखकर

खिल जाता है, जैसे चकोर चन्द्रमा को देखकर, माली अपने उद्यान में खिले हुए रंगबिरगें सुगन्धित पुष्पों को देखकर, दुकानदार अपने ग्राहकों को देखकर, विद्यार्थी अपना उत्तम परीक्षा फल देखकर, मा अपने लाल को देखकर, प्रेमी अपनी प्रेयसी को देखकर तथा उषा अपने भास्कर को देखकर प्रसन्न होती है। उनका अन्तर्मन यथार्थ मे प्रफुल्लित हो उठता है, खिल उठता है। वे कहने लगे - कि वास्तव में आज अन्धे को आखे मिल गयी।

इधर समस्त नगरवासी कह रहे थे कि आज राम के पापो का उदय हो गया तथा हमारे भी समस्त पापो का उदय हो गया अब राम हमारे बीच मे हमारे साथ नहीं रहेगें। अब इन्हें इन सुन्दर महलो मे रहने को नहीं मिलेगा वे अपनी इच्छा से वन को जा रहे है।

समस्त नगर वासी भगवान से करुण स्वर से प्रार्थना कर रहे थे कि हे प्रभु! हमारे समस्त पापो को क्षमा करो, भगवान राम को हमारे ही बीच मे रहने दो।

देखो भक्त कितना चालाक होता है। इधर स्वय पाप करता है और भगवान से कहता है कि मुझे क्षमा करो। एक तो वह भोगो को छोड़ना नहीं चाहता और भगवान को प्राप्त करना चाहता है। अरे, जब उन्हे राम से इतना ही प्रेम है तो उनके साथ वन में क्यो नही चले जाते? वहाँ राम निरन्तर तुम्हारे साथ ही रहेगे, परन्तु नही, वे वन मे नही जाना चाहते।

यही ससारी प्राणियो की वास्तविक मायाचारी है, यही उनके मोह का वास्तविक रुप है। इसी समय उनकी वास्तविकता की, राम के प्रति प्रेम की परीक्षा हो जाती है, जो मोही होता है वह तो भोगो मे लिप्त हो राम को भूल जाता है परन्तु जिसे राम से वास्तव में प्रेम है वह समस्त भोगो को छोड़कर उन्हे तृणवत् समझकर एक क्षण मे उनका त्याग करके भगवान से सलग्न हो जाता है। जहाँ भोगो की कीमत होती है, उन्हे प्राधान्य दिया जाता है, वहाँ पर आत्मा की कोई कीमत नही होती, किन्तु जहाँ आत्मा की कीमत होती है, वहाँ भोगों के लिए चाह ही नही होती। यह सब दृश्य राम अपनी आँखो से प्रत्यक्ष देख रहे थे । उनका अनुभव कर रहे थे साथ ही वन जाने की तैयारी भी कर रहे थे।

अकस्मात् उनके प्रिय भाई लक्ष्मण सामने आ गए और कहने लगे-भाई! क्या यह सब सच है जो मै सुन रहा हू तब राम ने कहा मुझे इस बात का पता चल गया कि अवश्य मैंने पूर्वजन्म मे पुण्य कार्य किये थे, जिनका उदय आज आ गया है। वन में रह कर जीवनयापन करने का सुअवसर पुण्यात्माओ को ही मिलता है। यहाँ इस भोगमय जीवन में तो मात्र पाप ही होता है यहाँ लोगो की दृष्टि मे भोगो को भोगना ही पुण्य है परन्तु मेरी दृष्टि में तो चेतन आत्मा का भोग भोगना अर्थात् साधु बनना ही पुण्य है। भोग सामग्री तो अन्य प्रयत्न से ही सबको सुलभ हो सकती है, परन्तु साधु बनना, इस स्थिति को प्राप्त करना सबके लिए इतना सरल नहीं है। इन वैराग्यपूर्ण तत्त्व की बातों को सुनकर लक्ष्मण की आखो मे अश्रु छलछला आये। राम ने

कहा-शान्त हो लक्ष्मण। हम सब रघुवशी है, मैं अभी मोहनीय कर्म का तीव्र प्रभाव देख रहा हूँ। तुम शान्त मन से मेरी बातो को सुनो एव उन पर निष्पक्ष रुप से विचार करो।

मोह के इस महल से बाहर आना वास्तव मे अत्यन्त कठिन कार्य है। सोचो यह कितना सुन्दर अवसर है। हम लोग मोह के महल से बाहर निकल रहे हैं। धन्य है मेरी मां और धन्य है ऐसे पिता जिन्होने अपने बेटो को अनन्त आकाश के नीचे वनो मे विचरण करने की अनुमति प्रदान की है। जरा सोचो, विचार करो आज हमारा भाग्य यथार्थ मे बदल गया है। हमारा भाग्य सूर्य आज अपनी बुलन्दी पर है। वैसे तो नक्षत्रो का स्थान उच्च आकाश ही है। यदि वे पृथ्वी पर नीचे आवे तो उनकी कीमत, उनकी योग्यता कम हो जाती है यह आत्मा अत्यन्त रहस्यपूर्ण है। इसका मूल्याकन करने के लिए तथा इसके रहस्य को समझने के लिए सर्वस्व का त्याग नितान्त आवश्यक है। इस रहस्य का वास्तविक ज्ञान एकाकी रहते मे ही होता है। हम अपने सकल्प और विकल्प के माध्यम से ही कभी छोटा कभी बड़ा समझ लेते है। यह एक अणु से लेकर महामत्स्य के सदृश बन सकता है। यह सम्पूर्ण खेल स्वय के भावो पर आधारित है। यह अनन्त आकाश की विशालता, असीम विस्तार भी पा लेता है (केवलीसमुद्घात-के समय) परमात्मा बनना तो स्वय के विचारो पर, भावनाओ की परिपूर्णता पर निर्भर करता है। अत: जब हम स्वय अपने निर्माता है, स्वय अपने विधाता है तब फिर विधाता बनने मे विलम्ब क्यो? तुम्हें मालूम नही है लक्ष्मण। जो तुच्छ से मोह (प्रेम) करता है वह भाव तुच्छ बनकर ही रह जाता है। जो महान से मोह (प्रेम) करता है वह निश्चय ही महान बन जाता है। अत: अब मैं अनन्त आकाश मे विचरण करना चाहता हूँ। यह मेरी चिरसचित आकाक्षा आज पूरी होती दिखाई दे रही है। अत: मै तुम से भी यह कहता हूँ कि इन तुच्छ वस्तुओ का मोह त्याग कर परमात्मा से ही प्रेम करो। यदि चाहना ही है तो परमात्मा को चाहो, पाना ही है तो परमात्मा को पाओ, अपनी आत्मा को पाओ, देखना ही है तो अपनी आत्मा को देखो। बाहर के ये सब सुख भोग तो कागज के फूलो के समान है जिनमे मात्र ऊपर से ही रग रोगन लगा है जो मात्र अल्प वर्षा मे ही विनष्ट हो जायेगी ये दूर से ही आकर्षक लगते है परन्तु इनमे मूलत: आकर्षण के कोई स्थायी गुण विद्यमान नही है। ये भोग मानव को तृप्ति प्रदान करने का पूर्णरुपेण का विश्वास दिलाते है, वैसी प्रबल आशा भी बाधते है। परन्तु यर्थाथ मे देते कुछ नही है। वे मानव को अपने पास बुलाकर उसका सब कुछ लूट लेते है।

यह तो उसी प्रकार है जैसे बादल दूर से झुके हुए ऐसे दिखाई देते है कि अब ये धरती से मिलने ही वाले है परन्तु मिलते कभी नही, इनके जितने भी समीप जाओ, ये उतने ही दूर भागते जाते है। इसी प्रकार ये भोग भी सुखी बनाने का आश्वासन तो देते है परन्तु तृप्ति प्रदान नही करने अपितु तृष्णा अधिक बढ़ा देते है यह सब सीमित है एक निश्चित अवधि को लेकर ही मै भी तुम्हे असीमित के पार ले जाना चाहता हूँ।

लक्ष्मण फिर भी उदास रहे, तब राम ने कहा - मोह की ज्वाला में सत्य की निर्मल शीतलता के दर्शन कभी नही हो सकते अर्थात् जब तक इस आत्मा से मोहरुपी अग्नि की ज्वालाए निकल रही है तब तक उसे सत्य रुपी शीतलता का कदापि अनुभव नहीं हो सकता। राम का यह सम्बोधन मात्र लक्ष्मण के लिए नही था अपितु उनका लक्ष्य समस्त मानव प्राणियो की ओर था। जब लोगो ने राम के मुख से यह अमृत वचन सुने तो सहसा समस्त नगर वासियो के मुख से यह आवाज पृथ्वीतल पर गूज आयी कि - धन्य है ऐसे माता-पिता जिन्हे राम जैसा पुत्र मिला।

धन्य है वह पत्नी जिसे राम जैसा शान्त प्रतिबिम्ब पति रुप मे प्राप्त हुआ। धन्य है वह भाई जिसे राम जैसा सन्त भाई मिला।

राम की जय-जयकार से आकाश गूंज रहा था। परन्तु राम का ध्यान कही और ही था। उनके मन मे बारम्बार रह-रह कर यही विचार उठ रहे थे कि जिन द्वारों के माध्यम से मोह का आगमन हुआ है, उन्ही द्वारो के माध्यम से उसकी विदाई भी तो हो सकती है।

अब मै इस तुच्छ मोह की प्रखर ज्वाला को समाप्त कर शाश्वत शान्ति की तथा सत्य की शीतलता का अनुभव करुगा। लक्ष्मण तुम भी इस मोह का त्याग करो। यह सत्य है कि जो व्यक्ति प्रकाश की ओर कदमो को नही बढ़ाता वह अन्धकार मे ही रह जाता है। तथा अन्धकार मे रहना ही तो मोह का समर्थन करना है एव मोह का समर्थन करना अर्थात् आत्मघात ही करना है।आत्मघात से बढ़कर दुनिया मे कोई अपराध नही है वैसे ससार मे इसके बन्धनो में रहना ही अपराध है यह ससार मोह ग्रस्त प्राणियो के लिए कारागार ही है, अब मै इस कारागार में रहना नही चाहता। हम पृथ्वी पर रेगने वाले क्षुद्र कीडो के रुप मे क्यो जीवन यापन करें जबकि हमारे पास अनन्त आकाश मे उड़ने के लिए सशक्त पख विद्यमान है अब हमे इस शक्ति का उपयोग करके अनन्त आकाश मे यात्रा करनी चाहिए । जिसे इस ससार मे रहना अभी भी अभीष्ट है वह तो इसके मोह मे फस कर इस अपूर्व निधि से सर्वदा के लिए अपरिचित रह जाता है तथा जिसे परमात्मा अभीष्ट है वह अपनी इस अपूर्व शक्ति से परिचित होकर सदा के लिए अजर-अमर हो जाता है। अत: अब इस ससार रुपी जेल मे कैदी बनकर अपराधी की भाति नहीं रहना है। अब तो वास्तविक रुप से समृद्ध बनना है।

लक्ष्मण ने अत्यन्त ध्यानपूर्वक राम की इन बातों को सुना और कहा - भैया। आज आपने मुझे सचेत कर दिया अब मैं भी आपके साथ वन मे चलूंगा । मैं भी देखता हूँ कि इस भरी सभा में से कौन वनगमन हेतु बाहर निकल कर आता है। राम समझ गए, लक्ष्मण समझ गए कि पराधीनता को स्वीकार करना यह अतिकायर मानव का काम है। अत: उन्होंने कायरता का परित्याग कर साहस का परिचय दिया।

परन्तु मुझे तो ऐसा लगता है कि सम्पूर्ण सभा में इस अपूर्व अद्भुत साहस का परिचय देने वाला कोई भी नहीं है। मोह में मानव पागल के समान हो जाता है फिर उसके उदय में वही मानव क्या क्या उपहासास्पद कर्म नहीं करता। वह नित्य नाना प्रकार की अतिरंजित कल्पनाएं किया करता है। इसकी कथा तो अकथनीय है और शक्ति मोह से ग्रस्त प्राणी के लिए अजेय है। लक्ष्मण का मोह भी कुछ इसी प्रकार का था। राम की याद में उन्होंने अपने प्राण खो दिए थे।

एक बार इन्द्र की सभा में चर्चा चल रही थी कि भरतक्षेत्र में राम और लक्ष्मण के समान भ्रातृप्रेम किसी मे भी नही है। एक देव ने उस सभा मे यह चर्चा सुनी ओर उसके मन मे लक्ष्मण की परीक्षा लेने की भावना बलवती हो उठी। उसने अपनी विक्रिया से ऐसा वातावरण बनाया कि सारा नगर शोकाकुल दिखाई पड़ने लगा। नर-नारी का करुण क्रन्दन नगर के प्रशान्त वातावरण को अशान्त करता हुआ आकाश मे प्रतिध्वनित होने लगा। ऐसी स्थिति मे वह देव रक्तरंजित वस्त्र लेकर लक्ष्मण के समीप अचानक आ उपस्थित हुआ एव रुधे कण्ठ से उसने राम के मरण की बात कह दी इस अशुभ समाचार के कर्णपुट मे प्रवेश करते ही लक्ष्मण तत्काल ही निष्प्राण हो गए। उनके मुख से 'हा राम' इन शब्दो का उच्चारण भी न हो पाया। राम के प्रति प्रगाढ मोह की इस भावना ने उन्हे एक क्षण भी सोचने का अवसर प्रदान नही किया। अत: 'हे भैय्या राम' कहकर प्रणान्त हो गया। मोह की महिमा अत्यन्त निराली, अत्यन्त अद्भुत है। अब तुम अपने इस चचल अशान्त मन को इस मायावी ससार के छल कपट से हटाकर अपनी शुद्ध पवित्र आत्मा को भगवान के श्रीचरणो मे अर्पित कर दो। उनके साथ एक रुप होने का प्रयत्न करो। इसी मे सार है। बाकी सब बेकार है। इस ससार मे आत्मबल से बढ़कर अन्य कोई वस्तु श्रेष्ठ नही है। अब तुम ही देखो, लक्ष्मण ने केवल मोह के वशीभूत होकर अपने प्राण त्याग दिए। इधर राम का क्या हाल हुआ वह भी सुन लो। राम भी लक्ष्मण के मोह में 6 माह तक उन्हे अपने कन्धे पर लिए घूमते रहे। 6 माह तक उन्होने किसी की कोई बात नही मानी। **बुद्धि को विपरीत कर देना, उसे आत्म हित की बात न सोचने देना यह सब कार्य मोह का ही तो है।**

जब सीता का लोकपवाद हुआ तब राम ने उससे अग्नि परीक्षा देने को कहा। राम की आज्ञा शिरोधार्य कर सीता भी तत्काल अग्नि परीक्षा के लिए प्रस्तुत हो गयी। इस परीक्षा मे वह निष्कलक-निष्पाप सिद्ध हुई। प्रचण्ड दहकता अग्निकुण्ड भी उनके लिए शीतल नीर कुण्ड हो गया। देवों ने भी सीता के इस पवित्र शील की अर्चना की। इस दिव्य परीक्षा के उपरान्त सीता ससार के शारीरिक भोगो के प्रति उदासीन हो गयी, इस ससार के प्रति उसका मोह आकर्षण एक दम समाप्त हो गया, वह पूर्णरुपेण विरक्त हो गई। सीता की इस विरक्तता को देखकर राम उससे कहते है - सीते! तुमने इस कलक को धो दिया, तुम निष्पाप हो, तुम धन्य हो, तुम देवो

के लिए पूज्य हो, चलो हम आज राजमहल की ओर चले। परन्तु आश्चर्य है कि सीता ने राम की ओर दृष्टिपात नही किया, केवल वैराग्य पूर्णस्थिति को प्रत्यक्ष अनुभव करते हुए उसने अत्यन्त विनम्रतापूर्वक मृदु शब्दो मे कहा - अब मै केवल आत्मा का ही कल्याण चाहती हूँ अब मेरे कदम स्वय वन की ओर उठ रहे है। अपने यथार्थ आत्माराम मे लीन होने की ही मेरी इच्छा है, मै केवल उसमे ही साक्षात्कार करना चाहती हूँ, मेरे कदम अब महलो की ओर नही जाना चाहते।

यह सब सुन कर राम व्यथित हो उठे। वे कहते हैं कि - सीते! देखो! मेरे हृदय के पवित्र अश्रु इन नेत्रो मे छलक आये, अब मेरे साथ छलावा मत करो , अब महलो मे चलकर उन प्रासादो को अपने इन पवित्र चरणो से पावन करो। अपने इस लघु देवर की ओर दृष्टिपात करो। अपन इस अनन्य सेवक हनुमान की ओर कृपा दृष्टि ड़ालो, जरा विचार करो, कष्टकाल मे इन्होने हमारी मदद की थी। अपने इन नन्हे-नन्हे लव कुश की ओर देखो, ये अपनी मा का प्यार माग रहे है इसके बिना वे स्वय को कितना असहाय अनुभव कर रहे है, मेरी इन आखो मे एक बार झाक कर देखो सीता, मै तुम्हारे बिना एक पल भी नही रह सकता, निरन्तर मछली की भाति तडपता ही रहा हूँ । तब सीता अत्यन्त सान्त्वनापूर्वक कहती है - आज आप कैसी अजीब बाते कर रहे है आप तो महान ज्ञानी है, आप तो तद्भव मोक्षगामी है। इन क्षणो मे स्वय विरक्ति का अनुभव करना तो दूर रहा उल्टे आप मेरी विरक्ति मे बाधा उत्पन्न कर रहे है। आज आपका विवेक कहाँ खो गया है।

यह वही सीता है मेरे बन्धुओ! जो एक समय अशोकवाटिका मे राम के दर्शन की लालसा मे अन्नजल का त्याग करके बैठ गई थी। अहर्निश जिसका चन्द्रमुख आसुओ से गीला रहता था, जिसे राम के विवेक पर पूर्ण विश्वास था आज वही सीता राम से प्रत्यक्ष पूछ रही है कि राम तुम्हारा विवेक कहा खो गया? आज सीता यथार्थ मे पूर्ण रुप से मोह से मुक्त हो चुकी है, उसका विवेक जाग्रत हो चुका है वह अब समझ गयी है कि नश्वर शरीर के सुखो भोगो की आकाक्षा मे दुख दर्द पीड़ा सन्ताप के सिवाय कुछ भी नही है। यह शरीर ही मात्र समस्त दुखो का कारण है अत: इससे मोह करना व्यर्थ है।

मोह की माया भी कितनी विचित्र है देखिये, राम जैसे पुरुष भी इसके चक्कर मे फसकर सीताहरण के उपरान्त पत्थरो से, वन वृक्षो से, लताओ से पूछते थे कि मेरी सीता कहाँ है। तुमने उसे कही देखा है, इस प्रकार निरन्तर वह विरह व्यथा से व्याकुल रहते थे। वे ही राम आज सीता से भोगो की याचना कर रहे है। वाह रे मोह राजा! चेतन पर खूब जादू चलाया है तूने। तीनो लोको मे ऐसा कौन सा स्थान शेष रह गया जहाँ मोह राजा का साम्राज्य न हो। जब राम एव सीता पर ही इसका जादू चल गया तब ससारी मायाचारी प्राणियो की बिसात ही क्या है? सीता तो तप करके स्वर्ग मे अहमिन्द्र हुई। उधर समय आने पर राम दिगम्बर मुनि बने। सीता

के जीव को स्वर्ग मे राम का मोह आता है, राम तो ध्यान मे बैठे थे। सीता के जीव ने विक्रिया से, रावण सीता का रुप बनाया। रावण सीता को घसीट रहा है। राम तो आत्माराम को जान चुके थे, निर्मोही हो चुके थे सीता का रावण कुछ भी करे, हमें कोई प्रयोजन नहीं समय मिलने पर राम ने क्षपक श्रेणी चढ़कर बारहवे गुणस्थान में मोह नष्ट कर दिया। तुरन्त केवलज्ञान हो गया कुछ समय बाद कर्मो की श्रृखलाये काटकर मोक्ष चले गए । अत: आप से कहता हूँ कि मोह को, इसके छलावे को पहचानो, इसका त्याग करके आत्मा मे चैतन्य की खोज करो । ''तुषमांस भिन्नम्'' कहने वाले भी केवली हो गए। जिनवाणी का सार यही है। आप अपने स्वयं को चारित्र का सबल लेकर इस प्रकार रमा लो तथा इस प्रकार एक रूप हो जाओ जैसे शक्कर पानी मे घुल जाती है। अपने उपयोग मे दत्तचित हो जाओ। अपने तन मन की पूर्णसुधि विस्मृत कर दो। तभी आपका वास्तविक कल्याण सम्भव है।

अणुमात्रादपि ग्रन्थान्मोहग्रन्थिर्दृढी भवेत्।
विसर्पति ततस्तृष्णा यस्यां विश्व न शान्तये ॥

अणुमात्र परिग्रह रखने से मोह ग्रन्थि दृढ़ होती है। जिससे तृष्णा की अभिवृद्धि होती है। जिसकी शान्ति तीन लोक की सम्पत्ति से भी नहीं होती।

द्वितीय अध्याय : शलाका एवं पुराण पुरुष

जिसके द्वारा भव्य जीव संसार से तिरते हैं वह तीर्थ है। कुछ भव्य, श्रुत अथवा अवलम्बनभूत गणधरों के द्वारा संसार से तिरते हैं। अतः श्रुत और गणधरों को भी तीर्थ कहते हैं। इनको जो करते है, वे तीर्थंकर हैं। तीर्थ शब्द से रत्नत्रय रूप मार्ग भी जाना जाता है। उसके करने से तीर्थंकर होते हैं। वे जन्मतः मति-श्रुत और अवधिज्ञान तथा दीक्षा के पश्चात् मनःपर्यय ज्ञान के धारी होते हैं। स्वर्ग से गर्भ में आने पर जन्माभिषेक और तप-कल्याणादि पाँच कल्याणकों में चार प्रकार के देव उनकी पूजा करते हैं। उनको मोक्ष की प्राप्ति नियम से होती है फिर भी वे अपने बल और वीर्य को न छिपाकर तप के अनुष्ठान में उद्यत रहते हैं।

दर्शनविशुद्धि, विनयसम्पन्नता, शील और व्रतों का अतिचार रहित पालन करना, ज्ञान में सतत उपयोग, सतत संवेग, शक्ति के अनुसार त्याग, शक्ति के अनुसार तप, साधु समाधि, वैयावृत्य करना, अरिहंत आचार्य, बहुश्रुत और प्रवचन भक्ति, आवश्यक क्रियाओं का न छोड़ना, मोक्षमार्ग की प्रभावना और प्रवचन वात्सल्य ये तीर्थंकर बनने के कारण है।

इन सोलह भावनाओं से जो महापुरुष भावित होते है वे ही आगे जाकर उन भावनाओ के फलस्वरुप तीनो लोक के उपकारी धर्मतीर्थ के प्रवर्तक पाँच कल्याणक से मडित तीर्थंकर होते है कल्याणक पाँच है -

1. गर्भकल्याणक
2. जन्मकल्याणक
3. दीक्षाकल्याणक
4. केवलज्ञानकल्याणक
5. मोक्षकल्याणक

प्रथम तीर्थंकर अदिनाथ

इस हुण्डावसर्पिणी काल के चौबीस तीर्थंकर हुए। प्रस्तुत अध्याय मे हम उन्ही तीर्थंकर विशेष के जीवन चरित्र का उल्लेख कर रहे है जिनके विषय मे शिलालेखों, प्राचीन वाङ्मय एव जैनेतर ग्रथो मे सदर्भ मिलते है। इस युग के प्रथम धर्मप्रवर्तक तीर्थंकर आदिनाथ है । उनके दूसरे नाम ऋषभनाथ या वृषभदेव, आदिब्रह्म या पुरुदेव भी है । भगवान ऋषभदेव अपने पूर्व भवो मे 1. महाबल राजा 2. ललिताग देव 3, वज्रजघ राजा 4. भोगभूमि मे सम्यक्त्व प्राप्ति 5 श्रीधरदेव 6 सुविधिराजा 7. अच्युतेन्द्र 8. वज्रनाभि चक्रवर्ती 9. सर्वार्थसिद्धि अहमिन्द्र रुप में

विराजमान रहे हैं।

भरतक्षेत्र में "अयोध्या की रचना"- भरतक्षेत्र में तीसरे काल के अन्त मे जब सब कल्पवृक्षो का अभाव हो गया, तब नाभिराजा और मरुदेवी से अलंकृत स्थान में उनके पुण्य के द्वारा बुलाये हुए इन्द्र ने अयोध्या नगरी की रचना की। उस समय जो मनुष्य जहाँ-तहाँ बिखरे हुए रहते थे, देवो ने उन सब को लाकर उस नगरी में बसाया और सब की सुविधा के लिए अनेक प्रकार के उपयोगी स्थानो की रचना की। उस नगरी के मध्य में देवों ने राजमहल बनाया था। वह राजमहल इन्द्रपुरी के साथ स्पर्द्धा करने वाला था और बहुमूल्य अनेक विभूतियों से सहित था। छह माह बाद ही भगवान ऋषभदेव यहाँ स्वर्ग से आकर अवतार लेगें ऐसा जानकर देवो ने बड़े भाव सहित आकाश से रत्नों की वर्षा प्रारम्भ की थी। इन्द्र की आज्ञा से नियुक्त हुए कुबेर ने हरिन्मणि, इन्द्रनीलमणि, पद्मरागमणि आदि उत्तम रत्नो की धारा को नाभिराय के आगन मे वर्षाई थी। इस प्रकार से स्वामी ऋषभदेव के स्वर्गावतरण से छह महीने पहले से लेकर पीछे नौ माह तक अर्थात् पन्द्रह माह तक रत्न तथा स्वर्ण की वर्षा होती रही।

माता के सोलह स्वप्न - किसी दिन महारानी मरुदेवी ने राजमहल मे सोते समय रात्रि के पिछले प्रहर मे जिनेन्द्र देव तीर्थंकर के जन्म सूचक सोलह स्वप्न देखे । ये इस प्रकार हैं - 1 ऐरावत हाथी 2. शुभ बैल 3. सिह 4. हाथो के द्वारा स्वर्णमय कलशो से अभिषिक्त होती हुई कमलासन पर बैठी लक्ष्मी 5. दो पुष्प मालाए 6. पूर्ण चन्द्र मंडल 7. उदित होता हुआ कमलासन सूर्य 8. कमल पत्र मे आवृत स्वर्ण के दो कलश 9. सरोवर मे क्रीड़ा करते हुई दो मछलियाँ 10. कमलयुक्त सुन्दर तालाब 11. लहरों से युक्त समुद्र 12. रत्ननिर्मित उत्कृष्ट सिंहासन 13 रत्नो से दीप्यमान स्वर्ग का विमान 14. नागेन्द्र भवन 15. किरणो से शोभित रत्नो की राशि 16. निर्धूम अग्नि। सोलह स्वप्नों को देखने के बाद मरुदेवी ने देखा कि स्वर्ण के समान पीली कान्ति का धारक उन्नत कन्धे वाला बैल हमारे मुख कमल मे प्रवेश कर रहा है। ऐसे मगल स्वप्नो से मरुदेवी माता जागी। उत्तम स्वप्न देखने से उन्हे अत्यन्त आनन्द हो रहा था और सारा जगत अतिशय प्रमोद भरा लग रहा था पश्चात् राजभवन मे जाकर महाराजा नाभि से अपने मंगल स्वप्नो की बात कही कि हे देव! मैने आज रात्रि प्रहर मे आश्चर्यकारी सोलह स्वप्न देखे हैं उनके क्या फल है? वह आपके श्रीमुख से सुनना चाहती हूँ। तब नाभिराय महाराज निमित्तज्ञान द्वारा उन स्वप्नो का उत्तम फल विचार कर कहने लगे - हे देवी इस भरत क्षेत्र के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की आत्मा तुम्हारे गर्भ में आई हैं इस लिए तुम "रत्नकोख धारिणी" बनी हो। तुम्हारे देखे हुए मंगल स्वप्न ऐसा सूचित करते हैं कि अपना पुत्र महान गुण सम्पन्न होगा। उनका अलग-अलग विवरण इस प्रकार है -

1. गज देखने से देवी तेरा पुत्र उत्तम होगा।
2. शुभ वृषभ से फल यही वह जगत गुरु भी होगा।

3. सिह दर्शन से वह अपूर्व शक्तिधारी होगा।
4. पुष्पोत्तम माल से वह तीर्थकर्ता होगा।
5. कमलान्हवन का फल यही सुरगिरि न्हवन सुरपति करें।
6. अरु पूर्ण शशि के देखने से जगत जन सब सुख भरे।
7. वर सूर्य से वह हो प्रतापी।
8. कुम्भयुगल से निधिपति।
9. सर देखने से सुभग लक्षण धार होवे जिनपति।
10. युगमीन खेलत देखने से हे प्रिये! चित्तधार सुनो, होवे महा आनन्दमय वह पुत्र अनुपम गुण घनो।
11. सागर निरखते जगत का गुरु सर्वज्ञानी होगा।
12. वर सिह आसन देखने से राज्य स्वामी होगा।
13. अरु सुर विमान सुफल यही है वह स्वर्ग से चय होगा।
14. नागेन्द्र भवन विलास से वह अवधि ज्ञानी होगा।
15. बहुरत्न राशि दिखाव से वह गुण खजान होगा।
16. वर धूम रहित जु अग्नि से वह कर्म विध्वसक होगा।

वर वृषभ मुख प्रवेश फल श्री तुझ उर अवतरे,
हे देवि! तू पुण्यात्मा आनन्द मंगल नित भरे ।

गर्भ कल्याणक - नाभिराजा के श्री मुख से ऐसा स्वप्न फल सुनकर मरुदेवी को अत्यन्त हर्ष हुआ। इस प्रकार इस अवसर्पिणी के तीसरे काल (सुखम दुःखम काल) मे जब चौरासी लाख पूर्व तीन वर्ष माह और एक पक्ष शेष थे तब आषाढ़ कृष्ण द्वितीया के शुभ दिन उत्तराषाढ़ नक्षत्र मे, वज्रनाभि अहमिन्द्र की देवलोक की आयु पूर्ण होने पर सवार्थसिद्धि विमान से चयकर ऋषभ तीर्थंकर मरुदेवी माता के गर्भ मे आये। भगवान का गर्भावतरण होते ही इन्द्रलोक मे घण्टानाद मगल चिह्न प्रगट हुए, उनसे भगवान के गर्भकल्याणक का प्रसग जानकर इन्द्रादि देव वहाँ आये और अयोध्या नगरी की प्रदक्षिणा करके भगवान् के माता-पिता को नमस्कार किया। कही विभिन्न प्रकार के बाजे बज रहे थे, कही गीत गाये जा रहे थे, कही नृत्य हो रहे थे, इस प्रकार से मगल उत्सव हुआ। दिग्कुमारियाँ देवियाँ अनेक प्रकार से मरुदेवी माताकी सेवा करती थी और कहती थी - हे माता! गर्भस्थ पुत्र द्वारा आपने जगत का सताप नष्ट किया है इसलिए आप जगत को पावन करने वाली जगत् माता हैं। वे देवियाँ अनेक प्रकार

से आनन्द प्रमोद सहित मरुदेवी माता के साथ प्रश्नचर्चा भी करती थीं। मरुदेवी माता सहज बुद्धि से ऐसे सुदर उत्तर देती थी मानो उनके उदर में विद्यमान तीर्थंकर ही बोल रहे हो। कैसे सुन्दर थे वे प्रश्नोत्तर, वह हम सब भी जाने -

वे देवी पूछती -

हे माता! जगत मे उत्तम रत्न कौन सा है?

माता- सम्यग्दर्शन रत्न जगत मे सर्वश्रेष्ठ है।

देवी- जगत मे किसका वाङ्मय सफल है?

माता- जो आत्मा की साधना करे उसका वाङ्मय सफल है।

देवी- माता! जगत मे कौन स्त्री उत्तम है?

माता- जो तीर्थंकर समान पुत्र को जन्म दे वह और जो सम्यग्दर्शन प्राप्त करके स्त्री पर्याय का छेद करे वह स्त्री उत्तम है।

देवी - हे माता! जगत मे बहरा कौन है?

माता -जो जिन वचनो को नही सुनता।

देवी - माता! शीघ्र करने योग्य कार्य कौन सा है?

माता -मोह को त्याग और मोक्ष की साधना।

देवी - हे माता! किसे जीतने से तीनो जगतवश मे होते है?

माता -मोह की जीतने से तीनों जगत वश में होते है।

देवी - जगत में किसकी उपासना की जाए?

माता -पचपरमेष्ठी भगवान की और उनके जैसे अपने शिशु शुद्धात्मा की।

देवी - देवेन्द्र किसे पूजे ऐसा उत्तम पुरुष कौन?

माता -'मेरा पुत्र' अर्थात् तीर्थंकर भगवान।

देवी - ससार के जीव क्यो दु:ख पाते है?

माता -सुख से भरपूर आत्मा का अनुभव नहीं करते इसलिये दु:ख पाते है।

देवी - हे मात! पुरुष नाम की सफलता कब है?

माता -मोक्ष का पुरुषार्थ करे तब।

देवी - नर काहे के बिना पशु समान है?

माता -भेदज्ञान रुप विद्या रहित नर पशु समान है।

देवी - हे माता! जगत मे कौन सा कार्य उत्तम है?

माता -आत्म ध्यान जगत मे उत्तम कार्य है।

देवी - हे माता! आपके अंतर मे कौन विराजमान है?

माता -जगत गुरु भगवान ऋषभदेव।

जन्म कल्याणक - नौ महीने व्यतीत होने पर श्री, ह्री आदि देवियो से सेवित माता मरुदेवी ने चैत्र कृष्णा नवमी के दिन सूर्योदय के समय उत्तराषाढ़ा नक्षत्र और ब्रह्म नामक महायोग मे मति, श्रुत और अवधि इन तीनो ज्ञानो से शोभायमान, बालक होने पर भी गुणो से वृद्ध तथा तीनो लोको के एकमात्र स्वामी दैदीप्यमान पुत्र श्री ऋषभदेव को उत्पन्न किया।

इन्द्र का आगमन- तदनन्तर सौधर्म स्वर्ग के सौधर्म इन्द्र ने इन्द्राणी सहित एक लाख योजन विस्तृत ऐरावत हाथी पर चढकर अनेक देवो से परिवृत हो प्रस्थान किया। इन्द्र की आज्ञा पाकर स्वर्गो से हाथी घोड़े आदि सात प्रकार की सेनाएँ, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद आदि सभी प्रकार के देव इन्द्र को चारो ओर से घेर कर चलने लगे। सभी देव-देवेन्द्र अपने अपने विमानो और पृथक्-पृथक् वाहनो पर चढ़कर जय जय शब्दोच्चारण करते हुए समस्त आकाश रुपी आंगन को व्याप्त कर आ रहे थे। देवो से घिरे हुए सौधर्म इन्द्र अयोध्या नगरी की तीन प्रदक्षिणा देकर अयोध्यापुरी मे पहुँच गए।

प्रसूति गृह से इन्द्राणी द्वारा जिनबालक का लाना- माता मरुदेवी जी के महल मे जाकर इन्द्राणी ने अत्यन्त प्रेम से ऋषभकुमार तथा जिनमाता मरुदेवी के दर्शन किए और प्रदक्षिणा देकर स्तुति करने लगी, हे माता! आप मंगलरुप है, पुण्यवान है, महान् देवी है और तीन लोक का कल्याण करने वाली है।

पश्चात् इन्द्रजाल द्वारा माता मरुदेवी जी को निद्राधीन कर दिया और विक्रिया द्वारा दूसरा मायामयी शिशु उनके पास रखकर जिनकुमार को उठा लिया। अहो! चूड़ामणि रत्न समान उन जगत गुरु जिनबालक को अपने दोनो हाथो मे उठाते हुए इन्द्राणी को परम हर्ष हुआ, उत्कृष्ट प्रीतिपूर्वक वह बारम्बार बालक का मुख देख रही थी । बारम्बार उसके शरीर का स्पर्श कर रही थी और बारम्बार चूमती थी। अत्यन्त दुर्लभ ऐसे भगवान का स्पर्श प्राप्त होने से मानो तीनो लोक का वैभव प्राप्त हुआ हो।

एरावत हाथी के निकट आकर इन्द्राणी ने जिन बाल को इन्द्र के हाथ मे दिया और इन्द्र अत्यन्त हर्षोल्लास पूर्वक पुलकित नयनो से उनका मनोहारी रुप देखने लगा तथा स्तुति करने लगा - 'हे देव! आप केवलज्ञान सूर्य को उदित करने वाले उदयाचल हो, अज्ञानांधकार मे डूबा हुआ यह जगत आपके द्वारा ही ज्ञान प्रकाश प्राप्त करेगा। आप गुरुओ के भी गुरु हो, गुणो के समुद्र हो, इसलिए आपको नमन करता हूँ।' इस प्रकार नमन करके सौधर्म इन्द्र भगवान को गोद

मे लेकर ऐरावत हाथी पर आरूढ़ हुआ, ईशान इन्द्र ने भक्ति से छत्र लगाया हुआ था और सनत्कुमार तथा माहेन्द्र यह दोनो इन्द्र भगवान को चॅवर ढुरा रहे थे। इन्द्रो की भक्ति तथा जिनविभूति देखकर अनेक मिथ्यादृष्टि देव भी सम्यक् जैनमार्ग के श्रद्धानी हो गए थे।

इस प्रकार भगवान के जन्माभिषेक की शोभा यात्रा सूर्य चन्द्र से भी बहुत ऊपर निन्यानवे हजार योजन ऊँचे मेरु पर्वत पर आ पहुँची। सुमेरु पर्वत की प्रदिक्षणा के समय तीर्थकर के जन्म कल्याणक का वैभव देखने के लिए देव चारो ओर बैठ गए। बालक तीर्थंकर को मेरु पर्वत पर चूडमणि रत्न के उच्चासन बैठाया था, इन्द्राणी जहाँ आनन्द पूर्वक नृत्य कर रही थी। (देव जहाँ दास थे और क्षीरसागर जिनके स्नान का जलघट था, ऐसे अति प्रशसनीय पवित्र आत्मा भगवान ऋषभदेव समस्त जगत को पवित्र करे, सदा जयवन्त हो) उनके दाहिने अँगूठे मे बैल का चिह्न देख उनका चिह्न बैल का रखा।

अभिषेक के पश्चात् इन्द्राणी ने बाल भगवान के शरीर को पौछा और हर्षपूर्वक स्वर्ग से लाये हुए वस्त्राभूषण बालक ऋषभदेव को पहनाये। ललाट पर तिलक लगाया बालक ऋषभदेव के कर्ण मे इन्द्राणी ने उत्तम मणिमय कुण्डल पहनाये। इस प्रकार वस्त्राभूषणो से शोभित भगवान के अद्भुत रुप को देखकर इन्द्राणी को महान आनन्द हुआ। इन्द्र भी आश्चर्यपूर्वक भगवान का अलौकिक का रुप देखने लगा। पश्चात् भक्तिपूर्वक बालक तीर्थकर की स्तुति करने लगा - 'हे देव! हमे परमानन्द देने के लिए आपका अवतार है। आपकी वाणी के द्वारा हमारे अन्त:करण का तम नष्ट होता है। इस प्रकार इन्द्र भगवान की जन्म कल्याण की शोभा यात्रा सहित अयोध्या मे वापिस आया और बालप्रभु को राजा नाभिराय और मरुदेवी के हाथो मे सौप दिया। उन बालक तीर्थकर को लेकर नाभिराजा का शरीर हर्ष से रोमांचित हो गया और मायामयी निद्रा दूर होने पर माता मरुदेवी भी हर्ष पूर्वक भगवान को देखने लगी। तत्पश्चात् इन्द्राणी ने महामूल्यवान आभूषण अर्पित करके माता-पिता का सम्मान किया और अनेक प्रकार से उनका गुणगान किया। गुणगान करने के पश्चात् इन्द्र ने जगत मे श्रेष्ठ ऐसे भगवान का **ऋषभदेव** नाम रखा। ऋषभ अर्थात्, उत्तम। उनके द्वारा शोभायमान होने से तीर्थकर भगवान को इन्द्रो ने **ऋषभस्वामी** कहा, अथवा भगवान को **पुरुदेव** नाम से भी सबोधित किया। पश्चात् अनेक देव कुमारो तथा देविया को भगवान की सेवा मे नियुक्त करके इन्द्र स्वर्ग मे चले गए।

बालक ऋषभ की बाल चेष्टा- बालक ऋषभदेव की बालचेष्टाएँ आश्चर्यजनक थी। वे मन्द-मन्द हास्य द्वारा माता-पिता के आनन्द मे वृद्धि करते थे। चन्द्रमा के समान वृद्धिगत् उनकी उज्ज्वल बाल्यावस्था जगत को आनन्द देने वाली थी। क्रमानुसार भगवान को वाणी प्राप्त हुई, वे धीरे-धीरे ठुमक-ठुमक कर चलने लगे और सबका आनन्द बढ़ाने लगे । छोटे से भगवान देव बालको के साथ रत्नो की धूल मे खेलते और माता-पिता एव प्रजाजनो को आह्लादित करते थे। धीर-धीरे बचपन बीता और भगवान किशोरवस्था को प्राप्त हुए। महाप्रतापी भगवान का

शरीर किशोरावस्था मे अत्यन्त सौन्दर्य से खिल उठा और गुणों में भी वृद्धि हुई।

ऋषभकुमार का विवाह - किशोरावस्था के बाद ऋषभकुमार ने युवावस्था को प्राप्त किया। उनका रक्त जन्म से ही दूध के समान श्वेत था, शरीर मे किसी प्रकार, का मैल, पसीना (स्वेद) एव विष नहीं था वह शस्त्र से अभेद्य औदारिक था फिर युवावस्था में उनका रुप लावण्य से अद्‌भुत शोभयमान हो उठा।

ऋषभकुमार की युवावस्था देखकर नाभिराजा उनके विवाह के बारे में सोचने लगे और एक दिन ऋषभकुमार से सहमति लेकर उनका विवाह इन्द्र की सलाह से कच्छ और महाकच्छ राजा की दो पुत्रियो यशस्वती (नन्दा) एव सुनदा के साथ कर दिया। देवों ने भी उनके विवाहोत्सव मे भाग लिया। पुत्र वधुओ को देखकर नाभिराजा और मरुदेवी अति प्रसन्न हुए। कुछ समय पश्चात् रानी यशस्वती के क्रमशः भरत आदि सौ पुत्र एव ब्राह्मी नामक पुत्री को जन्म दिया और सुनन्दा ने बाहुबलि नामक पुत्र एवं सुन्दरी नामक पुत्री को जन्म दिया। धीरे-धीरे वे पुत्र-पुत्रियाँ किशोरवस्था को प्राप्त हुए। एक बार महाराज ऋषभदेव अपने सिहासन पर विराजमान थे, वहाँ ब्राह्मी और सुन्दरी दोनो पुत्रियो ने आकर विनय पूर्वक पिताजी को प्रणाम किया। ऋषभदेव ने उन्हे गोद मे बिठाया और उनके मस्तक पर हाथ रखा । उनके शील एवं विनय की प्रशसा की, फिर कहा तुम्हारे दोनों के ऐसे अनुपम सौन्दर्य और शील को यदि विद्या द्वारा विभूषित किया जाए तो तुम्हारा जन्म सफल हो जाए। ऐसा कहकर ऋषभदेव ने अपने चित्त मे स्थिर श्रुतज्ञान को स्मरण करके दोनो हाथो से **ब्राह्मी को अ, आ आदि अक्षरमाला तथा सुन्दरी को एक दो, तीन आदि अनेक अंक सिखाये और पुत्रों को भी अनेक प्रकार की विद्याए सिखाई।**

प्रजाजनों का मर्गदर्शन और राज्याभिषेक - ऋषभदेव की आयु चौरासी लाख पूर्व थी उसमे से कुमार अवस्था के बीस लाख पूर्व पूर्ण हुए तीसरे काल के अन्त के कारण, कल्पवृक्ष सूखने लगे, उनकी फल देने की शक्ति कम हो गयी, जिससे भयभीत होकर जीने की आशा से प्रजाजन नाभिराजा के पास पहुँचे नाभिराजा ने उन्हे युवराज ऋषभ के पास भेजा। प्रजाजनो ने ऋषभदेव को अपने दु:ख के कारण बताये। उन्होनें भयभीत प्रजा को आश्वासन दिया और मन मे विचार करने लगे कि जैसी रचना पूर्व और पश्चिम विदेह मे वर्तमान मे है, वैसी यहाँ प्रवृत्ति करने योग्य है, जिससे लोगो की आजीविका सुखपूर्वक हो। ऋषभदेव की आज्ञा से इन्द्र ने अनेक जिनमन्दिर एव देशो की रचना की और ऋषभदेव ने उनको, षट्कर्मो (असि-मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्पकला) का आजीविका हेतु उपदेश दिया। यह सब कार्य श्रावण कृष्ण प्रतिपदा के दिन हुए। इस रचना द्वारा प्रजा का पालन किया। इसलिए ऋषभदेव प्रजापति कहलाये। प्रजा सुखपूर्वक रहने लगी।

कुछ समय के पश्चात् इन्द्रादि देवों ने आकर ऋषभदेव को सम्राट पद पर विभूषित

करके महान् राज्याभिषेक किया और स्वर्ग से लाये हुए वस्त्र आभूषण पहनाये। नाभिराजा ने अपने मस्तक का मुकुट उतार कर ऋषभदेव के मस्तक पर पहनाया। इस प्रकार सम्राट पद पाकर ऋषभदेव ने प्रजा का भली-भाँति पालन किया और हा! मा! धिक् ऐसे दण्ड की व्यवस्था की।

ऋषभदेव का वैराग्य एवं दीक्षा कल्याण - ऋषभदेव का जन्मदिन मनाया जा रहा था। एक ओर उन्हे राज वैभव मे तिरासी लाख पूर्व बीत गए है। अब इस राज्य और भोगों से भगवान् कब विरक्त होगे? ऐसा विचार कर इन्द्र ने नीलांजना नाम की एक ऐसी देवी को नृत्य में लगाया जिस की आयु कुछ ही क्षण शेष थी। वह नीलांजना देवी हाव भाव से नृत्य कर रही थी। नृत्य करते करते उसकी आयु पूर्ण होने से क्षणभर मे वह विलुप्त हो गई। बिजली की चमक की भाँति उस देवी के अदृश्य होते ही इन्द्र ने उसी जैसी दूसरी देवी नृत्य में उतार दी जिससें रंग में भंग न हो। परन्तु दिव्य ज्ञानवन्त ऋषभदेव वह सब जान गए और ससार की ऐसी क्षणभगुरता देखकर तत्क्षण ही भव-वन भोग सें अत्यन्त विरक्त होकर वैराग्य की बारह भावनाओं का चिन्तन करने लगे। यह जानकर तुरन्त ही ब्रह्म स्वर्ग से लौकान्तिक देवो ने ऋषभदेव के वैराग्य का अनुमोदन किया। तत्पश्चात् ऋषभदेव ने भारतवर्ष के साम्राज्य पर भरत का राज्याभिषेक किया और बाहुबलि को युवराज पद दिया। उसके बाद माता-पिता आदि परिवार से विदा लेकर इन्द्र द्वारा सजायी गई, सुदर्शन नाम की सुन्दर पालकी मे आरुढ़ हुए। ऋषभदेव की पालकी लेकर प्रथम तो भूमिगोचरी राजा सात पग चले, फिर विद्याधर राजा आकाशमार्ग से सात पग चले, और पश्चात् इन्द्र अति हर्षपूर्वक कन्धे पर पालकी लेकर आकाश मार्ग से चले। यह देखकर अनभिज्ञ प्रजाजन ऋषभदेव से प्रार्थना कर रहे थे कि हे देव आप अपना कार्य पूर्ण करके शीघ्र ही हमे दर्शन देने पधारना। प्रभो! आप महान् उपकारी हो, आप हमें छोड़कर और किसका उपकार करने जा रहे हो। इन्द्र पालकी आकाश मे इतनी ऊँचाई पर ले गए जहाँ लोग उन्हे बराबर देख सके।

अयोध्या से कुछ दूर सिद्धार्थ नामक वन मे आकर ऋषभदेव एक पवित्र शिला पर विराजमान हुए। वहाँ उन्होंने सर्व वस्त्राभूषण उतारकर पचमुष्ठि केशलुञ्च किया और अंतरंग-बहिरंग परिग्रह रहित हो गए। पूर्व दिशा के सम्मुख पद्मासन लगाकर 'नमः सिद्धेभ्यः' बोलकर मौन हो गए। यह देखकर, जिनका ऋषभदेव के प्रति अधिक स्नेह था ऐसे चार हजार राजाओ ने भी दीक्षा ली। उन्हें संयम तो प्रकट हुआ नही था, क्योंकि वे मिथ्यादृष्टि थे। कुछ समय पश्चात् वे सभी दिगम्बरत्व से भ्रष्ट हो गए।

ऋषभदेव का प्रथम पारणा - ऋषभदेव का छह मास का ध्यान योग समाप्त हुआ इसके बाद वे आहारचर्या के लिए निकले। वहाँ उन्हे कोई सोने का हार देने को कहता, कोई कुछ, कोई कुछ। इस प्रकार अनेक नगरो व ग्रामो मे विहार करते करते दूसरे छह महीने से अधिक समय निराहार बीत गया।

एक दिन विहार करते हुए हस्तिनापुर नगर मे आ पहुँचे। वहाँ राजा सोमप्रभ और उनके

लघु भ्राता श्रेयासकुमार थे। श्रेयासकुमार को पूर्व के वज्रजघ एव श्रीमति के भव के सारा वृतान्तजाति स्मरण हो आया। उन्होने उस भव मे सरोवर के किनारे दो मुनियों को आहार दिया था। इस प्रकार नवधा भक्तिपूर्वक श्रेयासकुमार ने ऋषभ मुनिराज को 'इक्षु रस' द्वारा आहार दान दिया।

केवलज्ञान कल्याणक - ऋषभ मुनिराज ने एक हजार वर्ष तक अनेक देशो मे विहार किया। पश्चात एक दिन पुरिमता नगर के निकट नाम उद्यान मे पधारे। वहाँ पर शुक्लध्यान द्वारा अत्यन्त दु:खदायी, चारो घातिया कर्मो को भस्म करके ऋषभ मुनिराज केवलज्ञानी विश्वदर्शी सर्वज्ञ हुए । भगवान को केवलज्ञान होते ही इन्द्रासन कम्पायमान हो गया। इन्द्र ने अवधिज्ञान द्वारा भगवान को केवलज्ञान होना जानते ही अत्यन्त आनन्दित होकर नमस्कार किया और केवलज्ञान का उत्सव मनाने के लिए सभी देवो सहित पहुँचे। इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने समवशरण (धर्मसभा) की रचना की। जिस समय प्रभु को केवलज्ञान हुआ उसी समय राजा भरत के शस्त्रागार मे चक्ररत्न उत्पन्न हुआ और उसी समय उन्हे पुत्र रत्न की प्राप्ति हुई एक साथ तीन-तीन बधाइयाँ महाराज भरत के यहाँ आई परन्तु दोनो को छोड़कर वे केवलज्ञान का उत्सव मनाने के लिए पहुँचे। भगवान की दिव्यध्वनि खिरने लगी। इधर राजा भरत छह खण्ड की दिग्विजय के लिए निकले। शेष के सब देशो पर उन्होने विजय प्राप्त कर ली थी। अब शेष रहे 99 मे भाई, उनमे से 98 भाइयो ने तो दीक्षा लेकर केवलज्ञान प्राप्त किया और मोक्ष गए। लेकिन बाहुबलि ने न तो दीक्षा ली और न ही भरत को नमन किया। अन्त मे भरत बाहुबली मे त्रिविध युद्ध हुआ जल, मल्ल एव दृष्टियुद्ध उसमे भरत हारे, और क्रोधित होकर उन्होने बाहुबलि पर चक्र छोडा। परन्तु चरम शरीरी बाहुबलि पर उसका कोई प्रभाव नही हुआ। बाहुबली ने ससार से विरक्त होकर, एक वर्ष का ज्ञान प्रतिमा योग धारण किया। उसी समय भरत ने जाकर बाहुबलि की पूजा की। बाहुबलि को कैवल्य की प्राप्ति हुई और आगे चलकर उन्होने मुक्ति प्राप्त की।

ऋषभदेव का धर्म वैभव - भगवान ऋषभदेव के धर्म सघ मे 84 गणधर; 20,000 केवलज्ञानी; 4,750 श्रुत केवली; 4,150 शिक्षक मुनिवर; 9,000 अवधिज्ञानी मुनिवर; 20,600 विक्रिया ऋद्धिधारी मुनिवर; 12,750 मन:पर्यय ज्ञानी मुनिराज थे। इस प्रकार कुल 84,084 मुनिवरो का सघ विराजमान था।

मोक्षकल्याणक: इस प्रकार एक लाख पूर्व (उसमे एक हजार से तथा 14 दिन कम) तक भारत भूमि मे तीर्थकर रुप मे विहार किया (जब मोक्षगमन करने मे 14 दिन शेष रहे तब पौष शुक्ल पूर्णिमा के दिन कैलाश पर्वत पर योग का निरोध हुआ, दिव्यध्वनि रुक गई। माघ कृष्ण चतुर्दशी के दिन मोक्ष को प्राप्त हुए। सब देशो मे भक्तो ने उनका मोक्ष कल्याणक महोत्सव मनाया। विभिन्न भारतीय वाड्मय के अध्ययन से सिद्ध होता है कि ऋषभदेव एक महान् धर्म,

समाज, शिक्षा, कला, राजनीति, जीवन निर्वाह प्रणाली के समर्थ आविष्कारक, संस्थापक, प्रचारक, प्रसारक थे। आदिनाथ भगवान का व्यापक कार्यक्षेत्र सम्पूर्ण इहलोक, परलोक, ज्ञान-विज्ञान, सभ्यता, सस्कृति, व्यक्ति-समष्टि मे था। भोगभूमि के अवसान के पश्चात् कर्मभूमि के प्रारम्भ के समय मे जो जटिल परिस्थितियाँ मनुष्य समाज के सम्मुख आई थीं, उनको आदिनाथ ने स्वप्रज्ञा से समाधान करके एव उचित मार्ग समाज को दृष्टिगोचर कराकर समाज सुधार करके कर्मभूमि की व्यवस्था की स्थापना की थी। यौवनावस्था मे स्वय समाज नेता (राजा) बनकर तथा सर्व सन्यास व्रत धारण कर केवलज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् मोक्षमार्ग का आविष्कार-साक्षात्कार, सस्थापक एव प्रचार करके विश्व को विभिन्न नवीन विचारधारा एव नवीन जीवन पद्धति देने के कारणो से वे आदिब्रह्म रुप मे प्रख्यात हुए। इसलिए आदिनाथ भगवान् प्रजापति, ब्रह्मा, सृष्टिकर्ता, विधाता कहलाये।

असि, मसि, कृषि, वाणिज्य आदि जीवन निर्वाह प्रणाली बताने से, राज्य शासन काल मे प्रजाओ को न्यायनीति से पालन करने से तथा तीर्थकर अवस्था मे चतुर्विध सघ एव द्वादशविध गणो का परिचालन-सचालन करने के कारण पालनकर्ता विष्णु स्वरुप हुए। भगवान ऋषभदेव ने मनुष्यो को न केवल जीना सिखाया वरन् एक-दूसरे पर अपने विचार व्यक्त करने की कला भी उन्हे दी। उन्होने भाषा दी, लिपि दी, उपयोगी ललित कलाएँ दी। कर्मभूमि के सक्रमण काल मे भयभीत प्रजा को उचित मार्ग दिखाकर उनका भय नष्ट करने के कारण, राजा बनकर न्यायानुशासन से अन्याय का निरसन करने से निर्ग्रन्थ मुनि बनकर रत्नत्रय रुपी त्रिशूल से मोहान्धकार रुपी राक्षस का सहार करने से, देवाधिदेव तीर्थकर बनकर दिव्य अमृतमयी वाणी से, भव्यो के कर्मकलक को नाश करने से तथा अन्त मे द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म रुपी ससार को विध्वस करके सदाशिव रुपी सिद्ध अवस्था प्राप्त करने के कारण महेश (रुद्र) स्वरुप हुए। ब्राह्मी लिपि ऋषभ की देन है, सगीत के वे जनक है । उनके ज्येष्ठ पुत्र भरत के नाम पर सारा देश 'भारत' कहलाता है। मनुष्य को मनुष्य बनाने, उसे भोग से पुरुषार्थ और कर्म की ओर लाने का श्रेय प्रथम शलाका पुरुष ऋषभनाथ को ही है, यही कारण है कि उन्हे 'आदिनाथ' कहा जाता है। जैन तीर्थकरो मे ऋषभ सर्वप्रथम और वर्द्धमान महावीर अन्तिम तीर्थकर है। ऋषभनाथ के बाद 23 तीर्थकर और हुए जिन्होने ऋषभ-प्रणीत धर्मचक्र को गति दी, ये उसे सामयिक और युगानुरुप बनाये रहने का दायित्व निभाते रहे। जैनधर्म की तीर्थकर-परम्परा ने धर्म को सदैव प्रासगिक अर्थ दिया और उसे लोकोन्मुख बनाये रखा।

तीर्थंकर चन्द्रप्रभ

अष्टम तीर्थंकर चन्द्रप्रभ पूर्वभव मे अनेक पर्यायों में रहे। राजा पद्मनाभ की पर्याय में उन्होने तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध किया।

चन्द्रप्रभ के सात भव - 1. श्रीवर्मा राजा 2. प्रथम स्वर्ग मे देव 3. अजितसेन चक्रवर्ती 4. सोलहवे स्वर्ग मे अच्युत इन्द्र 5. राजा पद्मनाभ दीक्षा लेकर तीर्थंकर प्रकृति 6. वैजयन्त विमान में अहमिन्द्र पद।

नगरी तथा माता-पिता का परिचय- चन्द्रपुरी नगरी में इक्ष्वकुवंश के महाप्रतापी राजा महासेन राज्य करते थे। उनमे अनेक गुणो का भण्ड़ार था। वे अष्टम तीर्थंकर के पिता हैं और महारानी लक्ष्मणा देवी माता है।

गर्भकल्याण - चन्द्रप्रभ के जीव को वैजयन्त विमान मे असख्य वर्ष बीत गये। पश्चात् इनकी 6 माह की आयु शेष रही। तब चन्द्रपुरी नगरी मे देवो द्वारा रत्नों की वृष्टि होने लगी। तथा इन्द्र ने दिग्कुमारियो को लक्ष्मणा माता की सेवा के लिए भेजा। इस प्रकार छह माह बीत गए। चैत्र शुक्ला पचमी को महारानी लक्ष्मणादेवी सुखनिद्रा मे शयन कर रही थीं । रात्रि के पिछले प्रहर मे उन्होने सोलह स्वप्न देखे। प्रातःकाल महाराजा महासेन से मगल स्वप्नों की बात कही। उनका फल बताते हुये महाराज ने कहा - देवी! तुम्हारे गर्भ में अष्टम तीर्थंकर आये हैं इसे जानकर रानी लक्ष्मणा को हर्ष का पार न रहा। यह सुनकर सर्व चन्द्रपुरी मे अपार हर्ष हुआ। देवो ने आकर गर्भकल्याण का उत्सव किया।

जन्मकल्याणक - चन्द्रपुरी मे आनन्द पूर्वक नौ माह बीत गए। पौष एकादशी जब सर्वग्रहो का सर्वोत्कृष्ट सुयोग था। अर्द्धरात्रि मे महारानी लक्ष्मणा ने तीर्थंकर बालक को जन्म दिया। इस प्रकार प्रजाजनो मे आनन्द छा गया। इन्द्र ने जब जाना तब सब देवों सहित वह चन्द्रपुरी में आया और जन्मकल्याणक मनाया। सुमेरुपर्वत पर अभिषेक के बाद इन्द्र ने उनके दाहिने अँगूठे में चन्द्र का चिह्न देखकर उसको अपनी ध्वजा मे धारण किया। यही उनका चिह्न कहलाया।

चन्दप्रभु का विवाह - जब चन्द्रप्रभु युवा हुए तो उनके पिता ने उनका विवाह कर दिया। जब चन्द्रप्रभु की आयु के ढ़ाई लाख पूर्व व्यतीत हो गए तब महासेन राजा ने धूमधाम से राज्याभिषेक किया। प्रजाजन उनसे अति प्रसन्न थे।

चन्द्रप्रभु का वैराग्य - जब चन्द्रप्रभु सभा मे बैठे थे, तब एक बूढ़ा व्यक्ति आया और कहने लगा। हे स्वामी मुझे बचाओ, चन्द्रप्रभु बोले क्या हुआ? वह वृद्ध बोला कि एक निमित्तज्ञानी ने बताया है कि मेरी मृत्यु आज रात्रि में हो जायेगी। अब मुझे भय हुआ है आपके होते हुये मुझे मृत्यु नहीं मार सकेगी। मुझे बचाओ। अगर आप मुझे नहीं बचा सकते तो आप मृत्युजय कैसे कहलाओगे। एक मन्त्री बोला अरे भाई मृत्यु से ओर तो क्या स्वयं जिनेन्द्र भी नहीं

बच सकते हैं। मत्री का उत्तर पूरा होने से पूर्व ही वह ब्राह्मण वहाँ से अन्तर्ध्यान हो गया। सभी आश्चर्य से देखते रह गए। लेकिन चन्द्रप्रभ सब जान गए और उनके अन्दर वैराग्य की किरणें फूट पड़ी। (कही-कही दर्पण से भी वैराग्य का कथन आता है।) तभी लौकान्तिक देवों ने आकर वैराग्य की अनुमोदना की। सभी देवगण वहाँ आ गए। चन्द्रप्रभ को वनगमन हेतु पालकी में बैठाया। सबसे पहले भूमिगोचरी राजाओं ने पालकी उठाई। उसके बाद देव लोग पालकी को आकाश मार्ग से वन की ओर ले गए। ''सकल ऋतु'' नाम के वन मे पधारे। वहाँ पर उन्होने सर्व वस्त्राभूषण त्यागे और एक शिला पर बैठ कर 'नमः सिद्धेभ्यः' कहकर पंचमुष्टि केशलुञ्चन कर दो दिन का उपवास कर मुनि व्रत धारण कर ध्यान मे बैठ गए। उन्होंने जब ध्यान लगाया तभी सातवें गुणस्थान में पहुँच गए और फिर छठवें मे आ गए (एक समय सातवां दूसरे समय छठवाँ)।

मुनि चन्द्रप्रभ का प्रथम पारणा - मुनि दशा मे दो उपवासों के पश्चात् प्रथम पारणा कराने का महान लाभ नलिनपुर के सोमदत्त राजा को प्राप्त हुआ। उस समय रत्नवृष्टि आदि पचाश्चर्य द्वारा देवों ने भी उस दान की महिमा की । मुनिदशा में भी प्रभु का प्रभाव अचिंत्य था।

केवलज्ञान कल्याण - मुनि चन्द्रप्रभ ने चन्द्रपुरी के जिस वन में मुनि दीक्षा ग्रहण की थी। उसी वन में चैत्र कृष्णा सप्तमी के दिन केवलज्ञान प्राप्त किया। इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने अद्भुत शोभायमान समवशरण की रचना की।

चन्द्रप्रभ की देशना - इन्द्र द्वारा प्रार्थना की जाने पर इन्द्र के पुण्य एवं भव्य जीवों के पुण्य से और भगवान चन्द्रप्रभ के निमित्त से, जिस प्रकार चन्द्रमा से शीतल अमृत झरता है वैसे ही चन्द्रप्रभ भगवान के सर्वांग से अति मधुर दिव्यध्वनि खिरने लगी। वीतराग अमृत झरने लगा। सारी सभा आनन्दमय वातावरण मे स्तब्ध प्रभु के सन्मुख दृष्टि से एकाग्र होकर दिव्यवाणी सुनने लगी।

समवशरण का वैभव - श्री चन्द्रप्रभ भगवान के समवशरण में श्रीदत्तादि 93 गणधर, 2,000 पूर्व धारी श्रुत केवली, 8,000 अवधिज्ञानी, 8,000 मनःपर्यय ज्ञानी थे, विक्रियालब्धि आदि अनेक ऋद्धिधारी, 8,000 अवधिज्ञानी, मुनिवर, 3 लाख 80 हजार आर्यिकाए, तीन लाख धर्मात्मा श्रावक तथा पाँच लाख श्राविकाएँ थी । इनके अतिरिक्त सम्यग्दृष्टि देवो और तिर्यञ्चों की भी संख्या बहुत अधिक थी।

मोक्षकल्याणक - इस प्रकार ढ़ाई लाख पूर्व तक धर्मचक्र प्रर्वतन द्वारा अनेक देशों के करोड़ो अरबों जीवो का कल्याण करके भगवान चन्द्रप्रभ सम्मेदाचल पर्वत पर पधारे। वहाँ एक माह प्रतिमा योग में स्थिर रहे, विहार रुक गया, वाणी रुक गई। पश्चात् फाल्गुन शुक्ला सप्तमी

के दिन अरिहंत प्रभु योग निरोध करके अयोगी दशा को प्राप्त हुए तेरहवें से चौहदवे गुणस्थान मे आये और तुरन्त सिद्धपद प्राप्त किया और निर्वाण को प्राप्त हुए।

भगवान शान्तिनाथ

गर्भकल्याणक - माघ का महीना चल रहा था अचानक ही हस्तिनापुर में राजभवन के प्रांगण मे रत्नों की वर्षा होने लगी, और छह मास पश्चात् भाद्रपद कृष्ण सप्तमी को महारानी देवी (ऐरादेवी) ने अति मगल सूचक सिंह, हाथी, माला , रत्नराशि आदि 16 उत्तम स्वप्न देखे महारानी जाग उठी, अति हर्षपूर्वक पच परमेष्ठी का चिन्तन किया । पश्चात् राजसभा में पहुँची और महाराज से आनन्ददायक मंगल स्वप्नों की बात कही। निमित्त ज्ञानी विश्वसेन महाराजा ने जान लिया- अहो! अपने यहाँ त्रिलोकीनाथ तीर्थकर का आगमन हुआ है। वे बोले- हे देवी! सोलहवें तीर्थंकर का जीव तुम्हारे गर्भ में अवतरित हो चुका है। उसका रूप अद्भुत सुन्दर होगा। वह कामदेव, चक्रवर्ती एव तीर्थकर ऐसे तीन उत्तम पदो का धारी होगा। शान्तिनाथ प्रभु के कल्याणक महोत्सव करने हेतु स्वर्ग से इन्द्र अपने दल-बल सहित आ पहुँचे। हस्तिनापुर के भाग्य का उदय हुआ, उसे अयोध्या तीर्थ जैसा गौरव प्राप्त हुआ। जहाँ प्रतिदिन रत्नो की वर्षा होती थी। कमलवासनि श्री, ह्री धृति, कीर्ति, लक्ष्मी, सरस्वती आदि देव कुमारियाँ भी इन्द्र की आज्ञा से ऐरा माता की सेवा करने आ गई थी। इस प्रकार प्रसन्नता के वातावरण मे सवा नौ महीने बीत गए।

जन्मकल्याणक - ज्येष्ठ चतुर्दशी के दिन माता ऐरा देवी ने एक सर्वोत्कृष्ट पुत्र को जन्म दिया- मानो जगत प्रकाशक दीपक प्रज्वलित हुआ । स्वर्ग के दिव्य वाद्य एक साथ बजने लगे और दिव्य ऐरावत हाथी पर बैठ कर इन्द्र महाराज हस्तिनापुर मे प्रभु का जन्मोत्सव मनाने देवो के ठाट-बाट सहित आ पहुँचे । उन बाल तीर्थंकर को गोद मे लेकर इन्द्राणी धन्य हो गई। रोमाचकारी इन्द्राणी ने उन बाल तीर्थंकर को इन्द्र के हाथ मे दे दिया। इन्द्र तो उन बाल तीर्थंकर का रूप देखकर हर्षोन्मत्त हो गया। प्रभु को इन्द्र ऐरावत हाथी पर लेकर महान शोभा यात्रा सहित मेरु पर्वत पर गए और वहाँ अतिशय भक्तिपूर्वक अभिषेक किया। इन्द्र ने उन सोलहवें तीर्थंकर का नाम "शांतिनाथ" रखा। उनके चरण में मृग का चिह्न दिखाई दिया। जन्माभिषेक के पश्चात् 1008 मगल नामो से इन्द्र ने प्रभु की स्तुति की। हस्तिनापुर के राजमहल में आकर इन्द्र ने सम्मानपूर्वक भगवान के माता-पिता को उनका पुत्र सौंपा।

पन्द्रहवे तीर्थंकर भगवान धर्मनाथ का शासन लगभग तीस हजार वर्ष तक चला, उनके अन्त भाग मे पाव पल्य (लाखो करोड़ों वर्ष) तक धर्म का विच्छेद हो गया था, तत्पश्चात् सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथ भगवान का अवतार हुआ और धर्म की धारा पुनः प्रवाहित हुई। उनकी आयु एक लाख वर्ष थी, शरीर की ऊँचाई 40 धनुष (लगभग 100 मीटर) थी। कामदेव,

चक्रवर्ती और तीर्थंकर के रूप में उनके शरीर की सुन्दरता सर्वोत्कृष्ट थी। भगवान शान्तिनाथ का अवतरण होने के कुछ समय पश्चात् महाराजा विश्वसेन की दूसरी रानी ने भी एक सुन्दर पुत्र को जन्म दिया। उसका नाम था "चक्रायुध"। दोनों भ्राता प्रतिदिन वृद्धिगत् होने लगे, उनके गुणों का वैभव अधिकाधिक विकसित होने लगा।

युवावस्था - शान्तिनाथ और चक्रायुध (तीर्थंकर और गणधर) दोनों राजकुमार युवा हुए विश्वसेन महाराजा ने अनेक उत्तम गुणवती राजकन्याओ के साथ उनके विवाह कर दिए।

राज्याभिषेक एवं चक्रवती - एक लाख वर्ष की आयु वाले राजकुमार शान्तिनाथ जब पच्चीस हजार वर्ष के हुए तब महाराजा ने उनका राज्याभिषेक करके उन्हें 'हस्तिनापुर' का साम्राज्य सौप दिया और चक्रायुधकुमार को युवराज पद दिया । जब महाराजा शान्तिनाथ को राज्य का संचालन करते करते दूसरे पच्चीस हजार वर्ष बीते अर्थात् वे पचास हजार वर्ष के हुए, तब अचानक उनके शस्त्र भण्डार मे चक्रवर्ती पद का सूचक सुदर्शन चक्र प्रकट हुआ, उस चक्ररत्न के साथ ही दैवी छत्र, कृपाण, राजदण्ड, कांकिणी, चर्म तथा चूड़ामणि ऐसे कुल सात अजीव रत्न उन्हे प्राप्त हुए। उस प्रत्येक रत्न की एक-एक हजार देव रक्षा करते थे। तदुपरान्त उनके महान पुण्योदय से विशेष पुरोहित, स्थपति, सेनापति और गृहपति हस्तिनापुर मे उत्पन्न हुए छह खण्डो मे श्रेष्ठ ऐसा कन्या रत्न, गजरत्न तथा अश्वरत्न विजयार्द्ध पर्वत में उत्पन्न हुए और विद्याधर भक्तिपूर्वक भेट दे गए। यह सातो रत्न शान्तिनाथ चक्रवर्ती की सेवा करने हेतु प्रगट हुए, और एक-एक हजार देव उस प्रत्येक रत्न की सेवा करते थे। इस प्रकार कुल चौदह रत्न प्राप्त हुए। तदुपरान्त उस पुण्य काल मे समुद्र एव सरिताओ के सगम के निकट नौ महानिधियाँ प्रगट हुई। उन्हे लाकर देवो ने शान्तिनाथ महाराज की सेवा मे अर्पित कर दी थी। यद्यपि बाह्य मे चौदह रत्न प्राप्त हुए।

छहखण्ड की विभूति प्राप्त करने के लिए उन्हे किसी के साथ युद्ध नही करना पड़ा, छहो खण्ड के राजा महाराजा तथा व्यंतर देव भी उत्तमोत्तम वस्तुएं ले लेकर स्वेच्छा से प्रभु को भेट देने आए थे और उनकी आज्ञा शिरोधार्य करते थे।

पचम चक्रवर्ती प्रभु शान्तिनाथ को छह खण्ड की दिग्विजय करने मे 800 वर्ष लगे जबकि चक्रवर्ती भरत राजा को 60,000 वर्ष लगे थे। प्रत्येक चक्रवर्ती अपनी विजयगाथा वृषभाचल पर्वत की एक शिला पर उत्कीर्ण करता है परन्तु उसे उत्कीण करने के स्थान के लिए उसे पूर्वकाल के किसी एक चक्रवर्ती का लेख मिटाना पड़ता है और तब उनका गर्व खण्डित हो जाता है। उन्हें लेख लिखने के लिए किसी का नाम मिटाना नही पड़ा। उस शिला के अग्रभाग में उनके पुण्य प्रभाव से नाम लिखने का सुन्दर स्थान बन गया था। शिलालेख स्वहस्ते वज्र द्वारा उत्कीर्ण किया।

उस प्रकार हस्तिनापुर के महाराजा शान्तिनाथ दूसरी बार चक्रवर्ती हुए। इससे पहले पूर्व पाँचवे भव में वे विदेहक्षेत्र में क्षेमंकर तीर्थकर के पुत्र वज्रायुद्ध थे, तब चक्रवर्ती पद प्राप्त किया था। पचम चक्रवर्ती प्रभु शान्तिनाथ महाराजा ने भरत क्षेत्र पर 25,000 वर्ष तक राज्य किया।

विभूतियों का संक्षिप्त वर्णनः

उन चक्रवर्ती की 96,000 रानियाँ, 64,000 राजकुमार, 96 करोड़ ग्राम, 32 हजार आज्ञाकारी राजा, लाखों करोड़ों की संख्या मे हाथी, 84 लाख रथ, 84 लाख घोड़े, 18 करोड़ प्यादे, 84 करोड़ हल, उत्तम दूध देने वाली गायें, मनवांछित रत्न आभूषण मिष्ट पदार्थ आदि देने वाली अटूट नव निधियाँ ससार मे सर्वोत्कृष्ट राजकन्या-हाथी घोड़ा चक्र कृपाण आदि 14 रत्न, नंद्यावर्त नाम का भव्य राजभवन, स्वर्गलोक के दिव्य वस्त्राभूषण, 16,000 सेवक-देव आदि, यहाँ लिखने से जिसका अन्त न हो ऐसा अद्‌भुत अपार वैभव था।

चक्रवर्ती शान्तिनाथ का जन्म-दिवस मनाया जा रहा था । हस्तिनापुरी मे महान धूमधाम चल रही है। उनके जन्म को आज 75,000 वर्ष पूरे हुये है। महाराजा शान्तिनाथ राजदरबार में जाने की तैयारी करके दर्पण में मुँह देख रहे थे। इस प्रकार दर्पण मे दिखायी दिए प्रतिबिब के निमित्त से अपने पूर्व भवों का जाति स्मरण होते ही शान्तिनाथ चक्रवर्ती वैराग्य को प्राप्त हुए और विचारने लगे-कि अरे मेरे जीवन के 75,000 वर्ष बीत गए। मुझे अभी केवलज्ञान की साधना करनी है। अब इन क्षणभंगुर वैभवो मे या राग मे रुकना मेरे लिए उचित नही है, बस मै आज ही इस चक्रवर्ती वैभव को छोडकर दीक्षा अंगीकार करुँगा और जिन बनूँगा जन्मदिवस का उत्सव बन्द करो जन्म से आत्मा की शोभा नही है, जन्म तो आत्मा के लिए कलक है। मुझे यह लज्जाजनक जन्म पुनः नही लेना, अब वीतरागी होकर हम केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष की साधना करेगे।

ऐसा चिन्तन करते हुए चक्रवर्ती शान्तिनाथ दीक्षा लेने को तैयार हुए। राजसभा मे खलबली मच गयी। अरे! इन्द्र सभा आश्चर्य मे पड़ गयी कि प्रभु राजपाट छोड़कर दीक्षा ले रहे है। यह जानते ही लोग स्तब्ध रह गए और जन्मदिन का उत्सव दीक्षा दिवस में बदल गया। महाराजा शान्तिनाथ तो अपने वैराग्य चिन्तन मे एकाग्र हैं, इतने मे आकाश से ब्रह्म स्वर्ग के लौकातिक देव वहाँ उतरे, उन देवो ने परम वैराग्य की प्रशसा की, अहा! आप इस भरत क्षेत्र के सोलहवे तीर्थकर है। दीक्षा सम्बन्धी आपके विचार उत्तम है। आप दीक्षा लेकर केवलज्ञान प्राप्त करेगे और जगत के जीवो को मार्ग दर्शाएंगे। उसी समय करोड़ो देवों के साथ प्रभु का जय-जयकार करते हुये स्वर्ग से इन्द्र आ पहुँचे। प्रभु को वन में ले जाने के लिए स्वर्गलोक से 'सिद्धार्थ' नामक दिव्य शिविका वे साथ लाये थे। शिविका मे बैठकर शान्तिनाथ भगवान ने जब वन गमन किया तब प्रथम राजाओं ने पश्चात् विद्याधर राजाओ ने और तत्पश्चात् इन्द्रों ने वह शिविका कन्धो पर उठायी और आकाशमार्ग मे चलने लगे। उस समय देवों के करोड़ो वाद्य बज रहे थे, उनके द्वारा मानों इन्द्र ऐसी घोषणा कर रहे थे कि भगवान शान्तिनाथ मोह पर विजय प्राप्त करने जा रहे है। हे जीवो! तुम भी मोह को जीतने के लिए भगवान के मार्ग में आओ। इन्द्र की घोषणा सुनकर लोग वैराग्य की महिमा करते थे। आह! छह खण्ड का वैभव छोड़कर भगवान मोक्ष की साधना करने जा रहे हैं, तो वह मोक्ष सुख कितना महान होगा इस प्रकार जीवों के परिणाम भोगो से विमुख और मोक्ष के सम्मुख हो रहे थे। उन चक्रवर्ती महाराज के वन गमन

के समय उनकी हजारों रानियो को दुःख हुआ परन्तु यह सोचकर कि हमारे स्वामी मोह राजा को जीत कर मोक्ष का साम्राज्य प्राप्त करने जा रहे हैं और सोचने लगी कि हम जिस प्रकार भोगों में स्वामी के सहचरी थी, उसी प्रकार हम अपनी शक्ति के अनुसार व्रत ग्रहण करेंगी और वैराग्य से जीवन जियेंगी।

प्रभु की दीक्षा - प्रभु की शिविका शालवन में लायी गयी। वहाँ के वृक्ष भी हर्षित हो रहे थे। कि वाह! प्रभु जब मुनि होकर आत्मध्यान में विराजमान होगें, तब हम उन पर शीतल छाया फैलाकर उनकी सेवा करेगें और प्रभु शान्तिनाथ के सन्निध्य से हमारे वन में सर्वत्र शान्ति फैल जायेगी। वैरागी महाराजा शान्तिनाथ पालकी से उतरे और एक शिला पर उत्तराभिमुख बैठ गए। कोलाहल थम गया। वस्त्राभूषण उतार दिए। उपयोगो को स्थिर करके हाथ जोड़कर 'नमः सिद्धेभ्यः' ऐसे उच्चारण पूर्वक सिद्ध भगवन्तो को नमस्कार किया। ध्यान में स्थिर होते ही उन परमश्रमण के सातवाँ गुणस्थान तथा चौथा गुणस्थान ज्ञान प्रगट हुआ। मुनि दशा में वे पूर्ण मौन रहे।

पारणा - दीक्षा के पश्चात् दो दिन का उपवास करके वे ध्यान में स्थिर रहे, पश्चात् तीसरे दिन पारणा हेतु मन्दरपुर पधारे। राजा सुमित्र को अपार हर्ष हुआ। उसने भक्ति सहित पड़गाहन किया । नवधा भक्ति सहित मुनिराज के कर कमल मे आहार दान दिया।

केवलज्ञान - पौषशुक्ला दशमी को अपराह्न बेला के भरणी नक्षत्र में हस्तिनापुर के सुन्दर उद्यान मे शुक्लध्यान के चक्र द्वारा शीघ्रता से चार घातिया कर्मों को नष्ट कर केवलज्ञान साम्राज्य प्राप्त कर लिया अर्थात् वीतराग सर्वज्ञ हुए।

केवलज्ञान प्राप्त करने मे उन्हें 16 वर्ष लगे और इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने समवसरण की रचना की।

विभूति - उनकी धर्म सभा में चक्रायुद्ध प्रधान 36 गणधर, 800 श्रुतकेवली, 41800 उपाध्याय 3000 अवधिज्ञानी मुनिवर, 6,000 विक्रिया ऋद्धिधारी मुनिवर, 4,000 मनःपर्ययज्ञानी और 2,400 वादविद्या में निपुण मुनिवर विराजमान थे, 60,000 आर्यिकाए, दो लाख सम्यक्त्व से सुशोभित धर्मात्मा श्रावक तथा चार लाख श्राविकाएं थी सब मोक्ष की उपासना कर रहे थे।

मोक्षकल्याणक - भगवान शान्तिनाथ चक्रवर्ती पद में 25,000 वर्ष रहे और उसे छोड़ने के पश्चात् धर्म चक्रवर्ती होकर तीर्थंकर पद में भी 25,000 वर्ष रहे । जब उनकी आयु एक मास शेष रही तब वे सम्मेद शिखर पर आकर स्थिर हुए । विहार एवं वाणी थम गए ज्येष्ठ कृष्णा चतुदर्शी के दिन अपराह्न में शुक्लध्यान द्वारा समस्त योगो का निरोध करके प्रभु अयोगी हुए और शेष कर्म प्रकृतियो को नाश करके प्रभु मुक्त हुए, सिद्ध हुए, अशरीरी हुए, कर्म रहित हुए।

भगवान कुन्थुनाथ

गर्भ - जब सर्वार्थसिद्धि में कुन्थुनाथ के जीव की आयु छह मास शेष रही उस समय हस्तिनापुर में महाराजा शूरसेन राज्य करते थे। उनकी महारानी को नाम श्रीकान्ता था। उस नगरी मे श्रावण कृष्ण दशमी के दिन, सर्वार्थसिद्धि से सत्रहवे तीर्थकर का जीव 16 मंगल स्वप्नो के दर्शन पूर्वक महादेवी श्रीकान्ता की कुक्षि मे अवतरित हुए। हस्तिनापुर मे रत्न वृष्टि, इन्द्रो का आगमन आदि भव्य प्रसग पुनः हुए।

जन्म - बैशाख शुक्ला प्रतिपदा के दिन भरत क्षेत्र मे सत्रहवे तीर्थंकर का जन्म हुआ और इन्द्रो ने मेरु पर्वत पर अभिषेक करके महान जन्म-कल्याणक महोत्सव मनाया। प्रभु के चरणो मे अज (बकरा) का चिह्न था। शान्तिनाथ प्रभु द्वारा प्रवर्तित धर्म शासन अविच्छिन्न रुप से चल रहा था, उसमे अर्धपल्य के पश्चात् कुन्थुनाथ प्रभु का अवतार हुआ। उनकी आयु 95,000 वर्ष थी। रूप मे कामदेव, वैभव मे चक्रवर्ती और धर्म मे तीर्थंकर ऐसे महान पदो को धारण करते थे। उनका जीवन शान्तिनाथ भगवान जैसा ही था।

चक्रवर्ती - जीवन का चतुर्थ भाग (23750 वर्ष) व्यतीत होने पर कृष्णप्रतिपदा को उनके राज भण्डार मे सुदर्शन चक्र उत्पन्न हुआ तथा उन्हे चक्रवर्ती पद की राज्य लक्ष्मी प्राप्त हुई। शान्तिनाथ चक्रवर्ती की भांति उन्होने भी छह खण्ड मे विजय विहार किया। प्रभु कुन्थुनाथ चक्रवर्ती पद पर 23750 वर्ष तक रहे।

वैराग्यः चक्रवर्ती होने के 23750 वर्ष पश्चात् की घटना है एक बार बैशाख शुक्ला प्रतिपदा के दिन उनका जन्मोत्सव तथा चक्रवर्ती पद प्राप्ति का उत्सव मनाया जा रहा था। हस्तिनापुर की सजावट एव अद्भुत शोभा को महाराजा कन्थुनाथ चक्रवर्ती प्रसन्न चित्त से निहार रहे थे कि कहाँ चैतन्य की अचिन्त्य शोभा और कहाँ इस चक्रवर्ती पद की शोभा। एक शोभा तो आत्मा का धर्म है और दूसरी शोभा कर्म का फल है। गहरा चिन्तन करते हुये उन्हे तत्क्षण जातिस्मरण हुआ। तत्क्षण राज भोगो से उनका चित्तविरक्त हो गया। उन्होंने विचार किया मैं आज ही वन मे जाकर जिनदीक्षा धारण करके मोक्ष की साधना करुँगा।

दीक्षा - ऐसा निर्णय करके महाराजा कुन्थुनाथ ससार की अनित्य आदि बारह वैराग्य भावनाओं का चिन्तन कर रहे थे। उसी समय स्वर्ग से लौकान्तिक देवों ने आकर स्तुति पूर्वक उनके वैराग्य का अनुमोदन किया। इन्द्र भी 'विजया' नाम की शिविका लेकर आ पहुँचे। महाराजा कुन्थुनाथ छह खण्ड की विभूति को क्षणमात्र मे त्याग कर सहेतुक वन मे पहुंचे और सिद्धो को वन्दन करके शुद्धोपयोगी साधु बन गए । उनके साथ 1,000 राजाओं ने दीक्षा ली।

प्रथम पारणा - दीक्षा के पश्चात् तीसरे दिन मुनिराज कुन्थुनाथ हस्तिनापुर मे पधारे। तब अपरापिजत वरदत्त नाम के राजा श्रावक ने उन्हे उत्तम विधि सहित आहारदान दिया शान्तिनाथ तीर्थंकर की भाति वे भी 16 वर्ष तक मुनि दशा मे रहे और भरत भूमि में विहार किया।

केवलज्ञान - तत्पश्चात वे पुनः हस्तिनापुर के दीक्षा वन में पधारे और चैत्र शुक्ला तृतीय के दिन शुक्लध्यान द्वारा क्षपकक्षेणी मे आरुढ़ होकर केवलज्ञान प्रगट किया। कुबेर ने इन्द्र की आज्ञा से समवशरण रचा। गणधर, 43150 उपाध्याय शिक्षक, 2,500 अवधिज्ञानी मुनिवर 5,100 विक्रिया ऋद्धिधारी, 3,350 मनःपर्ययज्ञानी, 700 पूर्वधारी, 2,400 वाद विद्या में पांरगत मुनिवर थे, तदुपरान्त 3,200 केवली भगवन्त भगवान के समकक्ष गगन में विराजते थे। कुल 60,000 मुनिवर तथा 60,350 आर्यिकाएं थी मुख्य गणिनि भावश्री माता जी थी। एक लाख आत्मज्ञानी श्रावक एव तीन लाख श्राविकाए थी। देवो तथा तिर्यञ्चो का तो कोई पार नहीं था। सिह तथा वृषभ जैसे पशु भी आपसी वैर को छोड़कर आत्मज्ञान प्राप्त कर लेते थे और सम्यक्त्वादि अपूर्व चैतन्य भाव द्वारा मोक्षमार्गी बन जाते थे।

मोक्षकल्याणक - प्रभु कुन्थुनाथ 23734 वर्ष तक भरतक्षेत्र में विचरे और धर्मचक्र का प्रवर्तन किया। पश्चात् जब उनकी आयु एक मास शेष रही तब वे सम्मेद शिखर पधारे। विहार एव वाणी थम गए और प्रभु शान्तिनाथ की भांति अपने जन्म तथा दीक्षा दिवस (बैशाख शुक्ला प्रतिपदा के दिन) पर वे योग निरोध करके शेष कर्मों को नष्ट कर सिद्धपुरी में पधारे। प्रभु स्वय अचिन्त्य ज्ञानधारी थे, और जिस टोक से मोक्ष पधारे उस टोक का नाम भी ''ज्ञानधर'' टोंक पड़ा।

वरं व्रतैः दैवं नाव्रतैर्वत नारकं।
छायातपस्थयोर्भेदः प्रतिपालयतोर्महान्॥

(आचार्य पूज्यपाद)

अव्रत अवस्था में मरण कर नरकों में जाने की अपेक्षा व्रत पालन कर स्वर्ग में जाना श्रेष्ठ है। क्योंकि रास्ते में छाया में और धूप में बैठने वालों में बड़ा भारी अन्तर है।

भगवान अरहनाथ

गर्भकल्याणक - हस्तिनापुर मे भगवान शान्तिनाथ के वशज राजा सुदर्शन राज्य करते थे। उनकी महारानी का नाम 'मित्र सेना' था। जब स्वर्ग में उन अहमिन्द्र की आयु छह माह शेष रही, तब उनके आगमन की पूर्व सूचना रूप अर्थात् बार-बार हस्तिनापुर के राजभवन मे प्रतिदिन 14 करोड़ रत्नो (साढ़े तीन करोड़ प्रभात, मध्याह्न, सांयकाल, मध्यरात्रि) की वर्षा के साथ-साथ सारी नगरी मे पुष्पवृद्धि होने लगी। फाल्गुन शुक्ला तृतीया की पिछली रात्रि में महादेवी मित्रसेना ने उत्तम गज आदि 16 मगल स्वप्न देखे और उन स्वप्नो का फल तीर्थंकर का गर्भावतरण जानकर वह अति आनन्दित हई। मानो त्रिलोक का राज्य मिल गया हो इतना हर्ष उन्हे हो रहा था। उसी समय देवेन्द्रो ने आकर तीर्थकर के माता पिता रूप मे उनका सम्मान किया और दिव्य वस्त्राभूषणो की भेट दी। देवो ने गर्भकल्याण मनाया।

जन्मकल्याणक - सवा नौ मास बीतने पर मगसिर शुक्ला चतुर्दशी के दिन माता मित्रसेना महारानी ने दिव्य पुत्र को जन्म दिया । उनके शरीर की ऊँचाई 30 धनुष तथा आयु 84,000 वर्ष थी । उनका शरीर सौन्दर्य सर्वश्रेष्ठ था । उनके चरणो मे सुन्दर मत्स्य (मछली) को चिह्न था। वे तीर्थंकर, चक्रवर्ती तथा कामदेव पद धारक थे।

युवावस्था - युवावस्था मे प्रवेश करने पर राजकुमार अरहनाथ का विवाह अनेक देशो की सर्वगुण सम्पन्न राजकुमारियो के साथ हुआ। 21,000 वर्ष तक राज्य करने के पश्चात् उनके शस्त्रभडार मे सुदर्शनचक्र की उत्पत्ति हुई और छह खण्ड पर विजय प्राप्त करके वे भरत क्षेत्र के सातवे चक्रवर्ती हुए।

वैराग्य - महाराजा अरहनाथ ने 21,000 वर्ष तक चक्रवर्ती एक बार चक्रवर्ती अरहनाथ आकाश मे शरद ऋतु के बादलों की सुन्दर रचना देख रहे थे कि बादल एक दम बिखर गए। वह देखकर उन्हे ससार की क्षणभगुरता का विचार आया। ऐसा विचार कर वे महाराजा वैराग्य भावनाओं का चिन्तन करने लगे। उसी समय उन्हे जातिस्मरण होने से वैराग्य दृढ़ हुआ। उसी समय ब्रह्म स्वर्ग से लौकान्तिक देवो ने आकर उनकी प्रशंसा की। इन्द्रादि देव ''वैजयन्ति'' नामक दिव्य शिविका लाए। अरहनाथ प्रभु के साथ एक हजार राजाओ ने भी दीक्षा ग्रहण करने हेतु वन मे चले और उनकी हजारो रानिया भी ससार से विरक्त होकर आर्यिका का व्रत लेने को तैयार हुई।

तप - बैशाख शुक्ला दशमी के सायकाल चक्रवर्ती पद का समस्त वैभव त्याग कर महाराजा अरहनाथ हस्तिनापुर के सहेतुक नामक सुन्दर वन में आये। वहाँ पर समस्त वस्त्राभूषण उतार कर पचमुष्ठि केशलुञ्चकर दिगम्बर दीक्षा धारण की और सिद्धों को वन्दन करके जैसे ही आम्र वृक्ष के नीचे ध्यान मे बैठे उसी समय उन को सांतवा गुणस्थान हुआ।

पारणा - दो दिन के उपवास के पश्चात् मुनिराज अरहनाथ ने चक्रपुर नगरी के राजा नन्दी (अपराजित) के यहाँ पड़गाहन हुआ। उसी समय पचाश्चर्य हुए। रत्नवृष्टि, मगलवाद्य आदि।

केवलज्ञान - हस्तिनापुर के प्रथम दो तीर्थंकर की भांति भगवान अरहनाथ भी 16 वर्ष मुनि दशा मे विचरे। तत्पश्चात् कार्तिक शुक्ल द्वादशी के दिन श्रेष्ठ शुक्लध्यान द्वारा आत्मा मे लीन हो चार घातिया कर्मो को नष्ट किया और सर्वज्ञ हुए। उसी समय इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने समवशरण की रचना की। भगवान ने मोक्षमार्ग का उपदेश दिया।

समवशरण की विभूति - प्रभु की धर्म सभा मे 2,800 केवलज्ञानी, श्री कुनाल 60,000 गणिनी सहित आर्यिकाए 30, गणधर, 50,000 मुनिवर, 1,00,000 धर्मात्मा श्रावक, 3,00,000 श्राविकाए। सर्वज्ञ भगवान अरहनाथ ने 21,000 वर्ष तक भरत क्षेत्र के अनेक देशो मे विहार करके धर्मोपदेश देकर धर्मचक्र प्रवर्तन किया ।

मोक्षकल्याणक - जब आयु कर्म एक मास शेष रहा। तब विहार एव वाणी रुक गयी। भगवान सम्मेदाचल पर्वत के शिखर पर स्थित हुए। चैत्र कृष्णा अमावस्या को सम्पूर्ण योग निरोध पूर्वक शेष अर्थात कर्मो का क्षय करके ससार से मुक्त हुये।

त्याग बिना सेवा नहीं सेवा बिना न शांति।
और कभी मिटती नहीं गुरुवर के बिन भ्रांति।।

तीर्थंकर नेमिनाथ

गर्भकल्याणक - शौरीपुर नगर मे तीर्थंकर के आगमन की तैयारी हो रही थी अपने चरित्र नायक भगवान नेमिनाथ की जो कि अहमिन्द्र पर्याय मे विराजमान थे। आयु जब छह मास शेष रही, तब यह मांगलिक घटनाए प्रारम्भ हुई। महारानी शिवादेवी के आनन्द का पार नहीं था। उन्हें जैनधर्म की प्रभावना करने तथा सब जीवो पर दया पालने के उत्तम भाव जाग रहे थे और विशुद्धि बढ़ती जा रही थी। राजमहल के प्रागण में प्रतिदिन करोड़ो रत्नों की वृष्टि होने लगी और स्वर्गलोक की कुमारिका, देविया, द्वारिका मे आकर माता शिवादेवी की सेवा करने लगी । छह मास पश्चात् कार्तिक शुक्ला षष्ठी के मगल दिवस की पिछली रात्रि मे माता शिवादेवी ने सोलह उत्तम स्वप्न देखे, ठीक उसी समय र्स्वग लोक से बाईसवें तीर्थकर का जीव उनकी कुक्षि में आया। माता जी ने प्रातः उठकर राजसभा में जाकर राजा समुद्र विजय से स्वप्नों की बात कही। तब महाराज बोले - 'हे देवि तुम्हारी गर्भ मे बाईसवें तीर्थंकर का अवतरण हुआ है।' ऐसा जानकर शिवादेवी को ऐसा हर्ष हुआ, मानों तीर्थंकर उसी समय उनकी गोद में खेल रहे है। उसी समय इन्द्र ने शौरीपुर मे आकर गर्भ कल्याणक मनाया।

जन्म - नौ मास आनन्दपूर्वक बीत गए। श्रावण शुक्ला षष्ठी के दिन शौरीपुर मे बाईसवे तीर्थकर का जन्म हुआ। अहा! शौरीपुर आनन्दमय प्रकाश से जगमगा उठा। जब इन्द्र ने अवधिज्ञान से ज्ञात किया तब वह तुरन्त जन्मोत्सव मनाने हेतु देवो सहित शौरीपुर मे आ पहुँचे। अद्भुत ऐरावत हाथी पर बाल तीर्थकर को विराजमान करके सुमेरु पर्वत पर उनका अभिषेक किया। उनका नाम नेमिनाथ रखा। इक्कीसवे नेमिनाथ तीर्थकर का शासन पांच लाख वर्ष चला, तत्पश्चात बाईसवे तीर्थकर नेमिनाथ का जन्म हुआ। उनके शरीर की ऊँचाई 10 धनुष थी। अपने कुल मे तीर्थंकर का जन्म होने से श्रीकृष्ण के हर्ष का पार न रहा।

युवावस्था, विवाह तथा वैराग्य दर्शनः उस समय प्रतिनारायण जरासिध को मारकर श्रीकृष्ण ने अर्द्धचक्री पद पाया। सोलह हजार राजा उनके आज्ञाकारी थे। नेमिनाथ का बल श्रीकृष्ण से अधिक था। श्रीकृष्ण का विचार आया कि नेमिनाथ हम से बलवान है, क्या पता ये हमारा राज्य कब छीन ले? और वे ऐसा सोचने लगे कि कोई ऐसा उपाय निकाले, जिससे कि नेमिकुमार दीक्षा ले ले।

एक बार महाराजा श्रीकृष्ण अपनी रानियो सहित सरोवर के किनारे क्रीड़ा करने गए। श्रीकृष्ण के साथ नेमिकुमार भी वहाँ गए और अपनी भाभियों सत्यभामा, रुक्मणि, जाम्बवती आदि के साथ हास्य विनोद कर रहे थे। जलक्रीड़ा के पश्चात् नेमिकुमार ने सत्यभामा से कहा - 'भाभी मेरा यह वस्त्र भी धो देना तब सत्यभामा तुनक कर बोली - 'कुंवरजी तुम वस्त्र धोने का आदेश देने वाले कौन? मै क्या तुम्हारी दासी हूं? मेरे पति त्रिखण्डी पति, नाग शैय्या में शयन

करने वाले दैवीं शंख फूंकने वाले तथा सुदर्शनचक्र चलाने वाले हैं उनके जैसा एक भी पराक्रम क्या तुमने कभी किया है वस्त्र धुलवाना हो तो विवाह कर लो।' इस प्रकार कटाक्षपूर्वक ताना दिया। सदा गम्भीर और शान्त रहने वाले नेमिकुमार की भाभी के कटाक्ष वचनों से किंचित मान जाग्रत हो उठा। वे कुछ भी बोले बिना मन्द मुस्कान के साथ राज भंडार में गए वहाँ कृष्ण की नाग शैय्या पर चढ़कर क्रीड़ा करने लगे (नाग शैय्या कोई नागों या सर्पो की नहीं होती किन्तु देवो द्वारा निर्मित सुन्दर सेज है।)

फिर एक हाथ की अंगुली पर उन्होंने सुदर्शन चक्र घुमाया और दूसरे हाथ में दैवी शंख लेकर नासिका द्वारा जोर से फूक दिया। उस शंख ध्वनि से द्वारिकापुरी में चारों ओर हाहाकार मच गया। हाथी घोड़े आदि भयभीत होकर इधर-उधर भागने लगे, नगर में कोलाहल मच गया कि यह क्या हुआ? समुद्र मे लहरें उछलनें लगी। महाराजा श्रीकृष्ण विचार मे पड़ गए कि अरे मेरे सिवाय दूसरा कौन शूरवीर है? जो यह शख फूंक रहा है। ऐसा पराक्रमी लघुभ्राता नेमिकुमार हो सकता है। यह जब उन्हें ज्ञात हुआ तब वे मन ही मन प्रसन्न हो उठे कि अब नेमिनाथ के मन मे कुछ गर्व जाग्रत हुआ है इसलिए अब वे अवश्य विवाह की सम्मति देगें।

नेमिकुमार की आयु 1,000 वर्ष की थी उसमें से अभी 300 वर्ष हुए थे तथापि अभी तक वे विवाह के लिए सहमत नहीं हुए थे। श्रीकृष्ण तुरन्त नेमिकुमार के पास गए बोले - 'हे देव! आप तो महान है, मेरे से भी अधिक शूरवीर है आपकी वीरता को कौन नहीं जानता। सत्यभामा ने आपको नहीं पहचाना। इसलिए उसने आपका अनादर किया । प्रभो उसके अपराध को क्षमा करो और प्रसन्न होओ।' नेमिकुमार को तो मानों कुछ हुआ ही न हो, इस प्रकार मन्द मन्द मुस्कराते हुए श्रीकृष्ण के साथ विनोद करते करते राजमहल में चले गए और आत्मध्यान मे लीन हो गए। इधर श्रीकृष्ण ने महाराजा समुद्रविजय की सहमतिपूर्वक राजा उग्रसेन की लड़की राजुल के साथ जूनागढ़ मे विवाह सबध तय कर दिया। दूल्हे नेमिनाथ की बारात ने राजमती को वरण करने के लिए शौरीपुर से जूनागढ़ की ओर प्रस्थान किया। बारात आनन्द पूर्वक जूनागढ़ मे पहुँच रही थी। इतने में खरगोश, हिरन आदि पशुओं का करुण चीत्कार नेमिनाथ को सुनायी दिया। नेमिनाथ को दया आयी। रथ को वहीं रोक कर पूछा - अरे! आनन्द के वातावरण में यह करुण चीत्कार कैसा?' इन पृुओं को क्यों बन्द कर रखा है? बाड़े के रखवाले ने हाथ जोड़कर कहा - 'प्रभो! आपकी बारात मे आए हुए मांसाहारी राजाओं के लिए ये पृु यहाँ रखे गए है। "अरे! क्या बारात में मांसाहारी राजा और उनके आहार के लिए ये निर्दोष पृु।" नेमिकुमार को संसार से विरक्ति हो गई मेरे कारण किसी प्रकार की हिसा या मासांहार नहीं हो सकता। अरे! धिक्कार हो इस संसार को तुरन्त रथ को मोड़कर वन की ओर चले गए। यह जानकर लौकान्तिक देवों ने आकर वैराग्य की अनुमोदना की इधर इन्द्रगण "देव गुरु" नामक सुन्दर शिविका लाये और उस पर प्रभु को विराजमान कर गिरनार पर्वत के सहस्रार वन मे पहुचे।

उनकी बारात मे जितने भी राजा आए थे वे विचार करते है कि अरे मैं तो भगवान की बारात मे बाराती बनकर आया था। अब भगवान की बारात मोक्ष पुरी में जा रही है। उसमें भी साथी बनकर जायेगे। वही प्रभु के साथ हजारो राजाओं ने दीक्षा ले ली।

पारणा - दीक्षा के पश्चात् तीन दिन बाद नेमि मुनिराज आहार के लिए विश्वरपुर (द्वारिका) मे पधारे। तब श्रद्धादि गुणो से विभूषित वरदत्त राजा ने उनको शुद्ध आहारदान देकर प्रथम पारणा कराया।

केवलज्ञान - मुनिराज नेमिनाथ ने मौन धारण करके 56 दिन तक शौरीपुर के आस पास मगल विहार किया। पश्चात् पुन: गिरिनार के तपोवन मे पधारे। दीक्षा वन मे ध्यानस्थ हुए। वहाँ ध्यान चक्र के प्रहार द्वारा समस्त कषाय शत्रुओ का नाश करके वीतरागी सर्वज्ञ हुए अर्थात् चार घातिया कर्मो को नष्ट किया। वह आश्विन शुक्ला प्रतिपदा का दिन था। जब इन्द्र ने अवधि से जाना तो वह समस्त देवो के साथ प्रभु का केवलज्ञान कल्याणक मनाने के लिए चला आया और ज्ञान कल्याणक मनाया एवं समवशरण की रचना रची। उनकी वाणी भव्यों के हित के लिए भव्य जीवो के निमित्त से खिरने लगी। नेमिनाथ के समवशरण मे महाराजा वरदत्त सहित ''गणधर, प्रभु के सह-दीक्षित हजारो मुनियो मे से 1,500 मुनिवर तो केवलज्ञान प्राप्त कर अरिहन्त पद पर विराजमान हुए। अवधिज्ञानी, मन:पर्यायज्ञानी श्रुतकेवली तथा विविध ऋद्धियो के धारी कुल 18,000 मुनिवर एव पद्मश्री गणनि आदि 40,000 आर्यिकाएँ, एक लाख श्रावक, तीन लाख श्राविकाएँ थी। वहाँ पर देवो और तिर्यञ्चो का तो पार ही न था।

मोक्ष कल्याणक - इस प्रकार उनकी आयु का मात्र एक मास ही शेष था विहार और वाणी रुक गए। गिरनार के सर्वोच्च शिखर पर प्रभु अयोगी हुए। आषाढ़ शुक्ला सप्तमी को समस्त कर्म रहित होकर मोक्षपद पर विराजमान हुए।

तीर्थंकर पार्श्वनाथ

परिचय - विश्वप्रसिद्ध बनारस तीर्थ में महाभाग्यवान राजा विश्वसेन राज्य करते थे। कोई उन्हे अश्वसेन भी कहते है। वे अतिगंभीर थे, सम्यग्दृष्टि थे। निमित्तज्ञान के धारी तथा वीतराग देव गुरु के परम भक्त थे। उनकी महारानी ब्राह्मी देवी (ब्रह्मदता अथवा वामादेवी) भी अनेक गुणसम्पन्न थी। उन दोनों की आत्मा तो मिथ्यामल से रहित थी, अहा जहाँ तीर्थंकर समान पवित्र आत्मा का निवास होने वाला हो वहाँ मलिनता कैसे रह सकती है? सिद्धान्त मे कहा है कि तीर्थंकर को उनके माता-पिता को, चक्रवर्ती को, बलदेव वासुदेव-प्रतिवासुदेव को तथा जुगलिया को मलमूत्र नही होते।

गर्भकल्याणक- एक बार महारानी ब्राह्मी देवी पचपरमेष्ठी भगवन्तो के स्मरणपूर्वक निद्राधीन थी बैसाख कृष्ण द्वितीया का दिन था, तब उन्होनें रात्रि के पिछले प्रहर मे 16 स्वप्न देखे। ऐसे महा मगलकारी स्वप्न देखे और उसी समय ब्रह्मदत्ता (वामादेवी) माता ने गर्भ मे पार्श्वनाथ भगवान के जीव का प्राणत विमान से अवतरण हुआ। मगल स्वप्नो के फलस्वरुप तीर्थंकर समान पुत्र रत्न की प्राप्ति होगी, ऐसा महाराजा के मुख से सुनकर उनके हर्ष का पार नही रहा। इन्द्रो तथा इन्द्राणियो ने आकर प्रभु के माता-पिता का सम्मान किया और गर्भकल्याणक उत्सव करके भगवान की पूजा-स्तुति की । छप्पन कुमारी देवियाँ माता की सेवा करने लगी।

जन्मकल्याणक - कुछ समय पश्चात् पौष कृष्णा एकादशी के शुभ दिन तेईसवे तीर्थंकर का जन्म हुआ। बनारस नगरी तथा तीनो लोको मे आनन्द छा गया। जब इन्द्रो को ज्ञात हुआ तब वह ऐरावत हाथी पर बैठकर देवो सहित जन्मोत्सव मनाने आ पहुँचें और मेरु पर्वत पर उन बाल तीर्थंकर का जन्माभिषेक किया। इन्द्र ने प्रभु का नाम पार्श्वकुमार रखा तथा दाहिने पैर के अँगूठे पर सर्प चिह्न देखकर ध्वज पर धारण किया। बाल तीर्थंकर को वामादेवी एव राजा विश्वसेन को सौप दिया और अनेको दिव्य उपहारो से उनका सम्मान किया।

युवावस्था - अब बालक तीर्थंकर किशोरावस्था को पार कर युवा हुआ। एक बार माता-पिता ने उनसे विवाह का अनुरोध किया तब पार्श्वनाथ गम्भीरता पूर्वक बोले - 'हे माता! अब मुझे इस ससार के विषय भोगों मे फँसना नही है। मै अपनी आत्मा का कल्याण करुँगा।' वैरागी राजकुमार की बात सुनकर माता-पिता के नेत्रो से अश्रु झलक गए।

एक घटना - एक बार पारसकुमार वन विहार करने गए। साथ मे उनका मित्र सुभौम कुमार भी था। वे वन में पहुँचे। उस वन मे एक तापस पचाग्नि तप-तप रहा था। उन्होने महिपाल तापस को देखा, अग्नि मे हो रही वहाँ जीव हिसा को देखकर पार्श्वकुमार का मित्र तापस से कहने लगा ''बाबा जी! मै गुरु हू और महान तपस्वी हू, ऐसा मानकर आप भारी अभिमान कर

रहे है। परन्तु आप को ज्ञात नहीं है कि मिथ्यात्व सहित किये गए कुतप से और हिसा से जीव का कितना अहित होगा। इसमें आत्मा का किंचित् भी हित नहीं है। सुभौमकुमार की बात सुनकर महीपाल को अधिक क्रोध आया, वह कहने लगा, तुम मुझे उपदेश देने वाले कौन होते हो? यह राजकुमार तो अभी छोटा बच्चा है, इसे मेरे तप का क्या पता? ऐसा कहकर वह अज्ञानी कुल्हाड़ी द्वारा लक्कड़ फाड़कर अग्नि में डालने लगा। एक बड़ा लक्कड़ फाड़कर जब वह अग्नि मे डालने लगा कि इतने मे पारसकुमार हाथ उठाकर गम्भीर स्वर में बोले, "ठहरो-ठहरो इस लक्कड़ मे एक सर्पो का जोड़ा बैठा है वह कुल्हाड़ी से कट गया है और अभी अग्नि में भस्म हो जायेगा।" इसलिए वे दयाद्र होकर बोले "ठहरो! इस लकड़ी को अग्नि मे मत डालो", अज्ञानी तापस क्रोधित होकर बोला, "तू मुझे रोकने वाला कौन?" उसे कहाँ खबर थी कि इस लकड़ी मे नाग-नागिन का जोड़ा बैठा है। पारसकुमार ने पुनः कहा, "आप जो लकड़ी काटकर अग्नि मे होम करना चाहते हैं उसमे नाग-नागिन का जोड़ा बैठा हैं वे कट गए है और अग्नि मे जल जायेगे, ऐसी जीव हिसा मत कीजिए।" अवधिज्ञानी पार्श्वकुमार की बात सुनकर भी उस तपस्वी को विश्वास नहीं हुआ, वह बोला, "तू कौन सा ऐसा त्रिकालदर्शी हो गया, जो तुझे इस लकड़ी में बैठे सर्प दिख रहे है। व्यर्थ में ही होम में विघ्न क्यों करता हैं? तब सुभौम ने कहा, "बाबा जी यह पार्श्वकुमार अवधिज्ञानी है, इनका वचन कभी असत्य नही होता आप को विश्वास न आता हो तो लकड़ी चीरकर देख लीजिये।" महीपाल तापस ने क्रोधपूर्वक उस लकड़ी को चीरा, तो भीतर से दो तड़पते हुए सर्प निकले, वे दोनो नाग-नागिन पारस प्रभु की ओर टकटकी लगा कर देख रहे थे, मानों दुःख से छुड़ाने की प्रार्थना कर रहे हों।

एक ओर कटे हुए दोनो सर्प तड़प रहे है और दूसरी ओर उस सर्प युगल की हिसा करने वाला तापस खड़ा है तभी उन्ही के निकट खड़े तीर्थंकर राजकुमार वीतराग धर्म का स्वरुप समझा रहे हैं। दोनों सर्पों ने दयामूर्ति भगवान के दर्शन करके शान्ति प्राप्त की और उनके श्रीमुख से वीतराग धर्म और णमोकार मत्र का उपदेश सुनकर धन्य हो गए और प्रभु के चरणों में शरीर त्याग कर भवनवासी देवो मे धरणेन्द्र तथा पद्मावती नामक देव देवी उत्पन्न हुए।

वैराग्य - एक बार पौष कृष्णा एकादशी के दिन पार्श्वकुमार राज्य सभा में बैठे थे और उनका जन्म-दिवस मनाया जा रहा था। अयोध्या का राजदूत भी भेंटकर लेकर आया। पार्श्व प्रभु ने प्रसन्न दृष्टि से राजदूत की ओर देखा और अयोध्या के वैभव की बात पूछी। राजदूत ने कहा महाराज, हमारी अयोध्या नगरी तो तीर्थंकरों की खान है, असख्य वर्षों पूर्व भगवान ऋषभदेव का जन्म अयोध्या नगरी में हुआ था, उस समय इन्द्र ने उस नगरी की रचना की थी। अयोध्या के वैभव की बात पार्श्वकुमार ध्यान से सुन रहे है, दूत कहता है प्रभो, ऋषभनाथ के पश्चात् दूसरे अजितनाथ, अभिनन्दन नाथ, सुमतिनाथ तथा अनन्तनाथ, इन चारों तीर्थंकरों ने भी अयोध्या नगरी मे जन्म लिया एव भरत चक्रवर्ती, भगवान रामचन्द्र आदि अनेक महापुरुषों ने अयोध्या

नगरी को पावन किया है। अयोध्या नगरी का तथा पूर्व काल में हुए तीर्थंकरों का वर्णन सुनकर पार्श्वकुमार गम्भीर विचारों में डूब गए और उन्हें जातिस्मरण हुआ। वे संसार से विरक्त हो गए। इस प्रकार वैरागी भगवान दीक्षा ग्रहण करने को तत्पर हुए। वैराग्य की अनुमोदना करने उसी समय लौकान्तिक देव आये और वैराग्य की अनुमोदना की।

दीक्षा - दीक्षा के लिए तत्पर हुए भगवान ने माता के पास जाकर कहा, - 'हे माता! अब मै चारित्र साधना द्वारा आत्मा का कल्याण करने जा रहा हूँ। उसी प्रकार पिताजी की आज्ञा लेकर भगवान ''विमला'' नामक शिविका पर आरुढ़ होकर वन में गए और स्वयं दीक्षा लेकर आत्म-ध्यान करने लगे । भगवान ने तीस वर्ष की आयु में अपने जन्मदिन के दिन ही दीक्षा ग्रहण की। उनके साथ 300 राजाओ ने जिनदीक्षा ली। प्रभु को ध्यान में तुरन्त ही सातवां गुणस्थान प्रगट हुआ और मन:पर्यय ज्ञान भी प्रगट हो गया। सर्वप्रथम गुल्मखेट नगर में ब्रह्मदत्त राजा ने आहार दिया।

उपसर्ग और केवलज्ञान - इस प्रकार मुनि दशा में आत्मध्यान सहित विहार करते करते चार महिने बीत गए। एक बार वे मुनिराज सात दिन का ध्यान योग धारण करके कायोत्सर्ग पूर्वक खड़े थे। इतने मे एक घटना घटी। आकाशमार्ग से उनका पूर्व का बैरी कमठ, जो कि सवर नाम का देव है, वह आया और पार्श्वनाथ को अपना, बैरी समझ के पर्वत जैसे बड़े-बड़े पत्थर उठाकर भगवान पर फेंकने लगा। निरन्तर पत्थरो की वर्षा होने से धरती काँप उठी, वन के प्राणी काँपने लगे, किन्तु भगवान तो निष्कम्प आत्मध्यान में लीन थे। पत्थरों की वर्षा में भी प्रभु जी अडिग खडे रहे तब संवर नामक देव ने मूसलाधार पानी बरसाना शुरु किया मानों समस्त पृथ्वी डूब जायेगी। पानी समुद्र जैसा पानी हिलोरे लेने लगा। वन मे चारों ओर हाहाकार मच गया। पृा भयभीत होकर प्रभु की शरण मे आ गए इतने में धरणेन्द्र का आसन काँपने लगा। अरे! यह मेरा इन्द्रासन क्यो डोल रहा है? अवधिज्ञान से उसने देखा कि हम पर पूर्व भव में उपकार करने वाले पार्श्व मुनि पर सँवर देव घोर उपसर्ग कर रहा है। तुरन्त धरणेन्द्र और पद्मावती वहाँ पहुँचे। एक ओर संवर देव भयंकर रुप से द्वेष पूर्वक उपसर्ग कर रहा है तो दूसरी ओर धरणेन्द्र और पद्मावती ने भक्ति राग पूर्वक सेवा शुश्रूषा करने लगे। ''शत्रु मित्र के प्रति बर्ते समदर्शिता'' उन्हें न तो सवर देव के प्रति द्वेष है और न धरणेन्द्र पद्मावती के प्रतिराग। बाहर में क्या हो रहा है? उसका भी उन्हें लक्ष्य नहीं है।

सात दिन तक उपसर्ग करके अन्त में संवर देव थका। अन्तिम प्रयत्न के रुप में उसने भयकर गर्जना के साथ बिजली और बादलो की गडगड़ाहट की। बाहर मे बिजली की चमक हुई, ठीक उसी समय प्रभु के अन्तरंग मे केवलज्ञान की दिव्य ज्योति जगमगा उठी। धरणेन्द्र और पद्मावती जिस उपसर्ग को दूर करने की चेष्टा कर रहे थे वह कार्य केवलज्ञान के प्रताप से अपने आप पूर्ण हो गया। भगवान को केवलज्ञान होने पर इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने समवसरण की रचना की। जीवों के समूह प्रभु का उपदेश सुनने के लिए आने लगे।

केवली प्रभु की दिव्य महिमा देखकर संवर देव को भी उनके प्रति श्रद्धा जागृत हुई। क्रोध एक दम शान्त हो गया और बार बार अपनी गलती का प्रभु जी के समक्ष पश्चाताप करने लगा। भगवान का उपदेश सुनकर भेदज्ञान पूर्वक उसने विशुद्ध सम्यग्दर्शन को प्राप्त किया।

समवसरण की विभूति - स्वयंभू स्वामी आदि दस गणधर, 350 श्रुतकेवली, 10,000 उपाध्याय, 1,400 अवधिज्ञानी, 750 मनःपर्यय ज्ञानी, 1,000 केवलज्ञानी, 1,000 ऋद्धिधारी मुनिवर, 600 मुनिवर वाद-विवाद मे निपुण थे। कुल 16,000 मुनिवर एव 38,000 आर्यिकाएँ थी। उनमे सुलोचना नाम की मुख्य गणिनि थी।

श्रावक और श्राविकाओं की सख्या क्रमशः एक लाख एव तीन लाख थी। स्वर्ग के देव और वन के पशु भी प्रभु की दिव्य वाणी श्रवण करने आते थे और धर्म प्राप्त करके आत्मा का उद्धार करते थे।

मोक्ष - श्री पार्श्वनाथ तीर्थकर ने 70 वर्ष तक देश-देशान्तर मे विहार किया अन्त मे सम्मेदशिखर पर पधारे अब उन्हे मोक्ष जाने मे एक माह शेष था। इसलिए उनकी वाणी एव विहार रुक गया। पार्श्वप्रभु सम्मेद शिखर की सर्वोच्च टोक पर ध्यानस्थ खडे थे। तभी चतुर्थ शुक्लध्यान पूर्ण करके वे अयोगी भगवान बन दूसरे ही क्षण उर्ध्वगमन करके मोक्ष पधारे अर्थात् अशरीरी हुए। इन्द्रो ने प्रभु का मोक्ष कल्याणक मनाया। भगवान श्रावणशुक्ल सप्तमी के दिन मोक्ष पधारे थे इसलिए उसे "मोक्ष सप्तमी" कहते है तथा उस टोक को "स्वर्णभद्र" टोक कहते है।

भगवान महावीर का जीव अपने पूर्व भव में सिंह था, एक दिन वह जंगल में हिरण को मारकर खा रहा था। उसी समय आकाश मार्ग से अतिशय दयालु 'अजितंजय' और 'अमितगुण' नाम के चारण ऋद्धिधारी मुनिराज उतरे और उस सिंह को सम्बोधते हुए बोले- 'हे! वनराज यह क्या कर रहे हो? अरे तू इस भव से दसवें भव में अंतिम तीर्थंकर होगा। यह सब मैंने 'श्रीधर' तीर्थंकर की दिव्य ध्वनि मे सुना है। हे! बुद्धिमान अब तू आज से संसार रूपी अटवी में गिराने वाले मिथ्यामार्ग से विरत हो, और आत्मा का हित करने वाले मार्ग में रमण कर।' इस प्रकार सिह ने मुनिराज के वचनो को हृदय में धारण कर मुनिराज को भक्ति भाव से बार-बार प्रदक्षिणायें दी, बार-बार प्रणाम किया शीघ्र सम्यक्त्व की प्राप्ति की और श्रावक-सम बन गया।

इस प्रकार व्रतों का पालन करते हुए अन्त समय मे सन्यास धारण कर वह एकाग्रचित से मरा और शीघ्र ही सौधर्म स्वर्ग में सिहकेतु नाम का देव हुआ। दो सागर पर्यन्त रहकर वहाँ से च्युत होकर धातकीखण्ड के पूर्व विदेह की मंगलावती देश के विजयार्ध पर्वत की उत्तम श्रेणी मे अत्यन्त श्रेष्ठ कनकप्रभ नगर के राजा नकपुख विद्याधर और कनकमाला रानी के गर्भ से कनकोज्ज्वल नाम का पुत्र हुआ। किसी दिन मदर पर्वत पर प्रियमित्र मुनिराज से दीक्षा लेकर अन्त मे समाधि से मरण कर सातवे स्वर्ग मे देव हुआ। वहाँ से च्युत होकर इसी अयोध्या नगरी के राजा वज्रसेन की शीलवती रानी से हरिषेण नाम का पुत्र हुआ। इसने भी राज्यभार को छोड़कर श्री श्रुतसागर मुनिराज के समीप दीक्षा लेकर आयु के अन्त में महाशुक्र स्वर्ग मे देव हुआ। वहाँ से च्युत होकर धातकीखण्ड के पूर्व विदेह सम्बन्धी पुष्कलावती देश की पुण्डरीकिणी नगरी के राजा सुमित्र और उनकी मनोरमा से प्रियमित्र नाम का पुत्र हुआ। इन प्रियमित्र ने चक्रवर्ती पद के वैभव को प्राप्त किया।

अनन्तर क्षेमकर तीर्थंकर से दीक्षा लेकर आयु के अन्त मे सहस्रार स्वर्ग में देव सुख का अनुभव कर जम्बूद्वीप के छत्रपुर नगर मे नन्दिवर्धन महाराज की वीरवती महारानी से 'नन्द' नाम का पुत्र हुआ। यहाँ पर भी अभिलक्षित राज्य सुख को भोग कर 'प्रोष्ठिल' नाम के गुरु के पास दीक्षा लेकर उग्र तपश्चरण करते हुए ग्यारह अगो का ज्ञान प्राप्त कर लिया और दर्शनविशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओ का चितन करके तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध कर लिया । आयु के अन्त मे सब प्रकार की आराधनाओ को प्राप्त कर अच्युत स्वर्ग के 'पुष्पोत्तर' विमान में श्रेष्ठ इन्द्र हुआ ।

गर्भावतरण - जब इस इन्द्र की आयु छह महीने बाकी रही थी तब इसी भरतक्षेत्र के विदेह नामक देश सम्बन्धी कुण्डलपुर नगर के राजा 'सिद्धार्थ' के भवन के आगन में सौधर्म इन्द्र की आज्ञा से कुबेर के द्वारा की गयी प्रतिदिन साढ़े तीन करोड़ रत्नों की मोटी धारा चार

समय बरसने लगी। आषाढ़ शुक्ला षष्ठी की रात्रि के पिछले प्रहर में सिद्धार्थ महाराज की रानी प्रियकारिणी ने सोलह स्वप्न देखे एव प्रभात मे पतिदेव से उन स्वप्नों का फल सुनकर सन्तोष प्राप्त किया। अनन्तर देवो ने आकर भगवान् का गर्भ कल्याणक उत्सव मनाते हुए माता-पिता की विधिवत् पूजा की अर्थात् माता त्रिशला के गर्भ मेंअच्युतेन्द्र का जीव आ गया।

भगवान् महावीर का जन्म उत्सव - नव मास व्यतीत होने के बाद चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन माता त्रिशला ने पुत्र को जन्म दिया। उस समय सारे विश्व मे हर्ष की लहर दौड़ गयी। देवो के स्थान मे बिना बजाये वाद्य ध्वनि होने लगी। सौधर्म इन्द्र का आसन कम्पायमान हो गया। अवधिज्ञान के बल से तीर्थंकर महापुरुष के जन्म को जानकर इन्द्र ऐरावत हाथी पर बैठकर अपने वैभव के साथ आकर कुंडलपुर नगर की प्रदिक्षणा करके जिन बालक को लेकर सुमेरु पर्वत पर गए और वहाँ क्षीरसागर के जल से भरे कलशों द्वारा पाडुक शिला पर उनका अभिषेकोत्सव मनाया। पुन: उत्तमोतम आभूषण से विभूषित करके इन्द्र ने 'वीर' और 'वर्द्धमान' ऐसे दो नाम रखे और वापस लाकर माता-पिता को देकर देवलोक को चले गए।

भगवान् की बाल्यकाल की विशेषताएं - एक बार सजय और विजय नामक दो चारण ऋद्धिधारी मुनियों को किसी पदार्थ मे सन्देह उत्पन्न हुआ था, परन्तु भगवान् के जन्म के बाद ही वे उनके समीप आये और उनके दर्शन मात्र से ही उनका सन्देह दूर हो गया। इसलिये उन्होने बड़ी भक्ति से कहा था कि यह बालक 'सन्मति' तीर्थंकर होने वाला है अर्थात् उन्होने उनका 'सन्मति' नाम रखा। किसी समय भगवान् बालको के साथ वन में खेल रहे थे। सगम नामक देव उनके धैर्य की परीक्षा करने के लिए सौ जिह्वा युक्त अत्यन्त भयकर सर्प का रुप लेकर वृक्ष की जड़ से स्कन्ध तक लिपट गया। सब बालक भय से काँप उठे किन्तु भगवान वीर बालक निर्भय होकर उसके फण पर पैर रखकर उतर आये और उसके साथ क्रीड़ा करने लगे। तब सगम देव ने भक्तिवश भगवान् की स्तुति करके 'महावीर' यह नाम घोषित किया था।

भागवान् महावीर का दीक्षा महोत्सव - इस प्रकार से तीस वर्ष का कुमार काल व्यतीत हो जाने के बाद एक दिन स्वयं ही भगवान् को जाति स्मरण हो जाने से वैराग्य हो गया। उसी समय स्तुति पढ़ते हुए लौकातिक देवों ने आकर उनकी पूजा की। देवो द्वारा लायी गई 'चन्द्रप्रभा' पालकी पर भगवान् को विराजमान करके उस पालकी को पहले भूमिगोचरी राजाओं ने, फिर विद्याधर राजाओं ने और फिर इन्द्रो ने उठाया और वे 'ज्ञातृवन' नामक वन में चले गए वहाँ रत्नमयी बड़ी शिला पर उत्तर की ओर मुँह करके बेला का नियम लेकर शालवृक्ष के नीचे विराजमान हो गए और आभूषणो का त्याग कर पंचमुष्टि केशलुञ्च करके 'नम: सिद्धेभ्य:' कहते हुए जैनेश्वरी दीक्षा ले ली। वह मार्गशीर्ष बदी दशमी का दिन था। उस दिन देवों ने दीक्षा कल्याणक उत्सव मनाया। उसी समय संयम ने उन भगवान् को केवलज्ञान की आधार शिला के समान चौथा मन:पर्यय ज्ञान भी समर्पित किया था । अनन्तर पारणा के दिन वे भगवान आहार

के लिए कूलग्राम में पहुंचे। राजा कूल ने तीन प्रदक्षिणा देकर नवधाभक्ति से भगवान् को खीर का आहार देकर पचाश्चर्यों को प्राप्त किया था।

भगवान् का उपसर्ग विजयः किसी एक दिन अतिशय धीर-वीर भगवान् वर्धमान उज्जयिनी नगरी के अतिमुक्तक नामक श्मशान मे प्रतिमा योग से विराजमान थे। उन्हें देखकर महादेव नामक रुद्र ने अपनी दुष्टता से उनके धैर्य की परीक्षा करनी चाही। उसने रात्रि के समय ऐसे अनेक बड़े-बड़े बेतालो का रुप बनाकर भयंकर उपसर्ग किया। जब वह भगवान् को ध्यान से चलायमान करने में समर्थ नहीं हुआ तब अन्त मे भगवान् का 'महति महावीर' यह नाम रखकर अनेक प्रकार की स्तुति की। पार्वती के साथ नृत्य किया और सब मत्सर भाव को छोड़कर वह वहाँ से चला गया।

चन्दना के द्वारा भगवान् का आहार : किसी एक दिन राजा चेटक की पुत्री चन्दना क्रीड़ा मे आसक्त थी कि उसे कोई विद्याधर उठा कर ले गया। बाद में अपनी स्त्री के डर से उसे भयकर वन मे छोड़ दिया। वहाँ किसी भील ने देखकर उसको साथ ले जाकर धन की इच्छा से ऋषभदत्त सेठ को बेच दी। उस सेठ की पत्नी सुभद्रा ने इसका सेठ से सम्बन्ध न हो जावे' इस आशका से उसे मिट्टी के सकोरे मे कांजी से मिला हुआ कोदो का भात दिया और उसे सांकल मे बांधे रहा करती थी किसी दूसरे दिन वत्सदेश की उसी कौशाम्बी नगरी मे आहारार्थ भगवान् महावीर स्वामी आये। उन्हे नगरी में प्रवेश करते देख चन्दना उनके सामने जाने लगी। उसी समय उसके साकल के सब बन्धन टूट गये। मुँड़ायें हुए सिर पर केश आ गए। वह वस्त्राभरण से सुन्दर हो गई और भक्तिभार से झुकी हुई नवधा भक्ति समेत आहार देने को तत्पर हुई। शील के माहात्म्य से उसका मिट्टी का सकोरा सुवर्ण पात्र बन गया और कोदों का भात शाली चावलो का भात हो गया। उस बुद्धिमती चन्दना ने विधिपूर्वक पड़गाहन करके भगवान को आहार दान दिया इसलिऐ उसके यहाँ पंचाश्चर्यो की वर्षा हुई और भाई-बन्धुओं के साथ उसका समागम हो गया।

भगवान का केवलज्ञानः जगद्बन्धु भगवान को छद्मस्थ अवस्था में बारह वर्ष व्यतीत हो गए। किसी एक दिन वे जृंभिक ग्राम के समीप ऋजुकूला नदी के किनारे मनोहर नामक वन मे शालवृक्ष के नीचे बेला का नियम लेकर प्रतिमायोग से विराजमान हुए। वैशाख शुक्ला दशमी के दिन अपराह्न काल मे हस्त नक्षत्र मे चन्द्रमा के आ जाने पर परिणामों की विशुद्धता को बढ़ाते हुए वे क्षपकश्रेणी पर आरुढ़ हुए। उसी समय उन्होने शुक्लध्यान के द्वारा चारों घातिया कर्मों को नष्ट कर अनन्त चतुष्टय प्राप्त किए और चौतीस अतिशयों से सुशोभित होकर परमात्मा बन गए। उसी समय सौधर्म इन्द्र ने चारों प्रकार के देवो के साथ आकर समवसरण की रचना करके केवलज्ञान कल्याणक की विधिवत् पूजा की। भगवान् महावीर के समवसरण का प्रमाण एक योजन का था। पूर्ववत् ऋषभदेव के समवशरण के सदृश अगणित महिमाशाली वैभवों से युक्त

इस समवसरण में बारह सभा मे मनुष्य, देव, तिर्यञ्च आदि बैठे। किन्तु भगवान् की दिव्यधवनि नहीं खिरी।

गौतम स्वामी का आगमन : तदनन्तर इन्द्र अवधिज्ञान से दिव्यध्वनि के न खिरने के कारण को जानकर युक्ति से गौतम गोत्रीय इन्द्रभूति ब्राह्मण को वहाँ लाया। वे इन्द्रभूति काललब्धि के निमित्त से पांच सौ शिष्यो के साथ भगवान् के चरणों मे दीक्षित हो प्रथम गणधर बन गया और तत्क्षण ही उन्हे सात ऋद्धियां प्राप्त हो गईं। उस दिन श्रावण कृष्ण प्रतिपदा को पूर्वाह्न में भगवान् की दिव्यध्वनि प्रगट हुई। और रात्रि के पूर्वभाग मे श्री गौतम गणधर ने ग्यारह अंगो की एव पश्चिम भाग मे चौदह पूर्वों की रचना की थी। इनके बाद वायुभूति, अग्निभूति, सुधर्म, मौर्य, मौन्द्रय, पुत्र, मैत्रेय, अकम्पन, अन्धवेला तथा प्रभास ये दश गणधर और हुए। इस प्रकार से भगवान् महावीर स्वामी की सभा में गणधर 11 अग चौदह पूर्वों के धारक मुनि 300 शिक्षक मुनि 9,900 अवधिज्ञानी 1,300 केवलज्ञानी 700, विक्रिया ऋशद्धि धारक मुनि 900, मन: पर्यय ज्ञानी 500, अनुत्तरवादी मुनि 400, इस प्रकार सब मिलाकर 14,000 मुनि, मे चन्दना को आदि लेकर 3,6000 आर्यिकाए, श्रावक 1,00,000 श्राविकाये 3,00,000 असख्यातो देवी-देवता और सख्यातो तिर्यञ्च थे। उल्लेखनीय है भगवान महावीर के सभी गणधर ब्राह्मण थे। महावीर के प्रमुख श्रोता थे मगध नरेश श्रेणिक बिम्बसार। इनके अतिरिक्त महावीर के समय छह परिव्राजक थे, जिनके अपने-अपने सघ थे और जिनकी तीर्थंकर के रुप में प्रसिद्धि भी थी। वे थे -

1. पूर्ण काश्यप - अक्रियावादी
2. मक्खली गोशाल - दैव/ नियत/निश्चयवादी
3. प्रकृघ कात्यायन - अकृतवादी
4. अजितकेशकम्बली - जड़वादी
5. सजयवेलट्ठिपुत - अनिश्चयवादी
6. बुद्ध - क्षणिकवादी।

'भवि भागन वश जोगे वशाय, तुम धुनि है सुनि विभ्रम नशाय।' के अनुसार केवली महावीर ने पूर्व से पश्चिम, उत्तर से दक्षिण सर्वत्र मगल विहार कर अंसख्य प्राणियों का उद्धार किया। प्रतिष्ठापाठ के अनुसार काशी, काश्मीर, कुरु, कौशल, कामरुप, कच्छ, कलिंग, कुरुजांगल, किष्किन्धा, केरल, काधार, पाचाल, मद्र, मलय, वंग, विदर्भ, चेदि, दशार्ण, अंग, आन्ध्र और उशीनर आदि नाना देशो मे पद विहार करते हुए जैनशासन की 29 वर्ष 5 माह 19 दिन तक महती प्रभावना की। अहिसा, अपरिग्रह और अनेकान्त ये तीन महावीर मौलिक सिद्धान्त थे।

भगवान् महावीर का निर्वाण गमन - अन्त मे भगवान महावीर मंगल विहार करते हुए मध्यम पावापुर पहुंचे। वहाँ पद्म सरोवर जो कि अनेक सरोवरों के मध्य वैसे ही सुशोभित होता था जैसे ताराओं/नक्षत्रमालाओ के मध्य चन्द्रमा अथवा मुनिजन से परिवृत आचार्य सुशोभित होते है।

'पावाए मज्झिमाए हत्थिवालिए सहाए' अनुसार महाश्रमण महावीर ने दो दिन पूर्व मध्यम पावापुर के हस्तिपाल राजा के सभागृह के बाह्य भाग में योग निरोध धारण कर लिया। कर्म की शेष सम्पूर्ण प्रकृतियाँ तड़-तड़ टूटने लगीं। कार्तिक, कृष्णा अमावस्या, 15 अक्टूबर मगलवार, 527 ई. पू. मे जब स्वाति नक्षत्र उपस्थित था। 'चहुँ ओर काली अँधियारी छाई हुई थी।'' तभी प्रभु ने उषःकाल मे आत्मसिद्धि को प्राप्त कर लिया। एक आत्मा परिशुद्ध हो गई। वह अनन्तकालीन दुःख परम्परा से सदा-सदा के लिए छुटकारा पा गई। ऐसा सोच-सोचकर हर्ष से प्रसन्नमना अमावस्या भी पूनम हो गई।

विरला णिसुणहि तच्चं जाणंति तच्चदो तच्चं।
विरला भावहि तच्चं विरलाणं धारणा होदि॥

(आचार्य कार्तिकेय)

जगत में विरल मनुष्य ही तत्त्व को सुनते हैं। सुनने वालों में से भी विरले मनुष्य ही तत्त्व को ठीक-ठीक जानते हैं। जानने वालों में से भी विरले ही तत्त्व की भावना (अभ्यास) करते हैं और सतत अभ्यास करने वालों में से भी तत्त्व की धारणा विरले मनुष्य को ही होती है।

पुराण पुरुष

जैन अनुश्रुतियाँ भारत का इतिहास उस समय से प्रस्तुत करती हैं, जब आधुनिक नागरिक सभ्यता का विकास नहीं हुआ था। उस समय व्यक्ति प्रायः जंगलों में रहते थे। मनुष्य ग्राम व नगरों में नहीं बसते थे। लोग न खेती करना जानते थे, न पशुपालन, न ही कोई उद्योग-धन्धे। उस समय के लोग अपने खान-पान आदि समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति प्राकृतिक कल्पवृक्षों से कर लिया करते थे। (इच्छित/कल्पित आवश्कताओं की पूर्ति हो जाने से ही इन्हें कल्पवृक्ष कहा जाता था) उस समय न कोई समाज-व्यवस्था थी, न ही पारिवारिक सम्बन्ध। माता-पिता युगल पुत्र-पुत्री को जन्म देकर दिवंगत हो जाते थे। पुराणकारों ने उक्त व्यवस्था को भोग-भूमि-व्यवस्था कहा है। धीरे-धीरे उक्त व्यवस्था में परिवर्तन हुआ और उस युग का आरम्भ हुआ जिसे पुराणकारों ने कर्मभूमि कहा है इसे हम आधुनिक सभ्यता का प्रारम्भ भी कह सकते हैं। कल्पवृक्षों से फल प्राप्ति में कमी आने लगी। फलतः लोग एक-दूसरे से झगड़ने लगे। शीत-तुषारादि की बाधाएँ सताने लगीं। जंगली पशुओं का आतंक बढ़ने लगा। उस समय क्रमशः 14 कुलकर हुए, जिन्होंने तत्कालीन समस्याओं का समाधान कर समाज को नई व्यवस्था दी। ये कुलकर ही मानव सभ्यता के सूत्रधार थे। कुलकरों ने प्राकृतिक परिवर्तन से चकित और चिन्तित मानव समूह को प्रकृति का रहस्य बताया। उन्होंने मानव और प्रकृति के सम्बन्धों को उद्घाटित कर मनुष्य को जीने की कला सिखायी एवं समाज का ढाँचा तैयार कर विवेक एवं विचार की शिक्षा दी। जैन परम्परा में कुलकरों का वही स्थान है जो वैदिक परम्परा में मनुओं का।

तिरेसठ शलाका पुरुषों में चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ नारायण, नौ बलभद्र और नौ प्रतिनारायण होते हैं।

चौदह कुलकर

कुलकर पूर्व भव मे विदेह क्षेत्रों मे उच्च कुलीन महापुरुष थे उन्होने उस भव मे पुण्य बढ़ाने वाले पात्र दान तथा यथायोग्य वृताचरण रूपी अनुष्ठानों के द्वारा सम्यग्दर्शन प्राप्त होने से पहले ही भोगभूमि की आयु बांध ली थी। बाद मे श्रीजिनेन्द्र के समीप रहने से उन्हे क्षायिक सम्यग्दर्शन तथा श्रुतज्ञान की प्राप्ति हुई थी। और जिसके फलस्वरुप आयु के अन्त मे मरकर वे इस भरतक्षेत्र मे उपन्न हुए थे। इन चौदह मे से कितने ही कुलकरो को जातिस्मरण था और कितने ही अवधिज्ञानी रूपी नेत्रो के धारक थे। इसलिए उन्होने विचार कर प्रजा के लिए ऊपर कहे गए कार्यों का उपदेश दिया था। ये प्रजा के जीवन का उपाय जानने से मनु तथा आर्य पुरुषों को कुल की भाति इकट्ठा रहने के उपदेश देने से कुलकर कहलाते थे। इन्होंने अनेक वंश स्थापति किये थे। इसलिए कुलकर कहलाते थे तथा युग के आदि होने से ये युगादि पुरुष भी कहे जाते

थे। भगवान ऋषभदेव तीर्थंकर भी थे और कुलकर भी माने गए थे। इसी प्रकार भरत महाराज चक्रवर्ती भी थे और कुलकर भी कहलाते थे। उन कुलकरों में से आदि के पच कुलकरो ने अपराधी मनुष्यों के लिए 'हा' इस दण्ड की व्यवस्था की थी अर्थात् खेद है कि तुम ने ऐसा अपराध किया। उनके आगे के पांच कुलकरों ने 'हा' और 'मा' इन दो प्रकार के दण्डों की व्यवस्था की थी। अर्थात् खेद है कि जो तुमने ऐसा अपराध किया, अब आगे ऐसा नहीं करना। शेष कुलकरों ने 'हा' 'मा' और 'धिक्' इन तीन प्रकार के दंडों की व्यवस्था की थी अर्थात् खेद है कि अब ऐसा नहीं करना और तुम्हें धिक्कार है जो रोकने पर भी अपराध करते हो। भरत चक्रवर्ती के समय मे लोग अधिक दोष या अपराध करने लगे थे। इसलिए उन्होंने वध, बधन आदि शारीरिक दण्ड देने की भी रीति चलायी थी। इन मनुओं की आयु ऊपर अगत आदि की सख्या द्वारा बतलायी गयी है। इसलिए अब उनका निश्चय करने के लिए उनकी परिभाषाओं का निरूपण करते है। चौरासी लाख वर्षों का एक पूर्वांग होता है चौरासी लाख का वर्ग करने अर्थात् परस्पर गुण से जो संख्या आती है उसे पूर्व कहते है। आगती, स्वर्ग व नरक से होती है। वर्तमान चौबीसी में सभी स्वर्ग से आये हैं।

चौदह कुलकरों के नाम

ऊपर जिन कुलकरों का वर्णन कर चुके हैं यथाक्रम से उनके नाम इस प्रकार है -

1. प्रतिश्रुति 2 सन्मति 3. क्षेमकर 4. क्षेमधर 5. सीमंकर 6. सीमधर 7. विमल वाहन 8. चक्षुष्मान 9. यशस्वान 10. अभिचन्द्र 11. चन्द्राग 12. मरुदेव 13. प्रसेनजित् 14. नाभिराज

ये सब कुलकर (मनु) तीसरे काल के सुखमा-दुखमा के अन्तिम में हुए। इनके अतिरिक्त भगवान ऋषभदेव तीर्थंकर भी थे और मनु भी तथा भरत, चक्रवर्ती भी थे और मनु भी। अब सक्षेप मे उन कुलकरो के कार्य का वर्णन करता हूँ। प्रतिश्रुति ने सूर्य चन्द्रमा के देखने से भयभीत हुए मनुष्य के भय को दूर किया था, तारो से भरे हुए आकाश को देखने से लोगों को जो भय हुआ था उसे सन्मति ने दूर किया था। क्षेमंकर ने प्रजा में क्षेम कल्याण का प्रचार किया था। क्षेमधर ने कल्याण धारण किया था। सीमंकर ने आर्य पुरुषों की सीमा नियत की थी। सीमंधर ने कल्पवृक्षों की सीमा निश्चित की थी। विमलवाहन ने हाथी आदि पर सवारी करने का उपदेश दिया था सबसे अग्रसर रहने वाले चक्षुष्मान ने पुत्र के मुख देखने की परम्परा चलायी थी। यशस्वान का सब यशोगान करते थे। अभिचन्द्र ने बालकों को चन्दमा के साथ क्रीड़ा कराने का उपदेश दिया था। चन्द्रमा के समय माता-पिता अपने पुत्रों के साथ कुछ दिनों तक जीवित रहने लगे थे। मरुदेव के समय माता-पिता अपने पुत्रों के साथ बहुत दिनों तक तक जीवित रहने लगे थे। प्रसेनजित ने गर्भ के ऊपर रहने वाले जरायु रुपी मल को हटाने का उपदेश दिया था और नाभिराज ने नाभि-नाल काटने का उपेदश देकर प्रजा को आश्वासन दिया था। उन नाभिराज ने ही ऋषभदेव को उत्पन्न किया था।

बारह चक्रवर्ती

भरत चक्रवर्ती - भगवान ऋषभदेव की यशस्वती (नन्दा) रानी से भरत नाम का प्रथम चक्रवर्ती हुआ। इस चक्रवर्ती के नाम से ही यह क्षेत्र तीनो जगत मे भारत नाम से प्रसिद्ध हुआ। यह भरत पूर्व जन्म मे पुण्डरीकिणी नगरी मे पीठ नाम का राजकुमार था। तदनन्तर कुशसेन मुनि का शिष्य होकर सर्वार्थसिद्धि गया वहाँ से आकर भरत चक्रवर्ती हुआ। इसके परिणाम निरन्तर वैराग्यमय रहते थे। जिससे केशलुञ्च के अनन्तर ही लोकालोकाभासी केवलज्ञान उत्पन्न कर निर्वाणधाम को प्राप्त हुआ।

सागर चक्रवर्ती - पृथ्वीपुर नगर मे राजा विजय था। यशोधर गुरु का शिष्य होकर मुनि हो गया। अन्त मे सल्लेखना से मरकर विजय नामक अनुत्तर विमान मे देव हो गया। वही उत्तम भोग भोगकर अयोध्या नगरी मे राजा विजय और रानी सुमगला के सगर नाम का द्वितीय चक्रवर्ती हुआ। वह इतना प्रभावशाली था कि देव भी उसकी आज्ञा का सम्मान करते थे। उसने उत्तमोतम भोग भोगकर अन्त मे पुत्रो के शोक से प्रवृत्ति हो जिन दीक्षा धारण कर ली। और केवलज्ञान उत्पन्न कर सिद्धालय प्राप्त किया।

मघवा चक्रवर्ती - पुण्डरीकिणी नगरी मे शशिप्रभ नाम का राजा था। वह विमल गुरु का शिष्य होकर ग्रैवेयक गया। वहाँ ससार का उत्तम सुख भोग कर वहाँ से च्युत हो श्रावस्ती नगरी मे राजा सुमित्र और रानी भद्रवती के मघवा नामक तृतीय चक्रवर्ती हुआ। यह चक्रवर्ती की लक्ष्मी रूप लता के लिपटने के लिए मानो वृक्ष ही था। यह धर्मनाथ और शान्तिनाथ तीर्थकरों के बीच मे हुआ था तथा मुनिव्रत धारण कर समाधि के अनुरुप सौधर्म स्वर्गो मे उत्पन्न हुआ था।

सनत्कुमार चक्रवर्ती -भगवान महावीर के समवशरण मे गौतम गणधर चतुर्थ चक्रवर्ती सनत्कुमार के रुप की बहुत प्रशसा करने लगे। तब राजा श्रेणिक ने पूछा कि हे भगवन्, वह किस पुण्य के कारण इस तरह रुपवान हुआ था। इसके उत्तर मे गणधर ने कुमार को सक्षेप से ही पुराण का सार बताया। उन्होने कहा कि जब तक यह जीव जैनधर्म को प्राप्त नही होता है तब तक तिर्यञ्च, नरक तथा कुमानुष सम्बन्धी दुख भोग भोगता है। पूर्व भव का वर्णन करते हुए उन्होने कहा कि मनुष्यो से भरा एक गोवर्धन नाम का ग्राम था उसमे जिनदत्त नाम का उत्तम श्रावक रहता था। जिस प्रकार जलाशयो मे सागर, समस्त पर्वतो मे सुन्दर गुफाओ से युक्त सुमेरु पर्वत, समस्त लताओ मे नागबल्ली और समस्त वृक्षो के मे हरिचन्दन वृक्ष प्रधान है। उसी प्रकार समस्त कुलो मे श्रावको का कुल सर्वप्रधान है क्योकि वह आचार की अपेक्षा पवित्र है तथा उत्तम गतिप्राप्त करने मे तत्पर है। वह गृहस्थ श्रावक कुल में उत्पन्न हो तथा श्रावकाचार का पालन कर गुणरुपी आभूषणो से युक्त हुआ उत्तम गति को प्राप्त हुआ। उसकी विनयवती नाम की पतिव्रता तथा गृहस्थ धर्म का पालन करने मे तत्पर रहने वाली स्त्री थी। वह पति के वियोग से बहुत दु:खी हुई। उसने अपने घर मे जिनेन्द्र भगवान का उत्तम मन्दिर बनवाया और अन्त मे

आर्यिका की दीक्षा ले उत्तम तपश्चरण कर देवगति प्राप्त की। उसी नगर में हेमबाहुनाम का एक महागृहस्थ रहता था जो आस्तिक, परमोत्साही और दुराचार से विमुख था। विनयावनतों के लिए जिनालय ब़नवाया था तथा उस में जो भगवान की महापूजा होती थी उस की अनुमोदना कर वह आयु के अन्त मे यक्ष जाति का देव हुआ वह यक्ष चतुर्विध संघ की सेवा में सदा तत्पर रहता था। सम्यग्दर्शन से सहित था और जिनेन्द्रदेव की वंदना करने में सदा तत्पर रहता था। वहाँ से आकर वह उत्तम मनुष्य हुआ, फिर देव हुआ। इस प्रकार तीन बार मनुष्य देव गति में आवागमन कर महापुरी नगरी में धर्मरुचि नाम का राजा हुआ। यह धर्मरुचि सनत्कुमार स्वर्ग से आकर उत्पन्न हुआ था। इसके पिता का नाम सुप्रभ और माता का नाम तिलकसुन्दरी था। तिलकसुन्दरी उत्तम स्त्रियो के गुणों की मानो मंजूषा ही थी। राजा धर्मरुचि सुप्रभ मुनि का शिष्य होकर पाच महाव्रतो, पांच समितियों और तीन गुप्तियों का धारक हो गया। वह सदा आत्मनिन्दा में तत्पर रहता था, आगत उपर्सगादि के सहने में धीर था अपने शरीर से अत्यन्त निःस्पृह रहता था, दया और दम को धारण करने वाला था। बुद्धिमान था, शील रुपी कांवर का धारक था, शका आदि सम्यग्दर्शन के आठ दोषो से बहुत दूर रहता था और साधुओं की यथायोग्य वैयावृत्ति मे सदा लगा रहता था। अन्त में आयु समाप्त कर वह माहेन्द्र स्वर्ग में उत्पन्न हुआ और वहाँ देवियों के समूह के मध्य में स्थित हो, परमभोगों को प्राप्त हुआ तदन्तर वहाँ से च्युत होकर हस्तिनापुर मे राजा विजय और रानी सहदेवी के सनत्कुमार नाम का चतुर्थ चक्रवर्ती हुआ।

एक बार सौधर्मेन्द्र ने अपनी सभा में कथा के अनुक्रम से सनत्कुमार चक्रवर्ती के रूप की प्रशसा की। आश्चर्य उत्पन्न करने वाले उस के रूप को देखने के लिए कुछ देव आये। जिस समय उन देवो ने छिपकर उसे देखा उस समय वह व्यायाम कर निवृत हुआ था। उस के शरीर की कान्ति अखाड़े की धूलि से धूसरित हो रही थी। सिर में सुगन्धित आंवले का पंक लगा हुआ था। शरीर अत्यन्त ऊंचा था, स्नान के समय धारण करने योग्य एक वस्त्र पहने था, स्नान के योग्य आसन पर बैठा था और नानावर्ण के सुगन्धित जल से भरे हुए कलशों के बीच में स्थित था। उसे देखकर देवों ने कहा कि अहा! इन्द्र ने जो इसके रूप की प्रशंसा की है वह ठीक ही है। मनुष्य होने पर भी इस का रूप देवों के चित्त को आकर्षित करने का कारण बना हुआ है। जब सनत्कुमार को पता चला कि देव लोग हमारा रूप देखना चाहते है। तब उसने उनसे कहा कि आप लोग थोड़ी देर यही ठहरिए। मुझे स्नान और भोजन करने के बाद आभूषण धारण कर लेने दीजिए, फिर आप लोग मुझे देखे। ऐसा ही हो इस प्रकार कहने पर चक्रवर्ती सनत्कुमार सब कार्य यथायोग्य कर सिंहासन पर आ बैठा। उस समय वह ऐसा जान पड़ता था मानो रत्नमयपर्वत का शिखर ही हो।

तदनंतर पुनः उस का रूप देखकर देव लोग आपस में निन्दा करने लगे कि मनुष्यों की शोभा असार तथा क्षणिक है, अतः इसे धिक्कार है प्रथम दर्शन के समय जो इसकी शोभा

यौवन से सम्पन्न देखी थी। वह बिजली के समान नश्वर होकर क्षण भर में ही ह्रास को कैसे प्राप्त हो गयी। लक्ष्मी क्षणिक है ऐसा देवों से जानकर चक्रवर्ती सनत्कुमार का राग छूट गया। फल स्वरुप वह मुनि दीक्षा लेकर कठिन तप करने लगा। यद्यपि उस के शरीर में अनेक रोग उत्पन्न हो गए थे। तो भी वह उन्हें बड़ी शान्ति से सहन करता रहा। तप के प्रभाव से अनेक ऋद्धियां भी उसे प्राप्त हुई थी। अन्त मे आत्मध्यान के प्रभाव से वह सनत्कुमार स्वर्ग मे देव हुआ।

शान्तिनाथ-कुन्थु-अरहनाथ चक्रवर्ती - पुण्डरीकिणी नगर मे राजा मेघरथ रहते थे। वे अपने पिता धनरथ तीर्थंकर के शिष्य होकर सर्वार्थसिद्धि गए। वहाँ से च्युत होकर हस्तिनापुर में राजा विश्वसेन और रानी ऐरादेवी के, मनुष्यों को शान्ति प्रदान करने शान्तिनाथ नामक प्रसिद्ध पुत्र हुए। उत्पन्न होते ही देवो ने सुमेरु पर्वत पर इनका अभिषेक किया था। इन्द्र ने स्तुति की थी और इस तरह वे चक्रवर्ती के भोगो के स्वामी हुए। ये पचम चक्रवर्ती तथा सोलहवें तीर्थंकर थे। अन्त मे तृण के समान राज्य छोडकर इन्होने दीक्षा धारण की थी। इन के बाद क्रम से कुन्थुनाथ और अरहनाथ नाम के छठे तथा सातवे चक्रवर्ती हुए। ये पूर्वभव में सोलह कारण भावनाओ का सचय करने के कारण तीर्थंकरपद को भी प्राप्त हुए थे। सनत्कुमार नाम का चौथा चक्रवर्ती धर्मनाथ और शान्तिनाथ तीर्थंकर के बीच मे हुआ था और शान्ति, कुन्थु तथा अर क्रमशः छठे सातवे और आठवे चक्रवर्ती और हुए ये तीर्थंकर भी थे।

सुभौम चक्रवर्ती -धान्यपुर नगर मे राजा कनकाभ रहता था। वह विचित्रगुप्त मुनि का शिष्य होकर जयन्त नामक अनुत्तर विमान मे उत्पन्न हुआ वहाँ से आकर वह ईशावती नगरी मे राजा कान्तवीर्य और रानी तारा के सुभौम नाम का आठवां चक्रवर्ती हुआ। वह उत्तम चेष्टाओ का धारण करने वाला था इसने भूमि को उत्तम किया था। इसलिए इस का सुभौम नाम सार्थक था। परशुराम ने युद्ध मे इसके पिता को मारा था सो उसने उसे मारा। परशुराम ने क्षत्रियो को मार कर उनके दन्त इकट्ठा किये थे। किसी निमित्त ज्ञानी ने उसे बताया था कि जिसके देखने से ये दन्त खीर रुप में परिवर्तित हो जायेगे उसी के द्वारा तेरी मृत्यु होगी। सुभौम एक यज्ञ मे परशुराम के यहाँ गया था। जब वह भोजन करने को उद्यत हुआ तब परशुराम ने वह सब दन्त एक पात्र मे रख कर उसे दिखाये। उसके पुण्य प्रभाव से वे दन्त खीर बनगए और पात्र चक्र के रुप मे बदल गया। सुभौम ने उसी चक्र के द्वारा परशुराम को मारा था परशुराम ने पृथ्वी को सात बार क्षत्रियो से रहित किया था। इसलिए उसके बदले उसने इक्कीस बार पृथ्वी को ब्राह्मण रहित किया था। जिस प्रकार पहले परशुराम के भय से क्षत्रिय धोबी आदि के कुलों में छिपते फिरते थे उसी प्रकार अत्यन्त कठोर शासक के धारक सुभौम चक्रवर्ती से ब्राह्मण लोग भयभीत होकर धोबी आदि के कुलो मे छिपते -फिरते थे। यह सुभौम चक्रवर्ती अरहनाथ और मल्लिनाथ के बीच में हुआ था तथा भोगो से विरक्त न होने के कारण मरकर सातवे नरक मे गया था।

हरिषेण चक्रवर्ती - विजय नामक नगर में महेन्द्रदत्त नाम का राजा रहता था। वह नंदन मुनि का शिष्य बनकर महेन्द्रस्वर्ग में उत्पन्न हुआ। वहाँ से च्युत होकर काम्पिल्यनगर में राजा हरिकेतु और रानी वप्रा के हरिषेण नाम का दसवां प्रसिद्ध चक्रवर्ती हुआ उसने अपने राज्य की समस्त पृथ्वी को जिनप्रतिमाओं से अंलकृत किया था तथा मुनिसुव्रतनाथ भगवान के तीर्थ में सिद्ध पद प्राप्त किया था।

जयसेन चक्रवर्ती- राजपुर नामक नगर में एक अमितांक नाम का राजा रहता था। वह सुधर्म नामक मुनिराज का शिष्य होकर ब्रह्म स्वर्ग गया वहाँ से च्युत होकर उसी काम्पिल्य नगर में राजा विजय की यशोवती रानी से जयसेन नाम का ग्यारहवां चक्रवर्ती हुआ। वह अन्त में महाराज्य का परित्याग कर दिगम्बरी दीक्षा को धारण कर रत्नत्रय की आराधना करता हुआ सिद्ध पद को प्राप्त हुआ। यह मुनिसुव्रतनाथ और नमिनाथ के अन्तराल में हुआ था।

ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती- काशी नगरी में सम्भूत नाम का राजा रहता था। वह स्वतंत्रलिंग नामक मुनिराज का शिष्य होकर कमलगुल्म नामक विमान में उत्पन्न हुआ। वहाँ से च्युत होकर काम्पिल्यनगर में राजा ब्रह्मरथ और रानी चूला के ब्रह्मदत्त नाम का बारहवां चक्रवर्ती हुआ। यह चक्रवर्ती लक्ष्मी का उपभोग कर उससे विरक्त नहीं हुआ और उसी अविरत अवस्था में मर कर सातवें नरक गया यह नेमिनाथ ओर पार्श्वनाथ तीर्थंकर के बीच में हुआ था।

चक्रवर्ती के स्वामित्व का स्वरुप- चक्रवर्ती का 32 हजार राजाओं पर स्वामित्व होता है। इन राजाओं के लक्षण निम्न प्रकार समझना चाहिए।

नृपति- जो समस्त नर अर्थात् मनुष्यों का रक्षण करने वाला, नृप या नृपति कहलाता है।

भूप-समस्त पृथ्वी का जो रक्षक हैं, वह भूप या भूपति कहलाता है।

राजा-जो समस्त प्रजाजनों को राजी रखने वाला है, वही राजा कहलाता है।

1. संधि - मिलाप (अपसात), 2. विग्रह-युद्ध, 3. यान-वाहन, 4. आसन-मुक्काम, 5. संस्थान-वचनों की दृढ़ता (वाचनिक), 6. आश्रय-आधार इसके दो भेद होते हैं, जो अपने से प्रबल रहे उसका आश्रय लेना, और जो अपने आधीन रहे उसे आश्रय देना अर्थात् शरणगतों का प्रतिपालन करना। यही राजा के छह गुण समझना चाहिए।

राजाओं के कर्तव्य -

1. **आत्मपालन करना** - अर्थात् राज्य करने वालों को प्रथम अपनी आत्मा का पालन करना चाहिये। अर्थात् स्वत: के प्राणों का रक्षण करना चाहिए।
2. **मतिपालन करना** - अर्थात् अपनी बुद्धि निर्मल रखना चाहिए।
3. **कुल पालन करना** - अर्थात् राजकुलाचारादि की भावना होनी चाहिए।
4. **प्रजा-पालन करना** - अर्थात् पुत्र के समान प्रजाजनों की रक्षा करनी चाहिए। शिष्टों का संरक्षण और दुष्टों का निग्रह करना चाहिए।

राजाओं की १८ श्रेणियां और उनका स्वरुप-

1. सेनापति - सेना का नायक, 2. गणकपति-ज्योतिषि आदि का नायक, 3. वणिक्पति-व्यापारियों का नायक, 4. दण्ड़पति-समस्त सेना का नायक, 5. मंत्री-पंचांगमंत्र विषय में प्रवीण, 6. महत्तर-कुलवान अर्थात् कुल विशेष उच्चता, 7. तलवर-कोतवाल का स्वामी, 8. ब्राह्मण, 9. क्षत्रिय, 10. वैश्य, 11. शूद्र-इन चार वर्णों का स्वामी, 12. हाथी, 13. घोड़ा, 14. रथ, 15. पदाति-इस चतुरंग बलों का स्वामी, 16. पुरोहित-आत्महित कार्य का अधिकारी, 17. अमात्य-देश का अधिकारी 18. महामात्य-समस्त राज्य कार्यों का अधिकारी।

जो इन 18 श्रेणियों का स्वामी है, वही 'राजा' है और वहीं 'मुकुटधारी' हो सकता है। पांच सौ मुकुटधारी राजाओं का स्वामी 'अधिराजा' कहलाता है। एक हजार मुकुटधारी राजाओं का स्वामी 'महाराजा' कहलाता है। दो हजार मुकुटधारी राजाओं का स्वामी 'मुकुटबद्ध' या 'अर्धमांडलिक' कहलाता है। चार हजार मुकुटधारी राजाओं का स्वामी 'मांडलिक' कहलाता है। आठ हजार मुकुटधारी राजाओं का स्वामी 'महामांडलिक' कहलाता है। सोलह हजार मुकुटधारी राजाओं का स्वामी अर्धचक्री कहलाता है। 32 हजार मुकुटधारी राजाओं का स्वामी 'सकल चक्रवर्ती' कहलाता है। षट्खंड पृथ्वी (भरत खंड) का अधिपति होता है। इस प्रकार श्रेणीबद्ध चक्रवर्ती का राज्य निराबाध चलता रहता है।

षट्खंड मंडित भरतखंड के एक-एक देश में रहने वाले अलग-अलग ग्रामादिकों की संख्या नामादि और लक्षण -

ग्रामिदकों की संख्या	ग्रामदिकों के नामादि लक्षण-
1. ग्राम 66 करोड़ रहते हैं।	जिस गांव के चारों और दीवाल (कोट) होता है, उस गांव को 'ग्राम' कहते हैं।
2. नगर 75 हजार रहते हैं।	जो गांव के चारों ओर दीवाल और चार दरवाजों से संयुक्त है उस गांव को नगर कहते हैं।
3. खेट 76 हजार रहते हैं।	नदी और पर्वतों से वेष्टित रहने वाले गांव को 'खेट' कहते हैं।
4. खर्वड 24 हजार रहत हैं।	पर्वतों से वेष्टित गांव को 'खर्वड़' कहते हैं।
5. मडम्ब 4 हजार रहते हैं।	प्रत्येक पांच सौ ग्राम संयुक्त रहने वाले गांव 'मडम्ब' कहते हैं।
6. पट्टण 48 हजार रहते हैं।	जहाँ रत्न उत्पन्न होते हैं, उस गांव को 'पट्टण' कहते हैं।

7. द्रोण 66 हजार रहते है। — नदी से वेष्टित हुए ग्राम को 'द्रोण' कहते हैं।

8. संवाहन 74 हजार रहते है। — उपसमुद्र के तट पर रहने वाले ग्राम को 'संवाहन' कहते हैं।

9. दुर्गाटवी 28 हजार रहते है। — पर्वतों पर रहने वाले गांवो को 'दुर्गाटवी' कहते हैं।

एक-एक देश में एक-एक समुद्र रहता है। उन समुद्रों में टापू अर्थात् 56 अन्तर्द्वीप हैं। जहाँ रत्न उत्पन्न होते है, ऐसे 26 हजार रत्नाकर (समुद्र) है, रत्न बिक्री के स्थान भूत ऐसे 600 प्रत्यन्तर कुक्षी है, 700 प्रत्यन्तर कुक्षिवास हैं, और 800 कक्षा है। भरत खंड के मुख-नगर (राजधानी) वह दोनों नदी (गंगा और सिंधु महानदी) के बीच में विद्यमान आर्यखंड होता है।

चक्रवर्ती के परिवारादि वैभव का वर्णन-

१. चक्रवर्ती के एक पट्टरानी के सिवाय और 96 हजार स्त्रियां होती हैं। इनमें आर्य खंड की 32 हजार राजकन्याए होती हैं। 32 हजार विद्याधर राजकन्याएं और म्लेच्छ खंड की 32 हजार राजकन्याएं होती है। इस प्रकार सब मिलकर 96 हजार स्त्रियां होती हैं।

२. चक्रवर्ती रात्रि के समय अपनी पट्टरानी के महल में ही रहते है परन्तु पट्टरानी के पुत्र, संतान नहीं होती है, वह वंध्या ही रहती है। इसकी शंखावर्त योनि होने से पुत्रादिक नहीं होते हैं।

३. चक्रवर्ती के पुत्र-पुत्रियां संख्यात हजार होते हैं, 3 करोड़ 50 हजार बन्धु (भाई बन्ध) होते हैं, 361 शरीर वैद्य होते हैं, 360 अङ्ग रक्षक होते हैं, 260 स्वयंपाकी (रसोई वाले) होते हैं और 14 रत्न होते हैं।

४. चक्रवर्ती पर 32 यक्षदेव 32 चामर ढुराते रहते हैं।

५. बारह योजन तक सुनाई देने वाले 24 शंख, 24 भेरी (नगाड़ा) 24 पटह (वाद्य) होते हैं।

६. 32 हजार नाट्यशालायें और 32 हजार संगीतशालायें होती है। 32 हजार देश और उन प्रत्येक देश के 32 हजार मुकुटधारी राजाओं पर स्वामित्व होता है। इसी तरह 16 हजार गणवद्ध देशों का स्वामी और 99 हजार म्लेच्छ राजाओं का स्वामी होता है।

७. एक आर्य खंड और पांच म्लेच्छ खंड इस प्रकार छह खंड पृथ्वी के स्वामी रहते है। एक करोड़ 'हल' होते है, 3 करोड़ गौ मण्डल अर्थात् गौ रहने के स्थान होते है। इससे सिद्ध होता हैं कि गौ तीन करोड़ से ज्यादा ही होती है।

८. भरत चक्रवर्ती के एक करोड़ सोने के थाल थे, ऐसा कोई कहते हैं, परन्तु वे दाल चावलादि धान पकाने के वर्तन थे। क्योंकि श्लोक में 'स्थाली' शब्द है, उसका अर्थ गगरी (बर्तन) ऐसा होता है, इसलिए वे थाली न रहकर बड़े-बड़े बर्तन थे ऐसा सिद्ध होता है।

बलभद्र और नारायण

सभी नारायण बलभद्र के छोटे भाई होते है। वर्तमान में जिस जिस स्वर्ग से आकर नारायण हुए उनके नाम इस प्रकार है– 1. महाशुक्र 2. प्राणत 3. लान्तव 4. सहस्त्रार 5. ब्रह्म 6. माहेन्द्र 7. सौधर्म 8. सनत्कुमार 9. महाशुक्र पुण्य के फलस्वरुप नाना अभ्युदयों को प्राप्त करने वाले ये देव इन स्वर्गो से च्युत होकर अवशिष्ट पुण्य के प्रभाव से नारायण हुए है।

नारायणों के जन्म नगर

1. पोदनपुर 2. द्वापुरी 3. हस्तिनापुर 4. हस्तिनापुर 5. चक्रपुर 6. कुशाग्रपुर 7. मिथिलापुरी 8. अयोध्या 9. और मथुरा ये नगरियाँ क्रम से नौ नारायणों की जन्म नगरियाँ थी। ये सभी समस्त धन से परिपूर्ण तथा सदा उत्सवो से परिपूर्ण रहती थी। इन नारायणों के पिता के नाम इस प्रकार है -

नारायणो के पिता के नाम -

1. प्रजापति 2. ब्रह्मभूति 3. रौद्रनाद 4. सोम 5. प्रख्यात 6. शिवाकर 7. सममूर्धाग्निनाद 8. दशरथ 9. वसुदेव। ये नौ क्रम से नारायणो के पिता कहे गए है।

नारायणों की माता -

1. मृगावती 2. माधव 3. पृथ्वी 4. सीता 5. अम्बिका 6. लक्ष्मी 7. केशिनी 8. सुमित्रा 9. देवकी।

ये क्रमशः नौ नारायणो के माताए थी। ये सभी महासौभाग्य से सम्पन्न तथा उत्कृष्ट रुप से युक्त थी। इन नारायणों के नाम इस प्रकार हैं -

नौ नारायण

1. त्रिपृष्ठ 2. द्विपृष्ठ 3. स्वयंभू 4. पुरुषोत्तम 5. पुरुष सिह 6. पुण्डरीक 7. दन्त 8. लक्ष्मण और 9. कृष्ण।

नारायणो की पट्टरानिया -

1. सुप्रभा 2. रुपिणी 3. प्रभवा 4. मनोहरा 5. सुनेत्रा 6. विमलसुन्दरी 7. आनन्दवती 8. प्रभावती और 9. रुक्मिणी। ये नौ नारायणों की क्रमशः नौ पट्टरानियां कही गयी है।

नौ बलभद्र

ये बलभद्र जिस स्वर्ग से आये उसका वर्णन इस प्रकार है -

तीन बलभद्र का अनुत्तर विमान, तीन का सहस्रार स्वर्ग, दो का ब्रह्म स्वर्ग और एक का अत्यन्त सुशेभित महाशुक्र स्वर्ग पूर्व भव का निवास था। ये सब वहाँ से च्युत होकर उत्तम चेष्टाओ के धारक बलभद्र हुए थे।

इनकी माताओं के नाम इस प्रकार है -

1. भद्राभोजा 2. सुभद्रा 3. सुवेषा 4. सुदर्शना 5. सुप्रभा 6. विजया 7. वैजयन्ती 8. उदार अभिप्राय को धारण करने वाली तथा महाशीलवती अपराजिता (कौशिल्या) 9. रोहिणी।

त्रिपृष्ठ आदि पांच नारायण और पांच बलभद्र श्रेयान्सनाथ को आदि लेकर धर्मनाथ स्वामी के समयपर्यन्त हुए। छठे और सातवें नारायण तथा बलभद्र अहनाथ स्वामी के बाद हुए। लक्ष्मण नाम के आठवें नारायण और राम नाम के आठवें बलभद्र मुनिसुव्रतनाथ और नमिनाथ के बीच में हुए तथा अद्‌भुत क्रियाओंको करने वाले श्रीकृष्ण नामक नौवें नारायण तथा बलराम नामक नौवें बलभद्र भगवान नेमिनाथ की वन्दना करने वाले हुए।

बलभद्रों के नाम

1. अचल 2. विजय 3. भद्र 4. सुप्रभ 5. सुदर्शन 6. नन्दिमित्र 7. नन्दिषेण 8. रामचन्द्र और 9. बलराम। नारायणो के प्रतिद्वन्दी नौ प्रतिनारायण होते है। उनके नगरों के नाम इस प्रकार है-

1. अलकपुर 2. विजयपुर 3. नन्दपुर 4. पृथ्वी 5. हरिपुर 6. सूर्यपुर 7. सिंहपुर 8. लंका 9. राजगृह। ये सभी नगर मणियो की किरणो से दैदीप्यमान थे।

नौ प्रतिनारायणो के नाम इस प्रकार है -

1. अश्वग्रीव 2. तारक 3. मेरक 4. मधुकैटभ 5. निशुम्भ 6. बलि 7. प्रह्लाद 8. दशानन 9. जरासन्ध।

ये नौ प्रतिनारायणो के नाम जानने चाहिए।

1. सुवर्ण कुम्भ 2. सत्कीर्ति 3. सुधर्म 4. मृगांक 5. श्रुतिकीर्ति 6. सुमित्र 7. भवनश्रुत 8. सुव्रत 9. सुसिद्धार्थ।

बलभद्रो के गुरुओं के नाम - इन सभी ने तप के भार से उत्पन्न कीर्ति के द्वारा समस्त ससार को व्याप्त कर रखा था। नौ बलभद्रों में से आठ बलभद्र तो बलभद्र का वैभव प्राप्त कर तथा ससार से उदासीन हो उस कर्म रुपी महावन को भस्म कर निर्वाण को पधारे अन्तिम बलभद्र कर्म बन्धन शेष रहने के कारण ब्रह्म स्वर्ग को प्राप्त हुए थे। इनमें से कितने ही तो विशाल तपश्चरण कर उसी भव से मोक्ष जाते है, किन्हीं के कुछ पाप कर्म अवशिष्ट रहते है तब वे कुछ समय तक संसार में भ्रमण कर मोक्ष जाते है।

अन्तिम केवली जम्बूस्वामी

मगध देश के राजगृह नगर में अर्हद्दास नाम का सेठ रहता था, उसकी पत्नी का नाम जिनमती या जिनदासी था, जो रुप लावण्य संयुक्त और पतिव्रता थी। दोनों ही जैनधर्म के संपालक और धर्मनिष्ठ श्रावक थे। सेठ अर्हद्दास के पिता का नाम धनदत्त और माता का नाम गोत्रवती था। इनके दो पुत्र थे। इनके दो पुत्र अर्हद्दास और जिनदास। इनमें अर्हद्दास धर्मात्मा था और जिनदास कुसगति के कारण द्यूतादि दुर्व्यसनो का शिकार हो गया था। वह एक दिन जुए में छत्तीस सहस्त्र मुद्राए हार गया। घर मे मुद्राए लाकर देने का वचन देने पर भी छल नाम के एक जुआरी ने जिनदास के पेट मे कटार मार दी। उसकी सूचना मिनले पर अर्हद्दास उसे अपने घर ले आया और उचित उपचार करने पर भी वह उसे बचा न सका उसने अर्हद्दास से कहा कि मैंने जीवन मे धर्म से विपरीत बुरे कर्म किये है उनका मुझे पश्चाताप है। परलोक सुधारने के लिए कुछ धर्म का स्वरुप बतालाइये। तब अर्हद्दास ने उसे धार्मिक उपदेश दिया और पंच नमस्कार मत्र सुनाया, जिससे वह यक्ष योनि में उत्पन्न हुआ। जब उसने यह सुना कि अर्हद्दास सेठ के घर मे अन्तिम केवली जम्बू स्वामी का जन्म होगा, तो वह अपने वंश की प्रशंसा सुनकर हर्ष से नाच उठा।

विद्युन्माली देव का जीव ब्रह्म स्वर्ग से चलकर जब जिनमती के गर्भ मे आया तब जिनमती ने पांच शुभ स्वप्न देखे- हाथी, सरोवर, चावलो का खेत, धूम रहित अग्नि और जामुन के फल। नौ महिने बाद 607 ई0 पूर्व मे जम्बू स्वामी का जम्म हुआ और उनका नाम जम्बूकुमार रक्खा गया। जम्बू कुमार दूज के चन्द्र के समान प्रतिदिन बढ़ता गया। वह स्वभावतः सौम्य, सुन्दर, मिष्टभाषी भद्र, दयालु और वैराग्यप्रिय था। बाल अवस्था मे उसने समस्त विद्याओ की शिक्षा पाई थी। उनके गुणो की सुरभि चारों तरफ फैलने लगी। वह कामदेव के समान सुन्दर रुप का धारक था उसे देखकर नगर की नारिया अपनी सुधबुध खो बैठती थी और काम वाण से पीड़ित हो जाती थी, परन्तु कुमार पर उसका कोई प्रभाव अंकित नहीं होता था। क्योंकि उसका इन्द्रिय विषयों मे कोई राग नही था। युवावस्था मे भी वह निर्विकार था। उसके आत्म प्रदेशों मे वैराग्य रस का उभार जो हो रहा था। वह वज्रवृषभनाराचसहनन का धारी और चरम शरीरी था और जैन धर्म का सपालक था।

एक बार राजा श्रेणिक का बड़ा हाथी कोलाहल से भयभीत होकर सांकल तोडकर क्रोधयुक्त हो वन मे घूमने लगा। उसके कपोलो से मद झर रहा था। जिस पर भ्रमर गुंजार कर रहे थे। वह नील पर्वत के समान काला था। अपने दातो से पृथ्वी को कुरेदता हुआ सूंड से पानी फेंकता था। वह जिधर जाता वृक्षो के को जड़मूल से उखाड़ देता था। उस वन में आम, जामुन, नारगी, केला, ताल-तमाल, अशोक, कदंब, सल्लकी साल, नींबू, खजूर, नारियल और अनार आदि के सुन्दर पेड़ लगे हुए थे। कुछ पौधे खुशबूदार फलों के समूह से लदे हुए थे। जिनकी महक से वह वन सुरभित हो रहा था। उसमें अनेक प्रकार के फल फूल और मेवों वाले बहुत

मूल्य पेड़ थे। उस वन की शोभा देखते ही बनती थी। वह मोरनियों के शब्दों से गुंजायमान था तथा कोयलों की मधुर ध्वनि से मुखरित हो रहा था। जनता हाथी की भंयकरता से आकुलित हो रही थी। बड़े-बड़े योद्धा भी उसे बाधने का साहस नहीं कर सके। किन्तु जम्बू स्वामी ने अचित्य साहस और बल से उस पर सवार होकर उस उन्मत्त हाथी को क्षणमात्र मे वश मे कर लिया था। अतएव जनता में जम्बूकुमार की साहस की प्रंशसा होने लगी लोग कहने लगे-धन्य है कुमार का अद्‌भुत बल, जिसके देखते देखते क्षण मात्र मे भयानक हाथी को वश में कर लिया। यह सब उसके पुण्य का माहात्म्य है इसलिए वह महापुरुषो द्वारा पूज्य है पुण्य से ही सम्पदा, सुख सामग्री और विजय मिलती है।

जम्बू कुमार ने केरल के युद्ध में जो वीरता दिखलाई व अद्वितीय थी। रत्नशेखर से युद्ध करते हुए जम्बू कुमार ने उसको बाध लिया। युद्ध कितना भयकर होता है इसे योद्धा अच्छी तरह से जानते है। कहा रत्नशेखर की बडी भारी सेना और कहा अकेला जम्बू कुमार। किन्तु जम्बू कुमार न अपन बुद्धि कौशल और आत्मबल से शत्रु पर अपनी वीरता का सिक्का जमा लिया बन्दी हुए केरल नरेश को बन्धन से मुक्त किया। उसकी सुपुत्री विलास वती का बिम्बसार के साथ विवाह करा दिया। और केरल नरेश मृगाक तथा रत्नशेखर मे परस्पर मेल करा दिया। इन सब घटनाओ से जम्बूकुमार की महानता का पता चलता है।

जम्बू कुमार जब केरल से वापिस लौट कर आ रहा था तब उसे विपुलाचल पर सुधर्म गणधर के आने का पता चला। वह उनके समीप गया और नमस्कार कर थोडी देर एकटक दृष्टि से उनकी ओर देखता रहा। जम्बूकुमार का उसके प्रति आकर्षण बढ़ रहा था। पर उसे यह स्मरण न हो सका कि मेरा इनके प्रति इना आकर्षण क्यो है। क्या मैने इन्हे कही देखा है, इस अनुराग का क्या कारण है? तब उसने समीप मे जाकर पुनः नमस्कार किया। और उनसे राग का कारण पूछा तब उन्होने बतलाया कि पूर्व जन्मों मे मै और तुम दोनो भाई-भाई थे। हम दोनो मे परस्पर बडा अनुराग था। मेरा नाम भवदत्त और तुम्हारा नाम भवदेव था। सागर सेन या सागरचन्द्र पुण्डरीकिणी नगरी मे चारण मुनियो से अपने पूर्व भव का वृत्तान्त सुनकर देह भोगो से विरक्ता रहे। मुनि हो गया और त्रयोदश प्रकार के चारित्र का अनुष्ठान करते हुए भाई के सम्बोधनार्थ वीतशोका नगरी मे पधारे। वहाँ भवदेव का जीव चन्द्रवती का शिवकुमार नामक पुत्र हुआ था शिवकुमार ने महलो के ऊपर से मुनियों को देखा, उससे उसे पूर्व जन्म का स्मरण हो आया। और देह भोगो से उसके मन मे विरक्तता का भाव उत्पन्न हुआ। उससे राजप्रासाद मे कोलाहल मच गया। शिव कुमार ने माता पिता से दीक्षा लेने की अनुमति मागी। पिता ने बहुत समझाया और कहा - तप और व्रतो का अनुष्ठान घर मे भी हो सकता है। दीक्षा लेने की आवश्यकता नही है। पिता के अनुरोधवश कुमार ने तरुणी जनों के मध्य में रहते हुए भी विरक्त भाव से ब्रह्मचर्य व्रत का अनुष्ठान किया। इस असिधारा व्रत का पालन करते हुए शिव कुमार दूसरो के यहाँ पाणिमात्र प्रासुक आहार करता था। आयु के अन्त में ब्रह्म स्वर्ग मे विद्युन्माली देव हुआ। मै भी उसी स्वर्ग मे गया। वहाँ से चयकर मै सुधर्म हुआ और तुम जम्बूकुमार नाम के पुत्र हुए। यही मेरे प्रति स्नेह का कारण है।

जम्बूकुमार सुधर्म स्वामी का उपदेश सुना उसके हृदय में वैराग्य का प्रवाह उमड़ आया और उसने सुधर्माचार्य से दीक्षा देने के लिए निवेदन किया। तब उन्होंने कहा कि जम्बूकुमार तुम अपने माता पिता से आज्ञा लेकर आओ तब दीक्षा दी जायेगी। कुटुम्बियों ने भी अनुरोध किया और कहा कि कुमार! अभी दीक्षा न लो कुछ समय बाद ले लेना। अतः जम्बू कुमार वापिस घर आ गया। माता पिता ने उसे विवाह के बधन में बाधने का प्रयत्न किया। तब जम्बू कुमार ने विवाह करने से इन्कार कर दिया। सेठ अर्हद्दास ने अपने मित्र सेठो के घर यह सन्देश भिजवाया कि जम्बूकुमार विवाह करने से इन्कार करता है। अतः आप अपनी पुत्रियों का सम्बन्ध अन्यत्र कर सकते है। उनकी पुत्रियो ने कहा कि विवाह तो उन्हीं से होगा अन्यथा हम कुमारी रहेगीं। वे एक रात्रि हमे दे। उसके बाद उन्हे दीक्षा लेने से कोई नहीं रोकेगा। अतः विवाह हुआ विवाह के पश्चात् जम्बूकुमार घर आया और रात्रि में स्त्रियो के मध्य मे बैठ कर चर्चा होने लगी। बहुए अनुराग वर्धक अनेक प्रश्नोत्तरों तथा कथा कहानियो, दृष्टान्तों द्वारा जम्बू कुमार को निरुतर करने या रिझाने मे समर्थ न हो सकी। उन्होंने श्रृंगारपरक हाव-भाव रुप चेष्टाओ का अवलम्बन भी लिया, किन्तु जम्बू कुमार पर वे प्रभाव डालने मे सर्वथा असमर्थ रही। विद्युत चोर अपने साथियों के साथ जिनदास के घर चोरी करने आया और छिप कर खड़ा हो गया। वहाँ जम्बू कुमार और उनकी स्त्रियो की वार्ता हो रही थी। विद्युत चोर बडी देर से उनके आख्यानों को सुन रहा था। उसे उसमे रस आने से और जागृति रहने से वह चोरी तो नही कर सका पर वह उसकी बातो मे तन्मय हो गया। विद्युत चोर ने भी दृष्टानों और कथानकों द्वारा कुमार को समझने का यत्न किया, पर विद्युत चोर की वकालत भी उन्हें विषय पाश मे न फंसा सकी। उल्टा जम्बू कुमार का प्रभाव विद्युत चोर और उसके साथियो पर पड़ा। अतः विद्युत चोर भी अपने साथियों के साथ चोर कर्म का परित्याग कर दीक्षा लेने के लिए तत्पर हो गया। जम्बू कुमार तो दीक्षा लेने के लिए पहले से ही उत्सुक था।

जम्बूकुमार की जिन दीक्षा - जम्बू कुमार ने अपने विवाह की इस रात्रि मे अपनी उन चार पत्नियो को बुद्धिबल से जीत लिया। उनकी श्रृगार परक हाव-भाव चेष्टाओ, कथानको आदि का जम्बूकुमार पर कोई प्रभाव अकित नहीं हुआ। उन्होने राग भरी दृष्टि से उनकी ओर झाका तक नही। उनकी वैराग्य भरी सौम्य दृष्टि का प्रभाव उन पर पड़ा। विद्युत चोर और उसके साथी सब सोचते कि देखो, कुमार पर देवांगनाओ के सदृश अत्यन्त सुन्दर इन नव-युवतियो का और धन वैभव का कोई प्रभाव नहीं है। ऐसी विभूतियो को छोड़कर यह दीक्षा ले रहा है। हम लोग तो जिन्दगी भर पाप कर्म करते रहे और उसी के लिए यहाँ आये थे। किन्तु कुमार का जिन दीक्षा लेने का दृढ़ निश्चय देखकर हमारा विचार बदल गया और हम सब भी दीक्षा लेकर आत्म साधना करेगे। हमारे इस निश्चय को अब कोई टालने के लिए समर्थ नहीं है इस प्रकार के विचार विनिमय मे ही सब रात्रि चली गयी और प्रातः काल हो गया।

सेठ अर्हद्दास ने प्रातः काल राज भवन में जाकर सम्राट से निवेदन किया कि जम्बूकुमार

की चारों नवौढ़ा पत्नियां भी उसे गृहस्थ के बन्धन में न बांध सकी। और वे दीक्षा लेने वन में जा रहे है सम्राट ने कहा - अच्छा उनकी जुलूस के रुप में सुधर्म स्वामी के पास ले चलने की व्यवस्था की जाये। जुलूस में दुन्दुभि बाजे बज रहे थे, हाथी, घोड़े, ऊंट और पैदल जनता सभी उसमें शामिल थे। बीच में एक सजी हुई पालकी में जम्बूकुमार बैठे हुए थे। उनके शरीर पर बहुमूल्य आभूषण थे। उनके सिर पर मुकुट बंधा हुआ था। जिसे सम्राट बिम्बसार ने बांधा था। पालकी को नगर के सम्भ्रांत नागरिक उठाए हुए थे। जनता उत्साह के साथ भगवान महावीर की जय, सुधर्म स्वामी की जय और जम्बू स्वामी की जय बोल रही थी।

जूलुस क्रमशः नगर के सभी प्रधान मार्गों से घूमता हुआ आगे बढ़ता जा रहा था। मार्ग में सभी गवाक्ष और छतें नर नारियों से भर गई। सब ओर से उनके ऊपर फूल बरसाये जा रहे थे। जिस समय जूलुस अर्हद्दास सेठ के मकान की ओर आया तब जम्बू कुमार की माता जिनवती मोहवश दौड़ती हुई पालकी के पास आयी। वह मुख से हा पुत्र। हा पुत्र! कहकर एक दम मूर्च्छित हो गयी। शीतोपचार से जब वह होश में आयी तो आसू बहाती हुई गद्‌गद् हो कहने लगी - 'हे पुत्र! एक बार तू मुझ अभागिनी माता की ओर तो देख।' यह कहकर वह पुनः मूर्च्छित हो गई अपनी सास को मूर्च्छित हुआ देख जम्बूकुमार की चारों बहुऐं भी अत्यन्त शोक सन्तप्त होकर रुदन करती हुई बोली - हे नाथ हे कामदेव! हम सब को अनाथ बना कर आप कहा जा रहे है, जिसे तरह चन्द्रमा के बिना रात्रि की शोभा नहीं, कमल के बिना सरोबर की शोभा नही, उसी तरह आपके बिना हमारा जीवन भी निरंथक है। हे कृपानाथ! आप प्रसन्न हो और थोड़े समय गृहस्थ अवस्था में रहकर बाद में परित्याग कर दीक्षा ले ले। जम्बूकुमार की पत्निया इस प्रकार कह रही थी कि चन्द्रनादि के उपचार से माता जिनवती को दुबारा होश आ गया। वह होश में आकर रो-रोकर जम्बू कुमार से कहने लगी - "हे पुत्र! कहां तो तेरा केले के पत्ते के समान कोमल शरीर और कहाँ वह असिधारा के समान कठोर जिन दीक्षा। तपश्चरण कितना कठिन हैं नग्न शरीर, डास मच्छर, झंझावात, वर्षा, ठण्ड, गर्मी आदि की अनेक असह्य बाधाये कैसे सहन करेगा। हे बालक! तू इस उबड़-खाबड़ कठोर भूमि में कैसे शयन करेगा। और भुजाओ को लटकाए हुए तू किस तरह रात्रि भर कायोत्सर्ग मुद्रा में ध्यान करेगा और उपसर्ग परिषह की भीषण स्थितियो में अपने को कैसे निश्चल रख सकेगा।

किन्तु सुदृढ़ संकल्पी जम्बूकुमार माता को रोती बिलखती देखकर बोले - 'हे माता! तू शोक को छोड़कर कायरपने का त्याग कर।' तुझे अपने मन मे यह सोचना चाहिए कि यह संसार अनत्यि और अशरण है। हे माता! मैंने अनेक जन्मो में इन्द्रियों विषयो के सुख का अनेक बार उपभोग किया और उन्हें जूठन के समान छोड़ा। ऐसे अतृप्तकारी विषय सुखों की ओर भला माता! मैं कैसे जा सकता हूं। तूझे तो प्रसन्न होना चाहिए कि तेरा पुत्र संसार के बधंनो को काटकर परमार्थ के मार्ग पर अग्रसर हो रहा है।

इस तरह जम्बूकुमार अपनी माता को सम्बोधित कर पालकी मे बैठकर आगे बढ़े और राजगृह के सभी मार्गो से घूमकर नगर के बाहर उपवन मे पहुँचे।

उपवन मे एक वृक्ष के नीचे मुनियों के परिकर सहित महातपोधन सुधर्म स्वामी बैठे हुए थे। जम्बू कुमार पालकी से उतरकर उनके समीप गए। उन्हें नमस्कार किया तीन प्रदक्षिणाएं दी। फिर उनके सामने हाथ जोड कर नतमस्तक हो बडे आदर से खड़े होकर यह प्रार्थना की - हे दयासागर! सम्यक् चारित्र के धारक हे मुनिपुगव! मैं जन्म-मरण रुप दुःखों से भरे हुए कुयोनिरुप समुद्र के आवर्त्तो मे डूब रहा हूं। कृपा कर आप मेरा उद्धार करने वाली दिगम्बरी दीक्षा प्रदान करे। जिससे मै आत्म साधना द्वारा स्वात्म निधि को प्राप्त कर सकू।

सुधर्म स्वामी ने कहा-अच्छा मै तुझे अभी दीक्षित करता हूं।

यह सुनते ही जम्बू कुमार का हृदय कमल खिल उठा उन्होने गुरु के सम्मुख अपने शरीर से सभी आभूषण उतार दिए। कुमार ने अपने मुकुट के आगे लटकने वाली माला को इस तरह दूर किया मानो उन्होने कामदेव के वाणों को ही बलपूर्वक दूर किया है। उन्होंने रत्नमय मुकुट को भी इस तरह उतारा मानो उन्होने मोहरुप राजा को जीत लिया है। पश्चात् हार आदि आभूषणो और रत्नमय अगूठी को भी उतार दिया और अपने शरीर से वस्त्रो को इस तरह उतारा मानो चतुर पुरुष ने माया के पटलों को ही फेक दिया हो। समस्त वस्त्राभूषणो का परित्याग कर जम्बूकुमार ने पचमुष्ठियो से केशो का लुञ्चन कर डाला और 'ओम नमः' मत्र का उच्चाण कर गुरु आज्ञा से अट्ठाईस मूल गुणों को धारण किया- पचमहाव्रत, पचसमिति, पंचेंन्द्रिय निरोध, छह आवश्यक, केशलोच, अचेलक (नग्न), अस्नान, भूशयन, अदन्तधावन, स्थिति भोजन- खडे होकर आहार लेना और दिन मे एक बार भोजन इन 28 मूलगुणो का पालन करना प्रारम्भ किया।

जम्बू कुमार ने यह दीक्षा लगभग 25-26 वर्ष की अवस्था मे ग्रहण की होगी। दीक्षा के पश्चात् जम्बू कुमार ने आवश्यक कार्यो के अतिरिक्त ध्यान और अध्ययन मे अपना उपयोग लगाया और सुधर्म स्वामी के पास समस्त श्रुत का अध्ययन किया तथा अनशनादि अर्न्तबाह्य दोनो तपो का अनुष्ठान किया। आचाराङ्ग के अनुसर मुनिचर्या का निर्दोष पालन करते हुए साम्यभाव को प्राप्त करने का उद्यम किया। कषाय-विष का शोषण करते हुए उसे इतना कमजोर एव अशक्त बना दिया, जिससे वह आत्मध्यानादि मे बाधक न हो सके। वे मुनि जम्बू कुमार निस्पृह वृत्ति से मुनि धर्म का पालन करते थे। उसमे प्रमाद नही आने देते थे, क्योकि प्रमाद करने वाला साधु सच्चा साधु नही होता है।

मुनि अवस्था मे एक दिन जम्बू कुमार आहार के लिए राजगृह नगर में गए और वहाँ जिनदास सेठ ने नवधा भक्ति पूर्वक आहार दिया। निर्दोष आहार देने के कारण सेठ के आगन मे दानातिशय से पचाश्चर्य हुए । आहर लेकर मुनिराज उपवन में आ गए और ज्ञानध्यान में तत्पर हो गए। इन्द्रिय विकारो को जीतने के लिए वे कभी उपवास रखते और कभी रस का परित्याग भी करते थे। जम्बूकुमार जितने सुकुमार थे वे उतने ही सहिष्णु, साहसी, धैर्यवान और विवेकी थे। उनकी शान्त मुद्रा और आत्मतेज देखकर सभी आश्चर्य करते थे। यथाजात मुद्रा के धारी

तो थे ही, साथ ही मन वच और काय को वश में करने के लिए गुप्तियों का अवलम्बन लेते थे। ध्यान और अध्ययन में प्रवृत्ति होने के कारण वे द्वादशांग के पारगामी श्रुतकेवली हो गए और सुधर्म स्वामी केवलज्ञानी होगए। अब सब संघ का भार जम्बूस्वामी वहन करने लगे। बारह वर्ष बाद सुधर्म स्वामी का विपुलाचल से निर्वाण हो गया और जम्बूस्वामी को घातिया कर्म के अभाव से केवलज्ञान प्राप्त हो गया। जम्बूस्वामी ने केवली अवस्था में 38 वर्ष तक विविध देशों और नगरों में विहार कर वीर शासन कर प्रचार व प्रसार किया। अन्त में विपुलाचल से 75 वर्ष की वय में शुक्ल ध्यान द्वारा कर्म कलंक को दग्ध कर अविनाशी पद प्राप्त किया।

जम्बू कुमार के दीक्षा लेने के बाद उनके माता पिता और चारों पत्नियों ने भी दीक्षा लेकर तपश्चरण किया और अपने परिणामानुसार उच्चगति प्राप्त की।

विद्युतच्चर ने भी अपने पांच सौ साथियों के साथ चोरी का परित्याग कर दिगम्बर दीक्षा ले ली और तपश्चरण द्वारा आत्मशुद्धि करने लगे। वे मुनि त्रयोदश प्रकार के चारित्र के धारक तथा पांच समितियों में प्रवृति करते थे। तीन गुप्तियों का भी पालन करते थे। इस तरह वे मुनि आचाराङ्ग (मूलाचार) के अनुसार प्रवृति करते हुए अपने शिष्यों के साथ ताम्रलिप्त नगरी में आये। वे नगर के बाहर उद्यान में विराजे। उस समय दिन अस्त हो रहा था, तब दुर्गा देवी ने भक्ति से विद्युतच्चर से कहा कि यहाँ पांच दिन मेरी पूजा होगी उसमें रौद्र भूत सम्प्रदाय आमन्त्रित है। वह तुम्हें असह्य उपसर्ग करेगा। अतएव जब तक यात्रा है तब तक इस पुरी को छोड़कर अन्यत्र चले जाइए। यह कहकर वह चली गयी। यतिवर विद्युतच्चर ने मुनियों से कहा-अच्छा हो आप लोग इस स्थान को छोड़कर अन्यत्र चले जाये। तब उन्होंने कहा- 'रात्रि व्यतीत हो जाये, तब हम चले जायेंगे। ' रात्रि में गमन करना मुनियों के लिए वर्जित है। उपसर्ग से डरने वालों को क्या लाभ हो सकता है। उपसर्ग सहन करना साधुओं के लिए श्रेयस्कर है। अत: सब साधु मौन पूर्वक ध्यान में स्थित होगए। रात्रि में भयंकर भूतों ने असह्य उपसर्ग किया। बडे-बडे डास मच्छरों की बाधा हुई। शरीर को कष्ट देने वाले घोर उपसर्ग हुए, जिन्हें सुनकर रोगटें खड़े हो जाते हैं ऐसा होने पर वे सब साधु स्थिर न रह सके और ध्यान छोड़कर दिवंगत हुए। किन्तु विद्युतच्चर अदीन मन से घोर उपसर्ग सहते हुए भी बड़े धैर्य के साथ मेरुवत स्वरुप में निश्चल रहे और अनित्यादि भावनाओं का दृढ़ता से मनन करते हुए शरीर से भिन्न निजात्म, तत्त्व का, चैतन्य टंकोत्कीर्ण और ज्ञान दर्शन स्वभाव वाले आत्म तत्त्व का चिन्तवन करते हुए, शारीरिक बाधाओं की ओर ध्यान न देते हुए, निर्भय हो चार प्रकार का सन्यास धारण कर व्रत रुपी खड्ग से मोह शत्रु का नाश कर आराधना में स्थित रहे और निर्वाण प्राप्त किया। अन्य साधुओं ने भी परिणामानुसार यथा योग्य स्थान प्राप्त किये।

ऐतिहासिक पुरुष : राम

भगवान मुनिसुव्रत का शासन काल चल रहा था। अयोध्या के राजा दशरथ के चार रानियाँ थी, उनके नाम थे- अपराजिता, सुमित्रा, कैकयी और सुप्रभा। अपराजिता (कौशल्या) ने पद्म (रामचन्द) नाम के पुत्र को जन्म दिया। सुमित्रा से लक्ष्मण, कैकयी से भरत और सुप्रभा से शत्रुघ्न ऐसे दशरथ के चार पुत्र हुए। राजा दशरथ ने इन चारो को विद्याध्ययन आदि में योग्य कर दिया।

लंका नगरी - किसी समय अजितनाथ के समवशरण में राक्षसो के इन्द्र भीम और सुभीम ने प्रसन्न होकर पूर्व जन्म के स्नेहवश विद्याधर मेघवाहन को कहा कि हे वत्स! इस लवण समुद्र मे अतिशय सुन्दर हजारो महाद्वीप है। उन द्वीपो मे से एक 'राक्षस द्वीप' है जो सात सौ योजन लम्बा तथा इतना ही चौड़ा है। इसके मध्य मे नौ योजन ऊँचा, पचास योजन चौड़ा, 'त्रिकूटाचल नाम का पर्वत है। उस पर्वत के नीचे तीस योजन विस्तार वाली लंका नगरी है। हे विद्याधर! तुम अपने बन्धुवर्ग के साथ उस नगरी मे जिओ और सुख से रहो। ऐसा कहकर भीम इन्द्र ने उसे एक देवाधिष्ठित हार भी दिया था। इन्ही की परम्परा मे राजा रत्नश्रवा की रानी कैकेयी से दैदीप्यमान प्रतापी पुत्र ने जन्म लिया। बहुत पहले राजा मेघवाहन को राक्षसों के इन्द्र भीम ने जो हार दिया था, हजार नागकुमार जिसकी रक्षा करते थे, जिसकी किरणे सब ओर फैल रही थी और राक्षसो के भय, से इतने दिनो तक जिसे किसी ने नही पहना था। उस बालक ने उसे मुट्ठी से खीच लिया। माता ने बड़े प्रेम से बालक को वह हार पहना दिया तब उसके असली मुख के अतिरिक्त उस हार मे नौ मुख और दिखने लगे जिससे सबने बालक का नाम 'दशानन' रख दिया उसके बाद रानी ने भानुकर्ण, चन्द्रनखा, और विभीषण को जन्म दिया था। राक्षसो द्वारा दी गई लका नगरी मे रहने से ये लोग राक्षस वशी कहलाते है।

सीता का विवाह - मिथिला नगरी के राजा जनक की रानी विदेहा की सुपुत्री सीता थी। राजा जनक ने पुत्री के विवाह के लिए स्वयवर मडप बनवाया और यह घोषणा कर दी कि जो वज्रावर्त धनुष को चढ़ायेगा वही सीता का पति होगा। श्री रामचन्द्र ने उस वज्रावर्त धनुष को चढ़ाया और लक्ष्मण ने समुद्रावर्त धनुष को चढ़ाया। रामचन्द्र के गले मे सीता ने वर-माला डाली एव चन्द्रवर्धन विद्याधर ने अपनी अठारह कन्याओ की शादी लक्ष्मण से करा दी। उस समय भरत को विरक्त देखकर कैकेयी की प्रेरणा से पुनः स्वयवर विधि से राजा कनक ने अपनी लोक सुन्दरी का ब्याह भरत के साथ कर दिया।

रामचन्द्र का वनवास - किसी समय राजा दशरथ वैराग्य को प्राप्त हो गए और रामचन्द्र को राज्यभार देकर दीक्षा लेने का निश्चय किया। उसी समय भरत भी विरक्तचित्त होकर दीक्षा के लिए उद्यत होने लगे। इसी बीच भरत माता कैकेयी घबराकर तथा मन में कुछ पूर्व मे विवाह के समय सारथी का कुशल कार्य करने के उपलक्ष्य में राजा द्वारा प्रदत्त 'वर' जो कि अभी तक धरोहर रुप था उसे माँगा और पति की आज्ञा के अनुसार कहा - ''मेरे पुत्र के लिए राज्य प्रदान

कीजिये" यह वर देकर राजा दशरथ ने रामचन्द्र को बुलाकर शोकपूर्ण शब्दों में यह सब हाल कह दिया। मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र पिता को अनेक प्रकार से समझाकर शोकमुक्त करके लक्ष्मण भ्राता और सती सीता के साथ वन में चले गए और दशरथ ने भी मुनिदीक्षा ले ली। उस समय भरत ने अन्यमन्यस्कता से राज्यभार सम्भाला।

रावण की मृत्यु - वनवास के प्रवास में किसी समय धोखे से रावण ने सीता का अपहरण कर लिया। तब हनुमान और सुग्रीव आदि विद्याधरों की सहायता से रामचन्द्र ने रावण से युद्ध प्रारम्भ किया। रावण प्रतिनारायण था। उसके चक्ररत्न से ही लक्ष्मण के द्वारा उसकी युद्ध भूमि मे मृत्यु हो गई और लक्ष्मण उसी चक्ररत्न से 'नारायण' पदधारी हो गए।

सीता का निष्कासन - बलभद्र पदधारी रामचन्द्र और नारायण लक्ष्मण बहुत काल तक अयोध्या मे सुख पूर्वक राज्य करते हुए समय व्यतीत करे रहे थे कि एक समय अकारण ही सीता के अपवाद की चर्चा रामचन्द्र तक आई और राम ने उस निंदोष गर्भवती सीता को धोखे से वन मे निकाल दिया जब वन में विह्वल चित्त सीता विलाप कर रही थी तब पुंड़रीकपुर का स्वामी राजा वज्रजघ वहाँ हाथी पकड़ने के लिए सेना सहित आया था। वह बड़े ही धर्म प्रेम से सीता को अपने साथ ले गया। वही सीता को युगल पुत्र उत्पन्न हुए जिनका अनंगलवण और मदनाकुश नाम रखा। बाल लीला से माता को प्रसन्न करते हुए ये बालक किशोर अवस्था को प्राप्त हुए। उनके पुण्य से प्रेरित 'सिद्धार्थ' नामक क्षुल्लक उन्हें विद्याध्ययन कराने लगे। वे क्षुल्लक जी प्रतिदिन तीनों सध्याओ में मेरुपर्वत के चैत्यालयो की वदना करके क्षण भर में वापस आ जाते थे। अल्प समय मे ही क्षुल्लक जी ने बालको को सम्पूर्ण शस्त्र और शास्त्र विद्याएं ग्रहण करा दी।

रामचन्द्र का पुत्रों के साथ युद्ध - किसी समय घूमते-घूमते नारद वहाँ आ गए और नमस्कार करते हुए दोनो कुमारो को आशीर्वाद दिया कि 'राजारामचन्द्र और लक्ष्मण जैसी विभूति शीघ्र ही आप दोनों को प्राप्त हो। इसके उत्तर मे उन्होंने कहा- हे भगवान्! वे राम लक्ष्मण कौन है? नारद ने सीता के वन मे छोड़ने तक का सारा वृत्तान्त कह सुनाया। तब इन बालको ने पूछा- यहाँ से अयोध्या कितनी दूर है? नारद ने कहा साठ योजन दूर है। दोनों कुमार अयोध्या पर चढ़ाई करने के लिए उद्यत हो गए। माता ने बहुत कुछ समझाया - 'हे पुत्रों! तुम विनय से जाकर पिता और चाचा को नमस्कार करो, यही न्यायसंगत है' किन्तु वे बोले "इस समय वे रामचन्द्र हमारे शत्रु के स्थान को प्राप्त है।" इत्यादि कहकर वे जैसे-तैसे माता की आज्ञा लेकर और सिद्ध भगवान् को नमस्कार कर युद्ध करने के लिए चल पड़े वहाँ संग्राम भूमि में महाभंयकर युद्ध होने लगा।

अनन्तर कोपवश लक्ष्मण ने चक्ररत्न का स्मरण करके मदनाकुश को मारने के लिए चक्र चला दिया किन्तु वह चक्ररत्न वापस लक्ष्मण के पास आ गया। इसी बीच में सिद्धार्थ क्षुल्लक ने रामचन्द्र और लक्ष्मण को सच्ची घटना सुना दी। तब उन लोगो ने शस्त्र डाल दिए

और पिछले शोक एवं वर्तमान के हर्ष से विह्वल हो पुत्रों से मिले। पुत्रों ने भी विनय से सिर झुकाकर पिता को नमस्कार किया।

सीता की अग्नि परीक्षा - अनन्तर रामचन्द्र की आज्ञा से भामंडल, विभीषण, हनुमान, सुग्रीव आदि बड़े-बड़े राजा पुंडरीकपुर से सीता को ले आये। सभा में रामचन्द्र की मुखाकृति को देख सीता किंकर्त्तव्यविमूढ़ सी वहाँ खड़ी रही। तब राम ने कहा कि सीते! समने क्यों खड़ी है? दूर हट, मै तुझे देखने के लिए समर्थ नही हूँ। तब सीता ने कहा कि 'आपके समान दूसरा कोई निष्ठुर नहीं है, दोहला के बहाने मुझ गर्भिणी को वन में भेजना क्या उचित था? यदि मेरे प्रति आपको थोड़ी भी कृपा होती तो आर्यिकाओं की वसति में मुझको छोड़ देते। अस्तु! हे देव! आप मुझ पर प्रसन्न हो और जो भी आज्ञा दे मैं पालने को तैयार हूँ।' तब राम ने सोचकर अग्नि परीक्षा का निर्णय दिया। तब सीता ने हर्षयुक्त हो 'एवमस्तु' ऐसा कहकर स्वीकार किया उस समय हनुमान नारद आदि घबरा गए।

महाविकराल अग्निकुंड धधकने लगा। सीता पंचपरमेष्ठी की स्तुति पूजा करके मुनिसुव्रतनाथ तीर्थंकर को नमस्कार करके बोली ''मैंने स्वप्न में भी राम के सिवाय किसी अन्य मनुष्य, को मनवचन काय से चाहा हो तो हे अग्नि देवते! तू मुझे भस्मसात् कर दे अन्यथा नहीं जलावें। इतना कहकर वह सीता उस अग्निकुण्ड में कूद पड़ी। उसी समय उसके शील के प्रभाव से वह अग्नि शीतल जल हो गयी और कल-कल ध्वनि करते हुए बावड़ी लहराने लगी। वह जल बाहर चारों ओर फैल गया और लोक समुदाय घबराने लगा। तब रामचन्द्र सहित सभी प्रजाजनों ने सीता से क्षमा याचना कर जल प्रवाह रोकने की प्रार्थना की। तब सीता ने जिनेन्द्र देव को नमस्कार कर जल शान्त होने की प्रार्थना की और सीता के शील की रक्षार्थ आये देवों ने जल प्रवाह बन्द कर दिया, तब लोग सुखी हुए। वापी के मध्य कमलासन पर सीता विराजमान थी। आकाश से देव पुष्पवृष्टि कर रहे थे। देवदुंदुभि बाजे बज रहे थे। लवण ओर अंकुश दाये और बायें खड़े थे।

ऐसी सीता को देखकर रामचन्द्र उसके पास गए और बोले-हे देवि! प्रसन्न होवो और मेरे अपराध क्षमा करो।' ऐसे वचनों को सुनकर सीता ने कहा - 'हे राजन्! मैं किसी पर कुपित नहीं हूँ आप विषाद को छोड़ो। इसमें आपका या अन्य किसी का दोष नहीं है, मेरे पूर्वकृत पाप कर्मों का ही यह विपाक था। अब मैं स्त्री पर्याय को प्राप्त न करुँ ऐसा कार्य करना चाहती हूँ। ऐसे कहते हुए सीता ने निःस्पृह हो अपने केश उखाड़ कर राम को दिए। यह देख रामचन्द्र मूर्च्छित हो गए। इधर जब तक लक्ष्मण आदि द्वारा राम को सचेत किया गया तब तक सीता पृथ्वीमती आर्यिका से दीक्षित हो गई। जब रामचन्द्र सचेत हुए तब सीता को न देखकर शोक और क्रोध में बहुत ही दुःखी हुए और सीता को वापस लाने के लिए देवों से व्याप्त उद्यान में पहुँचे। वहाँ मुनियों मे श्रेष्ठ सर्वभूषण केवली को देखा और शान्त होकर अंजलि जोड़कर

नमस्कार करके मनुष्यों के कोठे में बैठ गए। वहीं पर आर्यिकाओं के कोठे में वस्त्रमात्र परिग्रह को धारण करने वाली आर्यिका सीता बैठी थी। केवली भगवान का विशेष उपदेश सुनकर राम ने सन्तोष प्राप्त किया।

श्री रामचन्द्र को शोक - किसी समय सौधर्म इन्द्र देवो की सभा में विराजमान था। अनेको धर्मचर्चाओं के मध्य राम और लक्ष्मण के परस्पर के स्नेह की चर्चा हुई। इस चर्चा को सुनकर कौतुहल वश परीक्षा करने के लिए रत्नचूल और मृगचूल नामक दो देव अयोध्या आ गए। विक्रिया से अन्तःपुर मे रुदन का शब्द करा दिया तथा कोई पुरुष लक्ष्मण से बोला- 'हे देव! राम की मृत्यु हो गयी है।' सुनते ही ''हाय! यह क्या हुआ?'' ऐसे कहते हुए लक्ष्मण के प्राण निकल गए। यह दृश्य देख दोनों देव विषाद और आश्चर्य से भरे हुए स्वर्ग को चले गए और पश्चाताप की अग्नि में झुलसते रहे। उस समय लक्ष्मण की स्त्रियाँ शोक से सतप्त हो गयी।

जब रामचन्द्र वहाँ आए और सब ओर से मृतक के चिन्ह देख रहे फिर भी मोह से मुग्ध हुए उसे जीवित समझ रहे थे। छह मास तक लक्ष्मण के मृतक कलेवर को लिए पागलवत् चेष्टा करते घूमते रहे। इसी मध्य सीता के दोनो पुत्रों ने 'पुनः गर्भवास मे न जाना पड़े , इससे भयभीत होकर पिता के चरणों को नमस्कार करके वन में जाकर दीक्षा ले ली। अनेको इष्ट मित्रो और राजाओ के समझाने पर भी रामचन्द्र प्रबोध को प्राप्त नहीं हुए। उस समय 'कृतातवक्र सार' और जटायु के जीव जो के स्वर्ग में देव हुए थे, वे दोनोआकर यद्वातद्वा क्रिया करने लगे। एक देव सूखे वृक्ष को सीचने लगा, दूसरा पत्थर पर बीज बोने लगा इन सब विपरीत क्रियाओ को देख राम उनको समझाने लगे परन्तु स्वय नही समझे। तत्पश्चात् देव एक मृतक कलेवर को कन्धे पर लेकर सामने खड़ा हो गया तब उसे भी समझाने लगे तब उसने कहा- देव। आप भी तो मृतक को लिए घूम रहे है, सदृश मे ही मैत्री होती है। हम सब मूर्खों के आप राजा है। इत्यादि प्रकार के देव के वचनों से राम का मोह शिथिल हो गया, वे स्वय अपनी इस चेष्टा पर लज्जित हो उठे और शोक का त्याग कर लक्ष्मण का दाह सस्कार किया।

रामचन्द्र की दीक्षा और निर्वाणगमन - अनन्तर अनगलवण के पुत्र अनन्तलवण को राज्य देकर राम ने आकाशगामी सुव्रत मुनि के समीप निर्ग्रन्थ दीक्षा धारण कर ली। उसी समय शत्रुघ्न, विभीषण, सुग्रीव आदि कुछ अधिक सोलह हजार राजा साधु हुए ओर सत्ताईस हजार प्रमुख-प्रमुख स्त्रियाँ श्रीमती नामक साध्वी के पास आर्यिका हुई। रामचन्द्र उत्तम चर्या से युक्त गुरु की आज्ञा लेकर एकाकी विहार करने लगे।

पाँच दिन का उपवास कर धीर वीर योगी रामचन्द्र पारणा के लिए नन्दस्थली नगर मे आये। उनकी दीप्ति और सुन्दरता को देखकर नगर में भारी कोलाहल हो गया। पड़गाहन के समय हे स्वामिन्! यहाँ आइये! यहाँ ठहरिये! इत्यादि अनेक शब्दो से आकाश व्याप्त हो गया,

हाथियो ने भी खम्भे तोड़ डाले, घोड़े हिनहिनाने लगे और बंधन तोड़ ड़ाले। उनके रक्षक दौड़ पड़े। प्रतिनन्दी ने भी क्षुभित हो वीरों को आज्ञा दी जाओ इन मुनिराज को मेरे पास लाओ। इस प्रकार भटो के कहने से महामुनि रामचन्द्र अन्तराय जानकर वापस चले गए तब वहाँ और अधिक क्षोभ मच गया।

अनन्तर रामचन्द्र ने पाँच दिन का दूसरा पारणा ग्रहण कर यह प्रतिज्ञा ले ली कि मुझे वन मे आहार मिलेगा तो ग्रहण करुँगा अन्यथा नहीं। कारणवश गए हुए इन्हीं राजा प्रतिनन्दी ने रानी सहित वन मे रामचन्द्र को आहारदान देकर पंचाश्चर्य प्राप्त किये। रामचन्द्र को अक्षीण महानस ऋद्धि थी अतः उस बर्तन का अन्न उस दिन अक्षीण हो गया। घोर तपश्चरण करते हुए रामचन्द्र को माघ शुक्ल द्वादशी के दिन केवलज्ञान प्रगट हो गया। तब देवो ने आकर समवशरण की रचना की। रामचन्द्र की आयु सत्तर हजार वर्ष थी और शरीर की ऊँचाई सोलह धनुष प्रमाण थी। ये रामचन्द्र सर्व कर्म रहित होकर तुगी से मुक्ति को प्राप्त हुए। आज भी राम, लक्ष्मण और सीता का आदर्श जीवन सर्वत्र गाया जाता है।

पवंजय-अंजना पुत्र - हनुमान

राजा श्रेणिक गौतम गणधर से कहते है कि हे स्वामी हनुमान का चारित्र चित्रण कर अनुगृहीत करे। गौतम गणधर अपनी वाणी से इस प्रकार कहने लगे- भरत क्षेत्र की दक्षिण दिशा मे महेन्द्र नामक विद्याधर ने महेन्द्र नामक नगर बसाया था। उस राजा की जीवनसंगिनी का नाम हृदयवेगा था, जिससे अरिजय आदि 100 पुत्र एव अजना नामक एक महागुणवान पुत्री का जन्म हुआ।

एक बार राजा महेन्द्र अजना की यौवन अवस्था को देखकर उसके विवाह के लिए चिन्तित हुए अतः उसने अपने बुद्धिमान मत्रियो को बुलाकर अजना सुन्दरी के वैवाहिक सम्बन्ध के सदर्भ मे विचार विमर्श किया कि इस कन्या का शुभ विवाह किसके साथ करना चाहिये।

राजा द्वारा पूछे गए प्रश्न के प्रत्युत्तर स्वरुप किसी ने रावण के नाम का, किसी ने इन्द्रजीत के नाम का, किसी ने मेघनाथ के नाम का प्रस्ताव रखा। प्राप्त प्रस्तावो को सुनकर मन्त्री कहने लगा - 'हे राजन् दक्षिण मे कनकपुर नामक नगर के राजा हिरण्यप्रभ एव रानी सुमना का पुत्र सौदामिनी कुमार ''विद्युतप्रभ'' है वह अत्यन्त शक्तिशाली है। अतः मेरे विचार मे तो कुमारी के लिए इससे अच्छा वर नही हो सकता। धन्य मत्री का प्रस्ताव सुनकर सन्देह प्राग नामक दूसरा मन्त्री अत्यन्त गम्भीर होकर कहने लगा निसन्देह विद्युतप्रभ महाशक्तिशाली है किन्तु उसके मन मे ससार की अनित्यता क्षण भगुरता की विचार तरगे प्रवाहित होती रहती हैं, इतना ही नहीं वे

वैरागी कुमार 18 वर्ष की उम्र में ही संसार से विरक्त होकर दीक्षा लेगे। ऐसी स्थिति में उनके साथ कन्या का विवाह करने से कन्या पतिविहीन हो जायेगी। हाँ, भरत क्षेत्र की विजयार्द्ध पर्वत की दक्षिण श्रेणी में आदित्यपुर नामक नगर है वहाँ राजा प्रह्लाद, रानी केतुमती के पंवनजय नामक पुत्र है। वह महापराक्रमी और रुपवान होने से हमारी कन्या के योग्य हैं। इस प्रकार सब मंत्रियों ने अपने सुझाव प्रस्तुत किए।

एक दिन अष्टान्हिका का पर्व आया, राजा महेन्द्र अपनी पत्नी के साथ दर्शन पूजन के लिए कैलाश पर्वत पर गए वहाँ से पूजन आदि कर के प्राकृतिक सौन्दर्य का अवलोकन करने के लिए एक शिला पर बैठ गए। इसी अवसर पर राजा प्रहलाद भी अपने पुत्र पवंनजय के साथ आये थे। अत: राजा महेन्द्र की दृष्टि उन पर पड़ी, राजा महेन्द्र ने उनका अभिवादन करते हुए कहा कि मेरी यह इच्छा है कि अपनी पुत्री का विवाह आपके पुत्र के साथ कर दूँ। यह सुनकर राजा प्रह्लाद बोले, यह तो बहुत अच्छा है। इस प्रकार उन दोनो की मानसरोवर पर्वत पर तीन दिन पश्चात् शादी होना तय हुई। पवनजय को तीन दिन क्या एक दिन भी सहन नहीं हुआ। वे दिन छिपने के बाद अपने सखा प्रहस्त के साथ विमान द्वारा अजना के महल में पहुँच गए वहाँ सात मजिल महल मे अंजना अपनी सखियो के साथ बैठी थी। इस प्रकार एक सखी कहती है ''पवनजय क्या चीज है विद्युतप्रभ के आगे'' यह सुनकर और अजना को मौन देखकर वे विचारने लगे, शायद अजना इसलिये नही बोली कि वह विद्युतप्रभ से प्रेम करती है पवनजंय मित्र से बोले - 'प्रहस्त! मै अंजना से शादी नहीं करुँगा, मै यहाँ एक पल भी नहीं रहूँगा। अब नगर की ओर प्रस्थान करे।' सेना का इस प्रकार कोलाहल सुनकर सब सोचने लगे पता नहीं, हम से क्या गलती हो गयी, जिससे कुमार रुठ कर चल दिए। सब लोगों के बार -बार कहने पर और पिता की इज्जत के लिए वे रुक गए लेकिन मन मे यह सोच लिया कि मैं शादी करके अजना का परित्याग कर दूगा। ऐसा ही हुआ।

पहले तो अजना पति वियोग से 22 वर्ष तक दु:खी रही, किसी प्रकार पति समागम का सुख प्राप्त हुआ, गर्भ रहा, तो सास ने बिना विचारे उस पर मिथ्या कलंक लगा कर घर से निकाल दिया। महेन्द्रनगर गई तब माता-पिता ने आश्रय देने से मना कर दिया। अनन्त: अजना दासी के साथ गर्भ का भार लिए वन में चली गई। वन मे महापुण्य के उदय से मुनिराज के दर्शन हुए।

वह मुनि चारण ऋद्धि के धारक थे। अंजना और उसकी सखी वसन्तमाला ने मुनिराज को भक्ति पूर्वक नमस्कार किया और तीन प्रदक्षिणा देकर वही बैठकर उन की स्तुति करने लगी। मुनिराज का ध्यान पूर्ण होने पर दोनों ने पुन: उन्हे नमस्कार किया तब स्वंयमेव मुनिराज परमशान्त अमृत वचन कहने लगे - 'हे पुत्री! सभी जीवों को अपने-अपने पूर्वोपार्जित कर्मों के उदयानुसार संयोग वियोग प्राप्त होते हैं।'

बिना कहे सम्पूर्ण वृत्तान्त को जान लेने वाले उन मुनिराज से बंसतमाला ने पूछा- हे नाथ! क्या कारण है कि इसके पति इतने वर्षो इससे उदास रहें और तत्पश्चात् इसमें अनुरक्त हुए? और किस कारण से यह महासती वन मे दुख: को प्राप्त कर रही है तथा इस के गर्भ में कौन सा भाग्यहीन जीव स्थित है, जिसके जीवन के प्रति भी संदेह है। हे प्रभो! कृपा कर इन प्रश्नों का उत्तर प्रदान कर मेरे सदेह का निवारण करें।

तब मुनिराज ने अपनी मधुरवाणी मे कहा- 'हे पुत्री! अजना के गर्भ में स्थित जीव महापुरुष है। सर्वप्रथम तुम्हे उसी हनुमान के पूर्व भवो का ज्ञान करता हूँ। तत्पश्चात् अंजना के पूर्व भव के जिस पापाचरण के फलस्वरुप से वर्तमान मे दु:खावस्था को प्राप्त हुई है- उसका वृत्तान्त कहूँगा।'

हनुमान के पूर्वभव

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र मे प्रियनन्दी नामक एक गृहस्थ था, उसके दमयन्त नामक एक पुत्र था। एक बार वह बसन्त ऋतु में अपने मित्रो के साथ वन में क्रीड़ा करने के लिए गया वहाँ उसने एक वीतरागी मुनराज को देखा, तथा उन्हें नमस्कार कर धर्म श्रवण करने लगा। मुनिराज के तत्त्वोपदेश से उसने सम्यग्दर्शन की प्राप्ति कर ली और श्रावक के व्रत एवं अनेक नियम धारण कर घर आया। तत्पश्चात् उसने मुनिराज को नवधाभक्ति पूर्वक आहार दान किया और अन्त समय मे समाधि मरण पूर्वक देह त्याग कर देवगति को प्राप्त हुआ। स्वर्ग की आयु पूर्णकर वह जम्बूद्वीप के मृगाक नगर मे हरिचन्द्र राजा की प्रियंगुलक्ष्मी रानी के गर्भ से सिंहचन्द्र नामक पुत्र हुआ वहाँ भी वीतराग सतों की भक्ति पूर्वक सेवा तथा अन्त समय में समाधिमरण ग्रहण कर स्वर्ग गया वहाँ से आयु पूर्ण कर भरतक्षेत्र के विजार्द्ध पर्वत पर अहनपुर नगर में सुकंठ राजा की कनकोदरी रानी के यहाँ सिहवाहन नामक पुत्र हुआ। यहाँ भी वैराग्य उत्पन्न हो जाने के कारण मुनि धर्म अगीकार कर लिया। तप के प्रभाव से अनेको ऋद्धिया प्रगट हो गयी। इस प्रकार अपनी आयु पूर्ण कर वे मुनिराज लातव नामक सप्तम स्वर्ग में देव हुए। वहाँ से आयु पूर्ण कर वह जीव अजना के गर्भ मे आया। वह चरम शरीरी है अतः पुनः देह धारण नहीं करेगा। परम सुख रुप मोक्ष को प्रप्त करेगा यह भव उसका अन्तिम भव है।

वह तो हुआ उस पुत्र का वृत्तान्त, जो अजना के गर्भ मे स्थित हैं अब अंजना का वृत्तान्त सुनो, जिसके कारण उसे पति का वियोग एवं कुटुम्ब द्वारा तिरस्कृत होना पड़ा।

इस अंजना ने पूर्वभव मे पटरानी पद के अभिमान के कारण अपनी सौत पर क्रोध करके देवाधिदेव श्री जिनेन्द्र देव की प्रतिमा को जिन मन्दिर से बाहर निकाल दिया था। उसी समय समयश्री नामक आर्यिका इनके घर पर आहार हेतु पधारी थी, किन्तु जिन प्रतिमा का अनादर देखकर उन्होंने आहार नही किया तथा जाते समय अपने मधुर वचनों से पटरानी से कहने लगी- तुम रुपवती हो, राजा की पटरानी हो यह सब पूर्वोपार्जित पुण्य का फल है।

यह जीव मोह के कारण चर्तुगति में भ्रमण करता है और महान पुण्य के उदय से उसे मनुष्य देह प्राप्त होती है और उसमें भी वह सुकृत्य नहीं करता वह तो हाथ में आये हुए रत्न को व्यर्थ ही खो देता है। जो स्वयं इस ससार से तिरते है और धर्मोपदेश के द्वारा अन्य जीवों को तारने में निमित्त होते है- ऐसे धर्मचक्री श्री अरहन्त देव है जो उनके प्रतिबिम्ब की अविनय करते है। वे मूढ़ प्राणी भव-भव में निकृष्ट गतियों को प्राप्त करते हैं और महान दुख भोगते हैं।

इस प्रकार आर्यिकाश्री के उपदेश से रानी कनकोदरी नरकों के दुखों से भयभीत हुई और उसने सम्यग्दर्शन सहित श्रावक के व्रत अंगीकार कर लिए और श्री जिनदेव की प्रतिमा को अत्यन्त बहुमान पूर्वक श्री जिन मन्दिर में वापिस विराजमान करवाया और उत्साह पूर्वक भगवान की पूजा का भव्य आयोजन कराया। इस प्रकार सर्वज्ञदेव की आराधना करके पटरानी कनकोदरी स्वर्ग में गई और स्वर्ग से चयकर राजा महेन्द्र की पुत्री तुम अंजना हुई।

मुनिराज के मुख से अंजना सुन्दरी के लिए सहज ही करुणापूर्ण वचन प्रस्फुटित होने लगे। हे बालिके! पूर्व भव में तुमने जिन प्रतिमा का अविनय किया था इसी कारण तुम्हारी पवित्रता को भी कलंक लगा। पूर्व पाप के फल स्वरुप ही ऐसे घोर दुख भोगने पड़े। अब कभी इस तरह के निंद्य कार्य मत करना।

इस प्रकार मुनिराज के मुख से अपने पूर्व भव का वृत्तान्त सुन कर अंजना को बहुत दुख हुआ और वह अपने द्वारा पापाचरण की निन्दा करने लगी। और अपने पूर्व के पाप से भयभीत होती हुई धर्म में तत्पर हो गयी और मुनिराज की पावन गुफा में पुत्र जन्म का इन्तजार करने लगी। उसी गुफा में श्री मुनिसुव्रतनाथ की प्रतिमा स्थापित थी वे दोनों भक्ति पूर्वक जिनदेव की पूजन करती। इस प्रकार दोनों का समय व्यतीत हो रहा था।

हनुमान का जन्म - इसी प्रकार कुछ दिन व्यतीत हो गए। अंजना की प्रसूति का समय निकट था। उनकी सखी बसन्तमाला ने एक कोमल शैय्या का निर्माण किया। जैसे पूर्व दिशा सूर्य को प्रगट करती है, उसी तरह अंजना ने सूर्यसम तेजस्वी हनुमान को जन्म दिया, उनका जन्म होते ही गुफा मे व्याप्त अन्धकार विलय हो गया और वहाँ प्रकाश का साम्राज्य हो गया। ऐसा लगता था मानों वह गुफा सुवर्ण-निर्मित है। अपने पुत्र को छाती से लगा कर अंजना कहने लगी हे पुत्र! इस गहन वन में तू उत्पन्न हुआ है। अत: मै तेरा जन्म-उत्सव किस प्रकार मनाँऊ? यदि तेरा जन्म तेरे दादा या नाना के यहाँ होता तो निश्चित ही उत्साहपूर्ण तेरा जन्मोत्सव मनाया जाता। अहो! तेरा मुख रुपी चन्द्र को देखकर कौन आंनदित नही होगा? किन्तु मैं भाग्यहीन, सर्ववस्तु विहीन हूँ। हे पुत्र! अभी तो मैं तुझे आशीर्वाद देती हूँ कि तू दीर्घायु हो। यह तेरा ही पुण्य का प्रताप है जो मैं इस गहनवन में जीवित हूँ।

अंजना के इन वचनों को सुन कर उनकी सखी बोली- देवी तुम कल्याणमयी हो, तभी तो ऐसा महान पुत्र रत्न उत्पन्न हुआ है तेरा पुत्र सुन्दर लक्षणों से सुशोभित है यह महाऋद्धि का

धारक होगा। मुनिराज का वचन याद कर 'यह पुत्र चरम शरीरी है तथा तेजस्वी हैं। दोनों सखियो की वार्तालाप चल ही रही थी कि तभी बसन्त माला ने आकाश मार्ग से सूर्यसम तेजस्वी एक विमान आता देखा तथा उसकी सूचना अपनी सखी अजना को दी। विमान को देखते ही अजना भयभीत हो गई और जोर से पुकारने लगी कि यह कोई शत्रु है जो मेरे पुत्र का अपहरण करने आया है या कोई मेरा हितैषी है ऐसा विचारने लगी। अंजना की पुकार सुन कर विद्याधर देव को दया आ गई उसने अपना विमान गुफा के समीप द्वार पर उतारा और अपनी पत्नी सहित गुफा मे प्रवेश किया तत्पश्चात् बसन्तमाला ने उनका आदर सत्कार किया तब देव ने पूछा - 'हे बहिन! यह स्त्री कौन है? इसके पिता एव पति का क्या परिचय हैं।'

तब सखी ने बताया कि 'इस स्त्री का नाम अजना है यह प्रसिद्ध राजा महेन्द्र की पुत्री है एव राजा प्रहलाद के पुत्र पवनजय इसके पति है इस प्रकार सम्पूर्ण वृत्तान्त सुनने के पश्चात् वह विद्याधर अत्यन्त स्नेह पूर्वक कहने लगा- हे भव्यात्मा! मैं हनुमत द्वीप का राजा प्रतिसूर्य हूँ और यह अजना मेरी भाजी है। बहुत दिनो के पश्चात् देखा है अतः इसलिए पहिचान न सका अपने मामा को देख अजना के आखो से अश्रुधारा बहने लगी तत्पश्चात् अजना अपने मामा से कहने लगी- हे पूज्य आप इस पुत्र का सम्पूर्ण भविष्य वृत्तान्त ज्योतिषियो से पूछे।

ज्योतिषी ने बताया कि यह बालक तो तद्भव मोक्षगामी है। यह इसका अन्तिम जन्म है। ज्योतिष की बात को सुनकर सबको बहुत हर्ष हुआ। कुछ देर पश्चात् राजा प्रतिसूर्य ने अंजना से कहा- हे पुत्री चलो हम सब हनुमत द्वीप के लिए प्रस्थान करते है। इस प्रकार सब विमान मे बैठ गए। विमान आकाश मार्ग से जा रहा था। तभी अचानक कौतुहल से हसते-हंसते वह माता की गोद से उछल कर नीचे पर्वत पर जा गिरा। बालक के गिरते ही माता अजना हाहाकार करने लगी।

इस प्रकार इधर तो अजना विलाप कर रही थी और उधर पुत्र हनुमान जिस पत्थर की शिला पर गिरा था, उस पत्थर के हजारो टुकड़े हो गए थे। जब प्रतिसूर्य ने वहाँ जाकर देखा तो बालक एक शिला पर आनन्द से मुँह मे अपना अगूँठा लेकर क्रीड़ा कर रहा था। अजना को भी यह देखकर बहुत हर्ष हुआ और माता ने स्नेह से बालक का सिर चूम लिया।

पर्वत मे की गुफा मे जन्म हुआ, विमान से गिरने पर पर्वत खण्ड-खण्ड हो गया, अतः उस बालक की माता और मामा ने उसका नाम शैल कुमार रखा तथा हनुमत द्वीप में रहने के कारण जगत मे 'हनुमान' नाम से विख्यात हुए।

पवंनजय की व्यथा - युद्ध मे विजयी होने के पश्चात् पवनजय ने अपने राज्य की ओर प्रस्थान किया। पवन कुमार ने महल मे पहुँच कर अपने माता-पिता को सादर प्रणाम किया और राज्य की कुशल क्षेम पूछी । तत्पश्चात् अपने मित्र के साथ अजना के महल की ओर प्रस्थान किया, किन्तु वहाँ अजना को न देख कर वह बहुत दुखी हुए तथा उनके मित्र ने बताया कि

उनके चारित्र पर संदेह कर राजमाता ने उन्हें महेन्द्रनगर भिजवा दिया। तब पवंनजय माता-पिता से आज्ञा लिए बिना ही महेन्द्रनगर की ओर प्रस्थान कर गए। जब वह राजा महेन्द्र के महल मे पहुँचे तो वहाँ भी अंजना को न पाकर बहुत दु:खी हुए तब एक बालिका ने बताया कि महाराज श्री ने उन्हे वनवास भेज दिया है। यह सुन कर जैसे उन पर मानो वज्रपात हो गया हो। वह सोचने लगे। यह कोमल शरीर वाली अंजना कहां होगी, कही भूख प्यास से संतप्त अजगरों के स्थल गहन कुएँ मे तो नही गिर गयी, अथवा पशुओ के भय से उस निर्दोष गर्भवती के प्राण तो नही टूट गए। इस प्रकार चिन्ता मग्न पवनकुमार इधर-उधर भटकने लगे तरह-तरह की आशकाए अनके मन मे जन्म ले रही थी इस प्रकार सोचते हुए तथा परिभ्रमण करते हुए वह उसी गुफा के समीप पहुँचे जहाँ पहले अजना का निवास था। गुफा मे प्रवेश करते ही पवनकुमार ने देखा कि वहाँ भगवान मुनिसुब्रतनाथ की प्रतिमा विराजमान है। जिन बिम्ब को देखते ही कुमार को आश्चर्य हुआ तथा भक्ति पूर्वक जिनदेव की वन्दना कर स्तुति करते लगा। स्तुति के पश्चात् सोचने लगा कि यहाँ यह प्रतिमा कहाँ से आयी? इस प्रकार विचार करते हुए वह गुफा से बाहर आकर अजना को जोर-जोर से पुकारने लगा, वन, पर्वत, जंगल मे घूम-घूम कर खोजा, किन्तु कही भी अपनी प्राणप्रिया को न पाकर वह अत्यन्त दुखी हुए अतः उन्होने प्राणोत्सर्ग का निर्णय कर लिया।

पवन और अंजना का मिलन - पवनकुमार के मित्र ने कुमार के माता-पिता को उनके निर्णय से अवगत कराया कि यदि अजना नहीं मिली तो वह प्राण त्याग देगा। इस कठोर निर्णय को सुनकर, उनकी माता सहित अन्त:पुर की समस्त रानिया क्रदन करने लगी, और विलाप करती हुई माता यह कहने लगी कि हाय-हाय! मुझ पापिनी ने यह क्या किया? रानी केतुमति के करुण विलाप से सारा कुटुम्ब शोकाकुल हो गया। तब राजा प्रहलाद ने सकुटुम्ब प्रहस्त के नेतृत्व में कुमार को खोजना प्रारम्भ किया। यह समाचार प्रातिसूर्य के समीप भी गया तथा उन्हें सम्पूर्ण वृत्तान्त से अवगत कराया। जिसे सुनकर प्रतिसूर्य का बहुत शोक हुआ। अजना को जब यह समाचार विदित हुआ तो वह बहुत दुखी हुई तथा आखो से अश्रुधारा बहाती हुई कहने लगी- 'हाय नाथ! मेरा चित्त तो आप ही के प्रति समर्पित है अत: आप मुझे छोड़कर कहाँ चले गए? आपके कष्ट की बात सुनने से पूर्व ही मेरे प्राण क्यो नही छूट गए।' इस प्रकार विलाप करने लगी राजा प्रतिसूर्य ने भी धैर्य बधाते हुए कहा - 'हे पुत्री! तू विश्वास रख, मै शीघ्र ही तेरे पति को खोज कर लाऊँगा। खोजते-खोजते जब विद्याधर पवन कुमार के समीप पहुँचे तो वह मौनपूर्वक बैठे थे उनके माता-पिता उनका मस्तक चूम कर अश्रुपूरित नेत्रो से कह रहे थे कि - हे पुत्र! तू हमे त्याग कर यहाँ क्यो आया, राज महल को छोड़कर तूने वन मे रात कैसे व्यतीत की? तू मौन क्यूँ है?

तभी अजना के मामा प्रतिसूर्य भी वहाँ आये और कुमार के समीप आकर कहने लगे- सभी शान्त हो जाओ "मै पवनकुमार के साथ वचनालाप करुँगा।" इतना कहकर वह कुमार

के एकदम समीप गए और उनके कान मे कहने लगे - हे कुमार! सुनो मैं तुम्हें अंजना का वृत्तान्त सुनाता हूँ।

तब प्रतिसूर्य ने समस्त वृत्तान्त कुमार को सुनाया और बताया कि अंजना इस समय पुत्र सहित हनुमत द्वीप में विराजमान है।

इस वृत्तान्त को सुन कर पवन कुमार को हार्दिक प्रसन्नता हुई और अंजना को देखने के उद्देश्य से वह हनुमत द्वीप की तरफ प्रस्थान कर गए।

नगर मे पहुँचने पर राजा प्रतिसूर्य ने सभी का भव्य स्वागत किया। जब कुमार अंजना के निकट पहुँचे तो लज्जाशील अजना ने बालक हनुमान को कुमार के हाथों में सौंप दिया मुक्तिदूत चरमशरीरी पुत्र को देखने मात्र से कुमार एव अंजना अपने सम्पूर्ण दु:ख भूल गए और दीर्घ अन्तराल के पश्चात् हुए इस मधुर मिलन से दोनों को अपार हर्ष हुआ।

नारायण श्रीकृष्ण

जिस समय की यह कथा है, उस समय भारत मे 21वें तीर्थंकर का शासन चल रहा था, और राजगृही नगरी में राजा जरासध राज्य करता था। वह अर्द्धचक्रवर्ती (प्रतिवासुदेव) था, उसके शस्त्र-भडार में सुदर्शन चक्र उत्पन्न हुआ था। उसने तीनो खंड के लगभग सभी राजाओ को जीत लिया था, परन्तु अभी सिंहरथ राजा को जीतना शेष था। कुमार वसुदेव ने युक्तिपूर्वक उस सिहरथ राजा को जीत लिया और बन्दी बनाकर अपने सेवक कंस द्वारा राजा जरासंध को सौप दिया। इससे प्रसन्न होकर जरासध ने अपनी पुत्री (जीवयशा) तथा आधा राज्य वसुदेव का देना चाहा, परन्तु वसुदेव ने स्वय वह न लेकर कस को दिलवाया। राज्य पाकर कस ने जब जाना कि वह स्वयं मथुरा का राजकुमार है, और पिता उग्रसेन ने बचपन से ही उसका परित्याग कर दिया था, तब उसके पूर्वभव के बैर के संस्कार जाग उठे, उसने क्रोधपूर्वक पिता उग्रसेन को बन्दी बनाकर द्वार के ऊपर काराग्रह मे डाल दिया था और मथुरा के राज्य पर अधिकार कर लिया था, (पूर्व वशिष्ठ मुनि के भव मे कस के जीव ने जो निदान बंध किया था) उसका यह फल आया।

पश्चात् राजा कस ने अपने उपकारी वासुदेव से बहिन देवकी का विवाह कर दिया। एक बार राजा कस के महल मे (उनके भाई) अतिमुक्तक मुनि आहार लेने आये, तब कंस की रानी जीवयशा ने उन मुनि की तथा उनकी बहिन देवकी की हसी उड़ाकर अनादर किया, तब मुनि वचन गुप्ति तोड़कर बोले कि तू अभिमान के कारण जिसकी, हँसी उड़ा रही है, उस देवकी बहिन का पुत्र ही तेरे पति तथा पिता (कंस और जरासंध) का घात करेगा। इसे कोई टाल नहीं सकता।

मुनि द्वारा की गई भविष्यवाणी का जब राजा कंस को पता चला तो वह भयभीत हो गया, और देवकी बहिन के पुत्रों को जन्मते ही मार डालना-ऐसे आशय से बहिन देवकी को अपने घर ही रखने का वचन वासुदेव से ले लिया।

अभी तक देवकी को किसी सन्तान की प्राप्ति नहीं हुई थी, उन्हीं दिनों वे अतिमुक्तक मुनि पुनः मथुरा नगरी में पधारे। देवकी ने उनसे विनयपूर्वक पूछा- हे स्वामी! हमें दीक्षा का अवसर कब प्राप्त होगा? यह मुनि देवकी के भाई ही थे।

मुनिराज ने कहा- हे बहिन! तुझे पुत्र प्राप्ति की इच्छा है, फिर भी तू मायाचार से दीक्षा की बात किसलिये पूछती है? सुन अनेक उत्तम पुत्र होगें, उनमें से छह पुत्रों का तो अन्य स्थान पर लालन-पालन होगा, और वे बड़े होकर दीक्षा लेकर मोक्ष प्राप्त करेगें। सातँवा पुत्र अर्द्ध चक्रवर्ती वासुदेव होकर पृथ्वी पर राज्य करेगा। यह सुनकर देवकी का मन बहुत सन्तुष्ट हुआ।

तत्पश्चात् देवकी के तीन बार युगल पुत्र हुए, पुण्य प्रभाव से उन छहों चरम शरीरी पुत्रों की एक देव ने रक्षा की और उनके स्थान पर इसके मृत पुत्र रख दिए। कंस समझा कि देवकी के पुत्र मरे हुए ही हुए है तथापि दुष्टभाव के कारण उसने नवजात शिशुओं को पत्थर पर पछाड़कर उनका मस्तक फोड़ दिया। रे संसार देखो तो सही वैर भाव की पराकष्ठा! छोटे से बालक और अपनी ही बहिन के पुत्र, फिर भी उन्हें कंस ने कितनी क्रूरता से पत्थर पर पछाड़ा परन्तु जिनका पुण्य जीवित हो, उन्हें कौन मार सकता है? उन छहों पुत्रों के पश्चात् देवकी को सातवें पुत्र का गर्भ धारण हुआ। इस बार निर्नामक मुनि का जीव जो भोगों का पाप निदान करके स्वर्ग मे गया था वह देवकी के गर्भ में आया और देवकी ने सातवें महीने में पुत्र को जन्म दिया-वह थे श्रीकृष्ण।

मथुरा मे श्रीकृष्ण का अष्टमी को घनघोर वर्षा एवं चमचमाती गरजती बिजलियों के मध्य रात्रि में जन्म होते ही उनके पिता वसुदेव तथा ज्येष्ठ भ्राता (रोहिणी के पुत्र) बलभद्र उन्हें गुप्त रुप से गोकुल मे नन्दगोप के घर ले गए। मार्ग के अधेरे में श्रीकृष्ण के पुण्य प्रभाव से एक देव ने दीपक द्वारा मार्ग दर्शन किया, नगर के द्वार अपने आप खुल गए, और नदी का उमड़ता प्रवाह भी अपने आप कम हो गया। नदी ने दो भागों में विभाजित होकर उस पार जाने का मार्ग बना दिया। अहा! पुण्य प्रभाव क्या-क्या नहीं करता, इसलिये मोक्षार्थी जीव उस पुण्य की शरण नहीं लेते।

श्रीकृष्ण को लेकर जब वसुदेव और बलभद्र गोकुल जा रहे थे, तब नन्द गोप एक मृत पुत्री को लकर मार्ग में आते हुए मिला बलभद्र ने बाल कृष्ण को उन्हें सौप दिया और मृत पुत्री को लेकर ऐसे प्रचारित किया की देवकी ने मृत पुत्री को जन्म दिया है। इस प्रकार राजा कंस को श्रीकृष्ण के अवतार की खबर नहीं हुई। इधर नन्द गोप की पत्नी यशोदा अत्यन्त

स्नेहपूर्वक उनका लालन-पालन करने लगी। कृष्ण ज्यों-ज्यों बड़े हो रहे थे, त्यों-त्यों मथुरा में उपद्रव बढ़ रहे थे इसी से अनुमान लगाकर ज्योतिषियों ने राजा कंस को कहा कि आपका महान शत्रु भी उत्पन्न हो चुका है।

यह सुनकर कस चिता में पड़ गया उसने शत्रु को ढूंढ़ने और मारने के अनेक उपाय किये। पूर्वभव के मित्र देवो की भी सहायता ली, परन्तु श्रीकृष्ण के पुण्य योग से उसका कोई कुछ नही कर सका, उल्टा उनका प्रभाव बढ़ने लगा। इसमें कोई आश्चर्य नहीं है क्योंकि धर्मात्माओ के पुण्य के समक्ष देवो की शक्ति भी निष्क्रिय हो जाती है और देव भी उनके सहायक हो जाते है। अन्त मे एक मल्लयुद्ध मे छोटे से श्रीकृष्ण ने बड़े विशाल कस को (जो कि उनका मामा होता था) सहार कर दिया, उसके पिता राजा उग्रसेन को तथा रानी पद्मावती को काराग्रह से मुक्त करके उन्हे मथुरा का राज्य सौप दिया और श्रीकृष्ण तथा बलभद्र आदि सबने परिवार सहित आनन्दपूर्वक अपनी राजधानी शौरीपुर मे प्रवेश किया। उनके आगमन से महाराजा समुद्रविजय आदि सब अति हर्षित हुए।

अब उधर कस की मृत्यु के पश्चात् उनकी रानी जीवयशा राजगृही मे अपने पिता जरासध के पास गई और कस के मरण की बात सुनाई। यह सुनकर राजा जरासध श्रीकृष्ण आदि समस्त यादवो पर बड़ा क्रोधित हुआ, और उन्हे जीतने के लिए अपने पुत्रो को भेजा। सैकड़ो बार युद्ध हुआ, अन्त मे महाराजा समुद्रविजय व यादवों ने विचार किया कि - राजा जरासध महा बलवान है, वह शान्ति से नहीं रहने देगा, व श्रीकृष्ण अभी छोटे है, ऐसा सोचकर उन्होने शौरीपुर को छोड़ दिया और सौराष्ट्र देश मे आकर समुद्र तट पर निवास करने लगे, और उनके पुण्य के उदय से कुबेर ने एक सुन्दर द्वारिकापुरी की रचना की। उस द्वारिकापुरी के बीच मे रत्नो से जड़ित एक हजार शिखरो से शोभायमान भव्य जिन मन्दिर था। उसमे सब नगर जन अरिहन्त देव के दर्शन, पूजन एव धर्म आराधना करते थे।

कुछ समय बाद जरासध को पता चला कि श्रीकृष्ण , बलभद्र आदि यादव द्वारिकापुरी मे राज्य करते है। यादवो का नाम और उनके वैभव की बात सुनते ही राजा जरासघ क्रोध से आगबबूला हो गया और युद्ध के लिए सेना एव सुदर्शन चक्र सहित द्वारिका की ओर चल दिया। उधर नारद जी ने भी श्रीकृष्ण को समाचार दिया कि शत्रु राजा जरासंध लड़ने के लिए आ रहा है इधर श्रीकृष्ण भी विशाल सेना सहित द्वारिका से चलकर युद्धक्षेत्र मे आ पहुँचे, और महा भयंकर युद्ध छिड़ गया। जरासध ने कृष्ण के ऊपर सुदर्शन चक्र छोड़ा। क्षण भर को हाहाकार मच गया, क्योकि चक्र का प्रतिकार कोई भी नही कर सकता था, लेकिन महाप्रतापी श्रीकृष्ण के निकट आते ही उनके पुण्य प्रताप से वह शान्त हो गया और श्रीकृष्ण की तीन प्रदिक्षणा देकर उनके हाथ मे आ गया।

दूसरे क्षण मे उसी चक्र से श्रीकृष्ण ने राजा जरासध का मार डाला, और त्रिखंडाधि पति

के रुप मे प्रसिद्ध हुए। त्रिखंड की विजय करके श्रीकृष्ण ने द्वारिका में प्रवेश किया, तब देवों ने बलभद्र सहित उनका राज्याभिषेक किया। उनके सोलह हजार राजा आज्ञाकारी थे।

द्वारिका का जलना– कुछ समय पश्चात् नेमि प्रभु गिरनार पर पधारे और श्रीकृष्ण, बलभद्र आदि उनके दर्शन के लिए आये। उस समय प्रभु के श्रीमुख से दिव्य ध्वनि से वीतरागी उपदेश सुनने के बाद बलभद्र ने विनय से पूछा– हे देव! आपके पुण्योदय से द्वारिकापुरी कुबेर ने रची है। अद्‌भुत वैभव युक्त यह द्वारिका नगरी कितने वर्ष तक रहेगी? जो वस्तु कृत्रिम होती है, उसका नाश होता ही है। अतः यह द्वारिका नगरी सहज विलय को प्राप्त होगी या किसी के द्वारा? जिससे मुझे तीव्र स्नेह है, ऐसे मेरे भाई श्रीकृष्ण की मृत्यु का कारण क्या होगा?_महापुरुषों का शरीर भी कोई स्थिर नहीं है, तथा मुझे जगत सम्बन्धी अन्य पदार्थों का ममत्व कम है, लेकिन श्रीकृष्ण से मुझे अधिक स्नेह क्यो हैं?

तब तीर्थंकर नेमिनाथ की दिव्यध्वनि खिरी आज से बारह वर्ष बाद शराब के नशे की उन्मुक्तता से यादव कुमार द्वीपायन मुनि को क्रोध उत्पन्न करायेगे और द्वीपायन मुनि (बलभद्र के मामा) के शरीर से अशुभ तेजस्वी शरीर का पुतला बाये कन्धे से निकलेगा, वह बिल्ली के आकार जैसा लाल एव बारह योजन का होगा, वह द्वारिका वन को नष्ट कर देगा और बाद मे आकर मुनि को भी नष्ट करके स्वय भी नष्ट हो जायेगा तथा श्रीकृष्ण कौशाम्बी के नगर मे सो रहे होंगे, तब उसी समय उनका भाई जरत् कुमार खरगोश समझकर वाण चलायेगा और कृष्ण की मृत्यु हो जायेगी।

उसके बाद तुम (बलभद्र) छह माह तक कृष्ण के मृत शरीर को कन्धे पर ड़ालकर मोह करते घूमोगे तत्पश्चात् सिद्धार्थ देव सबोधन करेगें, तब तुम संसार से विरक्त होकर सयम धारण करोगे, और समाधिमरण कर पाचँवे ब्रह्म योग स्वर्ग मे जाओगे। वहाँ से नरभव प्राप्त कर मोक्ष प्राप्त करोगे। श्रीकृष्ण भी भविष्य में तीर्थकर बनकर मोक्ष प्राप्त करेगे।''

प्रभु की यह बात सुनकर द्वीपायन तुरन्त सयम धारण करके द्वारिका से दूर विहार कर गए। द्वीपायन मुनि ने सोचा – ''मेरे निमित्त से होने वाला द्वारिका का विनाश रुक जायेगा।'' इसी प्रकार जरत् कुमार भी यह सुनकर कि मेरे बाण से श्रीकृष्ण की मृत्यु होगी, बहुत दुःखी हुआ और कुटुम्ब को छोड़कर दूर वन मे चला गया।

उधर श्रीकृष्ण ने नगरवासियो मे वैराग्य पूर्ण घोषणा की, कि जिसको भी वैराग्य धारण करना हो, वह शीघ्र ही जिनदीक्षा ग्रहण कर आत्मा कल्याण करे, मैं किसी को नहीं रोकूँगा। मैं स्वयं व्रत नहीं ले पा रहा हूं लेकिन द्वारिका नगरी जलने से पहले जिन्हे अपना कल्याण करना हो वे कर ले, उन्हें मेरी अनुमोदना है। श्रीकृष्ण की जिनवाणी में परम श्रद्धा थी। श्रीकृष्ण की धर्म घोषणा सुनकर बहुत लोगो ने मुनि दीक्षा तथा स्त्रियों ने आर्यिका दीक्षा ग्रहण की।

श्रीकृष्ण ने यह भी घोषणा की कि कोई भी मद्यपान की सामग्री द्वारिका में नहीं रखेगा। यह सुनकर द्वारिकावासियों ने मद्यपान की सामग्री वन में फेंक दी।

कुछ समय बीतने पर द्वीपायन मुनि लोंद के महीने को भूल गए और भ्रान्ति के कारण यह समझे की बारह वर्ष पूरे हो गए, ऐसा समझ कर द्वारिका नगरी की ओर आये।भवितव्य के योग से अनेक यादव कुमार वन में वन क्रीड़ा करने के लिए आये, वे थक गए थे, और उन्हें बहुत प्यास लगी थी, जिससे उन्होंने वन के कुंड मे से पानी निकालकर पी लिया। यह पानी नहीं था, वरन् उनके द्वारा पहले फेंकी हुई शराब थी। उस पानी को पीने से उन यादव कुमारों को नशा चढ़ गया नशे के कारण उन्मुक्त होकर वे उल्टा-सीधा बोलने लगे। उसी समय उन्होंने द्वीपायन, मुनि को देखा, देखते ही, ओह! यह तो वही द्वीपायन है, जिसके द्वारा द्वारिका नगरी का सर्वनाश होगा। उन राजकुमारों ने उन्हें ऐसा मारा कि वे जमीन पर गिर पड़े और उन्हें भयंकर क्रोध आ गया। यादव कुमार भय के कारण दौड़ने लगे। दौड़ कर सारी द्वारिका नगरी में खबर कर दी कि द्वीपायन मुनि क्रोधित हो गए है।

जब बलदेव और श्रीकृष्ण ने यह बात सुनी तो वे मुनि को शान्त करने के लिए दौड़े और जाकर बोले "हे साधु! रक्षा करो, क्रोध को शान्त करो, तप का मूल क्षमा है, इसलिये इस नगरी की रक्षा करो।" लेकिन द्वीपायन मुनि का इतना क्रोध बढ़ा कि उनके बांये कन्धे से अशुभ तेजस् पुतला निकला और वह द्वारिकापुरी को जलाने लगा। द्वारिकापुरी धू-धू जलने लगी। श्रीकृष्ण ने आग रोकने की बहुत कोशिश की, परन्तु जब कोई उपाय नहीं सूझा तब श्रीकृष्ण और बलदेव नगरी का किला तोड़कर नदी के पानी से आग बुझाने लगे, परन्तु यह क्या वह पानी भी तेल के समान होकर जलने लगा।

उस समय आग रोकना अशक्य जानकर दोनों भाई माता-पिता को बाहर निकालने के लिए उद्यमी हुए। रथ में माता-पिता को बैठाकर पहले घोड़ा, फिर हाथी रथ में जोता, फिर भी रथ एकदम नही चला, रथ का पहिया जमीन में धस गया।

ऐसा देखकर श्रीकृष्ण बलभद्र स्वयं रथ में जुत गए और रथ को खींचने लगे। उसी समय नगरी का दरवाजा अपने आप बन्द हो गया। दोनों भाईयों ने दरवाजे को तोड़ने की बहुत कोशिश की; उसी समय आकाशवाणी हुई है, मात्र तुम दोनों ही द्वारिका में से जीवित निकल सकते हो, तीसरा कोई नहीं। माता-पिता को भी नहीं बचा सकते।" उनके माता-पिता गद्-गद् भाव से कहते हैं- 'हे पुत्रो! तुम शीघ्र चले जाओ, हमारी चिन्ता छोड़ दो। हमारा मरण तो निश्चित है। दोनों भाई विवश होकर माता-पिता के चरण छूकर रोते-रोते नगर से बाहर चले गए। उसमें से पिता वसुदेव वगैरह, अनेक यादव, उनकी रानियाँ प्रायोपगमन सन्यास धारण करके देवलोक में गए। बलदेव के कितने ही पुत्र जो तद्भाव मोक्षगामी थे, तथा संयम धारण करने का जिनका भाव था, वे तो देव नेमिनाथ भगवान के पास ले गए। अनेक यादव और उनकी

रानियाँ जिनकी धर्म में अटूट श्रद्धा थी एवं ध्यान की धारक थी, और जिनका अंत:करण सम्यग्दर्शन के द्वारा शुद्ध था, उन्होंने भी प्रायोपगमन-सन्यास धारण कर लिया। अतः अग्नि का घोर उपसर्ग भी आर्त-रौद्र ध्यान का कारण नहीं बना। धर्म, ध्यान पूर्वक देह छोड़कर वे स्वर्ग में गए। क्रोध से अन्धे हुए द्वीपायन तापसी ने भवितव्यतावश द्वारिका नगरी को भस्म किया, उसमें कितने ही बालक, वृद्ध, स्त्रियां, पशु जल गए और स्वयं द्वीपायन मुनि भी। अरे! धिक्कार है ऐसे क्रोध को, कि जो स्व-पर का नाश करके संसार बढ़ाने वाला है।

द्वारिका नगरी को जलती हुई छोड़कर श्रीकृष्ण और बलभद्र दक्षिण देश की ओर जा रहे थे, उसी बीच में वे कौशाम्बी नाम के वन में आये, वहाँ बहुत गर्मी थी। श्रीकृष्ण को बहुत तेज प्यास लगी, उन्होंने बलभद्र से पानी लाने के लिए कहा! बलभद्र पानी की खोज में चले गए। इधर श्रीकृष्ण भगवान जिनेन्द्र का स्मरण करके वृक्ष की छाया में पैर के ऊपर पैर रखकर सो गए। दैवयोग से उनका भाई जरत्कुमार भी वन में शिकार की तलाश में वहाँ आ पहुँचा। श्रीकृष्ण के द्वारा ओढ़ा हुआ वस्त्र हवा में उड़ रहा था। जरत् कुमार ने खरगोश का कान समझकर अपना बाण छोड़ दिया। वह बाण श्रीकृष्ण के पैर में जाकर बिंध गया। श्रीकृष्ण ने आवाज लगायी, अरे! यह बाण किसने चलाया है, वह शीघ्र हमारे पास आए। जरत्कुमार ने जब यह सुना कि अरे! यह तो किसी मनुष्य की आवाज है, तो वह वहाँ दौड़कर आए, और कहने लगा ओह! जिसके कारण मैं घर से निकला था, उसी की मेरे हाथों मृत्यु हो गई, मुझे धिक्कार है। तब श्रीकृष्ण कहते है - हे भाई! तुम शोक मत करो, जो सर्वज्ञ ने कहा था, उसे भला कौन टाल सकता है। तुम यहाँ से शीघ्र चले जाओ। बलदेव मेरे लिए पानी लेने गए है, अगर तुमको उन्होंने देख लिया तो वे क्रोधित हो कर तुम्हें मार डालेगे! वे अपने वश में नहीं रहेगें।

अपने वश मे तुम अकेले ही बचे हो, इसलिये तुम श्रावक व्रत धारण करके पाण्डवों के पास जाओ और यह कौस्तुभमणि ले जाकर उनको दिखा देना, जरत्कुमार, हे देव क्षमा हो। ऐसा कहकर चला गया। उसके बाद बलदेव वहाँ पर आते है तो बहुत आकुल-व्याकुल होते है, और श्रीकृष्ण (जिनकी मृत्यु हो जाती है) को अपने कन्धे पर उठाकर चल दिए। वे श्रीकृष्ण को छह मास तक अपने कन्धे पर लिए रहे। अन्त में उनका सारथी जो कि मरकर सिद्धार्थ देव हुआ था, उसने पास आकर सम्बोधन किया -

''हे महाराज! जिस प्रकार रेत में से तेल नहीं निकलता, पत्थर पर घास नहीं उगती, मरा हुआ पशु घास नहीं खाता। उसी प्रकार मृत्यु को प्राप्त मनुष्य फिर से सजीव नहीं होता, तुम तो ज्ञानी हो, इसलिये श्रीकृष्ण से मोह छोड़ो और संयम धारण करो।''

सिद्धार्थ देव के सम्बोधन के द्वारा बलभद्र का चित्त शान्त हुआ, और संसार से विरक्त होकर उन्होंने जिनदीक्षा ली, और आराधना पूर्वक समाधि-मरण करके पंचम स्वर्ग गए।

पाण्डव और कौरव

हस्तिनापुर के राजा शान्तनु थे। उनकी पत्नी का नाम गुणवती था। गुणवती को गंधिका और योजनगंधिका के नाम से भी कहा जाता था। कुछ समय बाद उसके गर्भ से शुभ सस्कार युक्त अभ्यासी व अत्यन्त सुन्दर एक व्यास नाम का पुत्र हुआ। वह धर्मात्माओं में सर्वश्रेष्ठ था, उसकी पत्नी का नाम सुभद्रा था। सुभद्रा वास्तव में बहुत भद्र परिणामी थीं। उसके गर्भ से धृतराष्ट्र, पांडु, विदुर ये तीन पुत्र-रत्न हुए ये तीनो ही अत्यन्त सुन्दर, गुणशाली और चतुर थे। इस प्रकार तीनो पुत्रों सहित व्यास हस्तिनापुर मे अपने समय को व्यतीत करने लगा।

पाण्डु का विवाह कुन्ती और माद्री से हुआ, और धृतराष्ट्र का विवाह गांधारी से हुआ। कुछ समय पश्चात् पाण्डु की पत्नी कुन्ती ने युधिष्ठर, भीम और धनजंय (अर्जुन) नाम के तीन पुत्रो को जन्म दिया, और दूसरी पत्नी माद्री ने नकुल और सहदेव को जन्म दिया। इस प्रकार बैरियो को निर्मद करने वाला प्रचण्ड तेज का धारक राजा पाण्डु अपने पाँचों पुत्रो के साथ सुखपूर्वक समय बिताने लगा धृतराष्ट्र की पत्नी गांधारी ने दुर्योधन आदि सौ पुत्रों को जन्म दिया। ये सभी पुत्र यशस्वी, बुद्धिमान और पराक्रमशाली थे। सभी पुत्र शास्त्र विद्या और शस्त्र विद्या के प्रकाण्ड विद्वान थे।

ज्यो - जयों कौरव और पाण्डव वृद्धि प्राप्त होते जाते थे, त्यो-त्यों उनके आनन्द देने वाली लक्ष्मी भी बढ़ती जाती थी। निर्मल कांति के धारक ब्रह्मचारी गांगेय इन सब कौरव-पांडवों का लालन-पालन, व शास्त्र-शिक्षण देते थे, जिसको कारण ये पुत्र कुछ ही दिनो मे उच्च कोटि के विद्वान हो गए। इन पुत्रों का द्विजोत्तम द्रौणाचार्य ने भी निरीक्षण-परीक्षण किया एव धनुर्विद्या सिखायी, जिससे ये सभी धनुष विद्या विशारद (निपुण) हो गए। वे सभी पुत्र द्रोणाचार्य का बहुत आदर-सत्कार व सेवा करते थे, क्योंकि विद्या विनय से ही आती है। इस प्रकार सुख-सागर मे निमग्न कौरवो और पाण्डवों का बहुत सा समय व्यतीत हो गया।

पाण्डु राजा सुख से अपना समय बिताता था कोई भी उनका शत्रु नही था, बहुत से राजा-महाराजा उसके पक्ष मे थे। उसके पाँचों ही पुत्र बहुत बलशाली व नीतिज्ञ थे।

एक बार श्वेत 'छत्र' से सुशोभित राजा पाण्डु को वन क्रीड़ा करने की इच्छा हुई। उसने अपने नगर मे भेरी पिटवा दी, जिसका शब्द सुनकर चार प्रकार की सेना तैयार हो गई। सेना के साथ पाडु राजा बहुत ठाट-बाठ से वन की ओर चला। उसकी आज्ञा से माद्री उनके साथ चली। इस प्रकार से वह हँसी-खुशी से वन की सैर कर रहा था। उसी समय उसने मंडप के पास ही क्रीड़ा करते हुए एक हिरन को देखा। हिरन उस समय हिरनी के साथ रति-क्रीड़ा कर रहा था।

उसे देखते ही उसने सोचा कि यह तिर्यंच मुझे चिढ़ाता है, और गुस्से में आकर उसने हिरन को एक बाण में ही मार डाला। उसी समय आकाश से देव वाणी हुई कि हे राजन्! तुझे दुख:दायी निन्द्य कार्य नहीं करना था। अरे! विचार तो सही कि इन भोले निरपराध प्राणी, घास खाकर अपनी उदर की पूर्ति करने वालों को ही जब राजा मारने लगे तो संसार में उनका रक्षक ही कौन रह जाता है? मैढ़ खेत की रक्षा करने के लिए ही लगाई जाती है, वही यदि खेत को खाने लगे तो खेत का रक्षक कौन होगा? इस प्रकार आकाशवाणी को सुनकर वह दयालु राजा ससार शरीर भोगो से विरक्त हो गया। इतने ही में उसे एक मुनिराज के पवित्र दर्शन हुए। उनका नाम सुव्रत था। वे परम वीतरागी थे। वह पाण्डु मुनिराज को देखकर उनके चरण कमलो में पड़ गया। और अपने योग्य स्थान पर बैठ गया मुनिराज ने राजा को धर्मवृद्धि कहकर आशीर्वाद दिया और वीतराग धर्म का उपदेश दिया।

मुनिराज के वचन सुनकर चचल चित्त पाण्डु ससार से बहुत भयभीत हुआ और स्थिरचित्त हो मुनि को नमस्कार किया। पश्चात् उनकी स्तुति कर वहाँ से अपने नगर को चला गया। नगर मे आकर सभी परिवारजनों से मुनिराज के समागम की घटना कही, और कहा कि अब मैं संसार शरीर भोगो से विरक्त हो गया हूँ। मैं अब अपना आत्म-कल्याण करुँगा। पश्चात् कुन्ती को भी शिक्षा दी। इस समय मोह के वश होकर युधिष्ठर आदि सभी रुदन करने लगे। पाण्डु ने उन्हें भी अपने राज्य की यथावृत्त रक्षा के लिए समझाया! पश्चात् उस वीर आत्मा ने अपने कुटुम्ब से क्षमा माँगी, व स्वय सबको क्षमा दी, एवं वन में जाकर उसने मुनिव्रत धारण किए। उधर पाण्डु की स्त्री माद्री भी पति के स्नेह से सासारिक भोगों से विरक्त हो गई। उसने नकुल और सहदेव दोनो पुत्रो को कुन्ती को सौप कर सन्यास धारण किया। पाण्डु तो पहले ही शरीर पूरा कर उसी सौधर्म स्वर्ग मे सुन्दर शरीर धारण कर देव बने और इधर माद्री भी उसी सौधर्म स्वर्ग मे देवी हुई। वह वहाँ अपने पूर्वभव के भर्ता के साथ मनंवाछित सुख भोगने लगी। इधर जब कुन्ती को पाण्डु की मृत्यु का पता चला तो उसने बहुत विलाप किया। इसके बाद धृतराष्ट्र आनन्द के साथ राज्य करने लगे एक दिन धृतराष्ट्र वन क्रीड़ा के लिए गए हुए थे। वहाँ उसने एक शिला पर ध्यानस्थ दिगम्बर मुनि को देखा, वे मुनिराज धीर, वीर और विपुलमति के धारक थे विशुद्ध और गुणों के पिण्ड थे उनके पास तिलतुष मात्र भी परिग्रह नहीं था। वे शिला पर सिद्ध भगवान जैसे मालूम होते थे। राजा ने उन परम् तपस्वी मुनिराज को नमस्कार किया। मुनिराज ने भी उसको धर्मवृद्धि का आशीर्वाद दिया और धर्म का जिज्ञासु समझ धर्म उपदेश दिया, धृतराष्ट्र ने मुनिराज से पूछा कि मुनिगज हमारे इस वंश में आगे चलकर क्या-क्या होगा? मुनिराज ने कहा कि आगे चलकर राज्य के कारण पाण्डवों और दुर्योधन आदि में बहुत विरोध होगा व आपस मे विकट

लड़ाई होगी। तुम्हारे पुत्र दुर्योधन आदि कुरुक्षेत्र के रण-स्थल में मरेगे, और अनेक वीर योद्धा मारे जायेगें। तथा पाण्डवों की उसी युद्ध में विजय होगी और हस्तिनापुर का राज्य पाण्डव करेंगे।

जब धृतराष्ट्र ने यह सुना तो ससार शरीर भोगो से विरक्त हो गया। उसने गांगेय को बुलाकर कहा कि हे गांगेय! मै अब अपनी आत्मा कल्याण करने जा रहा हूँ उसने तुरन्त ही अपने विचारानुसार अपने पुत्रों को व पाण्डवो को बुलाया और गांगेय तथा द्रोणाचार्य के समक्ष उन्हें राज्यभार दे दिया और वन मे जाकर सुव्रत मुनिराज से दीक्षा ले ली। आगे चलकर मुनिराज के कथनानुसार कौरवो-पाण्डवो मे भयकर युद्ध हुआ। उसमें सभी कौरव मारे गए, और पाण्डवों की जीत हुई। सभी पाण्डव हस्तिनापुर में राज्य कर आनन्द से समय बिताने लगे। कुछ समय बाद जरत्कुमार के द्वारा पाण्डवो को ज्ञात हुआ कि श्रीकृष्ण की मृत्यु हो गयी, यह सुनकर पाण्डवों को वैराग्य आया और उन्होंने जाकर नेमिनाथ भगवान के समवशरण में दीक्षा ले ली। वे पाँचों मुनि महाराज निरन्तर अपनी आत्मा में विलीन रहते थे। वे पाँचों मुनि महाराज विहार करते-करते सौराष्ट्र आये वहाँ पहुँचकर उन्होंने शंत्रुजय गिरि के शिखर पर ध्यान लगाया। वहाँ आतापन योग द्वारा सिद्धि के लिए घोरातिघोर तप किये और अपनी आत्मा को घोर उपसर्गों के सहने योग्य बना लिया। मुनिराज इधर अपनी आत्मा का एकाग्राचित हो ध्यान कर रहे थे कि इतने में ही दुर्योधन का भान्जा कुयोधन वहाँ आया और पाँचो पाण्डवो को देखकर विचार करने लगा कि इन्होने ही मेरे मामा को मारकर राज्य किया था। अब ये मेरे से भागकर कहाँ जायेगे। मुझे अपना बदला चुकाना है। युद्ध करेगे ही नही। इसलिये मै क्यूँ नही इनसे अपना बदला ले लू। यह विचार कर उस दुष्ट ने लोहे के सोलह आभूषण बनवाये, और उन आभूषणो को अग्नि मे डालकर खूब तपाया, जिससे वे लाल हो गए। इसके बाद उस दुष्ट ने अग्नि से लाल आभूषणो को निकालकर उनके सिर पर बाधे व गले में पहनाये। कानो मे कुण्डल पहनाये। हाथो में कड़े पहनाये और कमर मे करधनी पहनायी, तथा पैरो मे जेवर और हाथों की अगुँलियो में अगूठी पहनाई। उन गहनो का सम्पर्क होते ही उन युवराजो का शरीर काष्ठ की तरह जलने लगा। उनके शरीर से इस प्रकार धुँआ निकलने लगा, जिस प्रकार लकड़ी के जलने से निकलता है। उनमे से युधिष्ठिर, भीम व अर्जुन निर्विकल्प निज आत्मा में लीन हो आठो कर्मों को नष्ट कर सिद्धालय मे जा विराजे। इधर मुनिराज नकुल और सहदेव ने भी उस महान् उपसर्ग को दृढ़तापूर्वक आत्म-चिन्तन करते हुए सहन किया था। किन्तु अन्त समय कुछ परिणामों मे अस्थिरता आ गई और उन्होंने उत्कृष्ट आयु-तैतीस सागर की बांधी। वहाँ वे तैतीस सागर सर्वार्थ-सिद्धि के सुख भोगेगे। और वहाँ से चलकर मनुष्य का एक भव धारण कर उसी भव मे शुक्ल ध्यान कर मोक्ष को प्राप्त करेगे।

इसी तरह महा आर्यिका-राजमती कुन्ती द्रौपदी भी समाधिमरण कर स्त्रीलिंग को छेदकर सोलवे स्वर्ग में जाकर देव हुए। वे आगे मनुष्य पर्याय को पाकर मुनि बन मोक्ष की प्राप्ति करेगी।

सती सुलोचना

श्री ऋषभदेव प्रथम तीर्थंकर के समय इस भरत क्षेत्र में काशी देश प्रसिद्ध था। उसमें वाराणसी नाम की नगरी अति शोभायमान थी। उसकी शोभा बहुत ही अद्वितीय थी। ऐसी मनोहर नगरी में नाथ वंश में उत्पन्न महाराज अंकपन राज्य करते थे। ऐसे न्यायी क्षत्रियराज की रानी श्रीमति सुप्रभा थी। जो वास्तव में अपनी प्रभा से रति के रुप को जीतती थी। वह रानी अपनी पति की अनुगामिनी थी। दोनों मे बहुत ही प्रेम था। रानी सुप्रभा उनके गुणों से युक्त थी। राजा अंकपन पुण्यवान थे उनकी सुप्रभा रानी से एक हजार पुत्र उत्पन्न हुए तथा दो बडी गुणवती कन्याए भी जन्मीं। इनमें बड़ी पुत्री का नाम सुलोचना और छोटी पुत्री का नाम लक्ष्मीवती था।

सुलोचना की कुमारी अवस्था - सुलोचना वास्तव में सु-लोचना थी। उसके चक्षु मृगी के नयनों के समान थे इसी से उसका नाम सुलोचना प्रसिद्ध था। अति शिशु वय में माता पिता ने मुख से ही बहुत से जिनेन्द्र स्तोत्र, श्लोक व छन्द कण्ठस्थ करा दिए थे तथा अनेक महान पुरुषो और स्त्रियों की कथाओं ने उसके मन को महा उदार और गम्भीर बना दिया था। अकम्पन और सुप्रभा जैसे माता पिता जिसके हो उसके सुशील व सुशिक्षित होने में क्या संदेह हो सकता है। जब सुलोचना 5-6 वर्ष की हुई तो उसे योग्य धर्मात्मा पण्डित के पास विद्या अभ्यास के लिए भेज दिया। थोड़े ही समय उसने गणित, व्याकरण, साहित्य, चित्रकला, शिल्प, गृहप्रबन्ध तथा धर्म शास्त्रो की अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। जब यह गृहस्थ स्त्री के योग्य विद्याओं में निपुण हो गई तब अन्य विद्याओ की प्राप्ति तथा 64 कलाओं के ज्ञान कराया। अनेक देवियो के गुण सुलोचना मे जागृत हो गए। सुलोचना के माता पिता बडे विवेकी थे। वह ऋषभदेव भगवान के भक्त थे। उनकी शिक्षा के अनुसार गृहस्थ धर्म पालना उनका हार्दिक भाव था, इस कारण सुलोचना धर्माचरण में बहुत दृढ़ हो गयी और नित्य ही जिनेन्द्रदेव का पूजन, सामायिक, स्वाध्याय तथा पात्रो का दान करने लग गई। इस तरह उसने सम्यक्दर्शन को शुद्धकर लिया था।

सुलोचना का स्वयंवर- सुलोचना अपनी विद्या, कला, सुन्दरता, धर्माचरण, विनय, मिष्टवचन अदि उत्तम गुणों में दिन पर दिन बढ़ती हुई माता-पिता को अपने सच्चरित्र व सद्व्यवहार से आनंदित करती हुई कुमारकाल से यौवनावस्था में पहुँच गई। एक वर्ष में तीन बार जो अष्टाह्निका पर्व आते हैं अर्थात् कार्तिक, फाल्गुन और आषाढ़ मास में, उन दिनों वह विशेष पूजा व व्रतादि रखतीं। एक बार सुलोचना राज्य सभा में आयी। उसके हाथ में पूजा के बचे हुए अक्षत थे वे उसने राजा अकपन के मस्तक पर लगाये उन्होंने उसे आशीर्वाद दिया और कहा - हे पुत्री तू अब महलों मे जा तेरे पारणा करने का समय है। यह कहकर कन्या को विदा किया उस समय राजा अकंपन ने देखा कि कन्या पूर्णयौवनवती है तथापि उस के भावों में कोई काम विकार नहीं है। तथा राजा ने सोचा अब पुत्री का विवाह करना चाहिए। तब राजा ने अपने

मंत्रियो से अपनी चिंता प्रकट करी। सभी मंत्रियो ने राजा को एक से एक अच्छे अच्छे राजाओ के नाम सुझाए तब एक अन्य मत्री ने कहा राजा आप स्वयवर रचाइए उसमें सभी राजाओं को आमन्त्रित करे सुलोचना जिसे भी पसन्द करेगी उसी के साथ उसका विवाह होगा। स्वयंवर रचाया गया दूर-दूर से राजा आये हस्तिनापुर से चन्द्रवंशी राजा सोमप्रभ और रानी लक्ष्मी मती के पुत्र जयकुमार भी आये। इनका नाम मेघेश्वर था। यह भरत चक्रवर्ती के सेनापति थे। जयकुमार के चाचा श्रेयास थे। जिन्होने ऋषभदेव को प्रथम पारणा करया था। सभी राजा जो दूर-दूर से आये थे एक स्थान पर एकत्रित होगए उधर सुलोचना रथ मे बैठ कर बारी बारी से सभी राजाओ के निकट से गुजरी अन्त मे सुलोचना का रथ जयकुमार के सामने जाकर रुका उसने वरमाला जयकुमार के गले मे पहना दी। चारों तरफ गम्भीर बाजों की ध्वनि होने लगी। राजा अंकपन और रानी सुप्रभा इस योग्य सम्बन्ध को देखकर हर्षायमान हुए। जयकुमार ने सुलोचना को अर्धासन दिया। दोनो पर पुष्पवृष्टि होने लगी।

सुलोचना की भक्ति - महाराज अकपंन ने अपने नित्य मनोहर चैत्यालय में महापूजा का प्रारम्भ कराया वैसे ही नगर मे सैकडों जिन मंदिरो मे महापूजा का प्रारम्भ हो गया। यह बात आस पास फैल गयी कि महापूजा के पीछे सुलोचना और लक्ष्मीवती का विवाह होगा। महाराज अकपन, रानी सुप्रभा, अक्रकीर्ति आदि नित्य मनोहर चैत्यालय में पधारे। महाराज जयकुमार और सुलोचना के भाई हेमागंद आदि व जय के भाई ये सब जिनमन्दिर जी मे आ गए। महापूजा का प्रारम्भ हुआ भक्तिवती सुलोचना भी आठ दिवस पूजा मे अनुरक्त रही। सम्यक ही यह सिद्ध चक्र का पाठ हो जो आठ दिन तक किया जाता है। और जिसमे सिद्ध के गुणो की अपूर्व महिमा बताई है। आठवे दिन पूजा समाप्ति पर राजा अकपन ने जयकुमार और अर्ककीर्ति का प्रेममयी शब्दो से मेल करा दिया दोनो का मन पूर्ववत् एक हो गया। अर्ककीर्ति का मन पहले द्वेष और फिर लज्जा युक्त बना हुआ था उस भाव को महाराज अकम्पन ने हटा दिया। तथा साथ ही राजा अकपन ने लक्ष्मीवती का विवाह राजा अर्ककीर्ति के साथ कर दिया और उन्हें अयोध्या के लिए विदा किया।

कुछ दिनों बाद सुलोचना का विवाह जयकुमार के साथ हुआ। जयकुमार और सुलोचना का बहुत ही प्रगाढ़ प्रेम था विवाह के बाद कई मास तक जयकुमार यही रहे तथा नाना प्रकार के भोग विलास व धर्म कार्य करते हुए अपना समय सुखपूर्वक व्यतीत किया।

हस्तिनापुर मे जयकुमार के आगमन की प्रतीक्षा हो रही थी। उचित समझकर राज्य के मंत्री ने जयकुमार को एक पत्र भेजा। जिसमें अपने निज देश आने के लिए प्रार्थना की गई थी। पत्र को देखते ही जयकुमार ने राजा अकपंन से जाने की अनुमति मांगी तब राजा ने बहुत सा दान देकर अपनी पुत्री सुलोचना को विदा किया।

आदर्श गृहस्थ जीवन - जयकुमार सूर्य उदय के होते ही हस्तिनापुर पहुचें गए। इनके आगमन की खबर पाते ही सारा नगर सजाया गया। पुरोहितादि ने बड़ी भक्ति से पूजा के शेषाक्षत

प्रदान कर आगे खडे हो अनेक तरह के आशीर्वाद दिए। जयकुमार का गाढ़ प्रेम सुलोचना में था। इसके और भी रानियाँ थीं पर मुख्य पट्टरानी का पद जयकुमार ने सुलोचना को प्रदान किया। उस समय बहुत सी भेंट दी।

कुछ समय बीत जाने पर राजा अकंपन ने संसार के असार स्वरुप को चिन्तवन कर संसार से विरक्त हो गए और यह विचार किया कि इस मनुष्य जन्म से मोक्ष पुरुषार्थ की सिद्धि कर लेनी चाहिए। इस प्रकार अकंपन ने राज्य का भार अपने ज्येष्ठ पुत्र को सौंप कर सभी से क्षमा मांगी और गृहकारावास से छूटकर चलने लगे। उस समय रानी सुप्रभा को भी चित्तमें वैराग्य आ गया और वह भी आत्मकल्याण के लिए सभी से क्षमा माग कर राजा अकंपन के साथ दीक्षारत्न को श्री ऋषभदेव के समवशरण में ग्रहण करने चली।

जब वह नगर से होकर जा रहे थे तो जगह-जगह रुदन के शब्द सुनाई पड़ रहे थे नगर के ऐसे विलाप को देख अकम्पन अपनी शुभ उदासी देवी को आज्ञा देते हैं कि वह अपनी कृपा कटाक्ष से इस अशुभ उदासी के असर को कम करे। इस तरह संसार के नाटक का देखते हुए अकम्पन और सुप्रभा श्री ऋषभदेव के समवशरण में जाते है और भली प्रकार स्तुति पूजा करके सामने बैठ जाते है और शांत मन हो धर्मोपदेश पान करते है।

भगवान की दिव्य ध्वनि में यह प्रकट होता है कि यह संसार छह द्रव्यों का नाटक है - जिसमें जीव पुद्गल दो द्रव्य क्रियावान है, धर्म, अधर्म आकाश और काल क्रिया रहित है तो भी उन दोनो की क्रिया मे सहकारी है। जीव पुद्गल का सम्बन्ध अनादि काल से होता है। यद्यपि जीव ज्ञाता दृष्टा, शुद्ध अमूर्तिक, राग द्वेष मोहदि भावों से रहित अविनाशी निर्विकार है तथापि पुद्गल की सगति मे पडा हुआ अपना स्वभाव छिपाए हुए है। इसकी अवस्था कषाय-कालिका से व्याप्त है इसी से ज्ञान दर्शन की शक्ति भी अल्प प्रगट है तथा जो कुछ प्रगट भी है वह राग द्वेष मोह के कारण विपरीत कार्य की तरफ झुक रही है। अज्ञान, मिथ्यात्व और असंयम भाव से घिरा हुआ यह जीव अपने स्वभाव को, अपनी ज्ञान निधि को, अपनी अतीन्द्रिय सुख सम्पत्ति को भूल गया है। भूल में पड़कर इन्द्रियों के भोग से उत्पन्न अतृप्तिकारी सुखों के लिए रात दिन लालयित रहता है - विषय भोग की तृष्णा की तृषा से आकुल हो मृगों की तरह पुनः पुनः नाना विषयों मे दौड़-दौड़ कर जाता है सुख की आशा से जाता है उल्टा दुख ही पाता हैं इस जीव को इस दुखभरी अवस्था में अपनी रक्षा करने के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रत्नत्रय धर्म की शरण ग्रहण करनी चाहिए। मैं शुद्ध चैतन्य रुप हूं। यह श्रद्धा दृढ़कर स्वयं को सर्व अन्य जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश एवं काल से भिन्न जान कर अपने ही आत्मा के आनन्दमयी बाग में किलोल करने के लिए सर्व परिग्रह त्यागकर निर्ग्रन्थ हो जाना चाहिए और दृढ़तर पुरुषार्थ के साथ धर्म ध्यान शुक्लध्यान करके कर्म बन्धनों को काट डालना चाहिए।

इस अमृतवाणी को सुनकर अकम्पन उठते हैं। श्री जिनेन्द्र की बार-बार स्तुति करके निर्ग्रन्थ पद धारने का भाव प्रकट कर वृषभसेन गणधर के निकट जाते है और सर्व परिग्रह त्याग केशों

का लुञ्चन कर प्रसन्न मन से महाव्रत धारण कर मुनि हो ध्यान में मग्न हो जाते है। इनकी सुप्रभा रानी भी महाव्रतो को धारण कर आर्यिका हो जाती है।

उधर हस्तिनापुर मे जयकुमार सुलोचना सहित प्रजा का, धर्म व नीति से पालन करते हुए गृहस्थ के सुखो का उपभोग करते हुए काल बिताने लगे।

एक दिन जयकुमार राज्यभवन के ऊपर सुलोचना के साथ आनंद में मग्न बैठे थे। सहसा दूर से दो विद्याधर जाते देख जयकुमार 'हा मेरी प्रभावती' ऐसा शब्द कह कर मूर्च्छित होगए। इतने मे ही एक कबूतर के जोड़े को देखकर 'हा मेरा रतिवर' ऐसा शब्द कहकर सुलोचना भी मूर्च्छित हो गयी। सभी उनका उपचार करने लगे, किन्तु उन दोनों को जातिस्मरण हो आया था। वास्तव मे पूर्वजन्म के सस्कार कई भवो तक चलते है इन दोनों मे पूर्व भव में भी बहुत प्रेम था।

ये दोनो आदर्श गृहस्थ धर्म अर्थ काम तीनो पुरुषार्थों को अविरोध रुप से साधन करते थे। ये दोनों सम्यग्दृष्टि थे। वीतराग देव गुरु व धर्म को वीतराग भाव के लिए सेवन करते थे। संसार शरीर भोगो से उदासीन भाव रखते थे।

इस प्रकार आर्दश जीवन बिताते हुए साधु सन्तो का आदर सम्मान करते हुए ये दोनों पति पत्नि गृही धर्म के सुख को भोगते हुए धर्मभाव के कारण आनन्द और सन्तोष लाभ करते थे। वास्तव मे वे ही गृहस्थ गृह मे रहकर कुछ सुख भोग सकते है। जिनके भावो मे धर्म की रुचि हो व आध्यात्मिक भावना हो।

दृढ़ प्रतिज्ञा और आत्मकल्याण - बहुत काल तक गृहस्थ धर्म का पालते हुए एक दिन जयकुमार के मन मे आया कि देश भ्रमण करना चाहिए। सुलोचना की सम्मति भी यही हुई। जयकुमार को प्रज्ञति आदि विद्याधर के प्रभाव से विमान मे उड़कर ढ़ाई द्वीप मे जाने की शक्ति हो गयी थी। बस शुभ मुहूर्त मे श्री जिनेन्द्र की अर्चा करके जयकुमार सुलोचना शीघ्रगामी विमान पर चढ़कर देश भ्रमणार्थ चल दिए। चलते समय राज्य का भार अपने छोटे भाई विजयकुमार के सुपुर्द कर गए।

अनेक देश, नदी, पर्वतो पर उतरते सैर करते, साधुओ के दर्शन लेते तीर्थ यात्रा करते हुए कैलाश पर्वत के वन मे आये। वहाँ की शोभा देखने के लिए विमान से उतरकर जयकुमार सुलोचना विहार करने लगे। उसी दिन सौधर्म इन्द्र ने अपनी सभा में देवों के सन्मुख शीलधर्म पर व्याख्यान करते हुए उदाहरण मे जयकुमार तथा सुलोचना का नाम लिया कि भरत क्षेत्र में ये दो नामांकित गृहस्थ शीलव्रत मे बहुत दृढ है। उने शील की महिमा अचित्य है यद्यपि शील नाम स्वभाव का है। तथापि ब्रह्मचर्य पालन को भी शील कहते है। सभा में रविप्रभ देव नाम के मन मे आई कि इन्द्र जिनकी इतनी प्रशसा कर रहे है। उनकी परीक्षा करनी चाहिए कि वे शील मे कैसे दृढ़ है। ऐसा विचार कर उसने काचना देवी को आज्ञा की कि तू बहुत ही मनोहर

स्त्री का रुप बनाकर तू जयकुमार के चित्त को मोहित कर। यदि दृढ़ प्रतिज्ञा हो तो उस की पूजा करके पीछे जाना।

आज्ञा पाते ही देवी ने श्रृंगार आदि करके रुपवान स्त्री का रुप बनाया जिसको देखकर बडे-बडे वीर योद्धाओं के मन भी चपल हो जावे। ऐसा रुपधर कर कर वह उस वन मे गयी जहाँ जयकुमार और सुलोचना वन विहार कर रहे थे। उस समय सुलोचना पुष्पवान की वाटिका मे मनोहर फूलों को तोड़ने मे और इकट्ठा करने में लगी थी। जयकुमार जो निर्भय और नि:शंक थे, सुलोचना को पुष्प तोड़ता छोडकर स्वयं कुछ दूर आगे निकलगए। जयकुमार को अकेला देख वह देवी अपने रुप सौन्दर्य से बिजली के समान चमकती हुई अपने नेत्रो से तथा अपनी चाल से हंसिनी की तरह हंसती हुई धीरे-धीरे जयकुमार के सामने आ खड़ी हुई।

जयकुमार उसके अद्‌भुद रुप को देखकर चकित होगए। फिर नाम कर्म का स्वभाव विचार कर समचित्त होगए। कुछ देर बाद जयकुमार ने पूछा- तू कौन है और यहाँ क्यों आई है? वह देवी बोली - 'हे स्वामिन्! मैं विद्याधरी हूँ। विजयार्द्ध पर्वत की उत्तर श्रेणी में मनोहर देश है। उसमे रत्नपुर नगर है, उस नगर का राजा पिगालगावार है व रानी सुषमा है मै उनकी पुत्री विद्युत्प्रभा हूँ और महाराज नमि की रानी हूँ। मैं इधर क्रीड़ा करने आयी थी आपके मनोहर कामदेव सम रुप को देखकर मेरा मन आप मे आसक्त हो गया है। मै मन को बहुत समझाती हू पर वह आपके स्पर्श के बिना विह्वल है। मुझ पर दया कीजिए और मुझे रतिदान दे मेरी तृषा को शात कीजिए। यदि आप ऐसा नहीं करेगे तो मेरे प्राणपखेरु उड़ जायेगे और इसका दोष आप को जायेगा।

जयकुमार इन अशुभ और पापमय शब्दों को सुन कर बोले हे भगिनी! सुन तू मेरी सगी बहन के तुल्य है, तू राजा नमि की धर्मपत्नी है। तुझे स्वप्न मे भी परपुरुष की इच्छा नही करना चाहिए, तुझे अपने पति मे ही सतोष करना चाहिए। अशुभ क्रियाओं से यहाँ तो अपयश होता है और पापबन्ध होने से दुर्गति मे यह जीव चला जाता है। तू अपने भाव को बदल दे और शील धर्म की सुगन्ध से उसे पूर्ण कर, क्योंकि सौभाग्यवती स्त्री का पतिव्रत ही भूषण है। शीलरहित स्त्री सुभग होने पर भी कुरुप है। उसे जयकुमार ने अनेक प्रकार से समझाया।

कचना देवी तो परीक्षा करने ही आयी थी उस देवी ने जयकुमार को दीनता पूर्वक वचन कहे तथा कई प्रकार से प्रलोभन दिया किन्तु जयकुमार के दृढ़ रहने पर उसने अपना रुप राक्षसी का बनाया और जयकुमार को वहाँ उठा ले गई जहाँ सुलोचना फूल तोड़ रही थी। सुलोचना ने अपनी तीक्ष्ण बुद्धि से जयकुमार पर उपसर्ग आया समझकर उसको दूर करने के लिए अपनी वक्र, दृष्टि से उस राक्षसी को देखा। सुलोचना बड़ी ही शीलवान पतिव्रता स्त्री थी, उसके शील के प्रभाव से कंचना देवी वहाँ अधिक देर न ठहर सकी और जयकुमार को छोड़कर भाग गयी और ज़िस देव ने भेजा था उससे इन दोनों के शीलधर्म की खूब ही प्रशंसा की।

जयकुमार सुलोचना शीलधर्म के कारण स्वर्गवासी देव से पूजित होने पर धर्म व चरित्र में ओर दृढ़ हो गए। देश भ्रमण अपनी इच्छा के अनुसार समाप्त करके ये दोनों अपने राज्य में आये और पूर्व के समान धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थ के बारे मे सोचने लगे। बहुत काल तक राज्य करके एक दिन जयकुमार और सुलोचना आदिनाथ के समवशरण में दर्शन करने व उपदेश सुनने पधारे। श्री जिनेन्द्र भगवान दर्शन कर इस आर्दश दम्पति को उनसे दिव्य ध्वनि को सुने बिना ही, परम शात भाव प्राप्त हो गया। जीव का जैसा भाव होता है वैसा ही असर उसकी आत्मा पर पड़ता है। जयकुमार और सुलोचना ने बड़े ही नम्र और भक्तिपूर्ण विद्वत्तापूर्ण काव्यो से श्री ऋषभदेव भगवान की स्तुति करके अपनी गाढ़ भक्ति शुद्ध भाव से जागृत की और और बड़ी विनय से अष्ट द्रव्यो के द्वारा पूजन की। पूजन और स्तवन करके जयकुमार पुरुषों की सभा मे और सुलोचना स्त्रियो की सभा मे उपदेश सुनने के लिए बैठे गए तथा उनकी दिव्य ध्वनि का श्रवण किया।

जयकुमार और सुलोचना का दीक्षा लेना - इस तरह ऋषभदेव द्वारा धर्मामृत पान करके जयकुमार धर्म रस से परिपूर्ण हो गया और मोक्ष की दृढ़ उत्कंठा करके ससार देह भोगों से वैराग्ययुक्त हो मुनिव्रत धारने का वाछावान हो गया। राज्य का भार अपने पुत्र को सौंपकर तथा सबसे क्षमा भाव कर अत्यन्त प्रिय सुलोचना का भी राग भाव हटा उसे धर्मभगिनी समझ उससे भी क्षमाभाव कर आदीश्वर महाराज से साधु दीक्षा की प्रार्थना की।

श्री भगवान की साक्षी से वृषभसेन गणधर के निकट सर्व वस्त्राभरण त्याग नग्न दिगम्बर मुनि होकर तपस्या करता हुआ आनन्द का पान करने लगे। कुछ ही समय में ऋषभदेव के समवशरण मे 71 वे गणधर हो गए व अन्त मे चार घातिया कर्म नाशकर केवलज्ञानी होकर आयु के अन्त मे सर्वकर्मों से छूट मुक्त हो गए तथा सिद्ध सुख के भोक्ता हो गए।

सुलोचना सती जयकुमार के दीक्षा लेने से मछली के समान तडपने लगी। चित्त का धैर्य छूट गया। ह्रदय रुदन के भाव से भर आया। उसी समय भरत चक्रवर्ती की पट्टरानी सुभद्रा ने समझा कर शात किया। वह भी ससार से उदास हो गयी और उसने उसी समय ब्राह्मी आर्यिका को पास जाकर आर्यिका दीक्षा मांगी।

यह ब्राह्मी भी ऋषभदेव की पुत्री है, बाल ब्रह्मचारिणी है। सर्व आर्यिकाओ में मुख्य है। ब्राह्मी ने धर्म मे दृढ़ करके आर्यिका के नियम दिए। सुलोचना ने केशलुञ्चन कर व्रत धारण किये और यह भावना की कि शीघ्र ही कर्मरुपी पिजरे से आत्म पक्षी को छुड़ाना चाहिए। आत्मानंद लेती हुई तपस्या करके देवायु बाध 16 वे स्वर्ग मे जाकर स्त्रीलिग छेद देव हुई अब केवल एक भव लेकर मोक्ष जाना बाकी रह गया।

सती मनोरमा

उज्जैन नगर के एक धनाढ्य जौहरी महीदत्त की पुत्री मनोरमा जब विवाह योग्य हुई तो उसने अपने परिवारिक पुरोहित को बुलाया और एक रत्नजड़ित हार सौंप कर कहा कि जो बारह करोड दीनार के इस बहुमूल्य हार का सही मूल्याकन कर दे, उससे ही मेरी पुत्री मनोरमा का रिश्ता तय कर देना।

अनेक देशों में भ्रमण करता हुआ पुरोहित वैजयंती नगर मे आ पहुँचा। वहाँ सेठ धनपाल को वह हार दिखाया। विनाश काले विपरीत बुद्धि ऐसा अमूल्य हार देखकर धनाढ्य सेठ धनपाल की नीयत खराब हो गयी। उसने किसी बहाने हार बदल दिया और असली हार जैसा ही नकली हार देकर पुरोहित को उसका मूल्यांकन करने मे अपनी असमर्थता व्यक्त कर विदा कर दिया।

वहाँ से निराश होकर पुरोहित सीधा राजा के दरबार में पहुँचा। उस हार को दिखा कर उसका मूल्याँकन जानने की इच्छा व्यक्त की राजा ने नगर के सभी प्रतिष्ठत जौहरियों को बुलाया और हार की कीमत जानने की इच्छा व्यक्त की। एक के बाद एक सभी ने उस हार को परखा और उसकी कीमत कोड़ियों मे बतायी। अब तो पुरोहित के चेहरे पर हवाईयां उड़ने लगी। उसे अहसास हो गया कि वह धनपाल सेठ के यहाँ ही ठगा गया। उसने यह बात दरबार मे बताई। सभी को धनपाल जैसे प्रतिष्ठित जौहरी पर लगे आरोप पर विश्वास नही हुआ। सिवाय एक युवा जौहरी सुखानन्द के। उसने किसी युक्ति से धनपाल के घर से असली हार मगवाकर और उसका सही मूल्यांकन कर सभी को आश्चर्य चकित कर दिया।

राजा ने इस अपराध के लिए धनपाल को दण्ड़ित कर काराग्रह भेज दिया। अब पुरोहित ने भरी सभा के अपने यजमान की इच्छा से अवगत कराते हुए वह हार सुखानन्द के गले में पहनाकर मनोरमा का रिश्ता उससे तय कर दिया। निश्चित शुभ लग्न में दोनों का पाणिग्रहण सस्कार विधिवत् सम्पन्न हो गया। दोनों सुखपूर्वक रहने लगे।

एक दिन सुखानन्द व्यवसाय हेतु विदेश यात्रा जाने का निश्चिय किया। सभी तैयारिया पूर्ण होने पर अपने माता पिता के चरण स्पर्श कर मनोरमा को शीघ्र आने का आश्वासन देकर वह विदेश यात्रा के लिए निकल पडा।

एक दिन वैजयती के राजकुमार की दृष्टि श्री जिनदेव के दर्शनार्थ जिनालय जा रही मनोरमा पर पड़ी। वह काम विह्वल हो उसे पाने के लिए लालायित हो उठा। उसने अपना मनोरथ सिद्ध करने के लिए का उत्तरदायित्व एक चालक दूती को सौंपा, जो इससे पूर्व भी चन्द चांदी के सिक्कों के खातिर कई शीलवती स्त्रियों का शील ड़िगाकर राजकुमार की अंकशायिनी बना चुकी थी।

जब शीलव्रता मनोरमा के समक्ष उस चालाक दूती की सभी चालाकियां धरी रह गई तो उसने बदला लेने के लिए मनोरमा की सास के कान भरने शुरु कर दिए उस चालाक दूती की

बातो ने भोली भाली सास को पूरा विश्वास दिला दिया कि उसकी पुत्र वधु कलंकिनी है, उसके पर पुरुष से अनैतिक सम्बन्ध है। सेठ दम्पति ने मनोरमा को घर से निकाल दिया।

ससुराल से निष्कासित मनोरमा को जब पीहर मे भी आसरा ना मिला तो वह भटकती हुई एक निर्जन वन में पहुच कर मूर्च्छित हो गई। जब शिकार हेतु उस वन में आये बल्लभपुर के युवराज की दृष्टि मनोरमा पर पडी तो उसके अद्‌भुत रुप लावण्य को देखकर उस पर मोहित हो गया उस मूर्च्छित मनोरमा को उठाकर अपने एकान्त महल मे ले गया।

मनोरमा के होश आने पर पहले तो राजकुमार ने अनुनय विनय से उसे पाना चाहा, फिर असहाय अबला पर बल अजमाने लगा तभी एक देव ने आकर शीलवती मनोरमा की रक्षा की और राजकुमर को धराशायी कर उसकी छाती पर पाव रख कर खडा हो गया। भयभीत राजकुमार गिडगिडा कर प्राणों की भीख मांगने लगा। मनोरमा को उसकी यह दशा देख कर दया आ गयी। उसके कहने पर वह देव उसको भी को क्षमादान दे अपने धाम चला गया। अब राजकुमार ने मनोरमा को उसी जगल में पहुँचा दिया जहाँ से वह उसे लाया था।

वन की राह से गुजर रहे एक वणिक सेठ की दृष्टि शिला पर बैठी एक अकेली स्त्री पर पडी तो कारण जानने के लिए उसके कदम स्वयमेव उस ओर बढ़ गए। पास आकर देखा तो वह चौक पडा अरे! मनोरमा - तुम इस हाल मे, अब तो मनोरमा भी अपने काशी वाले धनदत्त मामा को पहिचान चुकी थी।

मामा भाजी के इस सुखद मिलन के बाद जब मनोरमा ने अपने ऊपर लगे कलंकिनी के मिथ्या आरोप के कारण ससुराल से निकले जाने व पीहर में भी आसारा न पाने की सारी व्यथा सुनाई तो धनदत्त को अहसास हो गया कि अगर वह व्यभिचारिणी होती तो यू निर्जन वन मे न भटकती। वह आग्रहपूर्वक मनोरमा को अपने घर ले गया।

इधर मनोरमा अपने मामा के यहाँ रह कर श्री जिनेन्द्र देव की भक्ति व अपने पति की याद मे दिन व्यतीत करने लगी। उधर सुखानन्द व्यवसाय करता हुआ हंसद्वीप नगर मे आ पहुँचा और राजदरबार मे पहुच कर वहाँ के राजा को कीमती रत्न उपहार स्वरुप भेंट कर अपना परिचय जवाहारात के व्यापारी के रुप मे दिया। राजा के मन मे अपनी रानी के लिए कुछ आभूषण खरीदने की इच्छा हुई। उसने आभूषण पसन्द कराने के लिए उसे महल मे रानी के पास भेजा।

अपने समक्ष एक अत्यन्त खूबसूरत व बलिष्ट युवक को खड़ा देखकर रानी की काम वासना जाग्रत हो गयी। उसने कामुक हावभाव से सुखानन्द को आकर्षित करना चाहा। जब सुखानन्द पर इसका कोई प्रभाव नहीं पडा तो कामुक रानी उसका हाथ पकडकर शयन कक्ष मे ले आयी। सुसज्जित शयन कक्षा मे मखमली सेज पर लेटी रानी की कामुक चेष्टाएं व काम क्रीडा का स्पष्ट निमत्रण भी जब सुखानन्द को शीलव्रत से अडिग न कर पाया तो रानी ने बदला लेने के लिए स्वयं अपने अधोवस्त्र फाड़कर चिल्लाना शुरु कर दिया कि इसने मेरे शील हरण की चेष्टा की है। वहाँ के प्रहरियों ने आकर सुखानन्द को बन्दी बना लिया।

राज दरबार में, अपने बचाव में सुखनन्द सिर्फ इतना ही कह पाया कि मैं सर्वथा निर्दोष हूं। राजा को भी लगा कि सामने खड़ा भोला भाला युवक ऐसा जघन्य कृत्य करने का साहस कदापि नहीं कर सकता। उसने रानी की खास दासी का बुलाकर सख्ती से पूछताछ की तो सच्चाई सामने आ गई। राजा ने दुष्चरित्र रानी को देश निकालने का दंड दे सुखानन्द का सम्मान कर विदा कर दिया।

जब सुखानन्द वापिस अपनी मातृभूमि वैजंती नगरी के समीप पहुंच कर एक उद्यान में थोड़ा विश्राम करने के लिए रुका तो वहाँ मिले एक परिचित द्वारा उसे ज्ञात हो गया कि उसके माता पिता ने मनोरमा का कलंकिनी समझकर घर से निकाल दिया तो वह स्तब्ध रह गया। उसे पूरा विश्वास था कि मनोरमा ऐसा कोई भी घृणित कार्य नहीं कर सकती जिसके लिए उसे यह कठोर दंड दिया गया है। वह नगर मे ना जाकर मनोरमा की तलाश में निकल पडा।

मनोरमा की तलाश में भटकते-भटकते सुखानन्द काशी नगरी आ पहुंचा और दीन हीन अवस्था मे एक उद्यान में बैठ कर सुसताने लगा। उसकी यह दशा देखा कर वहाँ की मालिन को उस पर दया आ गयी उसके पास आकर उससे परिचय पूछा। अब सुखानन्द ने उसे अपनी निर्दोष पत्नी पर लगे मिथ्या आरोप, घर से निकाले जाने का तथा उसकी तलाश मे दर-दर भटकने की दुखद कहानी सुनाई जो उस मालिन के लिए अति दुखद थी क्योंकि वह जान गई थी कि सामने बैठा युवक इस उद्यान के स्वामी धनदत्त की भांजी का पति सुखानन्द है। उसने मनोरमा की कुशलक्षेम तथा इसी नगरी मे होने का सुखद समाचार सुनाकर सुखानन्द की खोज पूरी कर दी। उसकी खुशी को कोई ठिकाना नहीं रहा। अब धनदत्त भी यह समाचार सुन कर वहाँ आ पहुचा। और सम्मान सहित सुखानन्द को अपने निवास पर लाया। जहाँ मनोरमा व सुखानन्द का पुर्नमिलन हुआ। घनदत्त के अनुरोध पर उसने कुछ दिनो वही रहने का निश्चय किया।

अब तक सुखानन्द के माता पिता वास्तविकता से परिचित हो अज्ञान वश किये गए अपने निर्णय पर लज्जित थे। उन्हे सुखानन्द के नगर तक आने और मनोरमा की तलाश मे जाने का पता लग चुका था। उन्होने सुखानन्द व मनोरमा को खोजने के अनेक प्रयास किये पर असफल रहने पर किसी दैविक चमत्कार की इन्तजार करने लगे कि कब उसके द्वारा पुत्र दम्पति के आने की दस्तक होगी। काफी इन्तजार के बाद आखिर वह सुखद क्षण आया जब सुखानन्द और मनोरमा ने आकर उनके चरण स्पर्श किये। सेठ दम्पति ने उन्हें गले से लगा कर अपने जघन्य कृत्य के लिए क्षमा मागी।

यद्यपि मनोरमा के सभी दुख दूर हो गए थे, परन्तु उसके हृदय में एक शल्य शेष था कि वह अपने शील पर लगे झूठे कलंक का प्रमाण न दे सकी। तभी नगर मे एक अजीब घटना घटी। नगर को मुख्य द्वार स्वयमेव कीलित हो गया, अनेक प्रयास करने पर भी नहीं खुला इस प्रयास मे सात दिन व्यतीत हो गए, नगर का जीवन अस्त व्यस्त हो गया तथा वहाँ के राजा को

स्वप्न में किसी दैविक शक्ति ने बताया कि किसी शीलवती नारी द्वारा कच्चे सूत के धागे से छलनी में जल खीच कर द्वार पर जल छिडकने से द्वार खुल जायेगा।

प्रात:काल होते ही राजा ने नगर में ढिढोरा पिटवाकर, नगर की सभी स्त्रियों को नगर द्वार आकर, स्वप्नानुसार विधि करने का आदेश दिया। सभी स्त्रियो ने नगर द्वार आकर प्रयास किया पर सभी असफल रही। नगर का मुख्यद्वार नहीं खुला।

जब राजा तक यह समाचार पहुँचा तो उसने आश्चर्य चकित हो अपने मंत्री से पूछा - क्या हमारे नगर में कोई भी शीलवती स्त्री नही है? विद्वान मत्री ने राजा को समझाया - राजन! जो आप सोच रहे है वह सत्य नही है। जैन शास्त्रानुसार शीलव्रत में किन-किन क्रियाओं से दोष लगता है अधिकाश स्त्रियां अनभिज्ञ होने के कारण पूर्ण शीलवती होने के सौभाग्य से वंचित रह जाती है। आप निराश न हो। मुझे ज्ञात हुआ है कि मनोरमा नामक स्त्री अभी तक नहीं आयी। शायद वह इसलिए वहाँ नही गई कि उस पर लगे मिथ्या आरोप से नगरवासी परिचित है। वहाँ आकर उपहास का पात्र बन जाती। मुझे प्रतीत होता है। कि उसके शीलव्रत की परीक्षा व महिमा के लिए ही दैविक शक्ति ने द्वार कीलित किया है। आप उसे सम्मान सहित आमन्त्रित करें नगर का द्वार अवश्य खुल जायेगा।

राजा अपने मत्री की सलाह के अनुसार स्वयं मनोरमा के निवास स्थान पर गया। राजा को वहाँ देख समस्त परिवार हतप्रभ रह गया। राजा ने हाथ जोड़कर मनोरमा से निवेदन किया- पुत्री! सारे नगर मे अब सिर्फ तुम ही शीलव्रत की परीक्षा देने के लिए बाकी रही हो कृपा वहाँ चलकर इस परीक्षा में उत्तीर्ण होकर नगरवासियो को कष्ट मुक्त करो। जब मनोरमा वहाँ आयी तो राजा सहित सारा नगर वहाँ उपस्थित था। जैसे ही मनोरमा ने नवकार मत्र पढ़कर जल छिडकते हुए द्वार को पैर के अगूँठे से धक्का दिया द्वार खुल गया। सारा आकाश मनोरमा की जय-जयकार से गूज रहा था। चारों ओर मनोरमा के शील व्रत की सराहना होने लगी।

सती मनोवती

इस भरतक्षेत्र में एक हस्तिनापुरी नाम का सुन्दर नगर स्वर्गपुरी के समान शोभायुक्त है। यहाँ कामदेव, चक्रवर्ती व तीर्थंकर इन तीनों पदवियों के धारी श्री शान्तिनाथ कुन्थुनाथ, अरहनाथ प्रभु के गर्भ, जन्म तप तथा केवलज्ञान चार चार कल्याणक हुए थे। श्री आदिनाथ मुनिराज को 13 माह के बाद अक्षय तृतीया के दिन राजा श्रेयांस द्वारा इक्षुरस के आहारदान के शुभ प्रसंग का सौभाग्य इसी हस्तिनापुरी को मिला था। 700 मुनियों की विष्णुकुमार मुनिराज ने मुनिपद त्याग कर अपनी विक्रिया ऋद्धि से इसी हस्तिनापुरी नगर में रक्षा की थी। पांच पाण्डवों को वैराग्य प्रदान करने वाली जननी यह हस्तिनापुरी ही तो है और द्रौपदी का चीर बढ़ाकर शीलरक्षणी भी तो यही है। बारह योजन विस्तार वाली पवित्र नगरी हस्तिनापुरी ही है।

इस नगरी में न्याय, नीतिवान, सदधर्म रक्षक एवं पालक, गुणवान, रुपवान, विवेकवान, धीर वीर यशोधर नाम का राजा राज्य करता था। उसका यश चारों ओर फैल रहा था। उसके राज्य में एक महारथ नाम एक सेठ रहता था। वह जिनधर्म का परमभक्त था। वह 52 करोड़ मोहरों का धनी था। उसकी सुन्दर, शीलवती, गुणवती, सुयश की धारणहारी एक महासेना नाम की पत्नी थी। उन दोनो के यहाँ एक पुत्री ने जन्म लिया। उसका नाम मनोवती रखा। वह मनोवती जब नौ वर्ष की हुई तो पिता के मन में उसे योग्य गुरु के निर्देशन में शिक्षा दिलाने का भाव आया। उसके पिता दिगम्बर मुनिराज के दर्शन को ले गए। उन मुनिराज ने निकट भव्य जानकर उसे उपदेश दिया और जिनदर्शन की महिता बतायी। इससे प्रभावित होकर मनोवती ने गजमोती के अर्थ सहित जिनबिम्ब दर्शन की प्रतिज्ञा ली। इस प्रतिज्ञा के साथ उस कन्या ने अपूर्व सम्यग्दर्शन को भी धारण किया जो मोक्षपुरी का प्रथम सोपान है।

योग्य गुरु के निर्देशन से छह मास की अवधि में ही उस भव्य बालिका ने सर्व विद्याएं पढ़ ली। उसके पिता के घर तो गजमोती के भण्डार भरे ही थे। उसके लिए सब भण्डार खुले थे। इस प्रकार वह प्रतिदिन प्रभु के दर्शन व पूजा करती। कुछ समय पश्चात् मनोवती ने सोलहवें वर्ष में प्रवेश किया। पुत्री के यौवन देखकर माता-पिता को उसके विवाह की चिन्ता हुई तो महारथ सेठ ने वल्लभपुर के नगर मे सेठ सोमदत्त सात लड़कों में से जो सबसे छोटा लड़का बुद्धसेन था उसके साथ मनोवती की सगाई पक्की कर दी।

.कुछ समय पश्चात् उन दोनों की शादी हो गयी। वह जब सुसराल गयी तब सासूजी ने कहा कि बहू, सब लोग भोजन कर रहे है तुम भी भोजन कर लो। मनोवती ने देखा यहाँ कहीं भी गजमोती दिखायी नहीं दे रहे है। उसके मन में विचार आया जब तक मै गजमोती का अर्घ मन्दिर जी नहीं चढ़ाऊंगी तब तक भोजन नहीं करूँगी, और वह मौन हो गई। घर के सभी सदस्यों ने कहा, जब तक वह भोजन नहीं करेगी, तब तक घर का कोई सदस्य भोजन नहीं करेगा। इस प्रकार चार दिन बीत गए। उसके ससुर जी ने मायके पत्र भेजा महारथ सेठ ने पत्र पढ़ते ही अपने पुत्र को वल्लभपुर भेज दिया वहाँ पहुँचते ही उसने सेठ को सादर सहित जयजिनेन्द्र कहा और कहा आपने मुझे यहाँ क्यों बुलाया है? वह बताओ। तब सेठ जी बोले - बेटा आज चार दिन

हो गए लेकिन आपकी बहन ने कुछ नही खाया और कुछ बोलती भी नहीं है। इसलिए आप उसकी परेशानी पूछिए और हमें बताइये। जब भाई, मनोवती के पास जाकर पूछता है तब वह कहती है। हे भाई! मैंने मुनिराज से प्रतिज्ञा ली थी कि मैं जब तक गजमोती पुंज भगवान के सामने नही चढ़ाऊँगी तब तक भोजन नहीं करुँगी। वे मुझे यहाँ कही दिखायी नहीं दिए। यह बात सुनकर वह लड़का सेठ जी के पास जाकर कहता है कि सेठ जी चिंता की कोई बात नहीं है। बहिन यहाँ पर शरमा रही है वह हस्तिनापुर जाकर भोजन कर लेगी। सेठ जी बोले कि ऐसा कैसे हो सकता है कि घर में कोई दुःखी हो और हमे उसके दुःख का कारण न मालूम हो, सच सच कहो, क्या बात है तब वह सारी बात बता देता है।

सेठ जी कहते है बस इतनी सी बात है लो मैं अभी भण्डार खोल देता हूँ। इस प्रकार मनोरमा ने भक्ति भाव से गजमोती चढ़ाकर भोजन किया और भाई के साथ मायके चली गयी। इधर माली ने जब देखा कि अरे आज तो पुण्य का उदय आया है। किस राजा या सेठ ने ये मोती चढ़ाये होगें? वह मोती लेकर घर जाता है और मालिन को दिखाता है। मालिन कहती है कि ये चमेली के फूल में गूंथ कर रानी को भेंट कर दो, नहीं तो राजा को मालूम पड़ गया तो दण्ड मिलेगा और हार भी हाथ से चला जायेगा। वह माला ले जाकर छोटी रानी को पहना देती है उसे पहनाते वक्त बड़ी रानी की दासी देख रही थी। वह बड़ी रानी से और बढ़ा चढ़ा कर कहती है कि रानी आपके साथ मालिन ने भेदभाव किया है। छोटी रानी को माला दी, आपका क्यो नही दी? यह सुनकर बड़ी रानी को क्रोध आता है और वह सवेरे श्रृंगार छोड़कर अन्न जले का त्याग करके बैठ जाती है। जब राजा आकर रानी का ये हाल देखता है तो पूछता है क्या बात है? ऐसा वेष क्यो बना रखा है? जो कुछ भी तुम्हारे मन में हो वह सच सच कहो। रानी ने सारी बात बता दी। राजा कहता है बस इतनी सी बात है मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ तुम्हारे लिए एक अच्छी सी गजमोती की माला बनवाऊँगा। राजा ने मंत्री से कहा, कि नगर मे जितने भी जौहरी है। उन सब को बुलाकर लाओ। सब जौहरी राजदरबार मे आये राजा ने कहा जिस जौहरी के पास गज-मोती हो वह लाकर दे दे नही तो प्राण दण्ड मिलेगा। कोई भी कुछ भी नही बोला, तब उसने सब जौहरियों को विदा किया।

जब सोमदत्त घर आया तो चिन्ता करने लगा। उसने अपने छहों पुत्रों को बुलाया और सच्ची बात बता दी। पुत्रो ने कहा पिताजी अब एक ही उपाय है कि बुद्धसेन को घर से निकाल दो जिससे उसकी पत्नि भी उसके साथ चली जाएगी। फिर हम पर कोई आपति नही आएगी और उसने बड़े पुत्र की बात मान ली। बड़ा पुत्र कहता है कि पिता जी यह पत्र लो और लिख दो कि बुद्धसेन घर मे न आवे, वह दूर विदेश मे चला जाए। पत्र लिखते समय सोमदत्त की आखो मे आसू आगए और हाथ कापने लगे तब बड़ा पुत्र पत्र छीनकर लिख देता है कि भाई बुद्धसेन, पिता की आज्ञा से आपको देश निकाला दिया जा रहा है। वह पत्र दरवाजे पर लटका दिया। तब बुद्धसेन आया और पत्र पढ़ता है तो वह विचार मे पड़ गया। अरे! यह क्या हुआ? मैं यदि पिता जी की आज्ञा का पालन न करुं तो मेरा जीवन धिक्कार है इस प्रकार वह वापस वहाँ से चला गया।

प्रथम वह पचपरमेष्ठी भगवान का स्मरण करके ससार के स्वरुप का चितंवन करने लगा और कहता है कि मैं परदेस जाकर धन कमाऊंगा और सुख से रहूंगा। इस प्रकार विचार करने के बाद कुंवर को अपनी स्त्री की याद आती है और मन में कहता है कि जब वह सुनेगी तो प्राण त्याग देगी इसलिये उसे बताकर जाना चाहिए। कुंवर अकेले ही हस्तिनापुर के लिए पैदल चल दिए। वल्लभपुर से चल कर कुंवर हस्तिनापुर पहुंचे और ससुराल के बगीचे में विश्राम करते करते सो गए। जब मालिन ने देखा कि अरे! यह तो सेठ जी के दामाद है अपने माली को बताती है, तब माली तुरन्त सेठ जी को बताते है। सेठ जी विचार करते है ऐसा कौन सा कारण होगा कि करोड़ो के स्वामी का पुत्र बिना सूचना दिए ससुराल में आया। उसके बाद सेठ जी बगीचे में गए और अपने दामाद को जगाकर रथ में बैठाकर महल मे लाते हैं वहाँ सब से कह दिया कि कुवर से कोई कुछ न पूछे जिससे कुंवर का अपमान हो। रात में मनोवती कुवर के पास जाती है और पूछती है कि हे स्वामी! ऐसी क्या विपत्ति आ पड़ी जो आप यहाँ अचानक आये। तब कुमार कहते है कि मेरे छह भाई कमाते है मैं कमाता नहीं इसलिये मुझे घर से निकाल दिया है। अब मै परदेस मे जाकर धन कमाऊँगा। तुम यहीं पर रहना, बाद में तुमको भी ले जाऊँगा। जब मनोवती बोली अगर पत्नी पति के दु:ख मे दु:खी और सुख में सुखी न हो तो वह पत्नि नही और हठपूर्वक कहती है कि आप कुछ न कहो, मै आपके साथ जाकर ही रहूंगी। अगर नही ले गए तो प्राण त्याग दूंगी। तब बुद्धसेन कहता है कि अगर तुम हमारे साथ जाना चाहती हो तो सब आभूषणो को यही उतारना होगा क्योंकि तुम्हें ले जाने के बाद लोग यह न कहे कि ठगने आया था। मनोवती ने सब आभूषण उतार दिए और आधी रात को पति के साथ चल दी। चार दिन मे वे रत्नपुर नामक नगर पहुचे। चार दिन तक मनोवती ने कुछ नहीं खाया क्योंकि वहाँ प्रतिज्ञा के अनुसार कुछ नही था। रत्नपुर के बगीचे में दोनों आकर बैठ गए। उसी बगीचे में मनोवती अपने बाल सुखा रही थी तब बालो में से उत्तम नग निकला। वह नग को पति के पास ले जाकर कहती है पति देव यह नग गलती से मेरे बालों में लगा रहा गया था, लो आप कुछ भोजन सामग्री खरीद लाओ। पति सामान जब लेकर आया तो उसने भोजन तैयार किया पर स्वय नही खाया पति को खिलाया और जो बचा वह याचकजनो को दे दिया और भगवान के गुणो का चितवन करने लगी और पति से कहा कि आप जाइए और कुछ धन्धा वगैरह करके धन कमाकर लाइये।

मनोवती प्रतिदिन भोजन बनाती और पति को खिला देती, स्वय नही खाती। इस प्रकार सात दिन तक उसने भोजन नहीं किया। इस कारण मनोवती के प्राण सूखने लगे। ''धन्य जन्मता को अवतार, धन्य प्रतिज्ञा पालन हार।'' यह तो कथा यहाँ ही रही आगे और सुनो ले भई।

जब मनोवती अकेली पंच परमेष्ठी का चिंतवन कर रही थी तभी उसका पैर एक पत्थर की शिला से टकराया। जब शिला उठाई तो उसके नीचे जिन मन्दिर निकला। मनोवती ने मन्दिर में पूजा की, गजमोतियों के वहाँ ढ़ेर लगे थे। गजमोती चढ़ाये तब उसने मन्दिर के बाहर पैर रखा, तब उसे दो रत्न दिखायी दिए। एक नर दूसरा मादा। उसने दोनों रत्न लिए और बगीचे में जाकर

बैठ गयी और पति से बोली हे स्वामी! मुझे बहुत तेज प्यास लगी है इसलिये नगरी में जाकर कुछ भोजन की व्यवस्था करे। तब उसने व्यवस्था की, तब कहीं जाकर मनोवती ने आठवें दिन पारणा की। इस प्रकार मनोवती को जिन दर्शन को फल मिला। मनोवती प्रतिदिन भगवान की पूजा करती रही। इधर हस्तिनापुर मे जब सेठ जी का पूरा परिवार जागा तो देखते हैं कि पंलग पर आभूषण पड़े है और पुत्री दामाद भी नहीं है तब सब रुदन करने लगे और परिवार मे उदासीनता छा जाती है।

रत्नपुर के बगीचे मे मनोवती बैठी है और पति से कहती है कि हे नाथ! आप चार दिन से रोज नगरी मे जाते है किन्तु कोई व्यापार धन्धा नही करते, क्या बात है। बुद्धसेन बोले - देवी! मेरे अशुभ कर्म के उदय के कारण कोई काम नहीं मिलता। मनोवती कहती है कि मैंने आप से हस्तिनापुर में रहने को कहा था पर आप नही माने, परन्तु अब मन से सभी चिन्ताएं छोड़ दो, जो मै कहती हूं वह करे। ऐसा कहकर नर-मादा के रत्न जोड़ी मे से एक रत्न देकर कहा कि ये राजा को भेट कर आओ, इसके बदले मे राजा आपको इनाम देगा। कुमार रत्न को जाकर राजा को दे देता है। उससे प्रसन्न होकर राजा ने उसे रहने के लिए हवेली दे दी। और वह रत्न भडारी को यह कह कर दे दिया कि सुरक्षा से रखना। जब अर्द्धरात्रि हो गई, तब वह रत्न वापस मनोवती के पास ही आ गया। इसी प्रकार सुबह मनोवती ने कुमार को फिर रत्न दिया। कुमार रत्न लेकर जाता है और राजा को भेट कर देता है। राजा भडारी से कहता है कि भडारी कल वाला रत्न लाओ जोड़ी बन जायेगी। जब भडारी रत्न लेने गया तब वहाँ रत्न नहीं मिला। राजा कहता है मेरे महल मे इतना कड़ा पहरा है कि कोई चोर नहीं आ सकता। अवश्य ही तूने इस रत्न को चुराया तुझे फाँसी की सजा दी जाती है। तब कुमार कहता है कि हे राजन्! इसको क्षमा कर दो, मै कल इसकी जोड़ी कर रत्न लाकर दूँगा। इस प्रकार कुमार ने भडारी की रक्षा की। सारी सभा कुमार को धन्य-धन्य कहने लगी।

बुद्धसेन घर जाता है और सारी बात मनोवती से बता देता है और कहता है कि वह दूसरा रत्न भी दे दो। सुबह वह दोनो रत्न बुद्धसेन को दे देती है बुद्धसेन ने राजदरबार मे जाकर राजा को एक रत्न दे लिया, राजा ने भंडारी से दूसरा रत्न लाने के लिए कहा। जब भण्डारी रत्न लेने भडार मे गया तब वहाँ उसे नही दिखा। वह ड़र गया और डरते डरते राजा से कहता है कि राजन् आज भी चोर रत्न को चुरा ले गया। राजा क्रोधित हो गया और कहता है कि यह सिद्ध हो गया कि तूने ही दोनो रत्न चुराये है इस प्रकार राजा ने आदेश दिया कि इसका सारा धन लूट लो और फासी पर चढ़ा दो। तब कुमार कहता है ठहरो पहले मेरी बात सुनो, ये दो रत्न एक नर, दूसरा मादा है ये अर्द्धरात्रि मे अलग अलग नही रह सकते है ये हजारो कोस होने पर भी उठ कर आ जाते है इसमे भण्डारी की कोई गलती नही है इस प्रकार कुमार ने वे दोनो रत्न राजा को दे दिए। राजा ने कुमार से प्रसन्न होकर कहा कि मै तुम्हारे साथ अपनी पुत्री का विवाह करूँगा। कुमार ने घर आकर मनोवती से सारी बात बता दी। मनोवती कहती है कि तुम राजा के दामाद बन जाओ, लेकिन मुझे मत भूल जाना। इस प्रकार कुमार का विवाह हुआ और वह राजकुमारी के साथ इतना आसक्त हो गया कि मनोवती को भी भूल गया।

कई दिन बीतने पर कुमार मनोवती के पास जाता है तब मनोवती कहती है जिस प्रकार आप हमें भूलगए, उस प्रकार धर्म को मत, भूल जाना। कुमार शर्मिन्दा हो कर कहता है कि हे देवी! मुझे क्षमा कर दो और कहता है कि आपकी जो इच्छा हो सो कहो। मनोवती कहती है मेरी इच्छा ही क्या है एक जिन मन्दिर बनवाया जाए। कुमार राजा से जाकर कहता है कि हे राजन् मेरी पत्नि की इच्छा है कि यहाँ पर एक मन्दिर बनवाया जाए।

राजा ने कहा, यह तो अच्छी बात है जितना भी धन चाहो ले लो और मन्दिर बनवाओं। मन्दिर बनवाना शुरु हुआ। वहाँ पर कुमार का हुक्म था कि जितने भी कारीगर हो सब को बुलाओ। किसी भी कारीगर को लौटाया न जाये। सबको प्रतिदिन दो पैसे देना। इधर बुद्धसेन के माता-पिता भाई भाभी सभी जिनधर्म की निन्दा करने से कंगाल हो गए और भीख मांगकर पेट भरने लगे। भीख मांगते-मांगते वे उसी नगर में आये। वहाँ उन्हें एक सज्जन मिला। वह कहता है कि आप लोग तो ऊचे घर के जान पड़ते है। आपको भीख मांगना शोभा नहीं देता। तब वह कहता है कि यहाँ के राजा का दामाद मन्दिर बनवा रहा है, चलो मैं तुमको वहाँ तक छोड़ देता है । वहाँ आपको पेट भरने के लिए काम मिल जायेगा। वहाँ उन्हें ले जाकर कुंवर से कहता है कुंवर जी यहाँ पर चौदह परदेसी आये है उन्हें काम पर लगा लो। जब कुमार उन्हें देखता है तो पहचान लेता है लेकिन वे लोग कुमार को नहीं पहचान पाते। कुमार यह बात मनोवती को बताता है। तब मनोवती कहती है उन्हें महल में लो आओ। कुमार कहता है इन लोगो ने हमे घर से निकाला था। हम इनसे बहुत काम करवायेगें तब इनको बतलायेगे। कुमार को मनोवती ने बहुत समझाया लेकिन कुमार नहीं माने। तब मनोवती कहती है कि कुमार सुनो, भाई भाभियो से काम करवाना, लेकिन अपने माता-पिता से काम नहीं करवाना। उन्हें बैठे-बैठे ही वेतन देना। कुवर ने यह बात मान ली और वहाँ से चला गया। मनोवती ने चुपचाप मुनीम को बुलाकर सच्चाई बता दी और कहा कि इन्होंने यथा योग्य काम सौप दिया। एक दिन मनोवती ने कुमार से कहा! कुमार मैं यहाँ अकेली रहती हूँ मुझे सखी की जरुरत है इसलिये तुम अपनी माता को यहाँ बुला दो। यह सुनकर कुमार ने माता को उसके पास भेज दिया।

मनोवती माता के सभी परिवारजनो के लिए चुपचाप भोजन सामग्री भेज दिया करती थी। एक दिन मनोवती ने मां से कहा कि तुम हमारे बाल गूंथ दो। जब वह बाल गूंथ रही थी, तब उसको सिर मे एक चिन्ह दिखाई दिया। वह सोचने लगी कि ऐसा चिन्ह तो मेरी बहू के भी था और रोने लगी। तब मनोवती कहती है कि आप रो क्यों रही है? तब वह कहती है जैसा चिन्ह तुम्हारे सिर पर है वैसा ही चिन्ह मेरी बहू के सिर पर भी था। यह बात सुनकर मनोवती का मन भर आया परन्तु अपनी पहिचान बताये बिना ही उससे मनोवती ने कहा, क्या मुझे अपनी पुत्रवधु बनाना चाहती हो, यह कहकर वह कहती है चली जाओ यहाँ से, तब वह अपने छह बेटो के पास जाती है और वह बात बताती है। तब वे कहते है तू हमारी रोजी छुड़वायेगी क्या और कष्ट सहने हैं? जब मनोवती को पता चलता है तब कुमार से कहती है क्या आपको शर्म नहीं आती। क्या मेरी कुछ नहीं चलेगी। मैं सबको यह बात बता दूंगी, जिससे तुम्हारी बहुत निन्दा

होगी। जब कुमार ने देखा कि अब यह नही मानेगी। तब वह उन्हें यही बुला लेता है और सब कुछ बता देता है सब प्रसन्न हो जाते हैं। तब वह उन लोगों से कहता है कि यहाँ से धन ले लो और कुछ दिन बाद ठाटबाट से आना। तब हमारी ही नहीं वरन् अपने कुल की इज्जत बनी रहेगी। इस प्रकार वे चले जाते है।

तब कुछ दिनो बाद बुद्धसेन राजा से कहता है कि मेरे भाई यहाँ आ रहे है तब राजा उनका बहुत सम्मान करता है फिर मन्दिर मे पचकल्याणक होते है और धूमधाम से रथ यात्रा निकलती है। बहुत से लोगो ने प्रभावित होकर धर्म अपनाया। उसके बाद कुमार बल्लभपुर पहुंच जाते है और सुखपूर्वक रहने लगते है। उनके भाग्य उदय से एक दिन मुनिराज आहार के लिए आते वे मुनिराज वही थे जिनके द्वारा मनोवती ने दर्शन प्रतिज्ञा ली थी। मनोवती ने उन्हें पड़गाहन किया और भक्तिपूर्वक आहार दिया। बुद्धसेन ने भी आशीर्वाद प्राप्त किया।

इस कथा से हमे शिक्षा मिलती है कि हमे जिनदर्शन प्रतिदिन करना चाहिये और कोई नियम लेकर मनोवती की तरह पालना चाहिये। कितना भी कष्ट पड़े उसे छोड़ना नहीं चाहिए।

श्रीपाल एवं मैनासुन्दरी

श्री सिद्धचक्र विधान के पवित्र गंधोदक को नवकार मंत्र का स्मरण कर अपने कोढ़ी पति व उसके सात सौ साथियों पर छिडक कर मैनासुन्दरी ने उनका कुष्ट दूर कर दिया था।

इस दुखद कहानी का जन्म उस समय हुआ जब उज्जैन नगर के राजा पहुपाल ने अपनी छोटी पुत्री मैनासुन्दरी से उसकी मन पसन्द वर के बारे मे पूछा। लज्जावश मैनासुन्दरी इतना ही कह पायी कि आप जिससे मेरा विवाह कर देगें मुझे वही वर स्वीकार होगा।

यदि तेरा विवाह मैं एक गरीब इन्सान से कर दू तो क्या तुझे स्वीकार होगा। राजा के इस प्रश्न पर राजकुमारी ने उत्तर दिया- अवश्य। यदि मेरे भाग्य मे राजकुमार ही लिखा है। वह गरीब इन्सान भी राजकुमार बन जायेगा। यदि गरीब लिखा तो एक राजकुमार भी कंगाल हो जाएगा।''

मैनासुन्दरी की बात सुन कर पहुपाल ने क्रोधित होकर कहा मेरे कारण ही तू सम्पूर्ण सुखों को भोग रही। इसमें भाग्य ने क्या किया। मैनासुन्दरी ने जवाब दिया - ये सुख मेरे भाग्य मे लिखे थे इसलिए मैं आपके घर जन्म लेकर भोग रही हू। यह सुन कर राजा का क्रोध और भी भड़क गया और उसने पुत्री के भाग्य की परीक्षा लेने की ठान ली।

एक दिन सपरिवार वन विहार के लिए जाते हुए राजा ने नगर से बाहर कुछ कोढ़ियों को देखा। राजा को देख कर उनके सरदार ने आगे बढ़कर उनका अभिवादन किया।

तभी राजा ने राजकुमारी से पूछा - यदि मैं तेरा विवाह इस कोढ़ी से कर दू तो इसमें मेरा तो कोई दोष नही होगा। दोष तो मेरे भाग्य का होगा। यदि मेरे भाग्य में राजकुमार ही लिखा तो यह कोढ़ी भी निरोगी हो राज कुमार बन जायेगा। मैनासुन्दरी के इन शब्दों ने जले पर नमक छिडक दिया। सबको समझने बुझाने पर भी राजा ने अपनी हठ न छोड़ी और मैनासुन्दरी का विवाह श्रीपाल नामक उस कोढ़ी से कर दिया। कुछ ही दिनो बाद एक दिगम्बर मुनि के कहे अनुसार मैनासुन्दरी ने आठ दिन तक श्री सिद्धचक्र विधान किया और उसके गंधोदक को नवकार मत्र का स्मरण करते हुए श्रीपाल व उसके सात सौ साथियो पर छिडका। कुछ ही दिनों मे उन सबका शरीर निरोग हो गया।

श्रीपाल वास्तव मे चपापुर का राजा था। पूर्वभव में दिगम्बर मुनि की निन्दा करने के कारण इस भव मे उसे और उसके सात सौ साथियो को यह कुष्ट रोग हुआ था। जहाँ मैनासुन्दरी जैसी महान सती को वरण करने के साथ ही कुष्ट रोग से भी मुक्त हो गया। नगर के बाहर वे सभी सुखपूर्वक रहने लगे। अब तक श्रीपाल की माँ रानी कुदप्रभा भी पुत्र के खोजती हुई वहाँ आ गई।

श्रीपाल का ज्ञात हो गया कि अब चाचा वीरदमन आसानी से राज्य वापिस नहीं देगा। इस लिए धन कमाने के लिए उसने विदेश यात्रा का निर्णय लिया और मैनासुन्दरी से ठीक 12 वर्ष बाद अष्टमी के दिन तक लौट आने का वायदा कर, यात्रा पर निकल पड़ा।

चलते-चलते श्रीपाल एक समुन्द्र के तट पर आया जहाँ एक सेठ का जलयान समुद्र में फसा हुआ था। सेठ के सैनिक श्रीपाल को पकड़ कर उसके पास ले गए क्योंकि किसी ने बताया था कि बलि देने से जहाज चल पडेगे। श्रीपाल ने उन्हे समझाया कि जहाज बल से नही शक्ति से चलेगा और नवकार मत्र पढ़ कर उसने जहाज को धकेला, वो जहाज चल पड़ा होकर धवल सेठ ने उसे अपन धर्मपुत्र बना लिया और व्यापार मे लाभ का दसवा भाग देने का वायदा कर अपने साथ चलने को तैयार कर लिया अभी कुछ ही दूर चला होगा कि समुद्री डाकूओं ने जहाज पर हमला कर दिया। श्रीपाल ने बहादुरी से मुकाबला कर सेठ की रक्षा की और डाकूओं को भगा दिया।

चलते-चलते उनका जलयान एक हसद्वीप के तट पर आ कर रुका। श्रीपाल श्री जिनेन्द्र देव के दर्शन करने के लिए जब नगर पहुँचा तो उसका दृष्टि एक जिनालय पर पड़ी जिसके द्वार बंद थे। कारण पूछने पर किसी ने बताया कि यह द्वार देवताओं द्वारा कीलित है। श्रीपाल उस द्वार के पास आया और नवकार मंत्र का स्मरण करते हुए द्वार पर धक्का लगा दिया तो द्वार खुल गया। वह अन्दर जाकर भक्तिभाव से जिनेन्द्रदेव की पूजा-अर्चना करके जब बाहर

आया तो वहाँ के राजा कनककेतु को सभा सहित खडे पाया। राजा ने आगे बढ़ कर श्रीपाल को गले मे लगा लिया और बताया कि एक अवधिज्ञानी मुनि ने मुझे बताया था कि जो युवक इस मन्दिर के द्वार खोल देगा वही मेरी पुत्री रयनमंजूषा का पति होगा। मुनिराज की भविष्यवाणी के समक्ष शीश नवाकर, विवश हो श्रीपाल को रयनमजूषा से विवाह करना पडा।

रयनमजूषा को लेकर वह पुनः जहाज पर आया और अपने धर्मपिता धवल सेठ के सपत्नीक चरण छूकर रयनमजूषा का परिचय अपनी पत्नी के रुप मे दिया, धवल सेठ ने दोनो को आशीर्वाद दिया। दोनो अपने कक्ष में आ गए।

रयनमजूषा के रुप लावण्य ने धवल सेठ को कामाविह्वल कर दिया उसने उसे पाने के लिए अपने साथियो से विचार विमर्श करके श्रीपाल को अपने रास्ते से हटाने के लिए एक भयानक योजना बना ली। रात्रि का समय था खेवटो को छोड़कर सभी अपने-अपने स्थान पर विश्राम कर रहे थे। जहाज धीरे-धीरे आगे बढ़ रहा था तभी नाविको के घबराये तीव्र स्वर ने सबको चोंका दिया।

सावधान! भारी तूफान आने वाला है - नाविको के इस घबराये हुए स्वर को सुनकर श्रीपाल शीघ्रता से ऊपर आया और जहाज के मस्तूल पर चढ़कर दूर-दूर देखने लगा। योजनानुसार मस्तूल का रस्सा काट दिया गया और श्रीपाल समुद्र के अथाह जल मे विलीन हो गया।

धवल सेठ की राह का काटा दूर हो गया तो वह रयनमजूषा के कक्ष मे आया और उसे पहले प्यार दुलार से मनाने का प्रयास किया ना मानने पर बलात्कार करने को तैयार हो गया। रयनमजूषा अपने शील की रक्षा के लिए अपने भगवान से प्रार्थना करने लगी। तभी चक्रेश्वरी देवी ने प्रकट होकर कामी सेठ को मार लगाई। सेठ को जान के लाले पड़गए। वह गिडगिड़ा कर देवी से क्षमा मागने लगा। रयनमजूषा को उस पर दया आ गयी और उसने देवी से उसे क्षमादान देने की प्रार्थना की। देवी ने सेठ को चेतावनी देकर छोड दिया और रयनमजूषा से कहा अतिशीघ्र ही तुम्हारा अपने पति से पुर्नमिलन होगा। अर्न्तध्यान हो गयी। नवकार के महात्म्य से श्रीपाल अपने बाहुबल से समुन्द्र का सीना चीरते हुए कुकम नगर के तट पर पहुच गया। वहाँ के तटरक्षको ने उसका यथोचित आदर सत्कार कर नम्र निवेदन किया हे अतुल्य बलधारी। आपको हमारे साथ यहाँ के राजा के पास चलना होगा। ये राजाज्ञा है।

श्रीपाल राजा के समक्ष पहुचा राजा बहुत हर्षित हुआ और हाथ जोडकर निवेदन किया- हे भद्र पुरुष। एक अवधिज्ञानी मुनि ने बताया था कि जो पुरुष समुद्र तैर कर आयेगा। वही मेरी पुत्री का पति होगा। आप मेरी पुत्री गुणमाला को स्वीकार कर मुझे अनुगृहित करे। श्रीपाल को गुणमाला का वरण कर राजा के आग्रह पर कुछ दिन वही रुकने के लिए विवश होना पडा।

कुछ दिन बाद ही धवल सेठ का जलयान उसी नगर के समुद्र तट पर लगा। वाणिज्य हेतु नगर मे भ्रमण करते समय धवल सेठ की दृष्टि राजसी ठाटबाट व सुसज्जित रथ पर बैठे वहाँ से गुजर रहे श्रीपाल पर पड़ी तो वह चौक गया। ये ज्ञात होते ही कि श्रीपाल यहाँ के राजा का दामाद है वह घबरा कर उल्टेपांव जलयान पर लौट आया। उसने अपने विश्वस्त साथियो के साथ मिलकर एक योजना बनाई जिसके अनुसार नीची जाति के लोगो को राजदरबार मे भेजकर श्रीपाल को अपना पुत्र व सम्बन्धी घोषित करना था। जब श्रीपाल राजा के समक्ष अपना वास्तविक परिचय सिद्ध करने का कोई प्रमाण नही दे पायेगा तो राजा अवश्य ही क्रोधित हो उसे मृत्यु दड देगा।

एक अच्छी खासी रकम के बदले एक भाड मडली यह सब करने को तैयार हो गयी और राज दरबार में जाकर वैसा ही नाटक किया जैसा बताया गया था। राजा को एक नीची जाति वाले व्यक्ति को दामाद बनाने के अपने निर्णय पर अत्यन्त क्षोभ हुआ और उसने क्रोधित हो सूर्योदय होते ही श्रीपाल का सूली पर चढ़ाने का आदेश दे दिया।

इधर जलयान तक ये समाचार पहुचा तो धवल सेठ जश्न मनाने लगे। उधर रोती बिलखती गुणमाला श्रीपाल के पास कैदखाने मे आयी। श्रीपाल ने उसे वास्तविकता बताई - ये मुझे मरवाने के लिए किया गया षड्यत्र है। प्रतीत होता है सेठ का जलयान यहाँ आया है। सेठ को मरे जीवित होने का समाचार मिल गया है। पहला प्रयास विफल होने पर उसने ये षड्यत्र रचा है। उसके ही जलयान मे रयनमजूषा नामक स्त्री वास्तविकता पर पड़े पर्दे को उठाकर मुझे निर्दोष साबित कर सकती है। गुणमाला को आश की एक किरन नजर आयी। वह वेष बदलकर किसी तरह जलयान पर पहुच कर रयनमजूषा तक पहुचने मे सफल हो गई। जब उसने अपना परिचय देकर सारी कथा सुनाई और अपने साथ चल कर श्रीपाल की वास्तविकता का प्रमाण देने को विनय की तो रयनमजूषा सहर्ष तत्पर हो गई। दोनो छिपते-छिपाते जलयान से सुरक्षित बाहर आकर सीधी राजमहल मे जा पहुची जहाँ अपना परिचय देते हुए रयनमजूषा ने अपनी आप बीती सुनाई तो राजा की बुद्धि पर पड़ा झूठ का पर्दा स्वयमेव हट गया। राजा तुरन्त ही दोनो के साथ बदीगृह मे गया और श्रीपाल को मुक्त कर क्षमा मांगी।

जब क्रोधित राजा ने धवल सेठ को गिरफ्तार करने का आदेश दिया तब श्रीपाल ने यह कहकर रुकवा दिया कि मै उन्हें धर्मपिता कह चुका हू। उसकी इस भावना से प्रभावित हो राजा ने अपना निर्णय तो बदल दिया पर धवल सेठ के पाप कर्मो ने ही श्रीपाल की रिहाई की खबर सुनते ही उसके प्राण पखेरु उड़ गए।

कुछ दिन अपनी दोनो रानियो सहित वहाँ सुखपूर्वक दिन व्यतीत करने के बाद श्रीपाल ने वापिस उज्जैन नगरी के लिए प्रस्थान करने का निश्चय किया। राजा ने अपार धन दौलत देकर उन्हे विदाई दी। उज्जैन पहुचकर जब श्रीपाल ने महल में प्रवेश किया तो 12 वर्ष पूर्ण होने मे कुछ ही क्षण शेष थे। पिया मिलन की आशा से निराश मैनासुन्दरी अपनी प्रतिज्ञानुसार दीक्षा ग्रहण करने के लिए पूरे होने वाले क्षणों का इन्तजार कर रही थी तभी श्रीपाल ने उसके सम्मुख आकर अपना वचन पूरा कर दिया। मैनासुन्दरी को अपना निर्णय बदलना पड़ा। 12 वर्ष बाद दोनो का

पुनः मिलन हुआ। श्रीपाल ने रयनमजूषा और गुणमाला को बुलाकर सबका परस्पर परिचय कराया। राजमाता कुदप्रभा ने आकर सभी पुत्रवधुओं को सस्नेह आशीर्वाद दिया।

मैनासुन्दरी के हृदय मे एक शल्य शेष थी कि वह अपने पिताश्री को अब तक प्रमाण नही दे पाई कि कर्म (पुरुषार्थ) से भाग्य बड़ा है अपने पूर्वभव के किये कर्मों के अनुसार ही प्राणी अगले भव मे सुख-दुख प्राप्त करता है। कर्म (पुरुषार्थ) की सार्मथ्य भी जीव को पूर्वभव के के लिए शुभकर्म के कारण ही प्राप्त होती है।

मैनासुन्दरी के आग्रह पर श्रीपाल ने न चाहते हुए भी राजा पहुपाल के पास एक दूत भेजना पडा। जिसने वहाँ जाकर अपने राजा को आदेश सुनाया- हे महाराज! एक पराक्रमी कोटिभट्ट राजा अनेक राजाओ को अपने वश मे करता हुआ यहाँ आया है। या तो एक लगोटी पहिन कर, कम्बल ओढ़े हुए शीश पर लकडी बोझ, कधे पर कुल्हाड़ी रख कर उनसे अति शीघ्रता से मिलो वरना युद्ध भूमि मे आकर मिट्टी मे मिलने के लिए तैयार हो जाओ।

राजा पहुपाल को क्रोध तो बहुत आया पर जब मन्त्रियो ने उन्हें समझाया कि मिट्टी मे मिल जाने की अपेक्षा पहला मार्ग चुनना ही श्रेयकर है तो विवश हो राजा ऐसा करने के लिए तैयार हो गया। जब दूत ने जाकर श्रीपाल को बताया कि राजा उसी वेशभूषा मे मिलने को तैयार है। तो श्रीपाल ने पुनः उसी दूत द्वारा अपना सदेश भेजा- राजन! आप चिंतित व भयभीत न हो। एक राजा दूसरे राजा का सम्मान करता है आप मुझे राजसी वेशभूषा मे ही मिले। ये सुनकर राजा की जान मे जान आयी। वह श्रीपाल से मिलने के लिए सभासदो सहित चल पडे।

जब राजा पहुपाल वहाँ पहुचा तो उसने अपने स्वागत के लिए श्रीपाल और मैनासुन्दरी को खड़े पाया। जब दोनो उसके चरण स्पर्श करने झुके तो राजा ने उन्हे बीच में ही रोककर अपने गले से लगा लिया। अब उसे भाग्य पर विश्वास हो गया था, क्योकि मैनासुन्दरी भाग्य की परीक्षा मे उत्तीर्ण हो गयी थी।

इस घटना के कुछ दिन बाद अपना राज्य वापिस लेने के लिए श्रीपाल एक विशाल सेना लेकर चपापुर रवाना हुआ और वहाँ पहुच कर एक दूत द्वारा चाचा को सदेश भिजवाया या तो राज्य वापिस कर दो वरना युद्ध के लिए तैयार हो जाओ। अहकारी राजा ने सत्तामद मे युद्ध का रास्ता चुना। दोनो सेनाओ मे परस्पर युद्ध होने लगा। वीरदमन के दमन चक्र से त्राहि-त्राहि कर रही प्रजा ने परोक्ष रुप से श्रीपाल का साथ दिया। श्रीपाल विजयी हुआ। जब हथकड़ी बेडियो में जकड़े वीरदमन को उसके समक्ष लाया गया तो सहृदय श्रीपाल ने स्वय उसे बधन मुक्त कर क्षमा दान दे दिया। लज्जित वीरदमन ने अपने पापो का प्रायश्चित करने के लिए मुनि दीक्षा धारण कर ली।

श्रीपाल को अपना राज्य वापिस मिल गया और चम्पापुर की प्रजा को एक नेक राजा मिल गया। सभी सुख पूर्वक रहने लगे।

श्रेणिक व चेलना रानी

'राजन! यह कन्या आपको मिल तो सकती थी परन्तु राजा चेटक का प्रण है कि वह सिवाय जैन कुल के अपनी कन्या अजैन को नहीं देगा। राजा चेटक जैनधर्म का कट्टर अनुयायी है और आप बौद्धधर्म के, इसलिए यह सम्बन्ध होना असंभव प्रतीत होता है।

चित्रकार के शब्द सुनकर राजा श्रेणिक चिन्तित हो गया। चेलना के सामीप्य के बिना उसे अपना जीवन निरर्थक प्रतीत होने लगा। राजकाज से रुचि हट गई। जब युवराज अभयकुमार को अपने पिता की इस दशा का पता चला तो वह राजा श्रेणिक के पास आया। राजा से नम्रतापूर्वक निवेदन किया - पिताश्री! मै आपका चित्त चिंता मे देखकर अति व्यथित हू। कृपया अपनी चिता का कारण मुझे बताये। मैं यथा साहस उसे दूर करने का प्रयास करुँगा। अभयकुमार के ऐसे विनय भरे वचन सुनकर राजा ने उसे कुछ भी जवाब नहीं दिया। जब युवराज ने पुनः विशेष आग्रह किया तो उन्हे बताना ही पड़ा कि जब से चित्रकार ने मुझे चेटक नरेश की पुत्री चेलना का चित्र दिखाया तब से ही मेरा चित्त चंचल हो गया। अब तो उसके बिना मुझे अपना जीवन निरर्थक प्रतीत होने लगा।

धैर्य रखिए पिताश्री मैं प्रण करता हूं कि अतिशीघ्र आप की इच्छा पूरी करके आपको मुक्त चिता करुंगा। राजाश्रेणिक को आश्वासन देकर अभयकुमार वहाँ से लौट आया। राजा चेटक की प्रतिज्ञा से वह भी अनभिज्ञ नही था। अर्थात् उसे पता था कि जैन धर्मी चेटक अपनी पुत्री का विवाह एक बौद्धधर्मी से नही करेगा। उसने छल, बल से चेलना का अपहरण करने का निश्चिय कर लिया।

अपनी योजनानुसार वह अपने कुछ विश्वस्त साथियो सहित एक जौहरी पुत्र के रुप मे विशालापुर जा पहुँचा। वहाँ पहुचकर उसने राजमहल के समीप ही एक विशाल भवन खरीदा और वहाँ एक जैन चैत्यालय की स्थापना कर श्री जिनेन्द्रदेव की पूजा अर्चना व स्तुति करने का दिखावा शुरु कर दिया। इस बीच उसने वहाँ एक सुरग खुदवा ली।

जब श्री जिनेन्द्रदेव की स्तुति का स्वर चेलना के कानो तक पहुचे और उसे एक जौहरी पुत्र द्वारा बनवाये गए जिनचैत्यालय का पता चला तो उत्सुकता वश वह वहाँ दर्शनार्थ हेतु गई। अभयकुमार को तो इसी क्षण का इन्तजार था। वह चेलना का अपहरण कर सुरग मार्ग द्वारा सुरक्षित नगर से बाहर पहुच कर उसे अपने नगर ले आया। जब श्रेणिक को ये शुभ समाचार मिला तो तुरन्त ही युवराज अभय कुमार का अभिनन्दन करने के बहाने चेलना का दिव्यदर्शन करने वहाँ आया और मृगनयनी चंद्रवदनी चेलना को युवराज के समीप निरीह अवस्था में खड़ी देख उसके हर्ष का पारावार न रहा। उसने युवराज को हृदय से लगा लिया।

शुभ मुहूर्त एव शुभ लग्न मे राजा ने चेलना से विधिवत् विवाह कर पटरानी पद प्रदान किया। विवाह से पूर्व चेलना ने राजा से वचन लिया था कि वह उसे जिनधर्म पालन करने देगा। अन्य धर्म पालन करने के लिए विवश नही करेगा। विवाहोपरात नवदम्पति सुखपूर्वक भोग विलास करने लगे।

जब बौद्धधर्म गुरु को ज्ञान हुआ कि राजा श्रेणिक की रानी चेलना जैनधर्म का पालन कर रही है तो वे क्रोधित होकर दरबार मे पहुचे और अपना रोष व्यक्त किया। राजा ने नम्र निवेदन किया मै तो वचनबद्ध हूँ इसलिए रानी को विवश नही कर सकता आप ही रानी को समझाइये जिससे वह जैन धर्म से विमुख हो और स्वय ही बौद्धधर्म स्वीकार कर ले।

बौद्धधर्म गुरुओ ने महल मे जाकर चेलना को समझाया पुत्री अज्ञानतावश तुम हम जैसे सच्चे गुरुओ की जगह पशुओ के समान, नग्न घूमने वाले आहार न मिलने पर उपवास करने वाले, दीन द्ररिद्र मुनियो की सेवा सुश्रुषा कर रही हो जो ठीक नही है। इसके कारण तुम्ह परभव मे इन्ही के समान दरिद्री होना पड़ेगा याद रखो हम ही सर्वज्ञ है सारी बात जानते है।

चेलना ने वाद विवाद न कर सिर्फ इतना ही कहा कि आप सभी कल यहाँ आकर भोजन करे। उसके बाद ही मै अपना धर्मपरिवर्तन करने का निर्णय लूगी।

अगले ही दिन चेलना के निमत्रण के अनुसार सभी बौद्ध गुरु महल मे आये। चेलना ने उनका आदर सत्कार करके भोजन करने बैठाया। इस बीच चेलना अपनी एक प्रिय दासी द्वारा सभी के बाये पैर का जूता मगाकर उनके महीन टुकडे कर दही मे डाले और मसाला मिलाकर थोड़ा-थोडा कर सब गुरुओ के सामने परोस दिया। भरपेट भोजन ने करने के बाद सभी ऐसे स्वादिष्ट भोजन की तारीफ करते हुए और चेलना के आथित्य सत्कार की प्रशसा करते हुए बाहर आये।

तो अपना एक जूता वहाँ न पाकर उन्हे खोजन के प्रयास मे विफल होने पर चेलना के पास आकर बोले- राज महल मे हमारे जूते चोरी हो गए है।

चेलना ने व्यग्यात्क स्वर मे कहा - कल तो आप सभी स्वय को सर्वज्ञ होने की डीग मार रहे थे। आज अपने जूतो के लिए भटक रहे हो। उन्हे अपने दिव्यज्ञान से क्यो नहीं खोज लेते। हम लोगो मे ऐसा ज्ञान नहीं है कि हम इस बात को जान सके कि हमारे जूते कहा है। विवश धर्म गुरुओ, ने सच्चाई प्रगट करने पर चेलना ने कहा आपके जूते आप के ही पास है और आपको पता ही नही फिर भी स्वय को सर्वज्ञ होने का दावा करते है।

लज्जित होकर सभी एक दूसरे का मुह देखने लगे मानो परस्पर पूछे रहे हो कि हमारे जूते हमारे पास कहा हो सकते है। उनकी इस परेशानी का निवारण भी चेलना ने यह कहकर किया कि आप सभी के जूते आपके पेट में है। यह सुनते ही घृणावश सभी का खाया पीया वमन द्वारा स्वय बाहर निकल आया। जिसमे उन्हें चमड़े के महीन टुकड़े स्पष्ट दिखाई दे रहे थे।

सभी कुगुरु रानी चेलना के पराभव के समक्ष पराजित होकर अपने आश्रयदाता राजा श्रेणिक के पास पहुचें और महल में हुए अपने अपमान की सारी कहानी बढ़ा चढ़ कर सुनाई। ये सुनकर राजा श्रेणिक तुरन्त ही चेलना के पास आये और उसे खूब खरीखोटी-सुनाई। चेलना चुपचाप रही। राजा का क्रोध शात होने पर असने विनयपूर्वक निवेदन किया - हे प्राणनाथ! अपनी सर्वज्ञता की ढ़िढ़ोरा पीटने वाले वे साधु तो ढोगी निकले। मैं आपको वचन देती हूं जिस दिन आपके धर्म गुरु मेरी परीक्षा मे उत्तीर्ण होगे उसी दिन मै बौद्धधर्म स्वीकार कर लूगी। रानी के ऐसे निष्पक्ष वचन सुनकर राजा का चित्त कुछ बौद्ध धर्म से खिच गया पर ये बात उसने चेलना पर प्रगट नही की।

इस घटना के कुछ दिन बाद ही बौद्धधर्म गुरुओ का एक विशाल संघ नगर मे आया। राजा श्रेणिक ने उनके ठहरने के लिए एक मनोहर मडप बनवाया जहाँ रहकर वह अपने धार्मिक क्रियाकलाप करने लगे उनसे प्रभावित होकर राजा श्रेणिक को पूर्ण विश्वास हो गया किये अवश्य ही रानी की रुचि जैनधर्म से हटा कर बौद्ध धर्म की ओर कर लेगे। राजा ने चेलना के पास आकर बौद्धधर्म गुरुओं के नगर मे आगमन का समाचार सुनाते हुए कहा - 'ये अतिशय ज्ञानी है, तप की उत्कृष्ट सीमा को प्राप्त है, तप मे तल्लीन हो अपनी आत्मा को साक्षात सिद्धालय ले जाते है। उनका नश्वर शरीर धरती पर रहता है। आत्मा सिद्धालय में जा विराजती है।

यह सुन चेलना ने विनय पूर्वक स्पष्ट शब्दो मे कहा - ' प्राणनाथ! मै आपसे पहले भी कह चुकी हू बिना परीक्षा लिए कहने मात्र से ही मै जैनधर्म का परित्याग नही कर सकती। क्या आप मुझे उनकी परीक्षा लेने का अवसर प्रदान करेगे। वचनबद्ध राजा विवश हो मौन रह गया।

अपनी योजनानुसार चेलना उनके दर्शनार्थ अर्थात् उनके ढ़ोल की पोल खोलने वहाँ पहुची तो रानी को देखा वे सभी श्‍वास रोककर काष्ठ के पुतले के समान निश्चेष्ट बैठ गए। चेलना को तो इसी अवसर की तलाश ली थी। उसने चुपचाप मडप मे आग लगवा दी। सिद्धालय मे होने का ढ़ोंग रचने वाले अपनी जान बचाने के लिए इधर उधर भागने लगे।

राजा श्रेणिक के कानों तक इस काड की सूचना पहुचने मे कुछ क्षण भी नही लगे। अब उससे रहा ना गया। वह तुरन्त चेलना के पास आकर व्यंगात्मक स्वर मे धिक्कारते हुए बोले- 'ये तूने अत्यन्त नीच कार्य किया है। यदि तुझे बौद्धधर्म पर श्रद्धा नहीं है। तो तू उनकी भक्ति न कर। उन धर्म गुरुओं अग्नि मे भस्म करने की चेष्टा करने का प्रयास कर तू स्वयं जैनधर्म के अहिसा परमो धर्मः सिद्धान्त से विमुख हो, विधर्मी हो गई।

हे प्राणनाथ! उनमें से किसी की भी मृत्यु होती तो आपका कथन अवश्य सत्य होता पर वे सभी सकुशल व सुरक्षित है अर्थात् आपका ये कथन असत्य है कि मैंनें अहिंसा परमो धर्मः सिद्धान्त का उल्लघंन किया है। रानी के इन युक्ति पूर्ण वचनो ने राजा को अनुत्तर बना दिया।

मन मे दृढ़ निश्यच कर लिया कि मेरा नाम भी श्रेणिक नही जो मैं रानी को बौद्धधर्म की भक्त और सेविका न बना दूँ।

एक बार राजा श्रेणिक अपने अगरक्षको सहित शिकार खेलने वन में गया उसने यशोधर नामक दिगम्बर मुनि को खड्गासन मे ध्यानारुढ़ देखा। राजा श्रेणिक को रानी से बदला लेने का सुअवसर मिल गया। वह सोचने लगे कि रानी ने मेरे गुरुओ का बड़ा अपमान किया है उन्हे बडे कष्ट पहुचाँये है उसका बदला मै इसके धर्मगुरु से लूगा।

राजा श्रेणिक ने अपने पाच सौ शिकारी कुत्ते मुनि पर छोड़ दिए। लम्बी-लम्बी दाढ़ो वाले सिह के समान खूखार कुत्ते मुनि पर झपटे, पर उनके पास पहुच कर शांत होगए। मुनिराज की प्रदक्षिणा देकर उनके चरण कमलो मे बैठ गए। अपने पालतू कुत्तो को क्रोध रहित हो मुनिराज के चरणो मे बैठा देख श्रेणिक के क्रोध का पारावार न रहा।

इस दुष्ट ने मेरे बलवान कुत्ते मंत्र से कीलित कर दिए। इसे मै अभी-मजा चखाता हूं। कहते हुए राजा श्रेणिक तलवार निकाल मुनि के मारणार्थ बड़े वेग से उनकी ओर झपटे, अचानक ही उनकी दृष्टि एक मरे हुए साप पर पडी। राजा के कदम रुक गए उसने कुछ सोचकर मृतक साप को अपनी तलवार से उठाकर मुनिराज के गले मे डाल दिया। और पुनः शिकार पर निकल पडा। जब मुनि यशोधर ने अपने ऊपर आए उपसर्ग को जान लिया तो अपनी ध्यानमुद्रा और अधिक तप बढ़ा मे तल्लीन हो गए। इस घटना के चौथे दिन राजा श्रेणिक नगर मे वापिस आये और पहले तो अपने धर्मगुरुओ को और फिर चेलना को दिगम्बर मुनि के साथ किये अपने दुष्कृत्य को कह सुनाया। इधर बौद्धधर्म गुरु तो राजा द्वारा एक जैन मुनि के अपमान करने पर अति प्रसन्न हो उसकी प्रशसा करने लगे इधर चेलना अपने गुरु का यह अपमान सुनकर एक क्षण तो अवाक रह गई फिर उसकी आखो से अविरल अश्रुधारा बहने लगी। वह अपने कुमार्गी पति के इस दुष्कृत्य पर विलाप करने लगी। उसका रुदन देखकर राजा ने चेहरे की प्रसन्नता कोसो दूर उड गयी। उसने अपनी पटरानी को समझाया, रानी! आप व्यर्थ ही शोक कर रही है। अब तक तो वह अपने गले से सांप उतार कर ना जाने किधर चला गया होगा।

प्रियतम! यदि वे मेरे सच्चे गुरु है तो ऐसा नही करेगे। वह तो मेरुपर्वत की तरह अचल अडिग ध्यानस्थ वही बैठे होगे। आप शीघ्र ही मुझे उस स्थान पर लेकर चले। और मेरे कथन की सत्यता परख ले। चेलना के इन वचनो को सुनकर भी राजा को विश्वास नही था कि वह मुनि उन्हे वहाँ मिलेगा। पर रानी का मन रखने के लिए जब उसे लेकर वह उस स्थान पर पहुंचा और मुनिराज को उसी मुद्रा मे ध्यानस्थ देखा तो आश्चर्य चकित रह गया। ऐसा भी सभव हो सकता है। इसकी कल्पना तो उसे स्वप्न मे भी नही थी।

अब तो रानी का अनुसरण करते हुए राजा ने भी मुनिराज को नमस्कार किया। चेलना ने यशोधर मुनि के गले से मृतक सांप लकड़ी से उतार कर दूर फेक दिया। जिसका भक्षण कर

रही चीटियों ने एक सच्चे साधु का सम्पूर्ण शरीर खोखला कर दिया था। अहिंसा की अनुयायी चेलना ने ध्यानस्थ मुनि के करीब थोड़ा बूरा फैला कर चिंटियों का ध्यान उस ओर आकर्षित किया व अवशिष्ट चीटियों को एक मुलायम मोर पंख से दूर कर ध्यानस्थ मुनिराज के जख्मी शरीर पर शीतल चंदनादिक का छिड़काव किया।

उपसर्ग मुक्त होने पर मुनिराज ने अपनी सामायिक पूरी की और अपने समक्ष बैठे नत मस्तक राजा रानी को मोक्षमार्ग का उपदेश दिया। एक सच्चे धर्म की परिभाषा बताई।

इन सब अलौकिक घटनाओ को देखकर श्रेणिक का पत्थर के समान कठोर हृदय फूल सा कोमल हो गया। उनके हृदय की सब दुष्टता निकलकर उसमे मुनि के प्रति पूज्यभाव पैदा हो गया। वे मुनिराज के पास गये और भक्ति से उन्होने मुनि के चरणों को नमस्कार किया। यशोधर मुनिराज ने श्रेणिक के हित के लिये उपयुक्त समझकर उन्हें अहिंसामयी पवित्र जिनशासन का उपदेश दिया। उसका श्रेणिक के हृदय पर बहुत ही असर पड़ा। उनके परिणामों में विलक्षण परिवर्तन हुआ। उन्हें अपने कृतकर्मपर अत्यन्त पश्चाताप हुआ। मुनिराज के उपदेशानुसार उन्होंने सम्यक्त्व ग्रहण किया। इसके प्रभाव से, उन्होने जो सांतवें नरककी आयु का बन्ध किया था, वह उसी समय घटकर पहले नरक की रह गयी, ठीक है सम्यग्दर्शन के प्रभाव से भव्यपुरुषो को क्या प्राप्त नहीं होता?

इसके बाद श्रेणिक ने श्रीचित्रगुप्त के पास क्षयोपशमसमयक्त्व प्राप्त किया। भविष्य में श्रेणिक तीर्थंकर होकर निर्वाण लाभ करेगे।

सेठ सुदर्शन का जीवन

चम्पापुरी नगरी में श्रेष्ठी वृषभदास जी की सर्वगणु सम्पन्न और रुप सौन्दर्य में देवांगनाओं का लज्जित कर देने वाली जिनमती नाम की धर्मपत्नी है दोनों का जीवन धर्माचरण से महक रहा है।

एक दिन जिनमती जी आत्म भावना भाती हुई अपने शयन कक्षा में सोई हुई थी कि रात्रि के अन्तिम पहर में एक सुन्दर एवं मंगल कल्पवृक्ष, सुरप्रसाद, असीम समुद्र और वर्धमान प्रखर अग्नि रुप स्वप्न देखें उनकी निद्रां खुल गई। वे उस समय बहुत हर्षित थी। उन्होंने अपनी सुबह की क्रियाएं पूर्ण कर स्वप्न की बात सेठ जी को बताई सेठ जी बोले, प्रिय! अपने पुण्य के उदय से श्री सुगुप्तिसागर मुनिराज पधारे है, उनसे ही स्वप्न का फल पूछेंगे।

इतना कहकर वे दोनो जन जिनमन्दिर को गए। बाद मे मुनिराज के निकट उद्यान में पहुचे। गुरु को नमस्कार कर बैठ गए, और अपने स्वप्न की बात मुनिराज से कही।

मुनिराज ने अपने अवधिज्ञान से स्वप्नों का फल ज्ञात करके कहा - हे श्रेष्ठी! सर्वप्रथम कल्पवृक्ष देखने से तुम्हारा पुत्र प्रतापी होगा एवं कामदेव समान रुपवान होगा। सुरप्रसाद देखने से तुम्हारा पुत्र पूज्यनीय होगा। असीम समुद्र देखने से वह सर्वकर्मों को काटकर मुक्ति का अधिकारी होगा, अतः आपका पुत्र अंतिम अंतःकृत केवली होगा! गुरुवर के मुख से स्वप्नों का फल जानकर वे दोनों बहुत हर्षित हुए और वापिस अपने भवन को लौट आये।

कुछ दिन बाद माता जिनमती ने गर्भ धारण किया। परिवारजनो को बहुत हर्ष हुआ। धीरे-धीरे नौ माह पूरे हो गए। पौष शुक्ला चर्तुदशी को जिनमती जी ने एक गुणवान व रुपवान पुत्र को जन्म दिया। यह जानकर नगरजनों ने भी खुशियाँ मनायी। उसका नाम सुदर्शन रखा गया।

धीरे-धीरे उसने युवावस्था में पर्दापण किया। एक दिन वह अपने मित्रों के साथ घूमने निकला। वहाँ उसने मनोरमा को देखा तो उस पर मोहित हो गया। जब उसके पिता को पता चला तो उसने सुदर्शन के साथ मनोरमा का विवाह करवा दिया। कुछ समय बाद उसके सुकान्त नाम का पुत्र हुआ।

कुछ समय बाद सुदर्शन के माता-पिता ने दीक्षा ले ली और सारा गृहभार सुदर्शन के ऊपर सौप दिया। सुदर्शन अपने धार्मिक षट् आवश्यको का अच्छी तरह पालन करते थे, और अष्टमी, चतुदर्शी के दिन गृहत्याग कर प्रोषधोपवास करते और रात्रि में मुनि सदृश सर्वपरिग्रहो का त्याग कर एकान्त स्थान (श्मशान) मे कार्यत्सर्ग धारण करते थे और सग्यग्दर्शन में दृढ़ थे।

एक बार उनके मित्र कपिल की स्त्री कपिला सुदर्शन पर मोहित हो गई। उसका पति जब बाहर गया था, तब मौका देखकर उसने छल से सुदर्शन को घर पर बुलाया। लेकिन सेठ सुदर्शन ने उससे कहा कि मै नपुंसक हूं, इस प्रकार सुदर्शन ने वहाँ अपने शील की रक्षा की। एक बार राजा ने प्रजा को आदेश दिया कि बंसत ऋतु की घटा बहार देखने को चलना है राजा हाथी, पर आगे - आगे चल रहा था, उसके पीछे उसकी रानी का रथ और उसके पीछे सेठ सुदर्शन

भी रथ पर अपने परिवार सहित था। जब रानी ने देखा तो वह मोहित हो गई उसके पास बैठकर उसकी सखी कपिला सब समझ गई, तब कपिला ने कहा कि यह नपुसंक है तब रानी ने कहा कि अगर यह नपुसंक होता तो, इसके यह पुत्र कैसे होता। यह सोच महल में जाकर धाय के द्वारा सुदर्शन को अष्टमी के दिन श्मशाम से उठाकर घर बुलवाया, और उसने कामातुर हो बहुत चेष्टाएं कीं पर सुदर्शन अपने शील में दृढ़ रहे। जब उसका वश नहीं चला और सुबह हो गई, तथा वह डरी कि अब क्या होगा? उसने एक युक्ति सोची, उसने अपना सारा बदन नाखूनों से नोंच लिया, कपड़े आदि फाड़ लिए और चिल्लाने लगी बचाओ-बचाओ यह पापी मेरा शील लूटने आया है, बड़ा धर्मात्मा बना है ढ़ोंगी है, पापी है।

राजा के सत्यबात पूछने पर भी सुदर्शन कुछ नहीं बोले, ध्यान मे लीन खड़े रहे तब राजा ने सेवको को आदेश दिया कि इसे ले जाओं और मृत्युस्थल में ले जाकर फाँसी दे दो।

मृत्युस्थल में सुदर्शन को खड़ा कर दिया गया। वे ध्यान मे लीन खड़े रहे। जब सेवकों ने फाँसी लगाई तो और शूली सिंहासन बन गई। चारों ओर शीलवान की जय-जय आदि नारे लगने लगे और सेवकगण द्वारा कील दिए गए। जब राजा को पता चला तो वह विशाल सेना सहित वहाँ आ पहुंचा और यक्षो को युद्ध के लिए ललकारा। जब युद्ध हुआ तो राजा हार कर भागने लगा और सुदर्शन के चरणों में आ पड़ा और कहने लगा कि हे शीलवान! मेरी रक्षा करो। तब सुदर्शन की आज्ञा से यक्ष ने उसे छोड़ दिया।

जब रानी को पता चला कि सुदर्शन मरा नहीं है बल्कि बच गया है, तब उसने डर के मारे फासी लगा ली और रानी की जो धाय थी वह भी डर के मारे गुप्त रुप से भाग कर पटना में देवदत्ता वेश्या के साथ रहने लगी और सुदर्शन सेठ के बारे में कहा तो वह भी सुदर्शन पर मोहित हो गयी।

इधर सुदर्शन ससार, शरीर और भोगो से विरक्त हो सुकान्त को सारा गृहस्थ छोड़कर विमल वाहन मुनिराज से दीक्षित होगए और निरतिचार 28 मूल गुणो का पालन सहित आत्मध्यान करने लगे। एक बार सुदर्शन महाराज पटना नगर के उद्यान में आये और आहार के लिए नगर में गए। तब उस धाय ने उन्हे देखा और देवदत्ता को बताया, तब देवदत्ता ने मायाचारी से श्राविका का रुप बनाया और मुनि का पड़गाहन कर अन्दर ले गई, और अन्दर जाकर मुनिराज के शरीर से मक्खी की भांति चिपक गई, और कई कुचेष्टाएं की लेकिन मुनिराज अपने शीलव्रत मे दृढ़ रहे।

जब वेश्या का काम सिद्ध नहीं हुआ तब उसने मुनिराज को मर्मछेदी वचन कहे कन्धे पर रखकर मुनिराज को नौचती हुई लाई और श्मशान में खड़े कर दिये और वापिस घर लौट आई।

जब वेश्या घर आई तो सोचती है कि अरे! ये मुनिराज हमे श्राप न दे दें। इस कारण डरते-डरते वह मुनिराज के पास आकर क्षमा मांगने लगी। तब मुनिराज ने धर्मवृद्धि का उपदेश आशीर्वाद देकर धर्म का उपदेश दिया।

एकबार सुदर्शन महाराज पटना नगर के श्मशान में आत्मध्यान मे लीन थे। इधर से रानी अभयमती मरकर व्यतरणी हुई थी। वह वहाँ से जा रही थी, अचानक उसकी दृष्टि सुदर्शन

मुनिराज पर पड़ी, और उन्हें अपना शत्रु समझ क्रोधित होकर वे भयकर उपसर्ग करने लगी। मुनिराज तो आत्मध्यान मे लीन थे। देवो का सिंहासन कुपित हुआ। जिस देव ने पहले उपसर्ग निवारण किया था, वही देव अवधिज्ञान से यह जानकर कि सुदर्शन मुनिराज पर फिर किसी ने व्यन्तर उपसर्ग किया है, तत्काल वहाँ आ पहुचा।

पहले तो देव ने व्यतरणी को शान्ति से समझाया जब वह नही मानी तो उन दोनों में भयकर युद्ध होने लगा। इधर उन दोनो मे युद्ध हो रहा था उधर सुदर्शन मुनिराज अपने कर्मों से युद्ध कर रहे थे।

यह क्या! उन्होने चार घातिया कर्मो को नष्ट कर केवलज्ञान प्राप्त किया। चारों ओर से देव आ-आकर जय-जयकार करने लगे और गन्धकुटी की रचना हुई। सभी देव गण उनकी स्तुति करके धर्म लाभ की भावना से भगवान के चारो ओर बैठगए। इधर भगवान ने चार अघातिया कर्मों को भी नष्ट कर मोक्ष को प्राप्त किया। हम को भी अपने में लीन होकर, कर्मों का नाश करना चाहिए।

चारुदत्त की कथा

जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में छह खण्ड है उसमे एक खण्ड आर्य खण्ड है। इस मे एक चम्पापुरी नगरी है जो बहुत ही सुन्दर है। इस चम्पापुरी के राजा का नाम विमलवाहन था जो नीति मे बहुत ही निपुण था तथा सारी प्रजा सुखी थी। राज विमल वाहन की रानी विमलवती थी, जो सभी गुणो से युक्त तथा बहुत ही रुपवती थी। रानी विमवती के पाच पुत्र थे। जो माता पिता के बहुत ही आज्ञाकारी थे तथा शास्त्रो मे निुपण थे।

इसी चम्पानगरी मे एक राज्यमान्य वणिक भानुदत्त निवास करता था। वह हीरा, मणिक, मोती आदि का व्यापार करता था। उसकी पत्नी का नाम देवल था। वह बहुत ही सुन्दर थी, शीलवती थी एव पतिभक्ता थी। सेठानी देवल के कोई सन्तान न थी पुत्र प्राप्ति के लिए वह कुदेवो की पूजा करती थी।

एक दिन सुमति नाम के मुनि उसके मकान पर पधारे और उसे यक्ष यक्षिणी की पूजा करते देखा। तब मुनिराज ने देवल को सम्बोधित करके कहा कि हे पुत्री! तू कुदेवों की पूजा क्यों करती है? तब सेठानी ने हाथ जोडकर कहा कि - भगवन क्या करु? पुत्र की लालसा मे कुदेवों की पूजा करती हूँ। हे स्वामी! बताइए मुझे पुत्र प्राप्ति होगी या नहीं? तब मुनिराज बोले - तू शोक का त्याग कर धैर्य और विवेक से काम ले कुछ समय बाद तेरे एक पुत्र रत्न उत्पन्न होगा। तू कुदेवो को मानना छोड़ दे, मिथ्या देवो की पूजा से सम्यक्त्व का नाश होता है। धर्म, कर्म सब मिट जाता है और दुःख प्राप्त होता है। इसलिए मन वचन काय से जिनेन्द्र भगवान की सेवा कर और जैनधर्म पर पक्का श्रद्धान रख। उन मुनि के वचनो पर उसे अटूट श्रद्धा हो गयी।

इस तरह दिन व्यतीत होते गए और सेठानी देवल ने एक पुत्र को जन्म दिया। राज्य मे चारों ओर खुशियां मनायी जाने लगी। इस तरह बालक जब बारह दिन का हुआ तो पण्डितो को बुलाकर उसका नाम रखा गया। पण्डितों ने पुत्र का नाम चारुदत्त रखा। धीर-धीरे वह बड़ा होने लगा तो उसे गुरु के पास पढ़ने के लिए भेजा। कुछ ही समय मे उसने अनेकों शास्त्र पढ़ लिए और मत्र विद्याओं मे निपुण हो गया। उसे जैन धर्म पर अपार श्रद्धा हो गयी तभी एक विचित्र घटना घटी।

चम्पापुरी नगरी के बाहर बहुत ऊंचा एवं शोभायुक्त एक पर्वत है। उसका नाम मंदार गिरि है। उस पर एक जिन मन्दिर है उसी पर्वत से जमधर मुनिराज आठ कर्मों को नाश कर मोक्षगए थे। वहाँ प्रतिवर्ष मार्गशीर्ष माह के शुक्ल पक्ष में एक मेला लगता है। सभी लोग द्रव्य आदि लेकर पूजा के लिए जाते है। चारुदत्त भी उस मेले में गया। लौटते समय वह मित्रों के साथ नदी किनारे घूमने के लिए निकल गया वहाँ बहुत ही सुन्दर उपवन थे जो फलों से भरे हुए थे। वहाँ श्रेष्ठिपुत्र चारुदत्त क्रीड़ा कर रहा था। कि तभी उसकी दृष्टि एक वृक्ष पर पड़ी। उस वृक्ष की शाखा पर एक मनुष्य कीलित था। उसके शरीर में कीले ठुकी होने से वह मूर्च्छित हो गया था। उसकी दशा देखकर वह बहुत द्रवित हुआ और उस पेड की शाखा पर चढ़ गया, वहाँ उसने एक विमान देखा और अनुमान लगाया कि यह कोई विद्याधर है। उस विमान मे उसे कुछ औषधिया मिली जिसे चारुदत्त ने हाथ मे लिया और जिनेन्द्र भगवान का स्मरण किया और वह औषधि उस विद्याधर के शरीर को लगाई, जिससे विद्याधर की मूर्छा दूर हो गयी और वह चैतन्य मे आ गया। तब उस विद्याधर ने सचेत होकर चारुदत्त को देखकर भक्तिपूर्वक नमस्कार किया।

उसी नगर मे एक सिद्धार्थ नाम का सेठ था। वह बहुत सम्पत्तिशाली था। वह देवल सेठानी का भाई और चारुदत्त का मामा था, उसी स्त्री का नाम सुमित्रा था। वह बहुत ही रुपवती थी तथा गुण एव चातुर्य युक्त थी। उसके एक पुत्री थी जिका नाम मित्रवती था। वह भी सभी शुभ लक्षणो से युक्त थी तथा रुपवती थी। माता पिता ने अपनी पुत्री के अनुकूल वर की खोज की। तब सिद्धार्थ सेठ ने विचार किया कि अपनी पुत्री मित्रवती चारुदत्त को देनी चाहिए। उसका अच्छा कुल है शुभ लक्षण है तथा अपनी बहिन का पुत्र है। इस प्रकार विचार कर चारुदत्त का टीका कर दिया और शुभ दिन देखकर उसका विवाह दिन निश्चित कर दिया। तथा शुभ लग्न में चारुदत्त का विवाह हो गया।

होनहार बलवान होती है। इतना उत्तम सम्बन्ध मिलने पर भी चारुदत्त को अपनी नव परिणीता पत्नी पर स्नेह उत्पन्न नहीं हुआ उसने आते ही उसका त्याग कर दिया। इस अकारण परित्याग से वह बेचारी बहुत दुखी रहने लगी तथा दुख के कारण उसकी काया कृश हो गयी तथा उसने सभी प्रकार के श्रृगारों का त्याग कर दिया और वह चुपचाप विलाप करती रहती। चारुदत्त बडे ही आनन्द प्रमोद से विद्या अध्ययन कर रहे थे। उन्हें काव्य, पुराण तथा शास्त्र आदि पढ़ने का बहुत शौक था।

एक बार दैव योग से चारुदत्त की सास सुमित्र चारुदत्त के मकान पर आई और अपनी पुत्री के स्थान पर गयी। पुत्री ने माता को देखकर स्नेह व्यक्त किया किन्तु माता ने जब अपनी पुत्री

की ऐसी दशा देखी तो वह बहुत दुखी हुई और उसने अपनी पुत्री से उसे दशा का कारण पूछा पहले तो पुत्री ने संकोच किया किन्तु माता के बार-बार पूछने पर उसने सभी बात विस्तार से बता दी। मित्रवती की बात सुनकर माता सेठानी को बहुत बुरा भला कहा किन्तु सुमित्र को विनय भाव से शान्त करके उसे घर भिजवा दिया। तब उसने अपने देवर को बुलाया और सारी बात बतायी और कहा कि कोई उपाय ऐसा कर कि चारुदत्त का ध्यान गृहस्थ की ओर लग जाये चाहे इसमे कितना भी धन लगे चारुदत्त के चाचा ने सोचा यहाँ एक इसी नगर में बसन्तमाला नाम की एक वेश्या है वह बहुत रुपवती और चतुर है। वह अपने तत्र और चेष्टाओ से चारुदत्त को क्षण भर मे अपने वश मे कर लेगी, यो विचार करके वह उस वेश्या के पास गया और उससे कहा कि मै तेरे पास चारुदत्त का लाऊँगा। तू उसे किसी भी उपाय से अपने वश में करने का प्रयत्न करना। वह कामकला को बिल्कुल नही जानता तू उसे सब कुछ सिखा दे।

एक दिन रुद्रदत्त चारुदत्त को घुमाने का बहाने से उस वेश्या के मकान पर ले गया। उस वेश्या बसन्तमाला के एक पुत्री बंसततिलका थी। वह बहुत ही सुन्दर थी जब चारुदत्त ने उसे देखा तो उसे देखता ही रह गया। वह धीरे-धीरे उस वेश्या के मोहपाश मे इतना फस गया कि घर भी नही जाता उसी के घर रहने लगा। वह वेश्या खर्च के लिए पैसे मागती तो चारुदत्त अपने पिता भानुदत्त से रुपया मगाते। इस तरह पिता की आधी से भी ज्यादा सम्पत्ति खर्च हो गयी। पिता के लाख बुलाने पर भी चारुदत्त घर नही आये अत मे पिता ने दु:खी होकर जिनदीक्षा ग्रहण कर ली।

धीरे-धीरे जब चारुदत्त की सभी सम्पत्ति समाप्त हो गयी और उसके घर कुछ भी देने को नही रहा तो वेश्या की मा ने चारुदत्त से कहा अब आप के पास धन नही रहा अत: अब आप घर जाईए और पुत्री से अलग बुलाकर कहने लगी कि अब चारुदत्त के पास कुछ भी देने को नही रहा अब तू किसी और धनवान से प्रेम कर, वेश्याओ की यही रीत है। किन्तु वेश्या की पुत्री चारुदत्त से अगाढ़ प्रेम करने लगी थी। वह बोली अब तो ये ही मेरा पति है यही मेरा स्वामी है। तब वेश्या की मा ने एक रात्रि उन दोनो को भोजन मे कुछ नशीला पदार्थ मिला दिया। जिसे खाकर वह दोनो सो गए। तब बसन्तमाला आधी रात्रि मे उठी और उसने चारुदत्त के हाथ पैर बाध कर एक कपड़े मे लपेट कर उसे पास ही एक विष्टागृह मे डलवा दिया थोडी देर बार एक सूकरी वहाँ आयी और चारुदत्त का मुह चाटने लगी तब चारुदत्त ने समझा कि बसन्ततिलका ही है। वह उससे कहने लगा मै अभी सो रहा हू जब मैं जाग जाऊँ तब बोलना। उन्हे अपनी उस स्थिति का ज्ञान ही नही था। तभी उधर से कोतवाल गुजरा उसने शौचालय से किसी मनुष्य की आवाज सुनी तुरन्त सिपाहियो को भेजा सिपाहियो ने जब आकर देखा और उन्हे पता चला कि यह चारुदत्त है तो उन्हे तुरन्त बन्धन मुक्त किया।

चारुदत्त जब अपने मकान पर पहुंचा तो पहरेदारो ने उसे भीतर जाने से रोक दिया और बताया कि यह मकान किसी और सेठ के पास रखा हुआ है। तब चारुदत्त बहुत दुखी हुआ तब उसने पूछा कि मेरी माता और पत्नी कहा है वह पहरेदार उसे एक झोपड़ी के पास ले गया जहाँ उसकी माता और स्त्री थी। वह माता को देखकर बहुत विलाप करने लगा और कहने लगा

हे माता! मैं बहुत दुष्ट हूँ और पापी हूँ जो वेश्या के चक्कर में पड़कर अपने अपनी सारी सम्पत्ति गंवा दी और दरिद्रता को प्राप्त हुआ। माता भी उसकी दशा देखकर बहुत दुखी हुई तथा उसका चन्दन से उबटन कर अच्छे वस्त्र पहनाए। तत्पश्चात् वह अपनी पत्नी के पास गया तो वह खूब रोई और चारुदत्त को अपनी तमाम दुख भरी कहानी सुनाई। चारुदत्त भी उसकी बातें सुनकर बहुत दुखी हुआ और कहने लगा कि हे प्रिये! तुम गुणवती हो, शीलवती हो, धैर्यवती और अद्वितीय वल्लभा हो। किन्तु मै पापो की खान दुष्टात्मा हूँ मैने तूझे बहुत दुख दिया।

अब चारुदत्त को धन कमाने की चिन्ता हुई। तब वह अपनी माता और पत्नी से कहने लगा कि धन के बिना कुछ भी नही है। धन के बिना पूत भी कपूत कहलाता है, विद्वानों की भी कोई कीमत नही रहती, धन के बिना कोई भी काम नही हो सकता माता और पत्नी ने बहुत समझाया कि यही रह कर कोई व्यापार करो किन्तु चारुदत्त नही माना और धन कमाने की इच्छा से विदेश के लिए प्रस्थान किया जब यह बात चारुदत्त के मामा को पता चली तो वह भी चारुदत्त के साथ विदेश को चल दिया। विदेश में जाकर दोनों ने बहुत सा धन कमाया, और अपने देश को रवाना होने लगे किन्तु मार्ग में तूफान आ जाने के कारण उनका जहाज पानी मे डूब गया सारी सम्पत्ति भी पानी मे डूब गयी किसी तरह वह अपने प्राण बचा कर अपने घर लौटा तो सारा हाल सुनाया। जिससे चारुदत्त की माता और पत्नी बहुत दुखी हुई और विलाप करने लगी, जिसका वर्णन नही किया जा सकता। चारुदत्त ने साहस नही छोडा वह अकेले ही सिन्धु देश की ओर चल दिए। कुछ दिनो बाद वह सिन्धु देश के एक संवई ग्राम मे पहुचे जो बहुत ही सुन्दर तथा समृद्धियुक्त था। वहाँ चारुदत्त के पिता की 18 करोड़ की सम्पति का भंडार था उसका अधिकार चारुदत्त को मिल गया। जिससे उसके पास अपार सम्पत्ति हो गयी। तब चारुदत्त ने एक विशाल जिन मन्दिर बनवाया उस पर स्वर्ण कलश चढ़ाये तथा बहुमूल्य उपकरण बनवाकर अपनी सम्पत्ति को सफल किया। वह प्रतिदिन चार प्रकार का दान देते तथा विद्वानो का आदर सम्मान करते। धीरे-धीरे चारुदत्त ने अपनी धर्मनिष्ठा, सम्मान एव दानशीलता के द्वारा बहुत ख्याति प्राप्त कर ली।

चारुदत्त के दान की परीक्षा - चारुदत्त की ख्याति सर्वत्र फैल गयी, उसकी परीक्षा लेने के लिए एक यक्ष ने मनुष्य का वेश धारण किया और अपना रुप बहुत दुखी दरिद्री और शरीर रोगी एवं करुणाजनक बनाया। ऐसे दयनीय वेश बनाकर नगर में भीख मांगने निकला। चारुदत्त जिन मन्दिर को जा रहे थे। उसी समय वह यक्ष चारुदत्त के सामने हाथ जोडकर खड़ा हो गया। चारुदत्त ने कहा कि तू इतना दुखी क्यों है। तूझे द्रव्य चाहिए वह यक्ष बोला नहीं मुझे द्रव्य नहीं चाहिए मेरे पेट में भंयकर शूल की पीड़ा है। मैं सैकडों उपाय कर चुका हूं किन्तु यह नहीं मिटती। देवयोग से एक चतुर वैद्य मिला उसने मेरे रोग को पहिचान लिया और उसकी एक मात्र दवा यह बतायी कि किसी मनुष्य की पसली लाकर उससे सेंका जाये तो पेट की पीड़ा मिट सकती है। मुझ भिखारी को कौन अपनी पसली कौन देगा। आपकी दानशीलता की महिमा सुनकर यहाँ आया हूं अतः आप अपनी पसली मुझे दे सके तो मेरी पीड़ा मिट सकती है। इसके सिवाय मुझे कुछ नहीं चाहिए। तभी चारुदत्त ने छुरी मगांकर अपनी पसली काट कर दे दी। यक्ष

यह देखकर बहुत आश्चर्य चकित हुआ और उसने देवरुप में प्रकट होकर चारुदत्त की स्तुति की। इस प्रकार चारुदत्त अपनी सब सम्पति दान करके अकेले इधर उधर भ्रमण करने लगा।

जिनपूजा और मुनिदर्शन - घूमते-घूमते चारुदत्त को एक स्थान पर कुछ जगमगा हट दिखाई दी। उसे देखकर चारुदत्त की और भी उत्कण्ठा बढी और वह आगे बढ़ते गए थोड़ी दूर जाने पर उन्हे एक सुन्दर जिनालय के दर्शन हुए चारुदत्त ने उस मन्दिर मे प्रवेश किया वहाँ की शोभा अत्यन्त ही सुन्दर मालूम होती थी। उसी प्रकार मन्दिर मे मनोज्ञ जिनप्रतिमा के दर्शन कर चारुदत्त का हृदय प्रफुल्लित हो गया उन्होने हाथ जोड़कर जिनप्रतिमा को नमस्कार किया तथा तीन प्रदक्षिणा देकर अपना जवीन सफल बनाया और जिनबिम्ब के समक्ष हाथ जोड़कर चारुदत्त खडे हो गए और स्तुति करने लगे तथा कुछ समय के लिए वह वहाँ बैठ गए। इसके पश्चात् वह उठे और बाहर चल दिए थोड़ी दूर पर उन्हें एक गुफा दिखाई दी। चारुदत्त उसमे चले गए वहाँ एक मुनिराज विराजमान थे। चारुदत्त उनके निकट गए और स्तुति करने लगे। तब मुनिराज धर्मवृद्धि कहकर बोले - चारुदत्त! तू कुशल तो है तेरा यहाँ कैसे आना हुआ। यह सुनकर चारुदत्त को बहुत आश्चर्य हुआ और वह मुनिराज से बोले - हे मुनिराज आपने मुझे पहले कहा देखा इस प्रकार चारुदत्त को आश्चर्यचकित होता देख मुनिराज बोले वत्स मै अमितगति विद्याधर हू मुझे कीलो से जड़ दिया था। तब तुमने ही मेरे प्राण बचाये थे। उसके बहुत समय बाद तक मैने राज्य किया और अन्त मे निमित्त मिलने पर यह दिगम्बरी दीक्षा धारण कर ली। इस प्रकार मुनिराज ने अपना सारा वृत्तान्त सुनाया उसी समय मुनिराज के दो पुत्र सिहग्रीव और बाराहग्रीव विमान मे बैठकर वहाँ मुनि वन्दना के लिए आये। पहले वह जिनमन्दिर गए वहाँ स्तुति करी तथा बाद मे मुनिराज के पास आकर हाथ जोड़कर स्तुति करने लगे उसके पश्चात् वह मुनिराज से बोले - कि यह चारुदत्त कौन है इसका क्या परिचय है। तब मुनिराज ने उनका सम्पूर्ण वृत्तान्त कह सुनाया।

स्वदेश गमन- इसके बाद सिहग्रीव और बराहग्रीव ने चारुदत्त से अपने देश को चलने के लिए प्रार्थना की। चारुदत्त ने भी उसे स्वीकार किया तब उसने एक सुन्दर विमान सजाया। जिसमे शब्द करने वाली घुघरु और घण्टा लगे हुए थे। दोनो विद्याधर और चारुदत्त मुनिराज को नमस्कार करके उस विमान मे बैठे और आकाश मे प्रयाण किया। थोड़ी देर के बाद विद्याधरो का विमान उनके नगर के निकट पहुचा और नीचे उतरा।

चारुदत्त ने नगर मे प्रवेश किया। विद्याधर स्वागत विधि एव मगलाचरण के बाद चारुदत्त को महल मे ले गए। यहाँ वह आनन्द से रहने लगा वहाँ रहते हुए चारुदत्त ने विद्याधरो की बत्तीस कुमारियो के साथ विवाह किया और आनन्दपूर्वक रहने लगा।

एक दिन रात्रि को सुख नीद मे सोते हुए चारुदत्त चौके उठे और उन्हें घर की चिन्ता सताने लगी। वह विचारने लगे कि अब मुझे अपने नगर जाकर माता और स्त्री से मिलना चाहिए न

जाने उन पर क्या गुजर रही होगी। ऐसा विचार करते हुए सवेरा हो गया। तब चारुदत्त ने सिंहग्रीव से कहा कि अब मुझे घर जाने की आज्ञा दीजिए। यह सुनकर विद्याधर को बहुत दुख हुआ उन्हें चारुदत्त से वहीं रुकने का आग्रह किया किन्तु वह बोला मुझे यहाँ रुकने में जरा भी संकोच नहीं है कि अब मुझे अपनी माता और स्त्री के पास जाना चाहिए न जाने उन पर क्या गुजर रही होगी। यह सुनकर विद्याधर ने उन्हें जाने की अनुमति प्रदान कर दी और उनके जाने का सुयोग्य प्रबन्ध कर दिया।

इसके पश्चात् चारुदत्त अपनी नगरी चम्पापुरी मे पहुंचे। वहाँ पहुँचकर सबसे पहले वह अपने साथियो के साथ जिन मन्दिर में गए। वहाँ दर्शन, पूजन करके विशेष पुण्य अर्जन किया तथा बाद मे धरोहर में रखा गया मकान द्रव्य देकर छुडा लिया और उसमें अपनी माता और स्त्री को भी बुला लिया। उनके आते ही चारुदत्त ने सबसे पहले माता के चरणों में नमस्कार किया और आशीर्वाद प्राप्त उन्हीं के पास बैठ गया। बहुत वर्षों से बिछुडे माता और पुत्र का मिलाप बहुत ही करुणाजनक था। इसके पश्चात् वह अपनी पत्नी से मिले। कुशल समाचार पूछने के बाद वह आनन्द-विनोद की बात करने लगे। बाद मे चारुदत्त ने अपनी माता को सिहासन पर बिठाया और अपनी पत्नी को पट्टरानी का पद दिया।

चारुदत्त का वैराग्य- इस प्रकार मनोवांछित सुख भोगते हुए, श्री युक्त उसका दीर्घकाल बीत गया। चारुदत्त संसार के विषय भोगों से विरक्त होकर उत्तरोत्तर वैराग्य पथ पर अग्रसर हो गए और कालान्तर में स्वर्ग को प्राप्त हुए। सन्यास से उसने शरीर को दण्डित किया तथा परम समाधि से काय को छोड़कर वह सर्वार्थसिद्धि का अहमिन्द्र देव हुआ और वहाँ उसने तैंतीस सागर की अनिन्द्य उत्तम आयु प्राप्त की।

उपसर्गजयी मुनिराज

सुकुमाल मुनि की कथा

अतिबल कौशाम्बी में एक सोमशर्मा पुरोहित रहता था। इसकी स्त्री का नाम काश्यपी था। यहाँ के राजा का नाम अतिबल था। इसके अग्निभूति और वायुभूति नामक दो लड़के हुए। माँ-बाप के अधिक लाडले होने से ये कुछ पढ़ लिख न सके। काल की विचित्र गति से सोमशर्मा की असमय में ही मौत हो गई। इन्हें मूर्ख देखकर अतिबल ने इनके पिता का पुरोहित पद, जो इन्हें मिलता, किसी और को दे दिया। अपना अपमान हुआ देखकर इन दोनों भाईयों को बड़ा दु:ख हुआ। तब इनकी कुछ अकल ठिकाने आई। अब इन्हें कुछ लिखने पढ़ने की सूझी। ये राजगृह में अपने काका सूर्यमित्र के पास गए और अपना सब हाल इन्होंने उनसे कहा। इनकी पढ़ने की इच्छा देखकर सूर्यमित्र ने स्वयं इन्हें पढाना शुरु किया और कुछ ही वर्षो में इन्हें अच्छा विद्वान् बना दिया। दोनों भाई जब अच्छे विद्वान हो ये तब ये पीछे अपने शहर लौट आये। आकर इन्होंने अतिबल को अपनी विद्या का परिचय कराया। अतिबल इन्हें विद्वान् देखकर बहुत खुश हुआ और इनके पिता का पुरोहित-पद उसने बाद में इन्हें ही दे दिया।

एक दिन सन्ध्या के समय सूर्यमित्र सूर्य को अर्घ चढ़ा रहा था। उसकी अंगुली में एक रत्नजड़ी राजकीय बहुमूल्य अंगूठी थी। अर्घ चढ़ाते समय वह अंगूठी अंगूली में से निकलकर महल के नीचे तालाब में जा गिरी। भाग्य से वह एक खिले हुए कमल में पड़ी। सूर्य मित्र सूर्यास्त पाठ करके उठा और उसकी नजर अंगुली पर पड़ी तब उसे मालूम हुआ कि अंगूठी कहीं पर गिर पड़ी। अब तो उसके डर का कुछ ठिकाना न रहा। राजा जब अंगूठी मांगेगा तब उसे क्या जवाब दूंगा, इसकी उसे बड़ी चिन्ता होने लगी। अंगूठी की शोध के लिए इसने बहुत कुछ यत्न किया, पर इसे उसका कुछ पता न चला। तब किसी के कहने पर यह अवधिज्ञानी सुधर्म मुनि के पास गया और हाथ जोड़कर उसने उनसे अंगूठे के बारे में पूछा- प्रभो, आप कृपा कर मुझे आप यह बतलाएं कि मेरी अंगूठी कहाँ चली गई, हे करुणा के समुद्र, वह कैसे प्राप्त होगी? मुनि ने उत्तर में यह कहा कि सूर्य को अर्घ देते समय तालाब में एक खिले हुए कमल में अंगूठी गिर पड़ी है। वह सवेरे मिल जायेगी। वही हुआ सूर्योदय होते ही जैसे कमल खिला सूर्यमित्र को उसमें अंगूठी मिली। सूर्यमित्र बड़ा खुश हुआ। उसे इस बात का बड़ा अचम्भा होने लगा कि मुनि ने यह बात कैसे बतलाई? हो न हो, उनसे हमें भी विद्या सीखनी चाहिये। यह विचार कर सूर्यमित्र, मुनिराज के पास गया। उन्हें नमस्कार कर उसने प्रार्थना की हे योगिराज, मुझे भी आप अपनी विद्या सिखा दीजिये, जिसमें मैं भी दूसरे के ऐसे प्रश्नों का उत्तर दे सकूं। आपकी मुझ पर बड़ी कृपा होगी, यदि आप मुझे अपनी यह विद्या पढ़ा देंगे। तब मुनिराज ने कहा - 'भाई, मुझे इस विद्या के सिखाने में कोई इकार नहीं है। पर बात यह है कि बिना जिनदीक्षा लिए यह विद्या आ नहीं सकती। सूर्यमित्र तब केवल विद्या के लोभ से दीक्षा लेकर मुनि हो गया। मुनि होकर इसने गुरु से विद्या सिखाने को कहा। सुधर्म मुनिराज ने तब सूर्यमित्र को मुनियों के

आचार-विचार के शास्त्र तथा सिद्धान्त-शास्त्र पढ़ाये। अब तो एकदम सूर्यमित्र की आंखे खुल गई यह गुरु के उपदेश रुपी दीपक के द्वारा अपने हृदय के अज्ञानान्धकार को नष्ट कर जैनधर्म का अच्छा विद्वान् हो गया। सच है, जिन भव्य पुरुषों ने सच्चे मार्ग को बतलाने वाले और संसार अकारण बन्धु गुरुओं की भक्ति सहित सेवा-पूजा की है, उनके सब काम नियम से सिद्ध हुए है।

जब सूर्यमित्र मुनि अपने मुनिधर्म में बहुत कुशल हो गए वे गुरु की आज्ञा लेकर अकेले ही विहार करने लगे। एक बार वे विहार करते हुए कौशाम्बी में आये। अग्निभूति ने इन्हें भक्तिपूर्वक दान दिया। उसने अपने छोटे भाई वायुभूति से बहुत प्रेरणा और आग्रह इसलिये किया कि वह सूर्यमित्र मुनिकी वन्दना करें, उसे जैनधर्म से कुछ प्रेम हो। कारण वह जैनधर्म से सदा विरुद्ध रहता था। पर अग्निभूति के इस आग्रह का परिणाम उलटा हुआ। वायुभूति ने खिसियाकर मुनि की अधिक निन्दा की और उन्हें बुरा-भला कहा। सच है, अग्निभूत को अपने भाई की ऐसी दुबुद्धि पर बड़ा दुःख हुआ। यही कारण था कि जब मुनिराज आहार कर वन में गए तब अग्निभूति भी उनके साथ-साथ चला गया और वहाँ धर्मोपदेश सुनकर वैराग्य हो जाने से दीक्षा लेकर वह भी तपस्वी हो गया। अपना और दूसरों का हित करना अब से अग्निभूति के जीवन का उद्देश्य हुआ।

अग्निभूति के मुनि हो जाने की बात जब इसकी स्त्री सती सोमदत्ता को ज्ञात हुई तो उसे अत्यन्त दुःख हुआ। उसने वायुभूति से जाकर कहा -देखो, तुमने मुनि वन्दना न कर उनकी बुराई की, सुनती हूं उससे दुखी होकर तुम्हारे भाई भी मुनि होगए। यदि वे अब तक मुनि न हुए हों तो चलो उन्हें तुम हम समझा लावें। वायुभूति ने गुस्सा होकर कहा - तुम ही उस बदमाश नंगे के पास जाओ। मुझे तो कुछ आवश्यकता नहीं है। यह कहकर वायुभूति अपनी भौजी के एक लात मारकर चलता बना। सोमदत्ता को उसके मर्मभेदी वचनों को सुनकर बड़ा दुःख हुआ। उसे क्रोध भी अत्यन्त आया पर अबला होने से वह उस समय कर कुछ नहीं सकी। तब उसने निदान किया कि पापी, तूने जो इस समय मेरा मर्म भेदा है और मुझे लातों से ठुकराया है, और इसका बदला स्त्री होने से मैं इस समय न भी ले सकी तो कुछ चिन्ता नहीं, पर याद रख इस जन्म में नहीं तो दूसरे जन्म में सही, पर बदला लूंगी अवश्य। तेरे इसी पांव को, जिससे कि तूने मुझे लात मारी और मेरे हृदय भेदनेवाले तेरे इसी हृदय को मैं खाऊंगी तभी मुझे सन्तोष होगा।

इस हाथ दे उस हाथ ले इस कहावत के अनुसार तीव्र पापका फल प्रायः तुरन्त जाता है। वायुभूति ने मुनिनिन्दा द्वारा जो तीव्र पापकर्म बांधा, उसका फल उसे बहुत जल्दी मिल गया। पूरे सात दिन भी न हुए होंगे कि वायुभूति के सारे शरीर में कोढ़ निकल आया। सच है, जिनकी सारा संसार पूजा करता है और धर्म के सच्चे मार्ग को दिखाने वाले हैं ऐसे महात्माओं की निन्दा करने वाला पापी पुरुष किन महाकष्टों को नहीं सहता। वायुभूति कोढ़ के दुःख से मरकर कौशम्बी में ही एक नट के यहाँ गधा हुआ। गधा मरकर वह जंगली सूअर हुआ। इस पर्याय से मरकर इसने चम्पापुर के एक चाण्डाल के यहाँ कुत्ती का जन्म धारण किया, कुत्ती मरकर

चम्पापुरी में ही एक दूसरे चाण्डाल के यहाँ लड़की हुई यह जन्म ही से अन्धी थी। इसका सारा शरीर बदबू कर रहा था। इसलिए इसके माता पिता ने इसे छोड़ दिया। पर भाग्य बलवान् होता है। इसलिए इसकी भी किसी तरह रक्षा हो गई। यह एक जांबू के झाड़-नीचे पड़ी-पड़ी जांबू खाया करती थी।

सूर्यमित्र मुनि अग्निभूतिको साथ लिए हुए भाग्य से इस ओर आ निकले। उस जन्म की दु:खिनी लड़की को देखकर अग्निभूति के हृदय में कुछ मोह, कुछ दु:ख हुआ। उन्होंने गुरुसे पूछा-प्रभो, इसकी दशा बड़ी कष्ट में है। यह कैसे जी रही है? ज्ञानी सूर्यमित्र मुनि ने कहा- तुम्हारे भाई वायुभूति ने धर्म से पराङ्मुख होकर जो मेरी निन्दा की थी, उसी पाप के फल से उसे कई भव पशुपर्याय में लेना पड़े। अन्त में वह कुत्ती की पर्याय से मरकर यह चाण्डाल कन्या हुई है। पर अब इसकी उमर बहुत कम रह गई है। इसलिये जाकर तुम इसे व्रत ग्रहण कराकर सन्यास दे आओ। अग्निभूति ने वैसा ही किया। उस चाण्डाल कन्या को पांच अणुव्रत देकर उन्होंने सन्यास दिला दिया।

चाण्डाल कन्या मरकर व्रत के प्रभाव से चम्पापुरी में नागशर्मा ब्राह्मण के यहाँ नागश्री नाम की कन्या हुई। एक दिन नागश्री वन में नागपूजा करने को गई थी। पुण्य से सूर्यमित्र और अग्निभूति मुनि भी विहार करते हुए इस ओर आगए। उन्हें देखकर नागश्री के मन में उनके प्रति अत्यन्त भक्ति हो गई। वह उनके पास गई और हाथ जोड़कर उनके पांवों के पास बैठ गई। नागश्री को देखकर अग्निभूति मुनि के मन में कुछ प्रेम का उदय हुआ, और होना उचित ही था। क्योंकि यह उनके पूर्वजन्म का भाई है न? अग्निभूति मुनि ने इसका कारण अपने गुरु से पूछा। उन्होंने प्रेम होने का कारण जो पूर्व जन्म का भातृ-भाव था, वह बता दिया। तब अग्निभूति ने उसे धर्म का उपदेश किया और सम्यक्त्व तथा पांच अणुव्रत ग्रहण करवाये। नागश्री व्रत ग्रहण कर जब जाने लगी तब उन्होंने उससे कह दिया - "देख बच्ची, तुझसे यदि तेरे पिताजी इन व्रतों को लेने के लिए नाराज हों, तो तू हमारे व्रत हमें ही आकर सौंप जाना।" सच है, मुनि लोग वास्तव में सच्चे मार्ग के दिखाने वाले होते है।

इसके बाद नागश्री उन मुनिराजों के भक्ति हाथ जोड़कर और प्रसन्न होती हुई अपने घर पर आ गई। नागश्री के साथ की और-और लड़कियों ने उसके व्रत लेने की बात को नागशर्मा से कह दिया। नागशर्मा तब कुछ क्रोध का भाव दिखाकर नागश्री से बोला- बच्ची, तू बड़ी भोली है, जो झट से हर एक के बहकाने में आ जाती है। भला, तू नहीं जानती कि अपने पवित्र ब्राह्मण-कुल में उन नंगे मुनियों के दिए व्रत नहीं लिए जाते। वे अच्छे लोग नहीं होते। इसलिए उनके व्रत तू छोड़ दो।" तब नागश्री बोली- "पिता जी, उन मुनियों ने मुझे आते समय यह कह दिया था कि यदि तुझसे तेरे पिता गुस्सा हों तो व्रत हमें ही दे जाना। अब आप चलिए मैं उन्हें उनके व्रत दे आती हूं। सोमशर्मा नागश्री का हाथ पकड़े क्रोध से गुर्राता हुआ मुनियों के पास चला। रास्ते में नागश्री ने एक जगह कुछ शोर होता सुना। उस जगह बहुत से लोग इकट्ठे हो रहे थे और एक मनुष्य उनके बीच में बंधा हुआ था। उसे कुछ निर्दय लोग बड़ी क्रूरता से मार

रहे थे। नागश्री ने उसकी यह दशा देखकर सोमशर्मा से पूछा - पिताजी, बेचारा यह पुरुष इस प्रकार निर्दयता से क्यों मारा जा रहा है? सोमशर्मा बोला - बच्ची, इस पर एक बनिये के लड़के वरसेन का कुछ रुपया लेना था। उसने इससे अपने रुपयों की मांग की। इस पापी ने उसे रुपया न देकर जान से मार डाला। इसलिए उस अपराध के बदले अपने राजा साहब ने इसे प्राणदंड की सजा दी है, क्योंकि एक को ऐसी सजा मिलने से अब दूसरा कोई ऐसा अपराध न करेगा। तब नागश्री ने जरा जोर देकर कहा - तो पिताजी, यही व्रत तो उन मुनियों ने मुझे दिया है, आप उसे क्यों छुड़ाने को कहते हैं? सोमशर्मा निरुत्तर होकर बोला - अस्तु पुत्री, तू इस व्रत को न छोड़, चल बाकी के व्रत तो उनके उन्हें दे आवें। आगे चलकर नागश्री ने एक और पुरुष को बंधा देखकर पूछा - और पिताजी, यह पुरुष क्यों बांधा गया है? सोमशर्मा ने कहा - पुत्री, यह झूठ बोलकर लोगों को ठगा करता था। इसके फन्दे में फंसकर बहुतों को दर-दर का भिखारी बनना पड़ा है इसलिए झूठ बोलने के अपराध में इसकी यह दशा की जा रही है। तब फिर नागश्री ने कहा - ''पिताजी, यही व्रत तो मैंने भी लिया है। अब तो मैं उसे कभी नहीं छोड़ूगी।'' इसी प्रकार चोरी, लोभ आदि से दुख पाते हुए मनुष्यों को देखकर नागश्री ने अपने पिता को निरुत्तर कर दिया और व्रतों को नहीं छोड़ा। तब सोमशर्मा ने हार खाकर कहा - अच्छा, यदि तेरी इच्छा इन व्रतों को छोडने की नहीं है तो न छोड़, पर तू मेरे साथ उन मुनियों के पास तो चल। मैं उन्हें दो बातें कहूंगा कि तुम्हें क्या अधिकार था जो तुमने मेरी लड़की को बिना मेरे पूछे व्रत दे दिए? फिर वे आगे से किसी को इस प्रकार व्रत न दे सकेंगे। सच है, दुर्जनों को कभी सत्पुरुषों से प्रीति नहीं होती। तब ब्राह्मण देवता अपना क्रोध निकालने को मुनियों के पास चलों। उसने उन्हें दूर से ही देखकर गुस्से में आकर कहा - बतलाओ, तुम्हें इसको व्रत देने का क्या अधिकार था? सोमशर्मा को इस प्रकार गुस्सा हुआ देखकर सूर्यमित्र मुनि बड़ी धीरता और शान्ति के साथ बोले - भाई, जरा धीरज धर, क्यों इतनी जल्दी कर रहा है? मैंने इसे व्रत दिए है, पर अपनी लड़की समझकर, और सच पूछो तो यह है भी मेरी ही लड़की। तेरा तो इस पर कुछ भी अधिकार नहीं है। तू भले ही यह कह कि यह मेरी लड़की है, पर वास्तव में यह तेरी लड़की नहीं है। यह कहकर सूर्यमित्र मुनि ने नागश्री को पुकारा। नागश्री झटसे आकर उनके पास बैठ गई। अब तो ब्राह्मण देवता बड़े घबराये। वे 'अन्याय' 'अन्याय' चिल्लाते हुए राजा के पास पहुंचे और हाथ जोड़कर बोले - देव, नंगे साधुओं ने मेरी नागश्री लड़की को छुड़ा लिया। वे कहते हैं कि यह तेरी लड़की नहीं किन्तु हमारी लड़की हैं। राजाधिराज, सारा शहर जानता है कि नागश्री मेरी लड़की है। महाराज, उन पापियों से मेरी लड़की दिलवा दीजिए। सोमशर्मा की बात से सारी राजसभा बड़े विचार में पड़ गई। राजा की भी बुद्धि में कुछ न आया। तब वे सबको साथ लिए मुनि के पास आये और उन्हें नमस्कार कर बैठ गए। फिर झगड़ा उपस्थित हुआ। सोमशर्मा तो नागश्री को अपनी लड़की बताने लगा और सूर्यमित्र मुनि अपनी। मुनि बोले - अच्छा, यदि यह तेरी लड़की है तो बतला तूने इसे क्या पढ़ाया? और सुन, मैंने इसे सब शास्त्र पढ़ाया है, इसलिए मैं अभिमान से कहता हूं कि यह मेरी ही लड़की है। तब राजा बोले - अच्छा प्रभो,

यह आप ही की लड़की सही, पर आपने इसे जो पढ़ाया है उसकी परीक्षा इसके द्वारा दिलवाइए। जिससे कि हमें विश्वास हो। तब सूर्यमित्र मुनि अपने वचनरुपी किरणों द्वारा लोगों के चित्त में भरे हुए मूर्खातारुप गहन अन्धकार को नाश करते हुए बोले - हे नागश्री, हे पूर्वजन्म में वायुभूति का भव धारण करने वाली पुत्री , तुझे मैंने जो पूर्वजन्म में कई शास्त्र पढ़ाये हैं, उनकी इस उपस्थित मंडली के सामने तू परीक्षा दे। सूर्यमित्र मुनिका इतना कहना हुआ कि नागश्री ने जन्मान्तर का पढ़ा-पढ़ाया सब विषय सुना दिया। राजा तथा और सब मंडली को इससे बडा अचम्भा हुआ। उन्होंने मुनिराज से हाथ जोड़कर कहा-प्रभो! नागश्री की परीक्षा से उत्पन्न हुआ विनोद हृदयभूमि मेंअठखेलियां कर रहा है। इसलिए कृपाकर आप अपने और नागश्री के सम्बन्ध की सब बातें स्पष्ट कहिए। तब अवधिज्ञानी सूर्यमित्र मुनि ने वायुभूति के भवसे लेकर नागश्री के जन्म तक की सब घटना उनसे कह सुनाई। सुनकर राजा को बडा आचर्श्च हुआ। उन्हें यह सब मोह की लीला जान पड़ी। मोह ही सब दुःख का मूल कारण समझ कर उन्हें बड़ा वैराग्य हुआ। वे उसी समय और भी बहुत से राजाओं के साथ जिनदीक्षा ग्रहण कर गए। सोमशर्मा भी जैनधर्म का उपदेश सुनकर मुनि हो गया और तपस्या कर अच्युत स्वर्ग में देव हुआ। इधर नागश्री को भी अपना पूर्वका हाल सुनकर बड़ा वैराग्य हुआ। वह दीक्षा लेकर आर्यिका हो गई और अन्त में शरीर छोड़कर तपस्या के फल से अच्युत स्वर्ग में महार्द्धिक देव हुई। अहा! संसार में गुरु चिन्तामणि के समान हैं, सबसे श्रेष्ठ है। यही कारण है कि जिनकी कृपा से जीवों को सब सम्पदाएं प्राप्त हो सकती है।

यहाँ से विहार कर सूर्यमित्र और अग्निभूति मुनिराज अग्निमन्दिर नाम के पर्वत पर पहुंचे। वहाँ तपस्या द्वारा घातिया कर्मों का नाश कर उन्होंने केवलज्ञान प्राप्त किया और त्रिलोक पूज्य हो अन्त में बाकी के कर्मों का भी नाश कर परम सुखमय, अक्षयानन्त मोक्ष लाभ किया।

अवन्ति देश के प्रसिद्ध उज्जैन शहर में एक इन्द्रदत्त नाम का सेठ था। वह बड़ा धर्मात्मा और जिनभगवान् का सच्चा भक्त था। उसकी स्त्री का नाम गुणवती था। वह नाम के अनुसार सचमुच गुणवती और बड़ी सुन्दरी थी। सोमशर्मा का जीव, जो अच्युत स्वर्ग में देव हुआ था, वह, अपनी आयु पूरी कर पुण्य के उदय से इस गुणवती सेठानी के सुरेन्द्रदत्त नामका सुशील और गुणी पुत्र हुआ। सुरेन्द्रदत्त का ब्याह उज्जैन ही में रहने वाले सुभद्र सेठ की लड़की यशोभद्रा के साथ हुआ। इनके घर में किसी बात की कमी नहीं थी। पुण्य के उदय से इन्हें सब कुछ प्राप्त था। इसलिए बड़े सुख से इनके दिन बीतते थे। ये अपनी इस सुख अवस्था में भी धर्म को न भूलकर सदा उसमें सावधान रहा करते थे।

एक दिन यशोभद्र ने एक अवधिज्ञानी मुनिराज से पूछा-क्यों योगिराज, क्या मेरी आशा इस जन्म में सफल होगी? मुनिराज ने यशोभद्रा का अभिप्राय जानकर कहा- हां होगी, और अवश्य होगी। तेरे होने वाला पुत्र भव्य मोक्ष मे जानेवाला, बुद्धिमान् और अनेक अच्छे-अच्छे गुणों का धारक होगा पर साथ ही एक चिन्ताकी बात यह होगी कि तेरे स्वामी पुत्र का मुख देखकर ही जिनदीक्षा ग्रहण कर जायेंगे, जो दीक्षा स्वर्ग मोक्ष का सुख देने वाली है। अच्छा, और एक बात

यह है कि तेरा पुत्र भी जब कभी किसी जैन मुनि को देखेगा तो वह भी उसी समय सब विषयभोगों को छोड़कर योगी बन जायेगा।

इसके कुछ महीनों बाद यशोभद्र सेठानी के पुत्र हुआ। नागश्री के जीव ने, जो स्वर्ग में महर्द्धिक देव हुआ था, अपनी स्वर्ग की आयु पूरी करने के बाद यशोभद्र के यहाँ जन्म लिया। भाई-बन्धुओं ने इसके जन्म का बहुत कुछ उत्सव मनाया। इसका नाम सुकुमाल रक्खा गया।उधर सुरेन्द्र पुत्र के पवित्र दर्शन कर और उसे अपने सेठ पद का तिलक कर स्वयं मुनि हो गया।

जब सुकुमाल बड़ा हुआ तब उसकी मां को यह चिन्ता हुई कि कहीं यह भी कभी किसी मुनि को देखकर मुनि न हो जाय, इसके लिए यशोभद्रा ने अच्छे घराने की बत्तीस सुन्दर कन्याओं के साथ उसका ब्याह कर उन सबके रहने का एक पृथक ही बड़ा भारी महल बनवा दिया और उसमें सब प्रकार की विषय-भोगों की एक से एक उत्तम वस्तु इकट्ठी करवा दी, जिससे सुकुमाल का मन सदा विषयों में फंसा रहे। इसके अतिरिक्त पुत्र के मोह से उसने अपने घर में जैन मुनियों का आना-जाना भी बन्द करवा दिया।

एक दिन किसी बाहर के सौदागर ने नगर में आकर राजा प्रद्योतन को एक बहुमूल्य रत्न-कम्बल दिखलाया, इसलिए कि वह उसे खरीद ले। पर उसकी कीमत बहुत ही अधिक होने से राजा ने उसे नहीं लिया। रत्न-कम्बल की बात यशोभद्रा सेठानी को मालूम हुई। उसने उस सौदागर को बुलवाकर उससे वह कम्बल सुकुमाल के लिए मोल ले लिया। पर वह रत्नों की जड़ाई के कारण अत्यन्त ही कठोर था, इसलिए सुकुमाल ने उसे पसन्द न किया। तब यशोभद्रा ने उसके टुकड़े करवा कर अपनी बहुओं के लिए उसकी जूतियां बनवा दी। एक दिन सुकुमाल की प्रिया जूतियां खोलकर पांव धो रही थी। इतने में एक चील मांस के भ्रम से एक जूती को उठा ले उड़ी। उसकी चोंच से छूटकर वह जूती वेश्या के मकान की छत पर गिरी। उस जूती को देखकर वेश्या को बड़ा आश्चर्य हुआ। वह उसे राजघराने की समझकर राजा के पास ले गई। राजा भी उसे देखकर दंग रह गए कि इतनी कीमती जिसके यहाँ जूतियां पहनी जाती हैं, तो उसके धन का क्या ठिकाना होगा। मेरे शहर में इतना भारी धनी कौन है। इसका अवश्य पता लगाना चाहिए। राजा ने जब इस विषय की खोज की तो उन्हें सुकुमाल सेठ का समाचार मिला कि इनके पास बहुत धन है और वह जूती उनकी स्त्री की है। राजा को सुकुमाल के देखने की बड़ी उत्कंठा हुई। वे एक दिन सुकुमाल से मिलने आये। उसने राजा का बहुत अच्छा आदर-सत्कार किया। राजा ने प्रेमवश हो सुकुमाल को भी अपने पास सिंहासन पर बैठा लिया। यशोभद्र ने उन दोनों की एक ही साथ आरती उतारी। दीपक की तथा हार की ज्योति से मिलकर बढ़े हुए तेज को सुकुमाल की आंखे न सह सकी, उनमें पानी आ गया। इसका कारण पूछने पर यशोभद्रा ने राजा से कहा-महाराज, आज इसकी इतनी उमर हो गई, कभी इसने रत्नमयी दीये को छोड़कर ऐसे दीये को नहीं देखा। इसलिए इसकी आंखो में पानी आ गया है। यशोभद्रा जब दोनों को भोजन कराने बैठी तब सुकुमाल अपनी थाली में परोसे हुए चावलों में

से एक-एक चावल को बीन-बीनकर खाने लगा। देखकर राजा को बड़ा अचम्भा हुआ। उसने यशोभद्रा से इसका भी कारण पूछा। यशोभद्रा ने कहा- "राजराजेश्वर, इसे जो चावल खाने को दिए जाते हैं वे खिले हुए कमलों में रखे जाकर सुगन्धित किये होते हैं, पर आज वे चावल थोड़े होने से मैंने उन्हें दूसरे चावलों के साथ मिलाकर बना लिया। इससे यह एक-एक चावल चुन-चुनकर खाता है। राजा सुनकर बड़े ही खुश हुए। उन्होंने पुण्यात्मा सुकुमाल की बहुत प्रशंसा कर कहा- सेठानी जी, अब तक तो आपके कुंवर साहब केवल आपके ही घर के सुकुमाल थे, पर अब मैं इनका अवन्ति-सुकुमाल नाम रखकर इन्हें सारे देश का सुकुमाल बनाता हूँ। मेरा विश्वास है कि मेरे देश भर में इस सुन्दरता का इस सुकुमारता का यही आदर्श है। इसके बाद राजा ने सुकुमाल को संग लिए महल के पीछे जलक्रीड़ा की। खेलते समय राजा की अंगली में से अगूंठी निकलकर क्रीडा सरोवर गिर गई। राजा उसे ढूंढने लगे। वे जलके भीतर देखते है तो उन्हें उसमें हजारों बड़े-बड़े सुन्दर और कीमती आभूषण दिखाई पड़े। उन्हें देखकर राजा की अकल चकरा गई। वे सुकुमाल के अनन्त वैभव को देखकर बड़े चकित हुए। वे यह सोचते हुए, कि यह सब पुण्य की लीला है, कुछ लज्जित से होकर महल लौट आये।

सज्जनों, सुनो, धन-धान्यादि सम्पदा का मिलना, पुत्र, मित्र और सुन्दर स्त्री का प्राप्त होना, बन्धु-बान्धवों का सुखी होना, अच्छे-अच्छे वस्त्र और आभूषणों का होना, दुमंजले , तिमंजले, आदि मनोहर महलों में रहने को मिलना, खाने-पीने को अच्छी से अच्छी वस्तुएं प्राप्त होना, विद्वान् होना, नीरोग होना आदि जितनी सुख-सामग्री है, वह सब जिनेन्द्र भगवान के उपदेश किये मार्ग पर चलने से जीवों को मिल सकती है। इसलिए दुःख देने वाले खोटे मार्ग को छोड़कर बुद्धिमानों को सुख का मार्ग और स्वर्गमोक्ष के सुख का बीज पुण्यकर्म करना चाहिए। पुण्य जिन भगवान् की पूजा करने से, पात्रों का दान देने से तथा व्रत, उपवास, ब्रह्मचर्य के धारण करने से होता है।

एक दिन जैनतत्त्व के परम विद्वान् सुकुमाल के मामा गणधराचार्य सुकुमाल की आयु बहुत अल्प रही जानकर उसके महल के पीछे के बगीचे आकर ठहरे और चातुर्मास का समय हो जाने से उन्होंने वहीं वर्षा योग धारण कर लिया। यशोभद्रा को उनके आने की खबर हुई। वह जाकर उनसे कह आई कि प्रभो जब तक आपका योग पूरा न हो तब तक आप कभी ऊंचे से स्वाध्याय या पठन-पाठन न कीजिएगा। जब उनका योग पूरा हुआ तब उन्होंने अपने योग-सम्बंधी सब क्रियाओं के अन्त में लोकप्रज्ञप्तिका पाठ करना शुरु किया। उसमें उन्होंने अच्युतस्वर्ग के देवों की आयु, उनके शरीर की ऊंचाई आदि का अच्छी तरह वर्णन किया। उसे सुनकर सुकुमाल को जातिस्मण हो गया। पूर्व जन्म में पाये दुःखों को याद कर वह कांप उठा। वह उसी समय चुपके से महल से निकल कर मुनिराज के पास आ गया और उन्हें भक्ति से नमस्कार कर उनके पास बैठ गया, मुनि ने उससे कहा-बेटा, अब तुम्हारी आयु सिर्फ तीन दिन की रह गई है, इसलिये अब तुम्हें इन विषय-भोगों को छोड़कर अपना आत्महित करना उचित है। ये विषय-भोग पहले कुछ अच्छे प्रतीत होते है, पर इनका अन्त बड़ा ही दुःखमयी है। जो विषय भोगों की धुन में

ही मस्त रहकर अपने हित की ओर ध्यान नहीं देते, उन्हें कुगतियों के अनन्त दुःख उठाना पड़ते हैं। विषयों को भोगकर आज तक कोई सुखी नहीं हुआ। तब फिर ऐसी आशा करना कि इनसे सुख मिलेगा, नितान्त भूल है। मुनिराज का उपदेश सुनकर सुकुमाल को बड़ा वैराग्य हुआ। वह उसी समय सुख देनेवाली जिनदीक्षा लेकर मुनि हो गया। मुनि होकर सुकुमाल वन की ओर चल दिया। उसका यह अन्तिम जीवन बड़ा ही करुणा से भरा हुआ है। कठोर से कठोर चित्तवाले मनुष्यों तक के हृदयों को हिला देनेवाला है। सारी जिन्दगी में कभी जिनकी आंखो से आंसू न झरे हैं, उन आंखो में भी सुकुमाल का यह जीवन आंसू ला देने वाला है। सभी को सुकुमाल की सुकुमालता का हाल मालूम है कि यशोभद्रा ने जब उसकी आरती उतारी थी, तब जो सरसों उस पर डाली गई थी, उन सरसों के चुभने को भी सुकुमाल न सह सका था। यशोभद्रा ने उसके लिए रत्नों का बहुमूल्य कम्बल खरीदा था, पर उसने उसे कठोर होने से ही उसी को दे दिया था। उसकी मां कर उस पर इतना प्रेम था, उसने उसे इस प्रकार लाड़-प्यार से पाला था कि सुकुमाल को कभी जमीन तक पर पांव रखने देने का अवसर नहीं आया था उसी सुकुमार सुकुमाल ने अपने जीवन भर के एक रुप से बहे प्रवाह को कुछ ही मिनटों के उपदेश से बिलकुल ही उल्टा बहा दिया। जिसने कभी यह नहीं जाना कि घर बाहर क्या है, वह अब अकेला भंयकर जंगल में जा बसा। जिसने स्वप्नों में भी कभी दुःख नहीं देखा, वही अब दुःखों का पहाड़ अपने सिर पर उठा लेने को तैयार हो गया। सुकुमाल दीक्षा लेकर वन की ओर चला। कंकरीली जमीन पर चलने से उसके फूलों से कोमल पांवों में कंकर-पत्थरों के गड़ने से घाव हो गए। उनसे खून की धारा बह चली। पर धन्य सुकुमाल की सहनशीलता जो उसने उसकी ओर आंख उठाकर भी नहीं झांका। अपने कर्तव्य में वह इतना एकनिष्ठ हो गया, इतना तन्मय हो गया कि उसे इस बात का भान ही न रहा कि मेरे शरीर की क्या दशा हो रही है सुकुमाल की सहनशीलता की इतने में ही समाप्ति नहीं हो गई अभी ओर आगे बढ़िये और देखिये कि वह इस परीक्षा को कहां तक उत्तीर्ण करता है।

पांवों से खून बहता जाता है और सुकुमाल मुनि चले जा रहे है। चलकर वे एक पहाड़ी की गुफा में पहुंचे। वहाँ वे ध्यान लगाकर बारह भावनाओं का विचार करने लगे। उन्होंने प्रयोगमन सन्यास एक पांव से खड़े रहने का ले लिया, सुकुमाल मुनि तो इधर आत्म-ध्यान में लीन हुए। अब जरा इनके वायुभूति के जन्म को याद कीजिये।

जिस समय वायुभूति के बड़े भाई अग्निभूति मुनि हो गए थे, तब इनकी स्त्री ने वायुभूति से कहा था कि देखो, तुम्हारे कारण से ही तुम्हारे भाई मुनि हो गए। तुमने अन्याय कर मुझे दुःख के सागर में ढकेल दिया। चलो, जब तक वे दीक्षा न ले जाय उसके पहले उन्हें हम तुम समझा-बुझाकर घर लौटा लावें इस पर गुस्सा होकर वायुभूति ने अपनी भौजी को बुरी-भली सुना डाली थी, और फिर ऊपर से उस पर लात भी जमा दी थी। तब उसने निदान किया था कि पापी, तूने मुझे निर्बल समझ मेरा जो अपमान किया है, मुझे कष्ट पहुंचाया है, यह ठीक है

कि मैं इस समय इसका बदला नहीं चुका सकती। पर याद रख कि इस जन्म में नहीं तो परजन्म में सही, पर बदला लूंगी और घोर बदला लूंगी।

इसके बाद वह मरकर अनेक कुयोनियों में भटकी। अन्त में वायुभूति तो यह सुकुमाल हुए और उसकी भौजी सियारनी हुई। जब सुकुमाल मुनि वन की ओर रवाना हुए और उनके पावों में कंकल, पत्थर, कांटे वगैरह लगकर खून बहने लगा, तब यही सियारनी अपने पिल्लों को साथ लिए उस खून को चाटती-चाटती वहीं आ गई जहाँ सुकुमाल मुनि ध्यान में मग्न हो रहे थे। सुकुमाल को देखते ही पूर्वजन्म के संस्कार से सियारनी को अत्यन्त क्रोध आया। वह उनकी ओर घूरती हुई उनके बिलकुल निकट आ गई। उसका क्रोध भाव उमड़ा। उसने सुकुमाल को खाना शुरु कर दिया। उसे खाते देखकर उसके पिल्ले भी खाने लग गए। जो कभी एक तिनके का चुभ जाना भी नहीं सह सकता था वह आज ऐसे घोर कष्ट को सहकर भी सुमेरु सा निश्चल बना हुआ था। जिसके शरीर को एक साथ चार हिंसक जीव बड़ी निर्दयता से खा रहे है, तब भी जो रंगमात्र हिलता-डुलता तक नहीं उस महात्मा की इस अलौकिक सहन-शक्ति का किन शब्दों में उल्लेख किया जाय, वह वाणी से तथा लेखनी से नहीं कही जा सकती। सुकुमाल मुनि की यह सहनशक्ति उन कर्तव्यशील मनुष्य को अप्रत्यक्ष रुप में शिक्षा कर रही है कि अपने उच्च और पवित्र कामों में आने वाले विघ्नों की परवाह मत करो। विघ्नों को आने दो। आत्मा की अनन्त शक्तियों के सामने ये विघ्न कुछ चीज नही, किसी गिनती में नहीं। तुम अपने पर विश्वास करो भरोसा करो। हर एक काम में आत्मदृढ़ता, आत्मविश्वास उनके सिद्ध होने का मूलमंत्र है। जहाँ ये बातें नहीं वहाँ मनुष्यता भी नहीं। तब कर्तव्यशीलता तो फिर योजनों की दूरी पर है। देखने वालों के भी हृदय को हिला देने वाले कष्ट में भी सुकुमाल अचल रहे।

सुकुमाल मुनि को उस सियारनी ने पूर्व बैरके सम्बन्ध से तीन दिन तक खाया पर वे मेरु के समान धीर रहे। दु:ख की उन्होंने कुछ परवाह न की। यहाँ तक कि अपने को खानेवाली सियारनी पर भी उनके बुरे भाव न हुए। शत्रु और मित्र को समभावों से देखकर उन्होंने अपना कर्त्तव्य पालन किया। तीसरे दिन सुकुमाल शरीर छोड़कर अच्युतस्वर्ग में महर्द्धिक देव हुए।

वायुभूति की भौजी ने निदानवश सियारनी बन अपने बैर का बदला चुका लिया। सच है, निदान करना अत्यन्त दु:खों का कारण है। इसलिए भव्यजनों को यह पाप का कारण निदान कभी नहीं करना चाहिए। इस घोर पाप के फल से सियारनी मरकर कुगति में गई और अनेक भवों तक भटकती रही ।

कहां वे मन को अच्छे लगने वाले भोग और कहाँ यह दारुण तपस्या। सच तो यह है कि महापुरुषों का चरित्र कुछ विलक्षण हुआ करता है। सुकुमाल मुनि अच्युतस्वर्ग में देव होकर अनेक प्रकार के दिव्य सुखों को भोगते है और जिनभगवान की भक्ति में सदा लीन रहते है। सुकुमाल मुनि की इस वीर मृत्यु के उपलक्ष में स्वर्ग के देवों ने आकर उनका बड़ा उत्सव मनाया। जय जय शब्द द्वारा महाकोलाहल हुआ। देवों ने जो सुगन्ध जल की वर्षा की थी, उससे वहाँ की नदी गन्धवती नाम से प्रसिद्ध हुई।

जिसने दिनरात विषय-भोगों में ही फंसे रहकर अपनी सारी जिन्दगी व्यतीत की, जिसने कभी दु:ख का नाम भी न सुना था, उस महापुरुष सुकुमाल ने मुनिराज द्वारा अपनी तीन दिनकी आयु सुनकर उसी समय माता, स्त्री पुत्र आदि स्वजनों को, धन-दौलत को और विषय-भोगों को छोड़कर जिनदीक्षा ले ली और अन्त में पशुओं द्वारा दु:सह कष्ट सहकर भी जिसने बड़ी धीरता और शान्ति के साथ मृत्यु को अपनाया, वे सुकुमाल मुनि का चारित्र सबको कष्ट सहने की शक्ति प्रदान करने में समर्थ है। (आराधना कथाकोष से)

सुकौशल मुनि की कथा

अयोध्या में प्रजापाल राजा के समय में एक सिद्धार्थ नाम के प्रसिद्ध सेठ होगए है। उनके बत्तीस अच्छी-अच्छी सुन्दर स्त्रियां थी। पर इनमें किसी के कोई सन्तान न थी। स्त्री कितनी भी सुन्दर हो, गुणवती हो, पर बिना सन्तान के उसकी शोभा नहीं होती। इन स्त्रियों में जो सेठ की विशेष प्राणप्रिया थी, जिस पर सेठ महाशयका अत्यन्त प्रेम था, वह पुत्र प्राप्ति के लिए सदा कुदेवों की पूजा मान्यता किया करती थी। एक दिन उसे कुदेवों की पूजा करते समय एक मुनिराज ने देख लिया। उन्होंने तब उससे कहा-बहिन, जिस आशा से तू इन कुदेवों की पूजा करती है वह आशा ऐसा करने से सफल न होगी। कारण सुख-सम्पत्ति, सन्तान प्राप्ति, नीरोगता, मान-मर्यादा, सद्बुद्धि आदि जितनी अच्छी बातें है उन सबका कारण पुण्य है। इसलिए यदि तू पुण्य-प्राप्ति के लिए कोई उपाय करे तो अच्छा हो। मैं तुझे तेरे हित की बात कहता हूं कि इन यक्षादिक कुदेवों की पूजा-मान्यता छोड़कर, जिनधर्म पर श्रद्धा कर। चलते समय उसे ज्ञानी मुनि ने यह भी कह दिया था कि जिसकी तुझे चाह है वह चीज तुझे सात वर्ष के भीतर-भीतर अवश्य प्राप्त होगी। तू चिन्ता छोड़कर धर्म का पालन कर।

मुनि का कथन सत्य हुआ। जयावती ने धर्म के प्रसाद से पुत्र-रत्न का मुँह देखा। उसका नाम रक्खा गया सुकौशल। सुकौशल खूबसूरत और तेजस्वी भी था।

सिद्धार्थ सेठ विषयो-भोगों को भोगते-भोगते थक गए थे। उनके हृदय की ज्ञान मयी आंखों ने उन्हें अब संसार का सच्चा स्वरुप बतला कर बहुत डरा दिया था। वे चाहते तो नहीं थे कि एक मिनट भी संसार में रहें, पर अपनी सम्पत्ति को सम्हाल लेने वाला कोई, न होने से पुत्र-दर्शन तक, उन्हें लाचारी से घर में रहना पड़ा अब सुकौशल हो गया, इसका उन्हें बड़ा आनन्द हुआ। वे पुत्र का मुखचन्द्र देखकर और अपने सेठ पद का उसके ललाट पर तिलक कर आप श्री नयधर मुनिराज के पास दीक्षा ले गए।

अभी बालक का जन्म ही हुआ था कि सिद्धार्थ सेठ घर बार छोड़कर योगी हो गए उनकी

इस कठोरता पर जयावतीको बड़ा गुस्सा आया। न केवल सिद्धार्थ पर ही उसे गुस्सा आया, अपितु नयधर मुनि पर भी। इसलिए इस समय सिद्धार्थ को दीक्षा देना उन्हें उचित न लगा, और इसी कारण मुनि मात्र पर उसकी अश्रद्धा हो गई। उसने अपने घर में मुनियों का आना-जाना तक बन्द कर दिया। बड़े दुःख की बात है कि यह जीव मोह के वश हो धर्म को भी छोड़ बैठता है।

वय: प्राप्त होने पर सुकौशल को अच्छे-अच्छे घराने की बत्तीस कन्या-रत्नों से ब्याह हुआ। सुकौशल के दिन अब बड़े ऐशो आराम के साथ बीतने लगे। माता का उस पर अत्यन्त प्यार होने से नित नई वस्तुएँ उसे प्राप्त होती थीं। सैकड़ो दास-दासियां उसकी सेवा में सदा उपस्थित रहा करती थीं। वह जो कुछ चाहता वह कार्य उसकी आंखों के इशारे मात्र से होता था। सुकौशल को कभी किसी बात के लिए चिन्ता न करनी पड़ती थी। सच है, जिनके पुण्य का उदय होता है उन्हे सब सुख-सम्पत्ति सहज में प्राप्त हो जाती है।

एक दिन, सुकौशल अपनी मां, अपनी स्त्री ओर अपनी धाय के साथ महल पर आ बैठा अयोध्या की शोभा तथा मन को लुभाने वाली प्रकृति देवी को नई-नई सुन्दर छटाओं को देख-देखकर बड़ा खुश हो रहा था। उसकी दृष्टि कुछ दूर तक गई उसने एक मुनिराज को देखा। ये मुनि इसके पिता सिद्धार्थ ही थे। इनके वदन पर नाममात्र के लिए भी वस्त्र न देखकर सुकौशल बड़ा चकित हुआ। इसलिए कि पहले कभी उसने मुनि को देखा नहीं था। उनका ऐसा वेष देखकर सुकौशल ने मां से पूछा- मां, यह कौन है? सिद्धार्थ को देखते ही जयावती की आंखो मे खून बरस गया। वह कुछ घृणा और कुछ उपेक्षा को लिए बोली-बेटा, होगा कोई भिखारी, तुझे इससे क्या मतलब। परन्तु अपनी माँ के इस उत्तर से सुकौशल को सन्तोष नहीं हुआ। उसने फिर पूछा- माँ, यह तो बड़ा खूबसूरत और तेजस्वी देखाई पड़ता है। तुम इसे भिखारी कैसे बताती हो? जयावती को अपने स्वामी पर ऐसी घृणा करते देख सुकौशल की धाय सुनन्दा से न रहा गया। वह बोल उठी- रानी तुम इन्हें जानती हो कि ये हमारे मालिक है। आप इनके सम्बन्ध में ऐसा उलटा सुझा रही हो? तुम्हें यह योग्य नहीं। क्या हो गया यदि ये मुनि हो गए तो? इसके लिए क्या तुम्हें इनकी निन्दा करना चाहिए? इसकी बात पूरी भी न हो पाई थी कि सुकौशल की माँ ने उसे आख के इशारे से रोककर कह दिया कि चुप क्यों नहीं रह जाती। तुझ से कौन पूछता है, जो बीच में ही बोल उठी।

सुकौशल ठीक तो न समझ पाया, पर उसे इतना ज्ञान हो गया कि माँ ने मुझे सच्ची बात नहीं बतलाई। इतने मे रसोइया सुकौशल को भोजन कर आने के लिए बुलाने आया। उसने कहा-प्रभो, चलिए। बहुत समय हो गया। सब भोजन ठंडा हुआ जाता है। सुकौशल ने तब भोजन के लिए मना कर दिया। माता और स्त्रियों ने भी बहुत आग्रह किया, पर वह भोजन करने को नहीं गया। उसने साफ-साफ कह दिया कि जब तक मैं उस महापुरुष का सच्चा-सच्चा हाल न सुन लूँगा तब तक भोजन नहीं करुँगा। जयावती को सुकौशल के इस आग्रह से कुछ

गुस्सा आ गया, वह तो वहाँ से चल दी। बाद सुनन्दा ने सिद्धार्थ मुनि की सब बातें सुकौशल से कह दी। सुनकर सुकौशल को कुछ दुःख भी हुआ, पर साथ ही वैराग्य ने उसे सावधान कर दिया। वह उसी समय सिद्धार्थ मुनिराज के पास गया और उन्हें नमस्कार कर धर्म का स्वरुप सुनने की उसने इच्छा प्रकट की। मुनि सिद्धार्थ ने उसे मुनिधर्म और गृहस्थ-धर्म का विस्तृत स्वरुप समझा दिया। सुकौशल को मुनि धर्म बहुत पसन्द आया। वह मुनिधर्म की भावना भाता हुआ घर आया और सुभद्रा की गर्भस्थ सन्तान को अपने सेठ पद का तिलक कर तथा सब माया-ममता, धन-दौलत और स्वजन परिजन को छोड़कर श्री सिद्धार्थ मुनि के पास ही दीक्षा लेकर योगी बन गया। सच है, जिसे पुण्योदय से धर्म पर प्रेम है और जो अपना हित करने के लिए सदा तैयार रहता है, उस महापुरुष को कौन झूठी-सच्ची सुझाकर अपने कैद में रख सकता है, उसे धोखा दे ठग सकता है।

एक मात्र पुत्र और वह भी योगी बन गया। इस दुःख की जयावती के ह्रदय पर बड़ी गहरी चोट लगी। वह पुत्र दुःख से पगली सी बन गई। खाना-पीना उसके लिए जहर हो गया। उसकी सारी जिन्दगी ही नष्ट हो गई। वह दुःख और चिन्ता के मारे दिनोदिन सूखने लगी। जब देखो तब ही उसकी आंखो आंसुओं से भरी रहती। मरते दम तक वह पुत्रशोक को न भूल सकी। इसी चिन्ता, दुःख, आर्त्तध्यान से उसके प्राण निकले। इस प्रकार बुरे भावों से मरकर मगध देश में उसने व्याघ्री का जन्म लिया। इसके तीन बच्चे हुए। यह अपने बच्चों के साथ पर्वत पर ही रहती थी। सच है, जो जिनेन्द्र भगवान् के पवित्र धर्म को छोड़ बैठते है, उनकी ऐसी ही दुर्गति होती है।

विहार करते हुए सिद्धार्थ और सुकौशल मुनि ने भाग्य से इसी पर्वत पर आकर योग धारण कर लिया। योग पूरा होने के बाद ये भिक्षा के लिए शहर में जाने के लिए पर्वत पर से नीचे उतर रहे थे उसी समय वह व्याघ्री, जो कि पूर्वजन्म में सिद्धार्थ की स्त्री और सुकौशल की माता थी, इन्हें खाने को दौड़ी और जब तब कि ये सन्यास लेकर बैठते हैं, उसने इन्हें खा लिया।

जिस समय व्याघ्री ने सुकौशल को खाते-खाते उनका हाथ खाना शुरु किया, उस समय उसकी दृष्टि सुकौशल के हाथों के लाँछनों (चिह्नों) पर जो पड़ी। उन्हें देखते ही इसे अपने पूर्वजन्म का ज्ञान हो गया। जिसे वह खा रही है, वह उसी का पुत्र है, जिसपर उसका बेहद प्यार था, उसे ही वह खा रही है यह ज्ञान होते ही उसे जो दुःख, जो आत्म-ग्लानि हुई वह कही नहीं जा सकती। वह सोचती है, हाय! मुझ सी पापिनी कौन होगी जो अपने ही प्यारे पुत्र को मैं आप ही खा रही हूं। धिक्कार है मुझसी पतिता को जो पवित्र धर्म को छोड़कर अनन्त संसार को अपना वास बनाती है। उस मोह को, उस संसार को धिक्कार है जिसके वश हो यह जीव अपने हित-अहित को भूल जाता है और फिर कुमार्ग में फँसकर दुर्गतियों दुःख उठाता है। इस प्रकार अपने किए कर्मों की बहुत कुछ आलोचना कर उस व्याघ्री ने सन्यास ग्रहण कर लिया और अन्त में शुद्ध भावों से मरकर व सौधर्मस्वर्ग में देव हुई। सच है, जीवों की शक्ति

अद्‌भुत ही हुआ करती है और जैनधर्म का प्रभाव भी संसार में बड़ा ही उत्तम है। नहीं तो कहाँ तो पापिनी व्याघ्री और कहाँ उसे स्वर्ग प्राप्ति इसलिए जो आत्मसिद्धि के चाहने वाले हैं, उन भव्य जनों को स्वर्ग-मोक्ष को देनेवाले पवित्र जैन धर्म का पालन करना चाहिए।

गजकुमार मुनि की कथा

नेमिनाथ भगवान् की जन्मस्थली प्रसिद्ध द्वारिका के अर्द्धचक्री वासुदेव की रानी गन्धर्वसेना से गजकुमार का जन्म हुआ था। गजकुमार बड़ा वीर था। उसके प्रताप को सुनकर ही शत्रुओं की वस्तुत मानरुपी बेल भस्म हो जाती थी।

पोदनपुर के राजा अपराजित ने तब बड़ा सिर उठा रक्खा था। वासुदेव ने उसे अपने आधीन करने के लिए अनेक यत्न किये, पर वह किसी तरह इनके हाथ न पडा। तब इन्होंने शहर में यह ढ़िढ़ोरा पिटवाया कि जो मेरे शत्रु अपराजित को पकड़ लाकर मेरे सामने उपस्थित करेगा, उसे उसका, मन चाहा वर मिलेगा। गजकुमार यह सुनकर पिता के पास गया और हाथ जोड़कर उसने स्वयं अपराजित पर चढ़ाई करने की प्रार्थना की। उसकी प्रार्थना स्वीकृत हुई। वह सेना लेकर अपराजित पर जा चढ़ा दोनों ओर से घमासान युद्ध हुआ। अन्त में विजयलक्ष्मी ने गजकुमार का साथ दिया। अपराजित को पकड़ कर उसने पिता के सामने उपस्थित कर दिया। गजकुमार की इस वीरता को देखकर वासुदेव बहुत खुश हुए।

ऐसे बहुत कम अच्छे पुरुष होते हैं जो मनचाहा वर प्राप्तकर सदाचारी और सन्तोषी बने रहे। परन्तु गजकुमारी की उल्टी दशा हुई। उसने मनचाहा वर पिताजी से लाभ कर अन्याय की ओर कदम बढ़ाया। वह पापी जबदस्ती अच्छे-अच्छे घरों की सती स्त्रियों की इज्जत लेने लगा। वह ठहरा राजकुमार, उसे कौन रोक सकता था जो रोकने की कुछ हिम्मत करता तो वह उसकी आँखों का कांटा बन खटकने लगता और फिर गजकुमार उसे जड़मूल से उखाड़कर फेंकने का यत्न करता।

इसी तरह गजकुमार ने अनेक अच्छी-अच्छी कुलीन स्त्रियों की इज्जत ले डाली। पर उसके दबदबे से किसी ने चूँ तक न किया। एक दिन पासुंल सेठ की सुरति नाम की स्त्री पर इसकी नजर पड़ी और इसने उसके साथ भी बलात्कार किया। यह देख पांसुल का हृदय क्रोधाग्नि से जलने लगा। पर वह बेचारा इसका कुछ कर नहीं सकता था। इसलिये उसे भी चुपचाप घर में बैठा रह जाना पड़ा।

एक दिन भगवान् नेमिनाथ भव्य-जनों के पुण्योदय से द्वारका में आए। बलभद्र, वासुदेव, तथा और भी बहुत राजा-महाराजा बड़े आनन्द के साथ भगवान् पूजा करने को गए। बहुत भक्तिभावों से उन्होंने स्वर्ग-मोक्ष का सुख देने वाले भगवान की पूजा-स्तुति की, उनका ध्यान-स्मरण किया। बाद में गृहस्थ और मुनिधर्म का भगवान् के द्वारा उन्होंने उपदेश सुना, उपदेश सुनकर सभी बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने बार-बार भगवान् स्तुति की। गजकुमार भी उपदेश

सुनने गया। भगवान् के उपदेश का गजकुमार के हृदय पर अत्यन्त प्रभाव पड़ा। वह अपने किये पाप कर्मों पर बहुत पछताया। संसार से उसे बड़ी घृणा हुई। वह उसी समय भगवान् के पास ही दीक्षा ले विहार कर गए। अनेक देशों और नगरों में विहार करते, और भव्य-जनों को धर्मोपदेश द्वारा शान्तिलाभ कराते अन्त में वे गिरनार पर्वत के जंगल में आए उन्हें अपनी आयु बहुत कम जान पड़ी। इसलिए वे प्रयोपगमन सन्यास लेकर आत्म-चिन्तवन करने लगे। तब इनकी ध्यान-मुद्रा बड़ी निश्चल और देखने योग्य थी।

इनके सन्यास का हाल पांसुल सेठ को जान पड़ा, जिसकी स्त्री को गजकुमार ने अपने दुराचारीपने की दशा में अपवित्र किया था, सेठ को अपना बदला चुकाने का बड़ा अच्छा मौका हाथ लग गया। वह क्रोध से भर्राता हुआ गजकुमार मुनि के पास पहुंचा और उनके सब सन्धिस्थानों में लोहे के बड़े-बड़े कीलें ठोककर चलता बना। गजकुमार मुनि पर उपद्रव तो बड़ा ही दुःसह हुआ, पर वे जैनतत्व के ज्ञाता थे, अनुभवी थे, इसलिये उन्होंने इस घोर कष्ट को एक तिनके के चुभने की बराबर भी न गिन बड़ी शान्ति और धीरता के साथ शरीर छोड़ा। यहाँ से स्वर्ग गए। अहा! महापुरुषों का चरित बड़ा ही आश्चर्य पैदा करने वाला होता है। देखिये, कहां तो गजकुमार मुनि का ऐसा दुःसह कष्ट और कहां सुख देने वाली पुण्य समाधि! इसका कारण सच्चा तत्वज्ञान है। इसलिये इस महत्ता को प्राप्त करने के लिए तत्वज्ञान का अभ्यास करना सबके लिए आवश्यक है।

सारे संसार के प्रभु कहलाने वाले जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा सुख के कारण धर्म का उपदेश सुनकर जो गजकुमार अपनी दुर्बुद्धि को छोड़कर पवित्र बुद्धि के धारक और बड़े भारी सहनशील योगी होगए, वे हमें सुबुद्धि और शान्ति प्रदान करें। (आराधना कथा कोष से)

दान करनेवालों की कथा

पूर्वाचार्यो ने दान को चार हिस्सों में बांटा है, जैसे आहार-दान, औषधिदान, शास्त्रदान और अभयदान। और ये ही दान पवित्र है। योग्य पात्रों को यदि ये दान दिए जायें तो इनका फल अच्छी जमीन में बोये हुए बड़ के बीज की तरह अनन्त गुणा होकर फलता है। जैसे एक ही बावड़ी का पानी अनेक वृक्षों में भिन्न-भिन्न हो जाता है। इसलिए जहाँ तक बने अच्छे सुपात्रों को दान देना चाहिए। सब पात्रों में जैनधर्म का आश्रय लेने वाले को अच्छा पात्र समझना चाहिए, औरों को नहीं। क्योंकि जब एक कल्पवृक्ष हाथ लग गया फिर औरों से क्या लाभ? जैनधर्म में पात्र तीन बतलाये गए है। उत्तम पात्र-मुनि, मध्यम पात्र-व्रती श्रावक और जघन्य पात्र-अव्रतसम्यग्दृष्टि। इन तीन प्रकार के पात्रों को दान देकर भव्य पुरुष सुखलाभ करते हैं

धन-दौलत, स्त्री-पुत्र, खान-पान, भोग-उपभोग आदि जितनी उत्तम-उत्तम सुख सामग्री है वह तथा इन्द्र, नागेन्द्र, विद्याधर, चक्रवर्ती आदि महापुरुषों की पदवियां, अच्छे सत्पुरुषों की संगति, दिनों-दिन ऐश्वर्यादि की वृद्धि, वे सब पात्रदान के फल से प्राप्त होते है। यही नहीं, किन्तु इस पात्र दान के फलसे मोक्ष प्राप्ति भी सुलभ है। राजा श्रेयांसने दान के ही फल से मुक्ति लाभ किया था। इस प्रकार पात्रदान का अनन्त फल जानकर बुद्धिमानों को इस ओर अवश्य अपने ध्यान को खींचना चाहिए। जिन-जिन सत्पुरुषों ने पात्रदान का आज तक फल पाया है, उन सबके नाम मात्र का उल्लेख भी जिन भगवान् बिना और कोई नहीं कर सकता। आचार्यों ने ऐसे दानियों में सिर्फ चार व्यक्तियों का उल्लेख शास्त्रों में किया है। श्रीषेण ने आहारदान, वृषभसेना ने औषधिदान, कौण्डेश ने शास्त्रदान और सूअर ने अभयदान में प्रसिद्ध प्राप्त की।

श्रीषेण का आहारदान

प्राचीन काल में श्रीषेण राजा ने आहारदान दिया। इसी भारतवर्ष में मलय नाम का एक अति प्रसिद्ध देश था। रत्नंसचयपुर इसी की राजधानी थी। जैनधर्म का इस सारे देश में बहुत प्रचार था। उस समय इसके राजा श्रीषेण थे। श्रीषेण धर्मज्ञ, उदारमना, न्यायप्रिय, प्रजाहितैषी, दानी और बड़े विचारशील थे। पुण्य से प्राय: अच्छे-अच्छे सभी गुण उन्हें प्राप्त थे। उनका प्रतिद्वंद्वी या शत्रु कोई न था। वे राज्य निर्विघ्न किया करते थे। सदाचार में उस समय उनका नाम सर्वाधिक था। उनकी दो रानियाँ थी। उनके नाम थे सिंहनन्दिता और अनन्दिता। दोनों ही अपनी-अपनी सुन्दरता में अद्वितीय थीं, विदुषी और सती थीं। इन दोनों के दो पुत्र हुए। उनके नाम इन्द्रसेन और और उपेन्द्रसेन थे। दोनों ही भाई सुन्दर थे, गुणी थे, शूरवीर थे और ह्रदय के बड़े शुद्ध थे। इस प्रकार श्रीषेण धन-सम्पति, राज्य-वैभव, कुटुम्ब परिवार आदि से पूर्ण सुखी थे। प्रजा का नीति के साथ पालन करते हुए वे अपने समय को बड़े आनन्द को साथ बिताते थे।

यहाँ एक सात्यकि ब्राह्मण रहता था। इसकी स्त्री का नाम जंघा था। इसके सत्यभामा नाम की एक लड़की थी। रत्नंसचयपुर के पास बल नाम का एक गाँव बसा हुआ था। उसमें धरणीजट नाम का ब्राह्मण वेदों का अच्छा विद्वान् था। अग्निला इसकी स्त्री थी। अग्निला से दो लड़के हुए। उनके नाम इन्द्रभूति और अग्निभूति थे। इसके यहाँ एक दासी-पुत्र (शूद्र) का लड़का रहता था, उसका नाम कपिल था। धरणीजट जब अपने लड़कों को वेदादिक पढ़ाया करता, उस समय कपिल भी बड़े ध्यान से उस पाठ को चुपचाप छुपे हुए सुन लिया करता था। भाग्य से कपिल की बुद्धि बड़ी तेज थी। वह भी अच्छा विद्वान् बन गया, इससे धरणीजट को बड़ा आश्चर्य हुआ। पर सच तो यह है कि बेचारा मनुष्य करे भी क्या, बुद्धि तो कर्मों के

अनुसार होती है न? जब सर्वसाधारण में कपिल के विद्वान हो जाने की चर्चा उठी तो धरणीजट पर ब्राह्मण लोग बिगड़े और उसे डराने लगे कि तुझे बहुत बुरा भोगना पड़ेगा। अपने पर अपने जातीय भाइयों को इस प्रकार क्रोध उगलते देख धरणीजट बड़ा घबराया। तब डर से उसने कपिल को अपने घर से निकाल दिया। कपिल उस गांव से निकल कर रास्ते में ही ब्राह्मण बन गया और इसी रुप में वह रत्नंसचयपुर आ गया। कपिल विद्वान् और सुन्दर था। इसे सात्यकि ने ब्राह्मण ने देखा, इसके गुण रुप को देखकर सात्यकि ने इसे ब्राह्मण ही समझ अपनी लड़की सत्यभामा का इसके साथ ब्याह कर दिया। कपिल अनायास इस स्त्री-रत्न को प्राप्त कर सुख से रहने लगा। राजा ने इसके पाण्डित्य की प्रशंसा सुन इसे अपने यहाँ पुराण पढ़ने को रख लिया। इस तरह कुछ वर्ष बीते। एक बार सत्यभामा ऋतुमती हुई, उस समय भी कपिल ने उससे संसर्ग करना चाहा। उसके इस दुराचार को देखकर सत्यभामा को इसके विषय में सन्देह हो गया। उसने इस पापी को ब्राह्मण न समझ इससे प्रेम करना छोड़ दिया। वह इससे अलग रह दु:ख के साथ अपनी जिन्दगी बिताने लगी।

इधर धरणीजट के कोई ऐसा पाप का उदय आया कि जिसने उसकी सब धन-दौलत बरबाद हो गई। वह भिखारी-सा हो गया। उसे मालूम हुआ कि कपिल की रत्नसंचयपुर में अच्छी हालत में हैं। राजा द्वारा उसे धन-मान प्राप्त है। वह तब उसी समय सीधा कपिल के पास आया। उसे दूर ही से देखकर कपिल मन ही मन धरणीजट पर बड़ा गुस्सा हुआ। अपनी बढ़ी हुई मान-मर्यादा के समय इसका अचानक आ जाना कपिल को बहुत खटका। पर वह कर क्या सकता था। उसे साथ ही उस बात का बड़ा भय हुआ कि कहीं वह मेरे सम्बन्ध में लोगों को भड़का न दें। यही सब विचार कर वह उठा और बड़ी प्रसन्नता से सामने जाकर धरणीजट को इसने नमस्कार किया बड़े मान से लाकर उसे ऊचें आसन पर बैठाया। इसके बाद उसने कहा-पिताजी, मेरी मां, भाई आदि सब सुख से तो हैं न? इस प्रकार कुशल समाचार पूछ कर धरणीजट को स्नान, भोजनादि कराया और उसका वस्त्रादि से खूब सत्कार किया। फिर सबसे आगे एक विशेष सम्मान की जगह बैठाकर कपिल ने सब लोगों को धरणीजट का परिचय कराया कि ये ही मेरे पिताजी है। बड़े विद्वान् और आचार-विचारवान है। कपिल ने यह सब समाचार इसीलिए किया था कि कहीं उसकी माता का सब भेद खुल न जाय। धरणीजट द्ररिद्री हो रहा था। धन की उसे चाह थी ही, इसलिए उसने उसे अपनी पुत्र मान लेने में कुछ भी आनाकानी न की। धन के लोभ से उसे यह पाप स्वीकार कर लेना पड़ा। तब धरणीजट वहीं रहने लग गया। यहाँ रहते इसे कई दिन हो चुके। सबके साथ इसका थोड़ा बहुत परिचय भी हो गया। एक दिन मौका पाकर सत्यभामा ने इसे कुछ थोड़ा बहुत द्रव्य देकर एकान्त में पूछा-महाराज, आप ब्राह्मण हैं और मेरा विश्वास है कि ब्राह्मण देव कभी झूठ नहीं बोलते। आप कृपाकर मेरे सन्देह को दूर कीजिए। मुझे आपके इन कपिल जी का दुराचार देख विश्वास नहीं होता कि ये आप सरीखे पवित्र ब्राह्मण के कुल में उत्पन्न हुए हों, क्या वास्तव में ये ब्राह्मण

ही हैं या कुछ गोलमाल है। धरणीजट को कपिल से इसलिए द्वेष हो ही रहा था कि भरी सभा में कपिल ने उसे अपना पिता बता उसका अपमान किया था, दूसरे उसे धन की चाह थी और सत्यभामा ने उसे पहले ही इच्छानुसार धन दिया था। तब वह कपिल की सच्ची हालत क्यों छिपायेगा? धरणीजट सत्यभामा को सब हाल कहकर और प्राप्त धन लेकर रत्नसंचयपुर से चल दिया। समस्त वृत्तान्त सुनकर कपिल पर सत्यभामा की घृणा पहले से कई सौ गुणी बढ़ गई। उसने तब उससे बोलना-चालना तक छोड़कर एकान्तवास स्वीकार कर लिया, पर अपने कुलाचार की मान-मर्यादा को न छोड़ा। सत्यभामा को इस प्रकार अपने से घृणा करते देख कपिल उससे बलात्कार करने पर उतारु हो गया। तब सत्यभामा घर से भागकर श्रीषेण महाराज की शरण में आ गई और सब हाल उनसे कह दिया। श्रीषेण ने तब उस पर दयाकर उसे लड़की की तरह अपने यहा रख लिया। कपिल सत्यभामा के अन्याय की पुकार लेकर श्रीषेण के पास पहुचा। उसके व्यभिचार की हालत उन्हे पहले ही मालूम हो चुकी थी, इसलिए उसकी कुछ न सुनकर श्रीषेण ने उस लम्पटी और कपटी ब्राह्मण को अपने देश ही से निकाल दिया।

एक दिन श्रीषेण के यहाँ आदित्यगति और अरिंजय नाम के दो चारणऋद्धि के धारी मुनिराज पृथ्वी को अपने चरण रज से पवित्र करते हुए आहार के लिए आये। श्रीषेण ने बड़ी भक्ति से उनका सम्मान कर उन्हें पवित्र आहार कराया। इस पात्रदान से उनके यहाँ स्वर्ग के देवो ने रत्नो की वर्षा की, कल्पवृक्षों ने सुन्दर और सुगन्धित फूल बरसाये, दुन्दुभी बाजे बजे, मन्द-सुगन्ध वायु बही और जय-जयकार हुआ, खूब बधाइयाँ मिली। और सच है, सुपात्रों को दिए दान के फल से क्या नही हो पाता। इसके बाद श्रीषेण ने और बहुत वर्षों तक राज्य-सुख भोगा। अन्त में मरकर वे धातकीखण्ड द्वीप के पूर्वभाग की उत्तर-कुरु भोगभूमि में उत्पन्न हुए। श्रीषेण की दोनो रानिया तथा सत्यभामा भी इसी उत्तर कुरु भोगभूमि में जाकर उत्पन्न हुई। ये सब इस भोग भूमि मे दस प्रकार के कल्पवृक्ष से मिलने वाले सुखों को भोगते है आनन्द से रहते है। यहाँ इन्हें कोई खाने-कमाने की चिन्ता नहीं करनी पड़ती। पुण्योदय से प्राप्त हुए भोगों को निराकुलता से ये आयु पूर्ण होने तक भोगेगें। श्रीषेण ने भी भोगभूमि का सुख भोगा। अन्त मे वे स्वर्ग मे गए। स्वर्ग मे भी मनचाहा दिव्य सुख भोगकर अन्त में वे मनुष्य हुए। इस जन्म में ये कई बार अच्छे-अच्छे राजघराने में उत्पन्न हुए। पुण्य से फिर स्वर्ग गए। वहाँ की आयु पूरी कर भारतवर्ष सुप्रसिद्ध शहर हस्तिनापुर के राजा विश्वसेन की रानी ऐरा के यहाँ इन्होंने अवतार लिया। यही सोलहवे श्रीशान्तिनाथ तीर्थकरके नाम से संसार में प्रख्यात हुए। इनके जन्म समय मे स्वर्ग के देवो ने आकर बड़ा उत्सव किया था, इन्हें सुमेरु पर्वत पर ले जाकर क्षीरसमुद्र स्फटिक से पवित्र और निर्मल जल से इनका अभिषेक किया था। भगवान् शान्तिनाथ ने अपनी जीवन बडी ही पवित्रता के साथ बिताया। उनका जीवन संसार का आदर्श जीवन है। अन्त में योगी हो इन्होंने धर्म का पवित्र का उपदेश देकर अनेक प्राणियों को संसार से पार किया, दुःखों से उनकी रक्षा कर उन्हें सुखी किया। अपना संसार के प्रति जो कर्तव्य था उसे पूरा कर इन्होंने

निर्वाण लाभ किया। यह सब पात्रदान का फल है। इसलिये जो लोग पात्रों को भक्ति से दान देगें वे भी नियम से ऐसा ही उच्च सुख लाभ करेंगे। यह बात ध्यान में रखकर सत्पुरुषों का कर्तव्य है, कि वे प्रतिदिन कुछ न कुछ दान अवश्य करें। यही दान स्वर्ग और मोक्ष के सुख का देने वाला है।

औषधिदान की कथा

निरोगी होना, चेहरे पर सदा प्रसन्नता रहना, धनादि विभूतिका मिलना, ऐश्वर्य का प्राप्त होना, सुन्दर होना, तेजस्वी और बलवान् होना और अन्त में स्वर्ग या मोक्ष का सुख प्राप्त करना ये सब औषधिदान का फल है। इसीलिये जो सुखी होना चाहते है। उन्हें निर्दोष औषधिदान करना उचित है। इस औषधिदान द्वारा अनेक सज्जनों ने फल प्राप्त किया है। उनमें एक वृषभसेना का पवित्र चरित्र यहाँ संक्षिप्त में कहा जा रहा है।

भगवान के जन्म से पवित्र इस भारतवर्ष नाम के देश में नाना प्रकार उत्तमोत्तम सम्पत्ति भरा अतएव अपनी सुन्दता से स्वर्ग की शोभा को नीची करनेवाला कावेरी नाम का नगर है। जिस समय की वह कथा है, उस समय कावेरी नगर के राजा उग्रसेन थे। उग्रसेन प्रजा के सच्चे हितैषी और राजनीति के अच्छे पण्डित थे।

यहाँ धनपति नाम का एक अच्छा सद्गृहस्थ सेठ रहता था। जिनभगवान की पूजा-प्रभावनादि से उसे अत्यन्त प्रेम था। इसकी स्त्री धनश्री इसके घर की मानों दूसरी लक्ष्मी थी। धनश्री सती और बड़े सरल मन की थी। पूर्व पुण्य से इसके वृषभसेना नाम की एक देवकुमारी सी सुन्दरी और सौभाग्यवती लड़की हुई। वृषभसेना की धाय रुपवती इसे सदा नहाया-धुलाया करती थी। इसके नहाने का पानी बह-बह कर एक गड्ढे मे जमा हो गया था। एक दिन की बात है रुपमती वृषभसेना को नहला रही थी। इसी समय एक महारोगी कुत्ता उस गड्ढे में, जिसमें वृषभसेना के नहाने का पानी इकट्ठा हो रहा था, गिर पड़ा। जब वह उस पानी में से निकला तो बिलकुल नीरोग दिखाई पड़ा।

रुपवती उसे देखकर चकित हो गई। उसने सोचा- केवल साधाण जल से इस प्रकार रोग नहीं जा सकता। यह वृषभसेना के नहाने का पानी है इसमें इसके पुण्य का कुछ भाग अवश्य होना चाहिये। ज्ञात होता है वृषभसेना कोई बड़ी भाग्यशाली लड़की है। ताज्जुब नहीं कि यह मनुष्य रुपिणी कोई देवी हो। नहीं तो इसके नहाने के जल में ऐसी चकित करनेवाली करामात हो ही नहीं सकती। इस पानी की और परीक्षा कर देख लू, जिससे और भी दृढ़ विश्वास हो जायगा कि क्या यह पानी सचमुच ही रोगनाशक है?

तब रुपवती थोड़े से उस पानी को लेकर अपनी माँ के पास आई इसकी माँ की आँखें कई बारह वर्षों से खराब हो रही थी। इससे वह बड़ी दुःख में थी। आंखो को रुपवती ने इस जल से धोकर साफ किया और देखा तो उनका रोग बिलकुल जाता रहा। वे पहले सी बड़ी सुन्दर हो गई। रुपवती को वृषभसेना के पुण्यवती होने में जब कोई सन्देह न रह गया। इस रोग नाश करने वाले जल के प्रभाव से रुपवती की चारों ओर बड़ा प्रसिद्धि हो गई। बड़ी-बड़ी दूर के रोगी अपने रोग का इलाज कराने को आने लगे। क्या आंख के रोग को, क्या पेट के रोग को, क्या सिर सम्बन्धी पीड़ाओं की और क्या कोढ़ वगैरह रोगों को, यही क्या जहर असाध्य से असाध्य रोगों को भी केवल एक इसी पानी से आराम होने लगा। रुपवती की इससे बड़ी प्रसिद्ध हो गई।

उग्रसेन और मेघपिंगल राजा की पुरानी शत्रुता चली आ रही थी। इस समय उग्रसेन ने अपने मन्त्री रणपिंगल को मेघपिंगल पर चढ़ाई करने की आज्ञा दी। रणपिंगल सेना लेकर मेघपिंगल पर जा चढ़ा और उसके सारे देश को उसने घेर लिया। मेघपिंघल ने शत्रु को युद्ध में पराजित करना कठिन समझ दूसरी ही युक्ति से उसे देश से निकाल बाहर करना विचारा और इसके लिए उसने यह योजना बनाई कि शत्रु की सेना में जिन-जिन कुंए, बावड़ी से पीने का जल आता था, उन सबमें अपने चतुर जासूसों द्वारा विष घुलवा दिया। फल यह हुआ कि रणपिंगल की बहुत सी सेना तो मर गई और बची हुई सेना को साथ लिए वह स्वयं भी भाग कर अपने देश लौट आया। उसकी सेना पर तथा उस पर जो विष का असर हुआ था, उसे रुपवती ने उसी जल से ठीक किया। रणपिंगल को उसी प्रकार शान्ति रुपवती के जल से शान्ति मिली और वह रोगमुक्त हुआ।

रणपिंगल का हाल सुनकर उग्रसेन को मेघपिंगल पर बड़ा क्रोध आया तब स्वयं उन्होंने उस पर चढ़ाई की। उग्रसेन ने सावधानी रखने में कोई कसर न की। पर भाग्य का लेख किसी तरह नहीं मिटता। मेघपिंगल का चक्र उग्रसेन पर भी चल गया। जहर मिले जल को पी कर उनकी भी तबियत बहुत बिगड़ गई। तब जितनी जल्दी उनसे बन सका अपनी राजधानी में उन्हें लौट आना पड़ा उनका भी बड़ा ही अपमान हुआ। रणपिंगल से उन्होंने, वह कैसे आराम हुआ था, इस बाबत पूछा। रणपिंगल ने रुपवती का जल बतलाया। उग्रसेन तब उसी समय अपने आदमियों को जल ले आने के लिए सेठ के यहाँ भेजा। अपनी लड़की का स्नान-जल लेने के लिए राजा के आदमियों को आया देख सेठानी धनश्री ने अपने स्वामी से कहा-क्यों जी, अपनी वृषभसेना का स्नान-जल राजा के सिर पर छिड़का जाय यह तो उचित नहीं जान पड़ता। सेठ ने कहा-तुम्हारा यह कहना ठीक है, परन्तु जिसके लिए दूसरा कोई उपाय नहीं तब क्या किया जाय। इसमें अपने वश की क्या बात है? हम तो न जान-बूझकर ऐसा करते है और न सच्चा हाल किसी से छुपाते ही हैं, तब इससे अपना तो कोई अपराध नहीं हो सकता। यदि राजा साहब ने पूछा तो हम सब हाल उनसे यथार्थ कह देंगें। दोनों ने विचार कर रुपवती को जल देकर उग्रसेन के महल पर भेजा। रुपवती ने उस जल को राजा के सिर पर छिड़क कर उन्हें आराम कर दिया। उग्रसेन रोगमुक्त हो गए। उन्हें बहुत खुशी हुई। रुपवती से उन्होंने उस जल का हाल

पूछा। रुपवती कोई बात न छुपाकर जो बात सच्ची थी वह राजा से कही दी। सुनकर राजा ने धनपति सेठ को बुलाया ओर उसका बड़ा आदर-सम्मान किया। वृषभसेना का हाल सुनकर ही उग्रसेन की इच्छा उसके साथ विवाह करने की हो गई थी और इसीलिये उन्होंने मौका पाकर धनपित से अपनी इच्छा कह सुनाई। धनपति ने उसके उत्तर में कहा-राजराजेश्वर, मुझे आपकी आज्ञा मान लेने में कोई रुकावट नहीं है। पर इसके साथ आपको स्वर्ग-मोक्ष की देने वाली और जिसे इन्द्र, स्वर्गवासी देव, चक्रवर्ती, विद्याधर राजा-महाराजा आदि महापुरुष बड़ी भक्ति के साथ करते है। ऐसी अष्टान्हिका पूजा करनी होगी और भगवान् का बहुत उत्सव के साथ अभिषेक करना होगा। साथ ही इसके आपके यहाँ जो पशु-पक्षी पिंजरों में बन्द हैं, उन्हें तथा कैदियों को छोड़ना होगा। ये सब बातें आप स्वीकार करें तो मैं वृषभसेना का ब्याह आपके साथ कर सकता हूँ। उग्रसेन ने धनपति की सब बातें स्वीकार कीं। और उसी समय उन्हें कार्य में भी परिणत कर दिया।

वृषभसेना का विवाह हो गया। सब रानियों में पट्टरानी का सौभाग्य उसे ही मिला। राजा ने अब अपना राजकीय कामों से बहुत कुछ सम्बन्ध कम कर दिया। उनका प्रायः समय वृषभसेना के साथ सुखोपभोग में जाने लगा। वृषभसेना पुण्योदय से राजा की विशेष प्रेम-पात्र हुई। स्वर्ग सरीखे सुखों को वह भोगने लगी। यह सब कुछ होने पर भी वह अपने धर्म-कर्म को जरा भी नहीं भूली। वह जिनभगवान की सदा जलादि आठ द्रव्यों से पूजा करती, उनका अभिषेक व्रत, तप, शील, संयमादि का पालन करती और धर्मात्मा सत्पुरुषों का अत्यन्त प्रेम के साथ आदर-सत्कार करती। और सच है, पुण्योदय से जो उन्नति हुई, उसका फल तो यही है कि साधर्मियों से प्रेम हो, हृदय में उनके प्रति उच्च भाव हों। वृषभसेना अपना जो कर्त्तव्य था, उसे पूरा करती, भक्ति से जिनधर्म की जितनी बनती उतनी सेवा करती सुख से रहा करती थी।

राजा उग्रसेन के यहाँ बनारस का राजा पृथिवीचन्द्र कैद था। वह अधिक दुष्ट था। पर उग्रसेन का तो तब भी यही कर्त्तव्य था कि वे अपनी प्रतिज्ञा अनुसार विवाह के समय उसे भी छोड़ देते। पर ऐसा उन्होंने नहीं किया।

पृथिवीचन्द्र की रानी का नाम नारायण दत्ता था। उसे आशा थी कि उग्रसेन अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार वृषभसेन साथ विवाह के समय मेरे स्वामी को अवश्य छोड़ देंगे। पर उसकी वह आशा व्यर्थ हुई। पृथिवीचन्द्र तब भी न छोड़े गए। यह देख नारायणदत्ता ने अपने मंत्रियों से सलाह ले पृथिवीचन्द्र को छुड़ाने के लिए एक दूसरी ही युक्ति की और उसमें उसे मनचाही सफलता भी प्राप्त हुई। उसने अपने यहाँ वृषभसेना के नाम से कई दानशालाएं बनवाईं। कोई विदेशी या स्वदेशी हो सबको उनमें भोजन करने को मिलता था। उन दानशालाओं में उत्तम से उत्तम छहों रसमय भोजन कराया जाता था। थोड़े ही दिनों में इन दानशालाओं की प्रसिद्धि चारों ओर हो गई। जो इनमें एक बार भी भोजन कर जाता वह फिर इनकी प्रंशसा करने में कोई कमी न करता था। बड़ी-बड़ी दूर से इनमें भोजन करने को लोग आने लगे। कावेरी के भी बहुत से ब्राह्मण यहाँ भोजन कर जाते थे। उन्होंने इन शालाओं की बहुत तारीफ की।

रुपवती को इन वृषभसेना के नाम से स्थापित की गई दानशालाओं का हाल सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ और साथ ही उसे वृषभसेना पर इस बात से बड़ा गुस्सा आया कि मुझसे बिना पूछे उसने बनारस में ये शालाएं बनवाई ही क्यों? और इसका उसने वृषभसेना को उलाहना भी दिया। वृषभसेना ने तब कहा - माँ, मुझ पर तुम व्यर्थ ही नाराज होती हो। न तो मैंने कोई दानशाला बनारस में बनवाई और न मुझे उनका कुछ हाल ही मालूम है। यह सम्भव हो सकता है कि किसी ने मेरे नाम से उन्हें बनाया हो। पर इसका शोध लगाना चाहिए कि किसने तो यह शालाए बनवाईं और क्यों बनवाईं? आशा है पता लगाने से सब रहस्य ज्ञात हो जायगा। रुपवती ने तब कुछ जासूसों को उन शालाओं की सत्यता जानने के लिए भेजा। उनके द्वारा रुपवती को मालूम हुआ कि वृषभसेना के विवाह के समय उग्रसेन ने सब कैदियों को छोड़ने की प्रतिज्ञा की थी। उस प्रतिज्ञा के अनुसार पृथिवीचन्द्र को उन्होंने न छोड़ा। यह बात वृषभसेना को जान पड़े, उसका ध्यान इस ओर आकर्षित हो इसलिये ये दान-शालाएं उसके नाम से पृथिवीचन्द्र की रानी नारायण दत्ता ने बनवाई हैं। रुपवती ने यह सब हाल वृषभसेना से कहा। वृषभसेना ने तब उग्रसेन से प्रार्थना कर उसी समय पृथिवीचन्द्र को छुड़वा दिया। पृथिवीचन्द्र वृषभसेना के इस उपकार से बड़ा कृतज्ञ हुआ। उसने इस कृतज्ञाता के वश हो उग्रसेन और वृषभसेना का एक बहुत ही आकर्षक चित्र तैयार करवाया। उस चित्र में दोनों राजा रानी के पांवों में सिर झुकाया हुआ अपना चित्र भी पृथिवीचन्द्र ने खिंचवाया। वह चित्र फिर उनको भेंट कर उसने वृषभसेना से कहा - माँ, तुम्हारी कृपा से मेरा जन्म सफल हुआ। आपकी इस दया का मैं जन्म-जन्म में ऋणी रहूंगा। आपने इस समय मेरा जो उपकार किया उसका बदला तो मैं क्या चुका सकूंगा पर उसकी तारीफ में कुछ कहने तक के लिए मेरे पास उपयुक्त शब्द नहीं है। पृथिवीचन्द्र की यह नम्रता यह विनयशीलता देखकर उग्रसेन उस पर बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने उसका बहुत आदर-सत्कार किया।

मेघपिंगल उग्रसेन का शत्रु था, पर वह पृथिवीचन्द्र से बहुत डरता था। उसका नाम सुनते ही वह काप उठता था। उग्रसेन को यह बात मालूम थी। इसलिए इस बार उन्होंने पृथिवीचन्द्र को उस पर चढ़ाई करने की आज्ञा की। उनकी आज्ञा शिरोधार्य कर पृथिवीचन्द अपनी राजधानी में गया। और तुरंत उसने अपनी सेना को मेघपिंगल पर चढ़ाई करने की आज्ञा की। सेना के प्रयाण का बाजा बजने वाला ही था कि कावेरी नगर से खबर आ गई - "अब चढ़ाई की कोई जरुरत नहीं। मेघपिंगल स्वयं महाराज उग्रसेन के दरबार में उपस्थित हो गया है।" बात यह थी कि मेघपिंगल पृथिवीचन्द्र के साथ लड़ाई में पहले कई बार हार चुका था। इसलिए वह उससे बहुत डरता था। यही कारण था कि उसने पृथिवीचन्द्र से लड़ना उचित न समझा। तदन्तर वह उग्रसेन का सामन्त राजा बन गया। सच है, पुण्य के उदय से शत्रु भी मित्र हो जाते है।

एक दिन दरबार लगा हुआ था - उग्रसेन सिंहासन पर अधिष्ठित थे। उस समय उन्होंने एक प्रतिज्ञा की - आज सामन्त राजाओं द्वारा जो भेंट आयेगी, वह आधी मेघपिंगल की और आधी

श्रीमती वृषभसेना को भेंट होगी। इसलिए कि उग्रसेन महाराज की अपने मेघपिंगल पर पूरी कृपा हो गई थी। आज और बहुत सी धन दौलत के अतिरिक्त दो बहुमूल्य सुन्दर कम्बल उग्रसेन की भेंट में आये। उग्रसेन ने अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार भेंट का आधा हिस्सा मेघपिंगल के यहाँ और आधा हिस्सा वृषभसेना के यहाँ पहुंचा दिया।

एक दिन मेघपिंगल की रानी इस कम्बल को ओढ़कर किसी आवश्यक कार्य के लिए वृषभसना के महल आई। ऐसा ही एक कम्बल वृषभसेना के पास भी था। आज वस्त्रों के उतारने और पहने में भाग्य से मेघपिंगल की रानी का कम्बल वृषभसेना के कम्बल से बदल गया। उसे इसका कुछ खयाल न रहा ओर वह वृषभसेना का कम्बल ओढ़े ही अपने महल आ गई। कुछ दिनों बाद मेघपिंगल को राज-दरबार में जाने का काम पड़ा। वह वृषभसेना के इसी कम्बल को मेघपिंगल को ओढ़े देखकर उग्रसेन के क्रोध का कुछ ठिकाना न रहा। उन्होंने वृषभसेना के कम्बल को पहचान लिया। उनकी आंख से आग की-सी चिनगारियां निकलने लगी। उन्हें काटो तो खून नहीं। महारानी वृषभसेना का कम्बल इसके पास क्यों और कैसे गया? इसका कोई गुप्त कारण जरुर होना ही चाहिए। बस, यह विचार उनके मन में आते ही उनकी अजब हालत हो गई। उग्रसेन का अपने ऊपर अकारण क्रोध देखकर मेघपिंगल की समझ में इसका कुछ भी कारण न आया। पर ऐसी दशा में उसने अपना वहाँ रहना उचित न समझा। वह उस समय वहाँ से भागा और एक अच्छे तेज घोड़े पर सवार हो बहुत दूर निकल गया। जैसे दुर्जनों से डरकर सत्पुरुष दूर जा निकलते हैं। उसे भागता देख उग्रसेन का सन्देह और बढ़ा। उन्होंने तब एक ओर तो मेघपिंगल को पकड़ लाने के लिए अपने सवारों को दौड़ाया और दूसरी ओर क्रोधाग्नि से जलते हुए वृषभसेना के महल पहुंचे। वृषभसेना से कुछ न कह सुनकर कि तूने अमुक अपराध किया है, एक साथ उसे समुद्र में फिंकवाने का उन्होंने हुक्म दे दिया। बेचारी निर्दोष वृषभसेना राजाज्ञा के अनुसार समुद्र में डाल दी गई। जिसके वश हो लोग योग्य और आयोग्य कार्य का भी विचार नहीं कर पाते। अपरिचित मनुष्य किसी को कोई कितना ही कष्ट क्यों न दे, दु:खों की कसौटी पर उसे कितना ही क्यों न चढ़ाए, उसकी निरपराधता को अपनी क्रोधग्नि में क्यों न झोंक दें, पर यदि वह कष्ट सहने वाला मनुष्य निरपराध है, निर्दोष है, उसका हृदय पवित्रता से भरा है, रोम-रोम में उसके पवित्रता का वास है तो नि:सन्देह कोई बाल बांका नहीं कर सकता। ऐसे मनुष्यों को कितना ही कष्ट हो, उससे उनका हृदय रत्ती भर भी विचलित न होगा। बल्कि जितना-जितना वह इस परीक्षा की कसौटी पर चढ़ता जायगा उतना-उतना ही अधिक उसका हृदय बलवान् और निर्भीक बनता जाएगा। उग्रसेन महाराज भले इस बात को न समझें कि वृषभसेना निर्दोष है, पर वह जानती थी कि मैं सर्वथा निर्दोष हूं। फिर मुझे कोई ऐसी बात नही दिखाई पड़ती कि जिसके लिए मैं दु:खी कर अपनी आत्मा को निर्बल बनाऊँ। बल्कि मुझे इस बात की प्रसन्नता होनी चाहिए कि सत्य के लिए मेरा जीवन गया। उसने ऐसे ही और बहुत से विचारों से अपनी आत्मा को बलवान् और सहनशील बना लिया। वृषभसेना अपनी

पवित्रता पर विश्वास रखकर भगवान् के चरणों का ध्यान करने लगी। अपने मन को उसने परमात्म प्रेम में लीन कर लिया। उसने साथ ही प्रतिज्ञा की कि यदि इस परीक्षा में मैं पास होकर नया जीवन लाभ कर सकूं तो अब मैं संसार की विषयवासना में न फंसकर अपने जीवन को तप के पवित्र प्रवाह में बहा दूंगी, जो तप जन्म और मरण ही नाश करने वाला है। उस समय वृषभसेना की वह पवित्रता, वह दृढ़ता, वह शील का प्रभाव, वह स्वभावसिद्ध प्रसन्नता आदि बातों ने उसे एक प्रकाशमान उज्ज्वल ज्योति के रुप में परिणत कर दिया था। उसके इस अलौकिक तेज के प्रकाश ने स्वर्ग के देवों की आंखो तक में चकाचौंध उत्पन्न कर दी। उन्हें भी इस तेजस्विनी देवी को सिर झुकाना पड़ा। वे वहाँ से उसी समय आए और वृषभसेना को एक मूल्यवान सिंहासन पर अधिष्ठित कर उन्होंने उस मनुष्यरुपचरणी पवित्रता की मूर्तिमान देवी की बड़े भक्ति भावों से पूजा की, उसका जय-जयकार मनाया।

वृषभसेना के शील का महात्म्य जब उग्रसेन को जान पड़ा तो उन्हें बहुत दु:ख हुआ। अपनी ना-समझी पर वे बहुत पछताए। वृषभसेना के पास जाकर उससे उन्होंने अपने इस अज्ञान की क्षमा मागी और महल पर चलने के लिए उससे प्रार्थना की। यद्यपि वृषभसेना ने पहले यह प्रतिज्ञा की थी कि इस कष्ट से छुटकारा पाते ही मैं योगिनी बनकर आत्महित करुंगी और इस पर वह दृढ़ भी वैसी ही थी: परन्तु इस समय जबकि महाराज स्वयं उसके पास आए तब उनका अपमान न हो: इसलिए उसने एक बार महल जाकर एक-दो दिन बाद फिर दीक्षा लेने का निश्चय किया। वह बड़ी वैरागिन होकर महाराज के साथ महल आ रही थी। पर जिसके मन की जैसी भावना होती है और वह यदि सच्चे हृदय से उत्पन्न हुई होती है वह नियम से पूरी होती है। वृषभसेना के मन में जो पवित्र भावना थी वह सच्चे संकल्प से की गई थी। इसलिए उसे पूरी होना ही चाहिए था और वह हुई भी। रास्ते में वृषभसेना को एक महातपस्वी ओर अवधिज्ञानी गुणधर नाम के मुनिराज के पवित्र दर्शन हुए। वृषभसेना ने बड़ी भक्ति से उन्हें हाथ जोड़ सिर नवाया। इसके बाद उसने उनसे पूछा-हे दया के समुद्र योगिराज, क्या आप कृपाकर मुझे यह बतलाएगे कि मैंने पूर्व जन्मो में क्या-क्या कर्म किए हैं, जिनका मुझे यह फल भोगना पड़ा? मुनि बोले-पुत्री, सुन, तुझे तेरे पूर्व जन्म का हाल सुनाता हूँ। तू पहले जन्म में ब्राह्मण की लड़की थी। तेरा नाम नागश्री था। इसी राजघराने में तू बुहारी दिया करती थी। एक दिन मुनिदत्त नाम के योगिराज महल के परकोटे के भीतर एक वायु रहित पवित्र स्थान में बैठे ध्यान कर रहे थे। समय सन्ध्या का था। इसी समय तू बुहारी देती हुई इधर आई। तूने मूर्खता से क्रोध कर मुनि से कहा - ओ नंगे ढोंगी, उठ यहाँ से, मुझे झाड़ने दे। आज महाराज इसी महल में आएगें। इसलिए इस स्थान को मुझे साफ करना है। मुनि ध्यान में थे, इसलिए वे उठे नहीं; और न ध्यान पूरा होने तक उठ ही सकते थे। वे वैसे के वैसे ही अडिग बैठे रहे। इससे तुझे और अधिक गुस्सा आया। तूने तब सब जगह का कूड़ा-कचरा इकट्ठा कर मुनि को उससे ढक दिया। बाद में तू चली गई। बेटा तू तब मूर्ख थी, कुछ समझती न थी। पर तूने वह काम बहुत बुरा किया था।

तू नहीं जानती थी कि साधु-सन्त तो पूजा करने योग्य होते हैं, उन्हें कष्ट देना उचित नहीं। जो कष्ट देते है वे बड़े मूर्ख और पापी है। अस्तु, सवेरे राजा आये। वे इधर होकर जा रहे थे। उनकी नजर इस स्थल पर पड़ गई। मुनि के सांस लेन से उन पर का वह कूड़ा-कचरा ऊँचा-नीचा हो रहा था। उन्हें कुछ सन्देह सा हुआ। तब उन्होंने उसी समय उस कचरे को हटाया। देखा तो उन्हें मुनि दिखाई पड़े। राजा ने उन्हें निकाल लिया। तुझे जब यह हाल मालूम हुआ और आकर तूने उन मुनिराज को पहले सा ही शान्त पाया तब तुझे उनके गुणों की कीमत जान पड़ी। तू तब बहुत पछताई। अपने कर्मों को तूने बहुत धिक्कारा। मुनिराज से अपने अपराध की क्षमा कराई तब तेरी श्रद्धा उन पर बहुत ही हो गई। मुनि के उस कष्ट को दूर करने का तूने बहुत यत्न किया, उनकी औषधि की और भरपूर सेवा की। उस सेवा के फल से तू इस जन्म में धनपति सेठ की लड़की हुई। तूने जो मुनि को औषधिदान दिया था उससे तो तुझे वह सर्वोषधि प्राप्त हुई जो तेरे स्नान के जल से कठिन से कठिन रोग क्षण-भर में नाश हो जाते है और मुनि को कचरे से ढ़ककर जो उन पर घोर उपसर्ग किया था, उससे तुझे इस जन्म में झूठा कलंक लगा। इसलिये बहिन, साधुओं को कभी कष्ट देना उचित नहीं। मुनिराज द्वारा अपना पूर्वभव सुनकर वृषभसेना का वैराग्य और बढ़ गया। उसने फिर महल में न जाकर अपने स्वामी से क्षमा कराई और संसार की सब माया ममता का पेचीदा जाल तोड़कर परलोक-सिद्धि के लिए इन्हीं गुणधर मुनि द्वारा जैनश्वरी-दीक्षा ग्रहण कर ली। जिस प्रकार वृषभसेना ने औषधिदान देकर उसके फल से सर्वोषधि प्राप्त की उसी तरह और बुद्धिमानों को भी उचित है कि वे जिसे जिस दान की आवश्यकता समझें उसी के अनुसार सदा हर एक की व्यवस्था करते रहें। दान महान् पवित्र कार्य है और पुण्य का कारण है।

शास्त्र दान की कथा

जिनधर्म के प्रचार या उपदेशादि से पवित्र हुए भारतवर्ष में कुरुमरी गांव में गोविन्द नाम का एक ग्वाला रहता था। उसने एक बार जंगल में एक वृक्ष कोटर में जैनधर्म का एक पवित्र ग्रन्थ देखा। उसे वह अपने घर पर ले आया और रोज-रोज उसकी पूजा करने लगा। एक दिन पद्मनन्दि नाम के मुनिराज को गोविन्द ने जाते देखा। इसने वह ग्रन्थ इन मुनि को भेंट कर दिया

मुनिराज ने सोचा इस ग्रंथ द्वारा पहले भी मुनियों ने यहाँ भव्यजनों को उपदेश दिया है, इसके पूजा महोत्सव द्वारा जिनधर्म की प्रभावना की है और अनेक भव्यजनों को कल्याण मार्ग में लगाकर सच्चे मार्ग का प्रकाश किया है। अत: वे इस ग्रंथ को इसी वृक्ष की कोटर में रखकर विहार कर गए हैं। उनके बाद जब से गोविन्द ने इस ग्रन्थ को देखा तभी से वह इसकी भक्ति

और श्रद्धा से निरन्तर पूजा किया करता था। इसी समय अचानक गोविन्द की मृत्यु हो गई। वह निदान करके इसी कुरुमरी गांव में गांव के चौधरी के यहाँ लड़का हुआ। इसकी सुन्दरता देखकर लोगों की आंखे इसके मुख से हटती ही न थीं, सब इससे बड़े प्रसन्न होते थे। लोगों के मन को प्रसन्न करना, उनकी अपने पर प्रीति होना यह सब पुण्य की महिमा है।

एक दिन इसने उन्हीं पद्मनन्दि मुनि को देखा, जिन्हें कि इस गोविन्द ग्वाला के भव में पुस्तक भेंट की थी। उन्हें देखकर इसे जातिस्मरणज्ञान हो गया। मुनि को नमस्कार कर तब धर्मप्रेम से इसने उनसे दीक्षा ग्रहण कर ली। इसकी प्रसन्नता की कुछ पार न रहा। यह बड़े उत्साह से तपस्या करने लगा। दिनों दिन इसके ह्रदय की पवित्रता बढ़ती ही गई। आयु के अन्त में शान्ति से मृत्यु लाभ कर यह पुण्य के उदय से कौण्डेश नाम का राजा हुआ। कौण्डेश बड़ा ही वीर था। तेज में वह सूर्य से टक्कर लेता था। सुन्दरता उसकी इतनी बढ़ी-चढ़ी थी कि उसे देखकर कामदेव को भी नीचा मुंह कर लेना पड़ता था। शत्रु उसका नाम सुनकर काँपते थे। यह बड़ा ऐश्वर्यवान् था, भाग्यशाली था, यशस्वी था और और सच्चा धर्मज्ञ था। वह अपनी प्रजा का शासन प्रेम और नीति के साथ करता था। अपनी सन्तान के समान ही से उसका प्रजा पर प्रेम था। इस प्रकार बड़े ही सुख-शान्ति उसका समय बीतता था।

इस तरह कौण्डेश का बहुत समय बीत गया। एक दिन उसे कोई ऐसा कारण मिल गया कि जिससे उसे संसार में बड़ा वैराग्य हो गया। वह संसार को अस्थिर, विषय भोगों को राग के समान, सम्पत्ति को बिजली की तरह चंचल -तत्काल देखते देखते नष्ट होनेवाली, शरीर को मांस, मल रुधिर आदि महा अपवित्र वस्तुओं भरा हुआ, दु:खों का देने वाला घिनौना और नाश होनेवाला जानकर सबसे उदासीन हो गया। इस जैनधर्म के रहस्य को जानने वाले कौण्डेश के ह्रदय मे वैराग्य भावना की लहरें लहराने लगी। उसे अब घर में रहना कैदखाने के समान जान पड़ने लगा। वह राज्याधिकार पुत्र को सौंप जिनमन्दिर गया। वहाँ उसने जिनभगवान की पूजा की, इसके बाद निर्ग्रन्थ गुरु को नमस्कार कर उनके पास वह दीक्षित हो गया। पूर्व जन्म में कौण्डेश ने जो दान किया था, उसके फल से वह अल्प समय में ही श्रुतकेवली हो गया। यह श्रुतकेवली होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। क्योंकि ज्ञानदान तो केलवज्ञान में भी कारण है। जिस प्रकार ज्ञान-दान से एक ग्वाल श्रुतज्ञानी हुआ उसी तरह अन्य भव्य पुरुषों को भी ज्ञान-दान देकर, अपना आत्महित करना चाहिए। जो भव्यजन संसार के हित करने वाले इस ज्ञान-दान की भक्तिपूर्वक पूजा-प्रभावना, पठन-पाठन लिखने-लिखाने, दान-मान, स्तवन-जपन आदि सम्यक्त्व के कारणों से आराधना किया करते हैं वे धन, जन, यश, ऐश्वर्य, उत्तम कुल, गौत्र, दीर्घायु आदि का मनचाहा सुख प्राप्त करते हैं। अधिक क्या कहा जाय किन्तु इसी ज्ञानदान द्वारा वे स्वर्ग या मोक्ष का सुख भी प्राप्त कर सकेंगे। अठारह दोष रहित जिन भगवान् के ज्ञान का मनन, चिन्तन करना उच्च सुख का कारण है।

अभयदान की कथा

मालवा में एक घटगांव नाम का सम्पत्तिशाली शहर था। इस शहर में देविल नाम का एक धनी कुम्हार और एक धर्मिल नाम का नाई रहता था। इन दोनों ने मिलकर बाहर के आने वाले यात्रियों को ठहराने के लिए एक धर्मशाला बनवा दी। एक दिन देविल ने एक मुनि को लाकर इस धर्मशाला में ठहरा दिया। धर्मिल को जब ज्ञात हुआ तो उसने मुनि को हाथ पकड़ कर बाहर निकाल दिया और वहाँ अन्यमती सन्यासी को लाकर ठहरा दिया। सच है, जो दुष्ट है, दुराचारी है, पापी है, उन्हें साधु-सन्त अच्छे नहीं लगते, जैसे उल्लू को सूर्य। धर्मिल ने मुनि को निकाल दिया, उनका अपमान किया, पर मुनि ने इसका कुछ बुरा न माना। वे जैसे शान्त थे वैसे ही रहे। धर्मशाला से निकल कर वे एक वृक्ष के नीचे आकर ठहर गए। रात इन्होंने वहीं पूर्ण की। डांस, मच्छर वगैरह का इन्हें बहुत कष्ट सहना पड़ा। इन्होंने सब सहा और बड़ी शान्ति से सहा। सवेरे जब देविल मुनि के दर्शन करने को आया और उन्हें धर्मशाला में न देखकर एक वृक्ष के नीचे बैठे देखा तो उसे धर्मिल की इस दुष्टता पर बड़ा क्रोध आया। धर्मिल का सामना होने पर उसने उसे फटकारा। देविल की फटकार धर्मिल न सह सका और बातें बहुत बढ़ गई। यहाँ तक कि परस्पर में मारामारी हो गई। दोनों ही परस्पर में लड़कर मर मिटे। क्रूर भावों से मरकर ये दोनों क्रम से सूअर और व्याघ्र हुए। देविल का जीव सूअर विंध्य पर्वत की गुफा में रहता था। एक दिन कर्मयोग से गुप्त और त्रिगुप्ति नाम के दो मुनिराज अपने विहार से पृथ्वी को पवित्र करते इसी गुफा में आकर ठहरे। उन्हें देखकर इस सूअर को जातिस्मरण हो गया। इसने उपदेश करते हुए मुनिराज द्वारा धर्म का उपदेश सुन कुछ व्रत ग्रहण किये। व्रत ग्रहण कर यह बहुत सन्तुष्ट हुआ।

इसी समय मनुष्यों की गन्ध पाकर धर्मिल का जीव व्याघ्र मुनियों को खाने के लिए झपटता हुआ आया। सूअर उसे दूर ही से देखकर गुफाओं के द्वार पर आकर खड़ा गया। जिससे कि वह भीतर बैठे हुए मुनियों की रक्षा कर सके। व्याघ्र ने गुफाओं के भीतर घुसने के लिए सूअर पर बड़ा जोर का आक्रमण किया। सूअर पहले से ही तैयार बैठा था। दोनों के भावों में बड़ा अन्तर था। एक के भाव थे मुनिरक्षा करने के ओर दूसरे के उनको खा जाने के। इसलिए देविल का जीव सूअर तो मुनि रक्षा रुप पवित्र भावों से मर कर सौधर्म स्वर्ग में अनेक ऋद्धियों का धारी देव हुआ, जिसके शरीर की चमकती हुई कान्ति गहनतम अन्धकार को नाश करने वाली है, जिसकी रुप-सुन्दरता लोगों के मन को देखने मात्र से मोह लेती है, जो स्वर्गीय दिव्य वस्त्रों और मुकुट, कुण्डल, हार आदि बहुमूल्य भूषणों को पहनता है, अपनी स्वभाव-सुन्दरता से जो कल्पवृक्षों को नीचा दिखाता है, जो अणिमादि ऋद्धि-सिद्धियों का धारक है, अवधिज्ञानी है, पुण्य के उदय से जिसे सब दिव्य सुख उपस्थित रहते है, जो महा वैभवशाली हैं, महासुखी हैं स्वर्गों के देवों द्वारा जिनके चरण पूजे जाते है ऐसे जिन भगवान की, जिन प्रतिमाओं की और कृत्रिम तथा अकृत्रिम जिन मन्दिरों की जो सदा भक्ति और प्रेम से पूजा करता है, दुर्गति के

दु:खों को नाश करने वाले तीर्थों की यात्रा करता है, महामुनियों की भक्ति करता है और धर्मात्माओं के साथ वात्सल्यभाव रखता है। ऐसी उसकी सुखमय स्थिति है। जिस प्रकार यह सूअर धर्म के प्रभाव से उक्त प्रकार सुख का भोगने वाला हुआ उसी प्रकार जो और भव्यजन इस पवित्र धर्म का पालन करेंगें वे भी उसके प्रभाव से सब सुख-सम्पत्ति लाभ करेंगे। समझिए, संसार में जो-जो धन प्राप्त होता है, स्त्री, पुत्र, सुख, ऐश्वर्य आदि अच्छी-अच्छी आनन्द भोग की वस्तुएं प्राप्त होती हैं, उनका कारण एक मात्र धर्म हैं। इसलिए सुख की चाह करने वाले भव्यजनों को जिन-पूजा, पात्र-दान, व्रत, उपवास, शील, संयम आदि धर्म को निरन्तर पवित्र भावों से सेवन करना चाहिए।

देविल तो पुण्य के प्रभाव से स्वर्ग गया और धर्मिलने मुनियों को खा जाना चाहा था, इसलिए वह पाप के फल से मरकर नरक गया। इस प्रकार पुण्य और पाप का फल जानकर भव्यजनों को उचित है कि वे पुण्य के कारण पवित्र जैनधर्म में अपनी बुद्धि दृढ़ करें।

(आराधना कथाकोष से)

णहि दाणं णहि पूया, णहि सीलं णहि गुणं ण चारित्त।
जे जइणा भणिया ते, णरया हुंति कुमाणसा तिरिया

मनुष्य जन्म पाकर जो जीव दान, पूजा, शील-व्रत-चारित्र का पालन नहीं करते, वे मरकर नारकी, तिर्यञ्च व कुमानुष होते हैं।

तृतीय अध्याय : जैनधर्म का इतिहास व उसकी प्राचीनता

यह तो मानना ही चाहिए कि समीचीनता का प्राचीनता के साथ कोई घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं है और न कोई यह नियम है कि जो कुछ प्राचीन है वह सब कुछ उपादेय ही है तथा नवीन सहज हेय, क्योकि ऐसा मान लेने पर प्राय: वासना आदि दुष्कर्म भी केवल प्राचीनता के बल पर उपादेय ठहर जायेगे। जो कि अनादि काल से विद्यमान हैं और आत्माओं को सांसारिक जाल मे फंसाये रखकर उन्हे जन्म मरणादि के संकटों में घसीट रहे हैं। इसीलिए समीचीनता (अच्छाई) यदि आज ही उत्पन्न हुई हो तो वह कल्याण की दृष्टि से तुरन्त ग्रहण करने योग्य है न कि बुराई जो असख्य वर्षो से चली आ रही है। इस भाति यदि जैनधर्म का उदय काल प्राचीन न भी माना जाये, किन्तु है वह सर्व और समीचीन धर्म जिससे कि विश्व के न केवल मानव समाज का बल्कि प्राणी मात्र का कल्याण होना सुनिश्चित है उसकी उपादेयता मे भी रंच मात्र सदेह नही होना चाहिए फिर भी जैनधर्म कब और किसके द्वारा स्थापित हुआ। इस प्रश्न को इतिहास प्रेमी पाठकों के मन में उठने से रोका नहीं जा सकता। अत: इसका उत्तर भी सन्तोषप्रद एव प्रमाण सगत मिलना चाहिए। साथ ही जैनधर्म के इतिहास के सम्बन्ध में लोक मे भ्रम भी फैला हुआ है। कोई इसे बौद्धधर्म की शाखा या बौद्धधर्म से इसकी उत्पत्ति मानता है तो कोई हिन्दूधर्म की शाखा। कोई **भगवान महावीर को जैनधर्म का** सस्थापक समझता है दूसरा भगवान पार्श्वनाथ को। इन भ्रमात्मक कल्पनाओं का निराकरण होना भी सत्यान्वेषण की दृष्टि से आवश्यक है। अत: अब तक समुपलब्ध हुई भारतीय पुरातत्त्व की सामग्री, प्राचीन, साहित्यिक प्रमाणो एव प्राच्य व पाश्चात्य अजैन विद्वानों की निष्पक्ष गवेषणात्मक ऐतिहासिक खोजो तथा युक्तियो द्वारा इस सम्बन्ध मे भी संक्षिप्त प्रकाश डाला जा रहा है।

प्रत्येक बुद्धिमान यह भली-भाति जानता है कि दुनिया में जब से कोई रोग है उस की औषधि भी अवश्य है। यह बात दूसरी है कि किसी समय उस औषधि का कोई जानकार समुपलब्ध न हो, किन्तु इतने मात्र से औषधि का अभाव नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार अन्धकार का जब से अस्तित्व है तभी से उसके प्रतिपक्षी प्रकाश का भी अस्तित्व है। कभी प्रकाश पर अन्धकार की विजय अर्थात् प्रकाश की किरणें क्षीण या अस्तिव हीन सी दिखाई देने लगे, किन्तु थोड़ी देर पश्चात् प्रकाश की विजय का डका फिर से बजता हुआ सुनाई पडने लगता है। इसी तरह ससार और मोक्ष जीव की दो अवस्थाये है - पहली दुख:मय और दूसरी सुखमय है दु:खमय अवस्था संसार के नाम से पुकारी जाती है। जीव के अपने ही रागद्वेषादि विकारों एव पापादि दुष्कर्मो के कारण सन्ताप क्रम से नाना रूपो में प्रकट होती रहती है दुख:मय अवस्था का बोध प्राप्तकर आत्मा को सुखमय बनाने और दुखों से छूटने का प्रयत्न प्रारम्भ करने पर वह ससार बन्धन से मुक्त हो जाता है। इसीलिए जब से संसारिक बन्धन है तब से उससे छूटने का उपाय भी हैं और उस बन्धन से छूटने एवं दुखों एव रागादि विकारों पर विजय प्राप्त करने के

वीरता पूर्ण उपाय या साधन को ही जैनधर्म कहते है। अतः सिद्ध है कि संसार से छूटने का उपाय (जैनधर्म) ससार की भाँति ही अनादि होना चाहिए। यह बात दूसरी है कि उसके जानने प्रकट करने या धारणा करने वाले कभी कम और कभी अधिक और कभी बिल्कुल ही नही पाये जाते है। किन्तु इससे ससार के दुखो से छूटने के उपाय स्वरुप धर्म का अभाव नहीं माना जा सकता है।

अब जरा इतिहास व वेदपुराण आदि साहित्य मे जैनधर्म के अस्तित्व और तत्सम्बन्धित प्राचीनता पर दृष्टिपात कीजिए। कहा जाता है कि दुनिया की सबसे ग्रन्थ वेद हैं। इन वेदों मे ऋषियो द्वारा जैन तीर्थकर (मुख्य प्रचारको) के नामों का उल्लेख मिलता है। अत: कम से कम उन ऋषियो और वेदों की उत्पत्ति से भी पूर्व जैनधर्म का अस्तित्व स्वत: सिद्ध हो जाता है क्योंकि जब वे तीर्थकर हो गए थे और जैसे-जैसे उन्होंने कार्य किये थे उनका तद्नुसार वर्णन उनके हो जाने के पश्चात् ही हो सकता है। वेदो के अनेक मन्त्रो मे, अर्हन्, अर्हत आदि शब्दों को प्रयोग करके जिन ऋषियो के गुणो का उल्लेख किया गया है, वे वेदों से पूर्व हुए जैन तीर्थकर ही हैं। अनेक मंत्रो मे तो ऋषभदेव, सम्भव, अरिष्टनेमि, पाश्वनाथ आदि तीर्थंरो का स्पष्ट उल्लेख है।

इसके अतिरिक्त मोहनजोदडो (सिन्ध) की खुदाई में जो शिलाएं व सिक्के प्राप्त हुए हैं उनमें से कुछ पर 'नमो जिनेश्वराय' लिखा है तथा सिक्कों पर ध्यास्थ भगवान ऋषभदेव की मूर्तियाँ व उनके नीचे बैल का चिह्न मौजूद है जो जैन शास्त्रों में वर्णित लक्षणों से पूर्ण रूप में मिलता है और जिसे अजैन विद्वान प्रोफेसर चन्द्रा ने ऋषभदेव की मूर्ति स्वीकार किया है। यह स्मरण रखना चाहिए कि इन उपलब्ध शिलाओं व सिक्कों आदि समग्री के सम्बन्ध में जो कि मोहनजोदडो की खुदाई में प्राप्त हुई हैं, सभी पुरातत्त्वेत्ताओं ने उसे 5000 वर्ष पुरानी स्वीकार किया है। इसीलिए यह बात निर्विवाद है कि अब से 5000 वर्ष से भी पूर्व जैनधर्म का प्रकाश यहाँ पर विशेष रुप से फैला हुआ था।

जो लोग जैनधर्म के वर्तमान कालीन 24वे तीर्थकर भगवान महावीर स्वामी या 23वे तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ को ही जैनधर्म का सस्थापक मानते है। आशा है उनका भ्रम उपर्युक्त प्रमाणे द्वारा दूर होगा। जिनसे जैनधर्म की प्राचीनता सिद्ध होती है उनमे से हिन्दूधर्म का पुराण साहित्य भी मुख्य है। भागवत पुराण मे स्पष्टतया भगवान ऋषभदेव को, जिनका समय जैन शास्त्रानुसार अब से असख्यात वर्ष पूर्व, और इतिहास की अभी तक की खोज के बाहर है, जैनधर्म का प्रवर्तक लिखा है।

जर्मन विद्वान डॉक्टर जैकोबी भी इसी मत से सहमत है। हिन्दू शास्त्रों और जैन शास्त्रों का भी इस विषय में एक मत है। भागवत के पांचवे स्कन्ध के अध्याय 2-6 में ऋषभ देव का कथन है जिसका भावार्थ यह है -

चौदह मनुओं में से पहले मनु स्वयभू के पौत्र नाभि के पुत्र ऋषभदेव हुए जो दिगम्बर जैनधर्म के आदि प्रचारक थे। इनके जन्म काल में जगत की बाल्यावस्था ही थी।

जैन पुराणो के अतिरिक्त जैनेत्तर पुराण भी आप के सम्बन्ध में इस प्रकार वर्णन करते है-

1. हरिवश पुराण (सर्ग8 श्लोक 55.704 व सर्ग 9 श्लोक 21)
2. मार्कण्डेय पुराण (अध्याय 50 पृष्ठ 150)
3. कूर्म पुराण (अध्याय 41 पृष्ठ 61)
4. अग्नि पुराण (अध्याय 10 पृष्ठ 62)
5. वायुमहापुराण (पूर्वार्ध अध्याय 33 पृष्ठ 51)
6. ब्रह्माण्ड पुराण (पूर्वार्ध अनुषग् पाठ अध्याय14 पृष्ठ 2)
7. वाराह पुराण (अध्याय 64 पृष्ठ 49)
8. लिग पुराण (अध्याय 46 पृष्ठ 68)
9. विष्णु पुराण (द्वितीयाश अध्याय 1 पृष्ठ 66)
10. भागवत स्कन्ध 2 (अध्याय 6 श्लोक 10)
11. यजुर्वेद (अध्याय 9 मन्त्र 25)
12. ऋग्वेद (मण्डल 1 सूत्र 94)
13. ऋग्वेद (मण्डल 5 सूत्र 52-5)
14. ऋग्वेद (अध्याय 2 सूत्र 33 वर्ग 16 सिद्धान्त सूत्र 303)

मनुस्मृति में लिखा है -

अष्टष्ठिषु तीर्थेषु यात्रायां यत्फलं भवेत।
श्री आदिनाथस्य देवस्य स्मरणेनापि तद्भवेत्॥

अडसठ तीर्थों मे यात्रा करने का जो फल होता है उतना फल भगवान आदिनाथ के स्मरण करने से होता है। आदिनाथ भगवान ऋषभदेव का ही अपर नाम है। आदि जिन, आदीश्वर, अग्रजिन भी भगवान ऋषभ नाथ के ही दूसरे नाम है।

बाबा आदम- इस्लाम मतानुसार सृष्टि के आदि मे एक ही मनुष्य जाति थी। मनुष्यों को सन्मार्ग पर चलाने के लिए बाबा आदम ने धर्म उपदेश दिया।

'आदम' आदिनाथ का अपभ्रंश शब्द है। इस्लाम जिस आदि पुरुष को आदम शब्द से कहता है वह आदम बाबा भगवान ऋषभनाथ ही हैं। जिनका अपर नाम आदिनाथ है।

इस्लामी ग्रन्थों में बताया गया है - नवी का बेटा रसूल था जिसको खुदा (परमात्मा) ने ईश्वरीय उपदेश जनता तक पहुँचाने के लिए पैदा किया।

इसका भी अभिप्राय यह है कि (नाभि) नबी का बेटा रसूल (ऋषभ) हुआ जो मनुष्यों का पहला उपदेशक हुआ।

नबी शब्द नाभि का अपभ्रश है और रसूल ऋषभ का अपभ्रश है। 'आदम' आदिनाथ का अपभ्रश है।

इस्लामी पुस्तक मे लिखा है - कि बाबा आदम हिन्दुस्तान मे पैदा हुए इस के अनुसार भी बाबा आदम का अभिप्राय आदिनाथ ऋषभनाथ से है।

महात्मा यीशु

इस समय जिस ईसाई मत के अनुयायियो की सख्या ससार मे सबसे अधिक पायी जाती है उस मत के प्रवर्तक महात्मा यीशु जिनको ईसा, क्राइस्ट आदि भी कहते है इन्होने सब से पहले अरब मे अपने मत का प्रचार किया था। यहूदियो का उस समय प्राबल्य था। यहूदियो ने ईसा द्वारा नवीन धर्म का प्रचार देखकर हजरत ईसा को पकड़ कर प्राणदण्ड दिया। तदनुसार यीशु को लकड़ी के क्रास पर लटका दिया गया।

मरते समय ईसा ने ये शब्द कहे कि भगवान इन लोगो को (मुझे फाँसी देने वाले) क्षमाकर देना, क्योकि ये बेचारे यह नही जानते कि वे एक अपराध कर रहे है।

महात्मा यीशु ईसा को फाँसी हो जाने के पश्चात् उनके अनुयायियो ने उनका मत यूरोप मे बहुत विस्तार से फैलाया। यहूदियो ने ईसा को फासी पर चढाया था। इस कारण ईसाई लोग यहूदियो को घृणा की दृष्टि से देखते है। इसी कारण ईसाईयो ने पिछले समय मे यहूदियो का बहुत विनाश करके ईसा की फासी का बदला यहूदी जनता से लिया।

वे महात्मा ईसा बाल्यावस्था से ही दयालु तथा ससार से विरक्त थे। जब वे तेरह वर्ष के थे तब उनके परिवार वालो ने उनका विवाह करना चाहा किन्तु ईसा ने अपना विवाह करने से मना कर दिया और घर से निकल पड़े। तदनन्तर वे ईरानी व्यापारियो के साथ सिन्ध के मार्ग से भारत चले आये। इतिहासवेत्ता श्री युत प. सुन्दर लाल जी ने 'हजरत ईसा और ईसाई' धर्म नामक अपनी पुस्तक के 162वे पृष्ठ पर कहा है कि भारत मे आकर हजरत ईसा बहुत समय तक जैन साधुओ के साथ रहे और जैन साधुओ से उन्होने आध्यात्मिक शिक्षा तथा आचार विचार की मूल भावना प्राप्त की।

हजरत ईसा ने पैलेस्टाइन मे आत्माशुद्धि मे जो 40 दिनो का उपवास किया था वह पैलेस्टाइन प्रख्यात यहूदी विद्वान जॉजकस के मतानुसार भारत का पालीताना जैन क्षेत्र है। पालीताना मे ही ईसा ने जैन साधुओ से धार्मिक शिक्षा ग्रहण की थी।

हजरत ईसा बहुत समय तक जैन साधुओं के शिष्य रहकर नेपाल चले गए वहाँ से हिमालय पर्वत के मार्ग से ईरान चले गए। ईरान में आकर उन्होंने धर्म उपदेश देना प्रारम्भ किया पालीताना के अनुसार ईरान मे पॉलिस्टाइन नगर बसाया गया जिसे आज फिलिस्तीन भी कहते है। इसी नगर मे ईसा को फॉसी दी गयी थी।

मक्का में जैनधर्म - अरब देश मे मक्का एक प्राचीन नगर है यहाँ पर लगभग 500 वर्ष हजरत मौहम्मद द्वारा इस्लाम धर्म की स्थापना हुई थी। इससे पहले यहाँ पर जैनधर्म का अस्तित्व था। ऐसा इतिहास से प्रमाणित होता है।

महाकवि रत्नाकर विरचित कन्नड़ काव्य भरतेश वैभव में लिखा है - मक्का में जब सम्राट भरत गया तो वहाँ के राजा लोगों ने भरत का स्वागत किया। भरत भगवान ऋषभदेव का पुत्र था। यह तो बहुत प्राचीन बात है। अर्वाचीन इतिहास मे भी यह उल्लेख पाया जाता है कि हजरत मुहम्मद से पहले मक्का में जैन मन्दिर विद्यमान था। मक्का में इस्लाम धर्म का प्रचार होने पर उन जैन मन्दिरों की मूतियाँ तोड़ दी गयीं और उन मन्दिरों को मस्जिद बना दिया गया। इस समय वहाँ पर जो मस्जिदे है उनकी बनावट जैन मन्दिरों के बावन चैत्यालयो के अनुरुप है।

फरग्यूसन शिल्प शास्त्री ने 'विश्व की दृष्टि मे पुस्तक' के पृष्ठ 26 पर लिखा है - मक्का मे भी मुहम्मद साहब के पूर्व जैनमन्दिर विराजमान थे। किन्तु काल की कुटिलता से सब जैन लोग उस देश मे न रहे महुआ (मधुपति) के दूरदर्शी श्रावक मक्के से वहाँ स्थित मूर्तिया ले आये थे। जो अपने नगर में लाकर प्रतिष्ठित करा ली, जो आज भी वहाँ विद्यमान है। मक्का की मस्जिदो की बनावट जैन मन्दिरो जैसी हैं।

इस्लाम धर्म केवल मूर्ति पूजक नही अपितु मूर्ति विध्वसक है। इसी कट्टर सिद्धान्त के कारण मुहम्मद गौरी तथा औरगजेब ने भारत में शक्ति प्राप्त करके हिन्दू मन्दिरों तथा हिन्दू देवी देवताओ का बहुत विध्वश किया। ऐसी धर्म विध्वश प्रवृत्ति के कारण मक्का मे भी जैन मूर्तियों को तोड़ दिया गया और मन्दिरो को मस्जिद बना लिया गया। जैसा कि तालिबान (अफगानिस्तान) मे महात्मा बुद्ध की 2000 वर्ष पुरानी मूर्ति तोड़कर उस जगह गायो की बलि चढ़ाई गई।

जैनधर्म बहुत प्राचीन धर्म है जब यहाँ पर भोगभूमि चल रही थी तो उस समय धर्म-कर्म नहीं था। भोग ही भोग था। ऐसा समय नौ कोडी-कोडी सागर तक चलता रहा। जब भोग भूमि का अभाव हुआ तो तुरन्त ही कर्मभूमि का प्रादुर्भाव हुआ चतुर्थ काल शुरु होने से पहले ही अन्तिम कुलकर नाभिराज हुए। उनकी रानी का नाम मरुदेवी था। नाभिराय के पुत्र ऋषभदेव प्रथम तीर्थंकर हुए। भगवान ऋषभदेव के पश्चात् तेईस तीर्थंकर हुए जिनमे नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर के विषय में ऐतिहासिक ग्रंथो, वेदों, पुराणों मे उल्लेख हैं। वीर भगवान के निर्वाण होने के पश्चात् तीन वर्ष, आठ माह और एक पक्ष काल के व्यतीत होने पर 'दुषमा' नामक पंचम काल प्रवेश करता है।

अनुबद्ध केवली - जिस दिन महावीर भगवान सिद्ध हुए उसी दिन गौतम गणधर को केवलज्ञान प्राप्त हुआ। गौतम स्वामी के मुक्ति जाने के दिन श्री सुधर्म स्वामी केवली हुए और इनके मोक्ष जाने के दिन जबूस्वामी केवली हुए। जंबूस्वामी के सिद्ध होने पर फिर कोई अनुबद्ध केवली नही हुए। गौतम स्वामी से लेकर जंबूस्वामी तक काल 62 वर्ष प्रमाण है।

श्रुतकेवली - विष्णुकुमार, नदिपुत्र, अपराजित, गोवर्द्धन और भद्रबाहु ये पाँच द्वादशांग ज्ञान के धारी श्रुतकेवली हुए है। इनका काल 100 वर्ष प्रमाण है। अंतिम श्रुतकेवली भद्रबाहु से दीक्षित, मुकुटधरो मे अतिम चन्द्रगुप्त सम्राट ने जिनदीक्षा ली थी, इसके बाद मुकुटबद्ध राजा मुनि नही हुए।

दशपूर्वी - विशाखाचार्य, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जय, नागसेन, सिद्धार्थ, धृतिषेण, विजय, बुद्धिल, गगदेव और धर्मसेन ये ग्यारह आचार्य अग और दश पूर्व के धारी दशपूर्वी कहलाये। इनका काल 183 वर्ष है।

ग्यारह अंगधारी - नक्षत्राचार्य, जयपाल, पाडु, ध्रुवसेन और कंसार्य ये पाँच मुनि ग्यारह अगधारी हुए है इनका काल 220 वर्ष है।

आचारागधारी - सुभद्राचार्य, यशोभद्र, यशोबाहु और लोहार्य ये चार आचार्य एक आचाराग मात्र के धारी हुए है। इनका काल 118 वर्ष है। गौतम स्वामी से लेकर लोहाचार्य तक 62 + 100 + 183 + 220 + 118 = 683 वर्ष मे अगधारी हुए है। इनके बाद इस भरत क्षेत्र मे कोई भी आचार्य अग पूर्व के धारक नही हुए है। उनके अशो के जानने वाले अवश्य हुए है।

जो श्रुततीर्थ, धर्म की प्रवृत्ति मे कारण है वह श्रुतपरपरा बीस हजार तीन सौ सत्तरह (20317) वर्षो तक यहाँ चलती रहेगी। अनतर पचम काल के अत मे व्युच्छेद को प्राप्त हो जाएगी। इतने मात्र समय मे प्राय: चतुर्विध सघ जन्म लेता रहेगा। अर्थात् उपर्युक्त 683 + 20317 = 21000 वर्ष तक धर्मतीर्थ परपरा अव्युच्छिन्न रहेगी। तात्पर्य यह हुआ कि पचम काल के अत तक धर्म व चतुर्विध सघ विद्यमान रहेगा।

राज्य परपरा - वीर प्रभु के निर्वाण के बाद 'पालक' नामक अवन्ति सुत का राज्याभिषेक हुआ। पालक का 60 वर्ष, विजय वशियो का 155 वर्ष, मुरुडवशियो का 40, पुण्यमित्र का 30, वसुमित्र-अग्निमित्र का 60, गधर्व का 100, नरवाहन का 40, भृत्य-आध्रों का 242, गुप्तवशियों का 231 वर्ष प्रमाण राज्यकाल रहा है। पश्चात् इद्र का सुत कल्की उत्पन्न हुआ, इसका नाम चतुर्मुख, आयु 70 वर्ष और राज्यकाल 42 वर्ष रहा। श्री वीरप्रभु के सिद्ध होने के बाद छह सौ पाँच वर्ष और पाँच माह व्यतीत होने पर 'विक्रम' नामक शक राजा हुए हैं। उनके बाद तीन सौ तिरानवे वर्ष, सात माह व्यतीत होने पर प्रथम कल्की हुआ है।'' (त्रिलोकसार)

आचारागधरों के 275 वर्ष पश्चात् कल्की राजा को पट्ट बांधा गया। 683 + 275 + 42 = 1000 वर्ष। उस कल्की ने श्रमण साधु से प्रथम ग्रास को शुल्क रूप में माँगा तब मुनि "यह अंतरायों का काल है" ऐसा समझकर निराहार चले गये, उस समय उनमें से किसी एक को अवधिज्ञान उत्पन्न हो गया, तब कोई असुरदेव ने अवधिज्ञान से मुनिगणो के उपसर्ग को जानकर, उसे धर्मद्रोही मानकर उस कल्की को मार डाला पुनः अजितजय नाम के उसके पुत्र ने 'मेरी रक्षा करों' ऐसा कहकर उस देव के चरणों में नमस्कार किया और उस देव ने 'धर्मपूर्वकराज्य करो' ऐसा कहकर उसकी रक्षा की और वह जैनधर्मी बन गया।

ऐसा हजार-हजार वर्ष में एक-एक कल्की और पाँच सौ-पाँच सौ वर्षों के पश्चात् उनके बीच-बीच में एक-एक उपकल्की होते है। प्रत्येक कल्की के समय पंचमकालवर्ती एक-एक साधु को अवधिज्ञान प्राप्त होता है और उस समय चतुर्विध संघ अल्प हो जाते हैं।

पचम काल के अंत समय जलमथन नामक अंतिम कल्की होगा, उस समय 'वीरागद' नाम के मुनि, 'सर्वश्री आर्यिका, अग्निल श्रावक और पंगुश्री होगी। अंतिम कल्की मुनिराज के आहार का प्रथम ग्रास शुल्क रूप मे मागेगा तब मुनि उसे देकर अंतराय करके वापस जाकर अवधिज्ञान को प्राप्त करके आर्यिका, श्रावक और श्राविका को बुलाकर कहेंगे कि अब पंचम काल का अत आ चुका है, हमारी और तुम्हारी तीन दिन की आयु शेष है। चारों सल्लेखना से मरण करके सौधर्म स्वर्ग जायेंगे और कुमार देव द्वारा मार दिये जाने पर वह कल्की नरक जाएगा। प्रात:काल धर्म का नाश, मध्याह्न में राजा का नाश और सूर्यास्त समय अग्नि का अभाव हो जायेगा।

छठा काल

पश्चात् तीन वर्ष, आठ माह और एक पक्ष के बीत जाने पर महाविषम दुषमा नामक छठा काल प्रविष्ट होगा। उस समय मनुष्यो की ऊँचाई तीन हाथ से एक हाथ तक, आयु बीस से सोलह वर्ष तक होगी। वे कदमूल, फल, मत्स्य माँसादि खायेगे, नंगे वनों में विचरेंगे। अधे, गूगे, बधिर, कुरूप आदि होगे। नरक और तिर्यञ्चगति से आयेंगे और इन्ही दो गतियों में जायेगे।

उनचास दिन कम इक्कीस हजार वर्ष के बीतने पर सवर्तक नामक वायु से महाप्रलय होगा। उस समय बहत्तर युगल तथा और भी संख्यात जीवो को देव विद्याधर दया से विजयार्द्ध की गुफा आदि में सुरक्षित रखेंगे। यहाँ 46 दिन तक बर्फ, क्षार, विष, अग्नि आदि की वर्षा से सब पर्वत आदि समाप्त होकर एक योजन तक पृथ्वी जल जाएगी।

अनतर उत्सर्पिणी काल प्रवेश करेगा। तब जल, दूध, घृत और अमृत की वर्षा होकर पृथ्वी अच्छी हो जायेगी। ये युगल जीव गुफाओ से निकलेंगे। धीरे-धीरे आयु, ऊँचाई, बल आदि बढ़ते-बढ़ते इक्कीस हजार वर्ष समाप्त होकर द्वितीय काल प्रवेश करेगा। इसके हजार वर्ष शेष

रहने पर अर्थात् बीस हजार वर्ष बीत जाने पर कुलकरों की उत्पत्ति होगी पुनः अंतिम कुलकर से श्रेणिक का जीव महापद्म नाम का तीर्थंकर होगा तब से पुनः धर्म की परंपरा चलेगी। इस प्रकार भरत क्षेत्र मे यह काल परिवर्तन चलता रहता है।

जैसा कि पूर्व मे कहा है कि महावीर स्वामी के पश्चात् अनुबद्ध केवली, पांच श्रुतकेवली, ग्यारह दसपूर्वधारी, पाच ग्यारह अगधारी, चार आचारांगधारी हुए हैं। इस प्रकार महावीर भगवान से लोहाचार्य तक अगो का ज्ञान 683 वर्ष रहा। उस समय कोई भी शास्त्र लिपिबद्ध नही थे। उन महान मुनियो के बाद धरसेनाचार्य हुए पुष्पदन्त, भूतबलि हुए। जिन्होंने शास्त्र लिखने प्रारभ किए। उनके बाद कुन्दकुन्दचार्य, उमास्वामी, समन्तभद्र, पात्रकेसरी, सिद्धसेन, पूज्यपाद स्वामी अकलक स्वामी आदि आचार्य होते चले गए। उन्होंने उच्चकोटि के शास्त्रो की रचना की, जो कि आज हमे पढ़ने के लिए उपलब्ध हैं।

आचार्य एवं उनका जीवन

भगवान महावीर के पश्चात् कितने ही प्रसिद्ध-प्रसिद्ध आचार्य और ग्रन्थकार हुए हैं जिन्होने अपने सदाचार और सद्विचारो से न केवल जैनधर्म को अनुप्राणित किया किन्तु अपनी अमर लेखनी के द्वारा भारतीय वाङ्मय को भी समृद्ध बनाया। कुछ प्रसिद्ध आचार्यो और ग्रन्थकारो का परिचय सक्षेप मे कराया जाता है।

गौतम गणधर (557 ई. पूर्व) - गौतम भगवान महावीर के प्रधान गणधर (शिष्य) थे। मूल नाम इन्द्रभूति था, बुद्धयुपजीवी या ब्राह्मण थे। वेद वेदाग मे पारगत थे। जब केवलज्ञान हो जाने पर भी भगवान महावीर की वाणी नहीं खिरी तो इन्द्र को चिन्ता हुई। इसका कारण जानकर वह इन्द्रभूति के पास गए और युक्ति से उन्हे भगवान महावीर के समवशरण मे ले आये। सशय दूर होते ही इन्द्रभूति ने प्रव्रज्या ले ली और भगवान के प्रधान गणधर हुए। भगवान का उपदेश सुनकर उसे अवधारण करके उन्होने द्वादशाग श्रुत की रचना की। जब कार्तिक कृष्णा अमावस्या के प्रात: भगवान महावीर का निर्वाण हुआ तब गौतम स्वामी को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। उसके 12 वर्ष पश्चात् इन्हें भी निर्वाणपद प्राप्त हुआ।

भद्रबाहु (325 ई. पूर्व) - यह भद्रबाहु अन्तिम श्रुतकेवली थे। इनके समय मे मगध में 12 वर्ष का भयकर दुर्भिक्ष पड़ा। तब यह साधुओ के बहुत बडे सघ के साथ दक्षिण देश को चले गए। प्रसिद्ध मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त भी राज्यभार पुत्र को सौपकर इनके साथ ही दक्षिण को चला गया वहाँ मैसूर प्रान्त के श्रवणबेलगोला स्थान पर भद्रबाहु स्वामी अपना अन्तिम समय जानकर ठहर गए और शेष सघ को आगे रवाना कर दिया। सेवा के लिए चन्द्रगुप्त अपने गुरु के पास ही ठहर गए। वहाँ के चन्द्रगिरि पर्वत की एक गुफा मे भद्रबाहु स्वामी ने देहोत्सर्ग किया। यह गुफा भद्रबाहु की गुफा कहलाती है और इसमे उनके चरण अंकित है जो आज भी पूजे जाते है। भद्रबाहु के समय मे ही सघभेद का बीजारोपण हुआ अत: उनके बाद से ही जैन

(दिगम्बर) आचार्यों की परम्परा से श्वेताम्बर आचार्य परम्परा भी पृथक हो गई। दिगम्बर परम्परा के कुछ प्रमुख आचार्यों का परिचय प्रस्तुत है -

आचार्य धरसेन (वि. स. की दूसरी शती) - आचार्य धरसेन अंगों और पूर्वों के एकदेश के ज्ञाता थे और सौराष्ट्र देश के गिरनार पर्वत की गुफा में ध्यान करते थे। उन्हे इस बात की चिन्ता हुई कि उनके पश्चात् श्रुतज्ञान का लोप हो जायेगा। अत: उन्होंने महिमानगरी के मुनिसम्मेलन को पत्र लिखा। वहाँ से दो मुनि उनके पास पहुँचे। आचार्य ने उनकी बुद्धि की परीक्षा करके उन्हे सिद्धान्त की शिक्षा दी।

पुष्पदन्त और भूतबलि (ई. सन् 66-90) - ये दोनों मुनि पुष्पदन्त और भूतबली थे। आषाढ़ एकादशी का अध्ययन पूरा होते ही धरसेनाचार्य ने उन्हें विदा कर दिया दोनों शिष्य वहाँ से चलकर अकलेश्वर में आये और वही चातुर्मास किया पुष्पदन्त मुनि अकलेश्वर से चलकर बनवास देश मे आये। वहाँ पहुँच कर उन्होंने जिनपालित को दीक्षा दी और 'वीसादि सूत्रो' की रचना करके उन्हें पढ़ाया। फिर उन्हें भूतबलि के पास भेज दिया। भूतबलि ने पुष्पदन्त को अल्पायु जानकर आगे ग्रन्थ की रचना की। इस तरह पुष्पदन्त और भूतबलि ने षट्खण्डागम को लिपिबद्ध करके ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी के दिन उसकी पूजा की। इसी से यह तिथि जैनों में श्रुतपचमी के नाम से प्रसिद्ध हुई।

आचार्य गुणधर (वि. सं. की दूसरी शती) - आचार्य गुणधर भी लगभग इसी समय में हुए। वे ज्ञानप्रवाद नामक पाचवे पूर्व के दसवें वस्तु अधिकार के अंतर्गत कषायपाहुड़ रुपी श्रुतसमुद्र के पारगामी थे। उन्होंने भी श्रुत का विनाश हो जाने के भय से कषायपाहुड़ नामक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त ग्रथ प्राकृत गाथाओं में निबद्ध किया।

आचार्य कुन्दकुन्द (वि० सं० की दूसरी शती) - आचार्य कुन्दकुन्द जैनधर्म के महान प्रभावक आचार्य थे। इनके विषय मे प्रसिद्ध है कि विदेह क्षेत्र में जाकर सीमधर स्वामी की दिव्यध्वनि सुनने का सौभाग्य उन्हे प्राप्त था। इनका प्रथम नाम पद्मनन्दी था। कोण्डकुन्दपुर के रहने वाले होने से बाद में वे कोण्डकुन्दाचार्य बन गया। इनके प्रवचसार, पंचास्तिकाय और समयसार नाम के ग्रन्थ अति प्रसिद्ध है। इनके सिवाय इन्होने अनेक प्राभृतो की रचना की जिनमें से आठ प्राभृत उपलब्ध है। **बोधप्राभृत** के अन्त की एक गाथा में उन्होंने अपने को श्रुतकेवली भद्रबाहु का शिष्य बतलाया है।

आचार्य उमास्वामी (वि. सं. की तीसरी शती) - यह आचार्य कुन्दकुन्द के शिष्य थे। इन्होंने जैन सिद्धान्त को संस्कृत सूत्रों मे निबद्ध करके तत्त्वार्थसूत्र नामक सूत्र ग्रन्थ की रचना की। इनको गृद्धपिच्छाचार्य भी कहते है। श्रवणबेलगोला के शिलालेख नं. 108 मे लिखा है कि श्री कुन्दकुन्दाचार्य के पवित्र वश में उमास्वामी मुनि हुए जो सम्पूर्ण पदार्थो के जानने वाले थे, मुनियों में श्रेष्ठ थे। उन्होने जिनदेव प्रणीत समस्त शास्त्रो के अर्थ को सूत्ररूप में निबद्ध किया।

वे प्राणियो की रक्षा में बड़े सावधान थे। एक बार उन्होंने पिच्छी न होने पर गृद्ध के परों को पिछी के रूप में धारण किया था। तभी से विद्वान उनको गृद्धपिच्छाचार्य कहने लगे। साधारणतया दि. जैन मुनि जीवरक्षा के लिए मयूर के पखो की पिछी रखते है।

समन्तभद्र (वि. सं. की 3-4 वीं शती) - जैन सस्कृति के प्रभावक आचार्यों में स्वामी समन्तभद्र का स्थान बहुत ऊँचा है। इन्हे जैन शासन का प्रणेता और भावी तीर्थंकर तक बतलाया गया है। अकलकदेव ने अष्टशती मे विद्यानन्द ने अष्टसहस्त्री में, आचार्य जिनसेन ने आदिपुराण मे, जिनसेन सूरि ने हरिवंश पुराण मे वादिराज सूरि ने न्यायविनिश्चिय विवरण और पार्श्वनाथचरित मे, वीरनन्दी ने चन्द्रप्रभुचरित मे, हस्तिमल्ल ने विक्रान्तकौरव नाटक में तथा अन्य अनेक ग्रन्थकारो ने भी अपने अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ मे इनका बहुत ही आदरपूर्वक स्मरण किया है। मुनि जीवन मे इन्हे भस्मक व्याधि हो गयी थी, जो खाते थे वो तत्काल जीर्ण हो जाता था उसे दूर करने के लिए इन्हे काची या काशी के राजकीय शिवालय में पुजारी बनना पड़ा और वहाँ देवार्पित नैवेद्य का भक्षण करके अपना रोग दूर किया। जब कलई खुली तो स्वयंभू-स्तोत्र रचकर जैन शास्त्र का प्रत्यक्ष प्रभाव प्रकट किया।

इनके रचे हुए आप्तमीमासा, वृहत्स्वयभूस्तोत्र, युक्त्यनुशासन, जिनस्तुतिशतक तथा रत्नकरण्डश्रावकाचार नामक ग्रन्थ उपलब्ध है तथा गन्धहस्तिमहाभाष्य, जीवसिद्धि आदि कुछ ग्रन्थ अनुपलब्ध है ये प्रखर तार्किक और कुशलवादी थे। अनेक देशों मे घूम-घूमकर इन्होने विपक्षियो को शास्त्रार्थ मे परास्त किया।

सिद्धसेन (वि. सं. की 5वीं शती) - आचार्य उमास्वामी (ति) की तरह सिद्धसेन की मान्यता भी दोनो सम्प्रदायों मे पायी जाती है। दोनो ही सम्प्रदाय उन्हे अपना गुरु मानते है। दिगम्बर सम्प्रदाय के आचार्य जिनसेन प्रथम व द्वितीय ने बहुत ही आदर के साथ उनका स्मरण किया है। उनकी सूक्तियो को भगवान ऋषभ देव की सूक्तियों के समकक्ष बतलाया है और प्रतिवादी रूपी हाथियो के समूह के लिए उन्हें विकल्परूपी नखो युक्त सिंह बतलाया है। श्वेताम्बर सम्प्रदायो मे दिवाकर विशेषण के साथ इनकी प्रसिद्धि है। इनका सन्मतितर्क ग्रन्थ अति प्रसिद्ध और बहुमान्य है। यह प्राकृत गाथाओ मे निबद्ध है। दूसरे ग्रन्थ न्यायावतार तथा द्वात्रिशतिकाए सस्कृत मे है। सभी ग्रन्थ गहन दार्शनिक चर्चाओ से परिपूर्ण हैं। प्रसिद्ध इतिहासज्ञ प. जुगल किशोर मुख्तार ने गहरे अध्ययन और खोज के बाद यह सिद्ध किया है कि उक्त सब कृतियाँ एक ही सिद्धसेन की नही है, सिद्धसेन नाम के कोई दूसरे विद्वान भी हुए है।

(पूज्यपाद देवनन्दि) (ईसा की पांचवी शती) - श्रवणबेल गोला के शिलालेख नं. 40 (64) मे लिखा है कि इनका पहला नाम देवनन्दि था। बुद्धि की महता के कारण वे जिनेन्द्रबुद्धि कहलाये और देवो ने उनके चरणो की पूजा की इसलिए उनका नाम पूज्यपाद हुआ। इनका संक्षिप्त नाम देव भी था। आचार्य जिनसेन में आदिपुराण मे और वादिराजसूरि ने पार्श्वनाथ चरित मे इन्हे इसी सक्षिप्त नाम से स्मरण किया है।

जैनेन्द्र व्याकरण जैनों का पहला संस्कृत व्याकरण है। इसके सूत्र बहुत ही संक्षिप्त हैं संज्ञाएं भी संक्षिप्त हैं। जैनेन्द्र के सिवाय इनके चार ग्रन्थ और उपलब्ध हैं - सर्वार्थसिद्धि, समाधितन्त्र, इष्टोपदेश और देशभक्ति (सस्कृत) भाष्य भी बनाये थे। गंगवंशीय राजा दुर्विनीत इनका शिष्य था जिसका राज्यकाल ई. सन् 482 से 512 तक माना जाता है।

पात्रकेसरी (ईसा की 6वीं शती) - इन्हें पात्रस्वामी भी कहते है। इन्होंने बौद्धो के त्रैरूप्य हेतुवाद का खण्डन करने के लिए त्रिलक्षण कदर्थन नाम का शास्त्र रचा था जो अनुपलब्ध है। शातरक्षित ने अपने तत्व संग्रह में पात्रस्वामी के मत की आलोचना करते हुए कुछ करिकाए पूर्व पक्ष के रूप में दी हैं। इनका निम्नश्लोक बहुत प्रसिद्ध है -

अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्।
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्॥

वादिराजसूरि और अनन्तवीर्य ने लिखा है कि बौद्ध के त्रिलक्षण का खण्डन करने के लिए पद्मावती देवी ने भगवान सीमन्धर स्वामी के समवसरण में जाकर उनके गणधर के प्रसाद से इस श्लोक को प्राप्त करके पात्रकेसरी को दिया था। श्रवणवेलगोला के शिलालेख 54 में भी ऐसा उल्लेख है।

अकलंक (ई. 620 से 680) - अकलंक जैनन्याय के प्रतिष्ठाता थे। ये प्रकाण्ड पण्डित, धुरन्धर शास्त्रार्थी और उत्कृष्ट विचारक थे। जैनन्याय को इन्होंने जो रूप दिया उसे ही उत्तरकालीन जैन ग्रन्थकारो ने अपनाया बौद्धों के साथ इनका खूब सघर्ष रहा। स्वामी समतभद्र के यह सुयोग्य उत्तराधिकारी थे। इन्होंने उनके आप्तमीमांसा ग्रन्थ पर अष्टशती नामक भाष्य की रचना की। इनकी रचनाए दुरुह और गम्भीर है। अब तक इनके अष्टशती, प्रमाणसग्रह, न्यायविनिश्चय, लघीयस्त्रय, सिद्धिविनिश्चय और तत्त्वार्थराजवार्तिक नाम के ग्रन्थ प्रकाश मे आ चुके है।

विद्यानन्दि (ई. 9वीं शती) - विद्यानन्दि अपने समय के बहुत ही समर्थ विद्वान थे। इन्होने अकलक देव की अष्टशती पर अष्टसहस्री नामक महान् ग्रन्थ लिखा है जिसे समझने में अच्छे-अच्छे विद्वानो को कष्टसहस्री का अनुभव होता है। ये सभी दर्शनो के पारगामी विद्वान थे। इन्होंने आप्तपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा, तत्वार्थश्लोकवार्तिक और युक्त्युनशासन टीका नाम के ग्रन्थ रचे है। सभी बहुत प्रौढ़ दार्शनिक ग्रथ हैं।

माणिक्यनन्दि (ई. 9वीं शती) - इन्होंने अकलंक देव के वचनों का अवगाहन करके परीक्षामुख नाम के सूत्रग्रन्थ की रचना की है। जिसमें प्रमाण और प्रमाणाभास का सूत्रबद्ध विवेचन किया है। सूत्र संक्षिप्त, स्पष्ट और सरल है।

अनन्तवीर्य (ई. की 9वीं शती) - यह अकलंक न्याय के प्रकाण्ड पण्डित थे। इन्होंने उनके सिद्धिविनिश्चय ग्रन्थ पर बहुत ही विद्वत्तापूर्ण टीका लिखी है। वादिराज ने अपने

न्यायविनिश्चय विवरण मे इनकी बहुत प्रशंसा की है और लिखा है कि इनके वचनामृत वृष्टि से जगत को खा जाने वाली शून्यवादरुपी अग्नि शान्त हो गयी है।

वीरसेन (ई. 790 - 825) - आचार्य वीरसेन प्रसिद्ध सिद्धात ग्रथ षट्खण्डागम और कषायपाहुड के मर्मज्ञ थे। उन्होने प्रथम ग्रथपर 62 हजार श्लोक प्रमाण प्राकृत संस्कृत मिश्रित धवला नाम की टीका लिखी है और कषायपाहुड पर 20 हजार श्लोक प्रमाण टीका लिखकर ही स्वर्गवासी हो गए। ये टीकाए जैन सिद्धान्त की गहन चर्चाओ से परिपूर्ण हैं धवला की प्रशस्ति मे उन्हे व्याकरणो का अधिपति, तार्किक चक्रवर्ती और प्रवादी रूपी गजों के लिए सिंह समान बताया गया है।

जिनसेन (ई. 800-880) - यह वीरसेन के शिष्य थे। इन्होने गुरु के स्वर्गवासी हो जाने पर जयधवला टीका को पूरा किया। इन्होने अपने को अविद्धकर्ण बतलाया है, जिससे प्रतीत होता है कि यह बालवय मे ही दीक्षित हो गए थे। यह बड़े कवि थे। इन्होंने अपने यौवन काल में ही कालिदास के मेघदूत को लेकर पार्श्वाभ्युदय नाम का सुन्दर काव्य रचा था। मेघदूत मे जितने भी पद्य है उनके अन्तिम चरण तथा अन्य चरणो मे से भी एक, दो-दो करके इनके प्रत्येक पद्य मे समाविष्ट कर लिए गए है। इनका एक दूसरा ग्रन्थ महापुराण है इन्होंने त्रेसठ शलाका पुरुषो का चरित्र लिखने की इच्छा से महापुराण लिखना आरम्भ किया किन्तु इनका भी बीच मे ही स्वर्गवास हो गया। अतः उसे इनके शिष्य गुणभद्राचार्य ने पूर्ण किया। राजा अमोघवर्ष इनका शिष्य था और इन्हे बहुत मानता था।

प्रभाचन्द (ई. सन् की 11वीं शती) - आचार्य प्रभाचन्द्र एक बहुश्रुत दार्शनिक विद्वान थे। सभी दर्शनो के प्रायः सभी मौलिक ग्रन्थो का उन्होने अभ्यास किया था। यह बात उनके रचे हुए न्यायकुमुदचद्र और प्रमेय-कमल-मार्तण्ड नामक दार्शनिक ग्रन्थो के अवलोकन से स्पष्ट हो जाती है। इनमे से पहला ग्रन्थ अकलकदेव के लघीयस्त्रय का व्याख्यान है और दूसरा आचार्य मणिक्यनन्दि के परीक्षामुख नामक सूत्र ग्रन्थ का। श्रवणवेलगोला शिलालेख न. 40 (64) मे इन्हे शब्दाम्भोरूहभास्कर बतलाया है। इन्होने शाकटायन व्याकरण पर एक विस्तृत भाष्य ग्रन्थ भी रचा था जिसका कुछ भाग उपलब्ध है। इनके गुरु का नाम पद्मनन्दि सैद्धातिक था।

वादिराज (ई. सं. 11वीं शती) - वादिराज तार्किक होने के साथ-साथ उच्चकोटि के कवि थे। नगर ताल्लुक के शिलालेख न0 39 में बताया है कि वे सभा में अकलक थे, प्रतिपादन करने में धर्मकीर्ति थे, बोलने मे बृहस्पति थे और न्यायशास्त्र मे अक्षपाद थे। उन्होने अकलंक देव के न्यायविनिश्चय पर विद्वत्तापूर्ण विवरण लिखा है जो लगभग बीस हजार श्लोक प्रमाण है तथा शक स. 947 (ई. स. 1025) मे पार्श्वनाथचरित रचा जो बहुत ही सरस प्रौढ़ रचना है। अन्य भी कई ग्रन्थ और स्तोत्र इन्होने बनाये है इनके गुरु का नाम मतिसागर था।

जिनसेन के पूर्ववर्ती विद्वान - कृतज्ञता के नाते जिनसेन अपने से पूर्ववर्ती समन्तभद्र, सिद्धसेन देवनन्दी, वज्रसूरि, महासेन, रविषेण, जटासिंहनन्दी, शान्त (शान्तिषेण) विशेष वादी, कुमार सेन गुरु, वीरसेन गुरु, जिनसेन स्वामी और वर्द्धमान पुराण के कर्ता को स्मरण करते हुए उनकी प्रशंसा की है। अतः इनके सम्बन्ध में संक्षिप्त जानकारी इस प्रकार है -

महासेन - इन्हे जिनसेन ने सुलोचना कथा का कर्ता कहा है। इनका विशिष्ट परिचय अज्ञात है।

रविषेण - आप पद्मपुराण के कर्त्ता रविषेण हैं पद्मपुराण की श्रुतिसुखद और हृदयहारी रचना कर आपने राम कथा को अपने ढ़ग से विद्वत समाज के समक्ष उपस्थित किया है। आप विक्रम की आठवीं शती के मध्यवर्ती विद्वान् थे। आपने पद्मपुराण की रचना वि. स. 733 में पूर्ण की है।

जिनसेन स्वामी - आप वीरसेन गुरु के शिष्य थे हरिवशपुराण के कर्ता जिनसेन ने आपके पार्श्वाभ्युदय ग्रन्थ की ही चर्चा की है जबकि आप महापुराण तथा कषायप्राभृत के अवशिष्ट चालीस हजार श्लोक प्रमाण टीका के भी कर्ता है। इससे जान पड़ता है कि हरिवंश पुराण के समय उन्होने पार्श्वाभ्युदय की ही रचना की होगी। जयधवला और महापुराण की रचना पीछे की होगी और महापुराण की रचना तो उनकी अन्तिम कृति कही जा सकती है। जिसे वे पूरा नही कर सके। उनके सुयोग्य शिष्य गुणभद्र ने उसे पूरा किया। आपका समय 9वी शती है।

आचार्य शुभचन्द्र - शुभचन्द्र नामक के अनेक विद्वान हो गए है। प्रस्तुत शुभचन्द्र ने अपनी कोई गुरु परम्परा नही दी और न ग्रन्थ का रचना काल ही दिया है ग्रन्थ में समन्तभद्र, देवनन्दी पूज्यपाद, अकलकदेव और जिनसेनार्य का स्मरण किया है। जिनसेन की स्तुति करते हुए उनके वचनो को त्रैविध वन्दित बातलाया है। त्रैविध एक उपाधि है जो सिद्धान्त चक्रवर्ती के समान सिद्धान्त शास्त्र के ज्ञाता विद्वानों को दी जाती थी। शुभचन्द्र ने जिनसेन के बाद अन्य किसी बाद के विद्वान का स्मरण नहीं किया। सिद्धान्त (आगम) व्याकरण और न्यायशास्त्र के ज्ञाता विद्वानो को त्रैविध उपाधि से विभूषित किया जाता रहा है। ग्रन्थ में आदि पुराण का पद्य भी दिया हुआ है। इससे स्पष्ट होता है। कि ईसा की 12वी शती में ज्ञानार्णव ग्रन्थ की रचना हुई क्योकि 13वी शताब्दी मे ज्ञानार्णव का खूब प्रचार हो गया था।

नेमिचन्द सिद्धान्त चक्रवर्ती - नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती मूलसघ देशीयगण के विद्वान अभयनन्दी के शिष्य थे इन्होने स्वयं अपने को अभयनन्दी का शिष्य सूचित किया है। अभयनन्दी उस समय के बड़े सैद्धान्तिक विद्वान थे उनके वीरनन्दी और इन्द्रनन्दी भी शिष्य थे। ये दोनो नेमिचन्द्र के ज्येष्ठ गुरु भाई थे। इस कारण उन्होने उनको भी गुरुतुल्य मानकर नमस्कार किया है और उनका अपने को शिष्य भी बतलाया है। नेमिचन्द्र ने अपने गुरु कनकनदी का उल्लेख किया है और लिखा है कि उन्होनें इन्द्रनन्दी के पास से सकल सिद्धान्त को सुनकर 'सत्वस्थान' कर्मकाण्ड के तीसरे सत्वस्थान अधिकार में प्रायः ज्यों का त्यो अपनाया है। नेमिचन्द, गंगवंशीय

राजा राचमल्ल के प्रधान मंत्री और सेनापति चामुण्डराय के समकालीन थे। यह अत्यन्त प्रभावशाली और सिद्धान्तशास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान थे। इन्होने गोम्मटसार को 397 गाथा में लिखा है कि जिस प्रकार चक्रवर्ती षट् खण्ड पृथ्वी को अपने चक्र द्वारा आधीन करता है उसी प्रकार मैनें अपने मति चक्र से षट्खण्डागम को सिद्ध कर अपनी इस कृति में भर दिया हैं संभवतः इसी सफलता के कारण उन्हे सिद्धान्त चक्रवर्ती की उपाधि प्राप्त हुई है। चामुण्डराय अजितसेनाचार्य के शिष्य थे। चामुण्डराय ने नेमिचन्द्र का भी शिष्यत्व ग्रहण किया था। चामुण्डराय की प्रेरणा से नेमिचन्द्र ने गोम्मटसार की रचना की थी। गोम्मट चामुण्डराय का घर का नाम था। जो मराठी तथा कन्नडी भाषा मे प्रायः उत्तम, सुन्दर, आकर्षक एव प्रसन्न करने वाला जैसे अर्थो में व्यवहत होता है। और राय उनकी उपाधि थी। चामुण्डराय के इस 'गोम्मट' नाम के कारण ही उनके द्वारा बनाई गई बाहुबली की मूर्ति गोम्मटेश्वर गौम्मटदेव जैसे नामो से प्रसिद्धि को प्राप्त हुई है उन्ही के नाम की प्रधानता को लेकर ग्रन्थ का नाम गोम्मटसार दिया गया है। जिनका अर्थ गोम्मट के लिए खीचा गया। पूर्व के (षट्खण्डागम तथा धवलादि) ग्रन्थों का सार इसी आशय को लेकर ग्रन्थ का 'गोम्मटसग्रह सूत्र' नाम दिया गया है। आचार्य नेमिचन्द्र सि. चक्रवर्ती की निम्न कृतियाँ प्रकाशित है - गोम्मटसार, लब्धिसार, क्षपणासार, त्रिलोकसार।

तारणपन्थ - ईसा की पन्द्रहवी शताब्दी के अन्त मे तारण तरण स्वामी ने इस पन्थ को जन्म दिया था। सन् 1515 मे ग्वालियर स्टेट के मल्हारगढ; नामक स्थान मे इनका स्वर्गवास हुआ। उस स्थान पर इनकी समाधि बनी है और उसे नशियाँजी कहते है। यह तारण पथियो का तीर्थस्थान माना जाता है। यह पथ मूर्ति पूजा का विराधी है इनके भी चैत्यालय होते है किन्तु उनमे शास्त्र विराजमान रहते है और उन्ही की पूजा की जाती है किन्तु द्रव्य नही चढ़ाया जाता। तारण स्वामी ने कुछ ग्रथ भी बनाये थे। इनके सिवाय दिगम्बर आचार्यो के बनाये हुए ग्रन्थो को भी तारण पन्थी मानते है। इस पन्थ मे अच्छे धनिक और प्रतिष्ठित व्यक्ति मौजूद है। इस पन्थ के अनुयायियो की सख्या दस हजार के लगभग बतलायी जाती है और वे मध्य प्रान्त में बसते है।

माणिक्यनन्दी - माणिक्यनन्दी नन्दिसघ के प्रमुख आचार्य थे और धारा नगरी के निवासी थे। वे व्याकरण और सिद्धान्त के ज्ञाता होने के साथ दर्शनशास्त्र के तलदृष्टा विद्वान थे। उस समय धारा नगरी का प्रभु भोजदेव था। जो राज्य कार्य का संचालन करते हुए भी दर्शन, व्याकरण, छन्द, अलकार और काव्यादि विविध विषयो के ग्रन्थो का पठन पाठन में रूचि रखता था। सुदर्शन चरित्र के कर्ता नयनन्दी ने वहाँ की आचार्य परम्परा का उल्लेख किया है। सुनक्षत्र पद्मनन्दी, विष्णुनन्दी, नन्दनन्दी, विश्वनन्दी, विशाखानन्दी, गणीराम नन्दी, माणिक्यनन्दी, नयननदी, हरिसिह, श्रीकुमार जिन्हे सरस्वती कुमार भी कहा जाता है था, प्रभाचन्द्र और बालचन्द। दूसरी

परम्परा लाड़बागड गण के बलात्कारगण की थी। जिसमें सागरसेन, प्रवचनसेन, और श्री चन्द्रादि विद्वानों का उल्लेख पाया जाता है। माणिक्यनन्दी गणीरामनन्दी के शिष्य थे। जो भारतीय दर्शन के साथ जैनदर्शन के प्रकाण्ड पण्डित थे। इनके अनेक विद्या शिष्य थे। उनमें नयनन्दी प्रथम विद्या शिष्य थे। जिन्होने 1100 में धारा नरेश भोज के राज्य काल में 'सुदक्षण चरिउ' और विधि विधान की रचना की थी। उन्होंने अपनें विद्यागुरु माणिक्यनन्दी को महापण्डित और त्रैविध बतालाते हुए उन्हें प्रत्यक्ष परोक्ष रुप जल से भरे और नयरूप चचल तरंग समूह से गम्भीर उत्तम सप्तभगरूप कल्लोलमाला से भूषित जिनशासन रूप निर्मल सरोवर से युक्त और पण्डितों का चूडामणि प्रकट किया है।

माणिक्यनदी ने भारतीय दर्शन शास्त्र और अकलंकदेव के ग्रन्थों का दोहन कर जो नवनीतामृत निकाला वह उनकी दार्शनिक प्रतिभा का सद्योतक है वे जैन न्याय के आद्यसूत्रकार है। उनकी एक मात्र कृति 'परीक्षामुख सूत्र' है, जो न्याय सूत्र ग्रन्थों में अपना असाधारण स्थान और महत्त्व रखता है।

मुनि रामसिंह - मुनिरामसिंह ने अपना कोई परिचय नहीं दिया है। न अपने गुरु का नामोल्लेख ही किया है। ग्रन्थ मे रचना काल भी नहीं दिया और न अपनी गुरु परम्परा का ही उल्लेख किया है। इनकी एक मात्र कृति 'दोहापाहुड़' है जिसमें 222 दोहे हैं। जिनमें आत्म सम्बोधक वस्तु तत्त्व का वर्णन किया गया है। दोहें भावपूर्ण और सरस है। चूंकि इस ग्रन्थ के कर्ता रामसिह योगी है। उन्होने 211 नं. के दोहे मे 'रामसीहु गुणि इग भणइ' वाक्य द्वारा अपने को उनको कर्ता सूचित किया है। डा. ए. एन. उपाध्ये ने लिखा है एक प्रति की सन्धि में भी उनका नाम मात्र आया है। प्रस्तुत रामसिह योगीन्दु के बहुत ऋणी है। उन्होंने उनके परमात्म प्रकाश से बहुत कुछ लिया है। रामसिह रहस्यवाद के प्रेमी थे। इसी से उन्होंने प्राचीन ग्रन्थकारों के पद्यो का उपयोग किया है। रामसिह का समय दसवी शताब्दी है।

मानतुंगाचार्य - मानतुंग दोनो ही सम्प्रदायों द्वारा मान्य हैं। इनके समय सम्बन्ध मे भी दो विचार धाराएं प्रचलित हैं - भोजकालीन और हर्षवर्धन कालीन डा. ए. बी. कीथ ने मानतुंग को बाण कवि के समकालीन अनुमान किया है। प्रसिद्ध इतिहासज्ञ विद्वान प. नाथूराम प्रेमी ने भी मानतुंग को हर्षकालीन माना है। इस सब कथन से भक्तामर स्तोत्र 7वीं शताब्दी की रचना है।

मानतुंगसूरि की दो रचनाएं उपलब्ध हैं। भक्तामरस्तोत्र और भयहरस्तोत्र। इसमें से प्रथम रचना सस्कृत के वसन्ततिलका छन्द मे रची गयी है। इस स्तोत्र मे उनका आदि पद 'भक्तामर' होने से इसका नाम रुढ़ हो गया। भक्तामर स्तोत्र में 48 पद्य है किन्तु श्वेताम्बर सम्प्रदाय मे 44 पद्य ही माने जाते है। दिगम्बर सम्प्रदाय मे भक्तामर स्तोत्र के पठन-पाठन का खूब प्रचार है। इस स्तवन मे आदिब्रह्म, आदिनाथ की स्तुति की गई है। इसलिए इसका नाम आदिनाथ स्तोत्र प्रचलित है।

जयसेन - यह लाड बागडसंघ के पूर्णचन्द्र थे शास्त्र समुद्र के पारगामी और तप के निवास

थे तथा स्त्री के कला रूपी वाणो से नही भिदे थे - पूर्ण ब्रह्मचर्य से प्रतिष्ठित थे जैसा कि प्रद्युम्नचरित की प्रशस्ति के पद्य से ज्ञात होता है। इनके शिष्य गुणाकरसेन सूरि थे और प्रशिष्य महासेन जो मुञ्ज नरेश द्वारा पूजित थे। जयसेन का समय विक्रम की दसवीं शताब्दी है।

श्वेताम्बर आचार्य

यह तो हुआ कुछ प्रसिद्ध जैन (दिगम्बर) धर्माचार्यो का परिचय। अब कुछ श्वेताम्बर जैनाचार्यो का परिचय दिया जाता है। इन आचार्यो मे उमास्वामी की उमास्वाति नाम से तथा सिद्धसेन की सिद्धसेन दिवाकर नाम से श्वेताम्बर सम्प्रदाय मे भी बहुत प्रतिष्ठा है और वह इनको जैन सम्प्रदाय (आचार्य) समान रूप से ही मानता है।

निर्युक्तिकार भद्रबाहु - भद्रबाहु नाम के दो आचार्य हो गए है। यह दूसरे भद्रबाहु विक्रम की छठी शती मे हुए थे। वे जाति से ब्राह्मण थे। प्रसिद्ध ज्योतिषी वराहमिहिर इनका भाई था। इन्होने आगमो पर निर्युक्तियो की रचना की तथा अन्य भी अनेक ग्रन्थ बनाये।

मल्लवादी - यह प्रबल तार्किक थे। आचार्य हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण मे लिखा है कि सब तार्किक मल्लवादी से पीछे है इनका बनाया हुआ नयचक्र ग्रन्थ बहुत महत्त्वपूर्ण है जिसका पूरा नाम 'द्वादशारनयचक्र' है। मूल ग्रन्थ तो उपलब्ध नही है। किन्तु उसकी क्षमाश्रमण कृत टीका मिलती है। आचार्य हरिभद्र ने अपने अनेकान्त जयपताका ग्रन्थ मे इनका वादिमुख्य करके उल्लेख किया है। अतः इतना निश्चित है कि ये विक्रम की आठवी शती से पहले हुए है।

जिनभद्रगणि (ई. 6-7 वी शती) - जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण एक बहुत ही समर्थ और आगमकुशल विद्वान् थे। इनका विशेषावश्यकभाष्य नाम का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। उसी के कारण भाष्यकार नाम से इनकी ख्याति है। इस ग्रन्थ मे उन्होने सिद्धसेन के विचारो का खण्डन भी किया है। विशेषणवती आदि अन्य भी अनेक ग्रन्थ इनके रचे हुए है। आचार्य हेमचन्द्र ने उन्हे उत्कृष्ट व्याख्याता बतलाया है।

हरिभद्र (ई. 700-750) - हरिभ्रद सूरि श्वेताम्बर सम्प्रदाय के बहुमान्य विद्वान हुए हैं। इन्होने सस्कृत और प्राकृत मे अनेक ग्रन्थो की रचना की है। इनके रचे हुए ग्रन्थो मे अनेकान्त प्रवेश, अनेकान्त-जयपताका, ललित विस्तरा, षड्दर्शन समुच्चय और समराइच्चकहा अतिप्रसिद्ध है। अपने प्रकरण ग्रन्थो मे इन्होने तत्कालीन साधुओ की खरी आलोचना भी की है।

अभयदेव (ई. 11वी शती) - ये प्रद्युम्नसूरि के शिष्य थे। इन्होंने सिद्धसेन के सन्मति तर्क पर बहुत ही विद्वत्तापूर्ण टीका लिखी है। जिसमे सैकड़ो दार्शनिक ग्रन्थो का निचोड़ भरा हुआ है। सक्षेप मे दिगम्बर परम्परा मे अकलकदेव, विद्यानन्दि और प्रभाचन्द्र को जो स्थान है वही स्थान श्वेताम्बर परम्परा ने मल्लवादी, हरिभद्र और अभयदेवसूरि का है। छहों विद्वान दार्शनिक क्षेत्र के जाज्वल्यमान नक्षत्र थे।

हेमचन्द्र (ई. 13वीं शती) - आचार्य हेमचन्द्र को विद्वानों में बहुत ऊचा स्थान मिला है।

गुर्जर नरेश सिद्धराज जयसिंह उनका पूर्ण भक्त था। उनके नाम पर ही उन्होंने अपना प्रसिद्ध व्याकरण बनाया। उसी का एक अध्याय प्राकृत व्याकरण है जो अति प्रसिद्ध है। आचार्य का जन्म स. 1145 मे हुआ। नौ वर्ष की अवस्था में दीक्षा ली। और सं. 1162 में आचार्य पद प्राप्त किया। स. 1229 मे उनका स्वर्गवास हो गया। न्याय, व्याकरण, काव्य कोष आदि सभी विषयो पर उन्होंने अद्‌भुत ग्रन्थ लिखे। जयसिह का उत्तराधिकारी राजा कुमारपाल तो उनका शिष्य ही था।

यशोविजय (ई. 18वीं शती) - श्वेताम्बर परम्परा में हेमचन्द्राचार्य के पश्चात् यशोविजय जैसा सर्वशास्त्र पारगत दूसरा विद्वान नहीं हुआ। इन्होने काशी में विद्याध्ययन किया था और ये न्याय के न केवल विद्वान् ही थे अपितु उसी शैली में कई ग्रन्थ भी रचे। उनकी जैन तर्कभाषा, ज्ञानबिन्दु, नयरहस्य नयप्रदीप आदि ग्रन्थ अध्ययन करने योग्य हैं। इनकी विचारसरणि बहुत ही परिष्कृत और संतुलित थी।

अरहंते सुहभत्ती सम्मत्तं दंसणेण सुविसुद्धं।
सीलं विसय विरागो णांण पुण केरिसं भणियं।।

अरहन्त भगवान में शुभभक्ति का होना सम्यक्त्व है। वह सम्यक्त्व जो सम्यक्‌दर्शन कं आठ अंगो से विशुद्ध होता है तथा विषयों से विरक्ति का होना ही शील है। अतएव ये दोनों ही ज्ञान है इनसे अतिरिक्त ज्ञान और क्या हो सकता है?

श्रुतधराचार्य एवं विद्वान

पट्टावलियो, अभिलेखो एव प्रशस्तियो से श्रुताराधक आचार्यों की परम्परा का परिज्ञान प्राप्त होता है। तीर्थंकर महावीर के निर्वाण-गमन के पश्चात् दिगम्बर आचार्यो ने वाङ्मय का प्रणयन कर रत्नत्रय धर्म की ज्योति को सतत् प्रज्ज्वलित किया। आत्मशोधन और आत्म-आराधन के साथ श्रुत के अखण्ड दीप को सदैव प्रज्ज्वलित रहने के हेतु परम्परा से प्राप्त ज्ञानराशि का मूर्तरूप देकर सरस्वती का अवतार प्रस्तुत किया। वस्तुतः दिगम्बराचार्यो ने महावीर की परम्परा को जीवित रखने के लिए अगणित ग्रन्थो का प्रणयन कर अपनी साधना में गुणात्मक परिवर्तन कर परम्परा को जीवन्त रखा है।

आचार्य भद्रबाहु-चन्द्रगुप्त - अन्तिम केवली जम्बू स्वामी के निर्वाण के बाद दिगम्बर श्वेताम्बर दोनो ही सम्प्रदायो की गुर्वावलियां भिन्न-भिन्न हो जाती है। किन्तु श्रुत केवली भद्रबाहु के समय वे गगा-यमुना के समान पुनः मिल जाती है। तथा भद्रबाहु श्रुतकेवली के स्वर्गवास के पश्चात् जैन परम्परा स्थायी रूप से दो विभिन्न स्रोतो मे प्रवाहित होने लगती है। अतएव भद्रबाहु श्रुतकेवली दोनो ही परम्पराओ मे मान्य है।

पुण्ड्रवर्धन देश मे देवकीट नाम का एक नगर था जिसका प्राचीन नाम कीटिपुर था। इस नगर मे सोमशर्मा नाम का एक ब्राह्मण रहता था उसकी पत्नी का नाम सोमश्री था। उससे भदबाहु का जन्म हुआ था। बालक स्वभाव से ही होनहार और कुशाग्रबुद्धि था। उसका क्षयोपशम और धारण शक्ति प्रबल थी। आकृति सौम्य और सुन्दर थी। वाणी मधुर और स्पष्ट थी। एक दिन वह बालक नगर के बाहर अन्य बालको के साथ गटुओ (गोलियो) से खेल रहा था। खेलते-खेलते उनसे चौदह गोलियो को एक पर एक पक्तिबद्ध खड़ा कर दिया। उर्जयन्तगिरि (गिरनार) के भगवान नेमिनाथ की यात्रा से वापिस आते हुए चतुर्थ श्रुतकेवली गोवर्धन स्वामी सघ सहित कोटिग्राम पहुँचे। उन्होने बालक भद्रबाहु को देखकर जान लिया कि यही बालक थोड़े दिनो मे अन्तिम श्रुत केवली और घोर तपस्वी होगा। अतः उन्होने उस बालक से पूछा कि तुम्हारा क्या नाम है और तुम किसके पुत्र हो। तब भद्रबाहु ने कहा कि मै सोमशर्मा का पुत्र हूँ और मेरा नाम भद्रबाहु है। आचार्य श्री ने कहा क्या तुम चल कर अपने पिता का घर बता सकते हो? बालक तत्काल आचार्यश्री को अपने पिता के घर ले गया। आचार्यश्री को देखकर सोमशर्मा ने भक्तिपूर्वक उनकी वन्दना की और बैठने के लिए उच्चासन दिया। आचार्यश्री ने सोमशर्मा से कहा कि आप अपना बालक हमारे साथ पढ़ने के लिए भेज दीजिए सोमशर्मा ने आचार्यश्री से निवेदन किया कि बालक को आप खुशी से ले जाइये और पढ़ाइए। माता पिता की आज्ञा से आचार्यश्री ने बालक को अपने सरक्षण मे ले लिया और उसे सर्वविद्याएं पढ़ाई कुछ ही वर्षों मे भद्रबाहु सब विद्याओ मे निष्णात हो गया। तब गोवर्द्धनाचार्य ने उसे माता-पिता के पास भेज दिया। माता पिता उसे सर्व विद्या सम्पन्न देखकर अत्यन्त हर्षित हुए भद्रबाहु ने माता पिता से

दीक्षा लेने की अनुमति मांगी और वह माता-पिता की आज्ञा लेकर वापिस गुरु के पास आ गया। निष्णात बुद्धि भद्रबाहु ने महावैराग्य सम्पन्न होकर यथासमय जिनदीक्षा ले ली और दिगम्बर साधु बनकर आत्म साधना में तत्पर हो गया।

एक दिन योगी भद्रबाहु प्रातः काल क़ायोत्सर्ग में लीन थे। कि भक्तिवश देव, असुर और मनुष्यो से पूजित हुए। गोवर्द्धनाचार्य ने उन्हें अपने पट्ट पर प्रतिष्ठित कर, संघ का सब भार भद्रबाहु को सौप कर निःशल्य हो गए। कुछ समय बाद गोवर्द्धन स्वामी का स्वर्गवास हो गया। गुरु के स्वर्गवास के पश्चात् भद्रबाहु सिद्धि सम्पन्न मुनिपुंगव हुए। कठोर तपस्वी और आत्म ध्यानी सघ का सब भार वहन करने मे वे निपुण थे। वे चतुदर्शपूर्वधर और अष्टांग महानिमित्त के पारगामी श्रुतकेवली थे। अपने सघ के साथ उन्होंने अनेक देशो मे विहार कर धर्मोपदेश द्वारा जनता का महान कल्याण किया।

भद्रबाहु श्रुतकेवली यत्र तत्र देशों में अपने विशाल सघ के साथ विहार करते हुए उज्जैन पधारे और क्षिप्रा नदी के किसी उपवन में ठहरे। वहाँ सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य ने उनकी वन्दना की जो उस समय प्रांतीय उपराजधानी में ठहरा हुआ था। एक दिन भद्रबाहु आहार के लिए नगरी मे गए। वे एक मकान के उस भाग मे उपस्थित हुए जिस में कोई मनुष्य नहीं था, किन्तु पालने मे झूलते हुए एक बालक ने कहा - "मुनि! तुम यहाँ से शीघ्र चले जाओ, चले जाओ। तब भद्रबाहु ने अपने निमित्तज्ञान से जाना कि यहाँ बारहवर्ष का भारी दुर्भिक्ष पडने वाला है। बारह वर्ष तक वर्षा न होने से अन्नादि उत्पन्न न होगे और धन-धान्य से समृद्ध यह देश शून्य हो जायेगा और भूख के कारण मनुष्य-मनुष्य को खा जायेगा। यह देश राजा मनुष्य और तस्करादि से विहीन हो जायेगा। ऐसा जानकर आहार लिए बिना लौट गए और जिन मन्दिर में आकर आवश्यक क्रिया सम्पन्न की और अपराह्न काल में समस्त संघ में घोषणा की कि यहाँ बारह वर्ष का घोर दुर्भिक्ष होने वाला है। अतः सब सघ को समुद्र के समीप दक्षिण देश मे जाना चाहिए सम्राट चन्द्रगुप्त ने रात्रि में सोते हुए सोलह स्वप्न देखे। वह आचार्य भद्रबाहु से उनका फल पूछने और धर्मोपदेश सुनने के लिए उनके पास आया और उन्हे नमस्कार कर उनसे धर्मोपदेश सुना, अपने स्वप्नो का फल पूछा तब उन्होने बताया कि तुम्हारे स्वप्नो का फल अनिष्ट सूचक है यहाँ बारह वर्ष का घोर दुर्भिक्ष पडने वाला है उससे जनधन की बड़ी हानि होगी। चन्द्रगुप्त ने यह सुनकर और पुत्र को राज्य देकर भद्रबाहु से दीक्षा ले ली। भद्रबाहु वहाँ से ससघ चलकर श्रवणबेलगोला तक आये। भद्रबाहु ने कहा - मेरा आयुष्य अल्प है अतः मै यहीं रहूँगा। और संघ को निर्देश दिया कि वह विशाखाचार्य के नेतृत्व मे आगे चले जाए। भद्रबाहु श्रुतकेवली होने के साथ अष्टमहानिमित्त के भी पारमागी थे। उन्हें दक्षिण देश मे जैनधर्म के प्रचार की बात ज्ञात थी तभी उन्होंने बारह हजार साधुओं के विशालसंघ को दक्षिण की ओर जाने की अनुमति दी।

भद्रबाहु ने सब संघ को दक्षिण के पाण्ड्यादि देशों की ओर भेजा क्योंकि उन्हें विश्वास था वहाँ जैन साुधओं के आचार का पूर्ण निर्वाह हो जायेगा। उस समय दक्षिण भारत में जैन

धर्म पहले से ही प्रचलित था। यदि जैनधर्म का प्रसार वहाँ नहीं होता तो इतने बडे संघ का निर्वाह वहाँ किसी तरह नहीं हो सकता था। इसके स्पष्ट है कि जैनधर्म वहाँ प्रचलित था। लंका मे भी ईसवी पूर्व चतुर्थ शताब्दी मे जैनधर्म का प्रचार था और सघस्थ साधुओं ने भी वहाँ जैन धर्म का प्रचार किया। तमिल प्रदेश के प्राचीनतम शिलालेख मदुरै और रामनाड जिले से प्राप्त हुए है' जो अशोक के स्तम्भो मे उत्कीर्ण लिपि मे है। उनका काल ई. पूर्व तीसरी शताब्दी का अन्त और दूसरी शताब्दी का प्रारम्भ माना गया है। उनका सावधानी से अवलोकन करने पर 'पल्लै' 'मदुराई' जैसे कुछ तमिल शब्द पहचानने मे आते है। उस पर विद्वानो के दो मत आते है। प्रथम के अनुसार उन शिलालेखो की भाषा तमिल है जो अपने प्राचीनतम अविकसित रूपो मे पाई जाती है और दूसरे मत के अनुसार उनकी भाषा पैशाची प्राकृत है जो पाण्ड्य देशो में प्रचलित थी। जिन स्थानो से उक्त लेख प्राप्त हुए है उनके निकट जैन मन्दिरों के भग्नावेश और जैन तीर्थकरो की मूतिया पाई जाती है। जिन पर सर्प का फण या तीन छत्र अंकित है।

बौद्धग्रथ महावंश की रचना लका के राजा घंतुसेणु (461-479 ई.) के समय हुई थी। उसमे 543 ई. पूर्व से लेकर 310 ई. के काल का वर्णन है। 430 ई. पूर्व के लगभग पाण्डुगामय राजा के राज्य काल मे अनुराधापुर मे राजधानी परिवर्तित हुई थी। महावश में इस नगर की अनेक नई इमारतो का वर्णन है उनमे से एक इमारत निर्ग्रन्थों के लिए थी उसका नाम गिरि था और उसमे बहुत से निर्ग्रन्थ रहते थे। राजा ने निर्ग्रन्थो के लिए एक मन्दिर भी बनवाया था इससे स्पष्ट है कि लका मे ईसा पूर्व 5वी शती के लगभग जैनधर्म का प्रवेश हुआ होगा।

भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त वही रह गए। चन्द्रगिरि पर्वत के शिलालेख से ज्ञात होता है। कि चन्द्रगुप्त का दीक्षा नाम प्रभाचन्द्र था। वे भद्रबाहु के साथ कटवप्र पर ठहर गए और उन्होंने वही समाधिमरण किया। भद्रबाहु की समाधि का भगवती आराधना की मे उल्लेख मिलता है। एक गाथा मे बतलाया गया है कि भद्रबाहु ने अवमौदर्य द्वारा न्यून भोजन की घोर वेदना सहकर उत्तमार्थ की प्राप्ति की। चन्द्रगुप्त ने अपने गुरु की बहुत सेवा की। भद्रबाहु के दिवगत होने के बाद श्रुतकेवली का अभाव हो गया क्योंकि वे अन्तिम श्रुतकेवली थे।

दिगम्बर परम्परा मे भद्रबाहु के जन्मादि का परिचय हरिषेण कथाकोष, श्रीचन्द्र कथकोष और भद्रबाहु चरित आदि मे मिलता है और भद्रबाहु के बाद उनकी शिष्य परम्परा अग पूर्वादि के पाठियो के साथ चलती है जिसका परिचय आगे दिया जायेगा।

श्वेताम्बर परम्परा में कल्पसूत्र आवश्यक के सूत्र, नन्दि, सूत्र, ऋषिमंडल सूत्र और हेमचन्द्र के परिशिष्ट पर्व मे भद्रबाहु की जानकारी मिलती है। कल्पसूत्र की स्थविरावली में उनके चार शिष्यो का उल्लेख मिला है पर वे चारो ही स्वर्गवासी हो गए अतएव भद्रबाहु की शिष्य परम्परा आगे न बढ़ सकी किन्तु उक्त परम्परा भद्रबाहु के गुरुभाई सभूति विजय के शिष्य स्थूलभद्र से आगे बढ़ी। वहाँ स्थूलभद्र को अन्तिम केवली माना गया है। महावीर निर्वाण से 170 वें वर्ष मे भद्रबाहु का स्वर्गवास हुआ है और स्थूलभद्र का स्वर्गवास वीर निर्वाण सं. 157 से 257 तक

अर्थात ई. पूर्व 270 मे या उसके कुछ कम पूर्व हुआ।

दिगम्बर परम्परा में भद्रबाहु का पट्टकाल 29 वर्ष माना जाता है जब कि श्वेताम्बर परम्परा में पट्टकाल 14 वर्ष बतलाया गया है। तथा व्यवहार सूत्र छेदसूत्रादि ग्रन्थ भद्रबाहु श्रुत केवली द्वारा रचित कहे जाते हैं।

दिगम्बर परम्परा के अनुसार भद्रबाहु का स्वर्गवास वी. निर्वाण सं. मे 162 वें वर्ष अर्थात् 265 ई. पूर्व माना जाता है। दिगम्बर परम्परा में भद्रबाहु के द्वारा रचित साहित्य नहीं मिलता। इसमे आठ वर्ष का अन्तर विचारणीय है।

आचार्य पुष्पदन्त - भूतबली - गुणधराचार्य के पश्चात् अंग-पूर्वों के एक देश ज्ञाता धरसेन हुए। ये सौराष्ट्र देश गिरिनार के समीप उर्जयन्त पर्वत की चन्द्र गुफा मे निवास करते थे। ये परवादी रूप हाथियो के समूह का मदनाश करने के लिए श्रेष्ठ सिंह के समान थे। अष्टाग महानिमित्त के पारगामी और लिपि शास्त्र के ज्ञाता थे। वर्तमान में उपलब्ध श्रुत की रक्षा का सर्वाधिक श्रेय इन्ही को प्राप्त है। कहा जाता है कि प्रवचन-वत्सल धरसेनाचार्य ने अग श्रुत के विच्छेदन हो जाने के भय से महिमा नगरी में सम्मिलित दक्षिणा पथ के आचार्यों के पास एक पत्र भेजा। पत्र मे लिखे गए धरसेन के आदेश को स्वीकार कर उन आचार्यो ने शास्त्र के अर्थ को ग्रहण और धारण करने मे समर्थ विविध प्रकार के चारित्र से उज्ज्वल और निर्मल विनय म विभूषित शील रूपी माता के धारी सेवा भावी देश कुल जाति से शुद्ध, समस्त कलाओ क पारगामी एव आज्ञाकारी दो साधुओं को आध्र देश की वन्या नदी के तट से रवाना किया। इन दोनो मुनियो के मार्ग मे आते समय धरसेनाचार्य ने रात्रि के पिछले भाग मे स्वप्न मे कुन्दपुष्प, चन्द्रमा और शख के समान श्वेत वर्ण के दो बैलो के अपने चरणो में प्रणाम करते देखा। प्रात: काल उक्त दोनो साधुओ के आने पर धरसेनाचार्य ने उन दोनो की परीक्षा ली और जब आचार्य को उनकी योग्यता पर विश्वास हो गया तब उन्होने अपना श्रुतोपदेश देना प्रारम्भ किया। जो आषाढ़ शुक्ला एकादशी को समाप्त हुआ गुरु धरसेन ने इन दोनों शिष्यो का नाम पुष्पदन्त और भूतबलि रखा। गुरु के आदेश से ये शिष्य गिरनार से चल कर अकलेश्वर आये और वही उन्होने वर्षाकाल व्यतीत किया। अनन्तर पुष्पदन्त आचार्य बनवास देश को और भूतबलि तामिल देश को ओर चले गए।

पुष्पदन्त ने जिनपालित को दीक्षा देकर उसके अध्यापन हेतु सत्प्ररूपणा तक के सूत्रो की रचना की और उन्होने उन सूत्रों को संशोधनार्थ भूतबलि के पास भेज दिया। भूतबलि ने जिनपालित के पास उन सूत्रो को देखकर पुष्पदन्त आचार्य को अल्पायु जानकर महाकर्म प्रकृति पाहुड का विच्छेद न हो जाए इस ध्येय से आगे द्रव्यप्रमाणदि अनुगमो की रचना की। इन दोनो आचार्यों द्वारा रचित ग्रन्थ **षट्खण्डागम** कहलाता है। इस ग्रन्थ की सत्प्ररूपणा के 177 सूत्र पुष्पदन्त ने और शेष समस्त सूत्र भूतबलि के द्वारा रचित है अतएव यह स्पष्ट है कि श्रुत व्याख्याता धरसेन हैं और रचयिता पुष्पदन्त तथा भूतबलि।

इन आचार्यों के समय के सम्बन्ध में निश्चित रुप से तो ज्ञात नहीं है पर इन्द्र-नन्दी कृत

श्रुतावतार मे लोहाचार्य के पश्चात विनयदत्त, श्रीदत्त, शिवदत्त और अर्हदत्त इन चार आरातीय-आचार्यों का उल्लेख मिलता है और तत्पश्चात् अर्हद्बलि का तथा अर्हद्बलि के अनन्तर धरसेनाचार्य का नाम आता है। इन्द्रनन्दि के अनुसार कुन्दकुन्द षट्खण्डागम के टीकाकार है। अतः पुष्पदन्त और भूतबलि का समय कुन्दकुन्द के पूर्व है। विद्वानो ने अनेक पुष्ट प्रमाणो के आधार पर सिद्ध किया है कि षट्खण्डागम की रचना प्रथम शती मे होनी चाहिए।

प्राकृत पट्टावलि मे श्रुतधरो की - जो परम्परा अंकित है उससे भी षट्खण्डागम का रचना काल ई. सन् प्रथम शताब्दी आता है।

पट्टावलि के अनुसार अर्हद्बलि का समय ई. सन् 38 है। माघनन्दि का ई. सन् 66 और धरसेन का ई. सन् 85 आता है। धरसेन के जीवन काल में ही षट्खण्डागम लिखा गया है। धरसेन माघनन्दि के समय मे विद्यमान थे। पर पट्टावलि में माघनन्दि के पट्ट के पश्चात ही धरसेन के पट्ट का उल्लेख आया है धरसेन के अनन्तर बीस वर्ष तक भूतबलि पुष्पदन्त के काल का निर्देश प्राप्त होता है। यो तो अर्हद्बलि, माघनन्दी, धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि ये पांचो आचार्य समयवर्ती है। पट्टावलि में इनका काल 118 वर्ष माना गया है। अतः ई. सन् की प्रथम शती मे इनका परस्पर मे साक्षात्कार अवश्य हुआ होगा।

षट्खण्डागम (छक्खंडागम) सूत्र - इस आगम ग्रन्थ मे छह खण्ड है - जीवट्ठाण, खुद्दाबंध, बंधसमित्तविचय, वदना, वग्गणा, और महाबन्ध। इस ग्रन्थ का विषय स्रोत्र बारहवे दृष्टिवाद श्रुताग के अन्तर्गत द्वितीय पूर्व आग्रायणीय के चयनलब्धि नामक पञ्चम अधिकार के चतुर्थ पाहुड़ कर्म प्रकृति को माना जाता है।

1. **जीवट्ठाण नामक प्रथम खण्ड** में जीव के गुण, धर्म और नाना अवस्थाओ का सत्, सख्या, क्षेत्र, स्पर्शन , काल , अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व इन आठ प्ररूपणाओं में वर्णन किया गया है। इसके अनन्तर नौ चूलिकाए है। जिनके नाम प्रकृति समुत्कीर्त्तन, स्थानसमुत्कीर्त्तन, प्रथममहादण्डक, द्वितीयमहादण्डक, तृतीय महादण्डक, उत्कृष्टस्थिति, जघन्यस्थिति, सम्यक्त्वोत्पत्ति और गति-अगति है। सत्प्ररुपणा के प्रथम सूत्र में पञ्चनमस्कार मन्त्र का पाठ है। इस प्ररूपणा का विषय-विवेचन ओघ और आदेश क्रम से किया गया है। ओघ में आत्मोत्क्रान्ति के द्योतक मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र अविरति आदि चौदह गुणस्थानो का और आदेश में गति, इन्द्रिय, काय , योग वेद आदि चौदह मार्गणाओं का विवेचन है। सत्प्ररूपणा के 40 वे सूत्र से 45 वे सूत्र तक छह काय जीवो का विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है। जीवो के बादर और सूक्ष्म भेदों के पर्याप्त और अपर्याप्त भेद किये गए है। वनस्पतिकाय साधारण और प्रत्येक ये दो भेद किये है। जीवट्ठाण खण्ड की दूसरी प्ररूपणा द्रव्य-प्रमाणानुगम है। इसमे 192 सूत्रो में गुणस्थान और मार्गणाक्रम से जीवो की संख्या का निर्देश किया गया है। इस सन्दर्भ मे गुणा, भाग, वर्ग, वर्गमूल, घन, अन्योन्याभ्यस्त राशि आदि गणित की मौलिक प्रतिक्रियाओं का उल्लेख भी किया गया है। क्षेत्र प्ररूपणा मे 92 सूत्र है और विभिन्न दृष्टियो से जीव के क्षेत्र का निरूपण किया गया है।

स्पर्शन प्ररूपणा में 185 सूत्र हैं। विभिन्न दृष्टियो से जीवों के स्पर्शन क्षेत्र का निर्देश किया गया है। कालानुयोग में मर्यादाओं की कालावधिका कथन किया गया है। अन्तर प्ररूपणा में 397 सूत्र हैं। इन सूत्रों में बताया गया है कि जब विवक्षित गुण गुणान्तर रुप से संक्रमित हो जाता है और पुन: उसकी प्राप्ति होती है तो मध्य के काल को अन्तर कहते हैं। यह अन्तर काल सामान्य और विशेष को अपेक्षा से दो प्रकार का होता है। सूत्रकार ने एक जीव और नाना जीवों की अपेक्षा एक ही गुणस्थान और मार्गणा में रहने को जघन्य और उत्कृष्ट कालाधिक का निर्देश करते हुए अन्तरकाल का निरूपण किया है। भावानुयोग में 93 सूत्र हैं। इन में गुणस्थान और मार्गणा क्रम से जीवों के औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारणामिक भावों के भेद-प्रभेदों और स्थितियो का निरुपण किया है। दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय कर्म प्राकृतियों के उदय, उपशमादि की विभिन्न अवस्थाएं भी वर्णित है। अल्पबहुत्व प्ररूपणा में 382 सूत्र हैं। इस प्ररूपणा मे नाना दृष्टियों से जीवो का हीनाधिक विवेचन किया है। अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण और सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान में उपशम सम्यक्त्वी जीवअन्य सब स्थानो को अपेक्षा प्रमाण में अल्प और परस्पर तुल्य होते हैं।

उपर्युक्त आठ प्ररूपणाओं के अतिक्ति जीवस्थान की नौ चूलिकाए हैं। प्रकृतिसमुकीर्तन नाम की चूलिका मे 46 सूत्र है। क्षेत्र, काल और अन्तर प्ररूपणाओं में जीव के क्षेत्र और काल सम्बन्धी जो परिवर्तन किए गए हैं वे विशेष बन्ध के कारण ही उत्पन्न हो सकते हैं इन सभी चूलिकाओ में कर्म बन्ध, कर्म बन्ध का अधिकारी जीव, कर्म का आबाधा काल, कर्मों की स्थिति, आत्मोत्क्रान्ति के लिए सम्यक्त्व की आवश्यकता, सम्यक्त्व उत्पत्ति का काल आदि का विस्तृत विवेचन है। इस जीवट्ठाण खण्ड मे 2375 सूत्र हैं और यह सत्रह अधिकारो में विभाजित है। 2. **खुद्दाबंध (क्षुद्रकबन्ध)** है। कर्म सिद्धान्त को दृष्टि से यह द्वितीय खण्ड बहुत ही उपयोगी है। इसमें मार्गणास्थानों के अनुसार बन्धक और अबन्धक जीवों का विवेचन किया गया है। इसमे ग्यारह अनुयोग द्वार है -

1. एक जीव की अपेक्षा स्वामित्व
2. एक जीव की अपेक्षा काल
3. एक जीव की अपेक्षा अन्तर
4. नाना जीवों की अपेक्षा भंग विचय
5. द्रव्यप्रमाणानुगम
6. क्षेत्रानुगम
7. स्पर्शानुगम
8. नाना जीवों की अपेक्षा काल

9. नाना जीवो की अपेक्षा अन्तर

10. भागा-भागानुगम

11. अल्पबहुत्वानुगम

इस द्वितीय खण्ड मे 1582 सूत्र है। इनमे कर्मास्रव, बन्ध, बन्ध की स्थिति, नरकादि गतियो मे निवास करने वाले जीवो के विविध परिणाम आदि का विवेचन किया है।

3. बंधसामित्तविचय (बन्धस्वामित्वविचय) - नामक तृतीय खण्ड मे बन्ध के स्वामी का विचार किया गया है। विचय शब्द का अर्थ विचार, मीमासा, और परीक्षा है। यहाँ इस बात का विवेचन किया कि कौन सा कर्मबन्ध किस गुणस्थान और मार्गणा में संभव है अर्थात् कर्म बन्ध के स्वामी कौन से मार्गणास्थानवर्ती जीव है। इस खण्ड मे 324 सूत्र है। कर्म प्रकृतियों का बन्ध, उदय, सत्त्व और बन्धव्युच्छिति आदि का विस्तृत विवेचन किया है।

4. वेदना खण्ड - इस खण्ड मे निक्षेप, नय, नाम, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, प्रत्यय, स्वामित्व, वेदना विधान, गति, अनन्तर, सन्निकर्ष, परिमाण, भागाभाग एवं अल्पबहुत्व इन सोलह अधिकारो द्वारा विषय का प्रतिपादन किया है। इस खण्ड मे 1449 सूत्र है।

5. वर्गणा खण्ड - इसमे स्पर्श, कर्म और प्रकृति नामक तीन अनुयोगो द्वारा प्रतिपादन किया गया है। स्पर्शन अनुयोगद्वार मे स्पर्शनिक्षेप, स्पर्शनयविभाषणता, स्पर्श, नाम विधान, स्पर्शद्रव्य विधान आदि सोलह अधिकारो मे स्पर्श का विचार किया गया है। कर्म अनुयोग द्वार मे नामकर्म, स्थापना कर्म, द्रव्यकर्म, प्रयोगकर्म, समवदान कर्म, अध:करण कर्म, ईयापथकर्म, क्रियाकर्म और भाव कर्म प्ररूपणा है। इस खण्ड मे बन्ध, बन्धक, बन्धनीय और बन्ध विधान का भी 727 सूत्रो मे कथन है।

6. महाबन्ध - इसका दूसरा नाम महाधवल है। इसकी रचना आचार्य भूतबलि ने चालीस हजार श्लोक प्रमाण की है। इस खण्ड मे चार अधिकार है।

1. प्रकृतिबन्ध अधिकार

2 स्थितिबन्ध अधिकार

3. अनुभागबन्ध अधिकार

4. प्रदेशबन्ध अधिकार

प्रथम अधिकार को सर्वबन्ध, उत्कृष्ट बन्ध और अनुत्कृष्ट बन्ध आदि उप-अधिकारो में विभक्त कर विषय का विवेचन किया है। स्थिति बन्ध अधिकार के मूल दो भेद है - मूल प्रकृति-स्थिति बन्ध और उत्तरपकृतिस्थितिबन्ध। मूल प्रकृति-स्थिति बन्ध का स्थितिबन्ध स्थान प्ररूपणा निषेक प्ररूपणा, आबाधकाण्ड प्ररूपणा और अल्पबहुत्व प्ररूपणा द्वारा विवेचन किया है। अनुभाग बन्ध अधिकार मे विभिन्न कर्मो के अनुभाग पर विचार किया गया है। कर्म

किस-किस रूप में फल देते है और उनका आत्मा के साथ किस-किस प्रकार सम्बन्ध रहता है। प्रदेश बन्ध मे आत्मा और पौद्गलिक कर्मो के मिश्ररुप प्रदेश-आत्मक्षेत्र का अनेक दृष्टि से सूक्ष्मतापूर्वक विवेचन किया है।

षट्खण्डागम जैनागम का एक महान ग्रन्थ है। कर्म सिद्धान्त को विभिन्न दृष्टि से समझाने का श्लाघनीय प्रयास किया है।

आचार्य कुन्दकुन्द

श्रुतधर आचार्यो की परम्परा मे कुन्दकुन्दाचार्य का स्थान महत्वपूर्ण है। इनकी गणना ऐसे युगसस्थापक आचार्यो के रुप मे की गयी है, जिनके नाम से उत्तरवर्ती परम्परा कुन्दकुन्द-आम्नाय के नाम से प्रसिद्ध हुई है। किसी भी कार्य के प्रारम्भ मे मंगलरुप में इनका स्तवन किया जाता है। मङ्गलस्तवन का प्रसिद्ध पद्य निम्न प्रकार है -

मङ्गलं भगवान वीरो मङ्गलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दाद्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्॥

जिस प्रकार भगवान महावीर, गौतम गणधर और जैनधर्म मङ्गलरुप है, उसी प्रकार कुन्दकुन्द आचार्य भी। इन जैसा प्रतिभशाली आचार्य और द्रव्यानुयोग के क्षेत्र मे प्राय: दूसरा आचार्य दिखलाई नही पड़ता।

कुन्दकुन्द के जीवन-परिचय के सम्बन्ध मे विद्वानो ने सर्वसम्मति से जो स्वीकार किया है। उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि ये दक्षिण भारत के निवासी थे। इनके पिता का नाम कर्मण्डु और माता का नाग श्रीमति था इनका जन्म 'कौण्डकुन्दपुर' नामक स्थान में हुआ था। इस गाव का दूसरा नाम कुरुमरई भी कहा गया है। यह स्थान पेदथानाडु नामक जिले मे है। कहा जाता है कि कर्मण्डुदम्पति को बहुत दिनो तक कोई सन्तान नही हुई। अनन्तर एक तपस्वी ऋषि को दान देने के प्रभाव से पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई, इस बालक का नाम आगे चलकर ग्राम के नाम पर कुन्दकुन्द प्रसिद्ध हुआ। बाल्यावस्था से ही कुन्दकुन्द प्रतिभाशाली थे। इनकी विलक्षण स्मरणशक्ति और कुशाग्रबुद्धि के कारण ग्रन्थाध्ययन मे इनका अधिक समय व्यतीत नही हुआ। युवावस्था मे इन्होने दीक्षा ग्रहणकर आचार्य-पद प्राप्त किया।

कुन्दकुन्द का वास्तविक नाम क्या था, यह अभी तक विवादग्रस्त है। द्वादश अनुप्रेक्षा की अन्तिम गाथा मे उसके रचयिता का नाम कुन्दकुन्द दिया हुआ है। जयसेनाचार्य ने समयसार की टीका मे पद्मनन्दि का जयकार किया है। इन्द्रनन्दि ने अपने श्रुतावतार मे कौण्डकुन्दपुर के पद्मनन्दि का निर्देश किया है । श्रवणबेलगोल के शिलालेख न. 40 तथा 42, 43, 47 और 50 वे अभिलेख मे भी उक्त कथन की पुनरावृत्ति है।

स्पष्ट है कि इनका पद्मनन्दि नाम था। पर वे जन्मस्थान के नामपर कुन्दकुन्द नाम से अधिक प्रसिद्ध हुए।

कुन्दकुन्द के षट्प्राभृतों के टीकाकर श्रुतसागर ने प्रत्येक प्राभृत के अन्त में जो पुष्पिका अंकित की है उसमें इनके पद्मनन्दि, कुन्दकुन्द, वक्रग्रीव, एलाचार्य और गृद्धपिच्छ ये नाम दिए हैं।

इनकी परम्परा इस प्रकार है - भद्रबाहु के गुरु माघनन्दी, माघनन्दी के जिनचन्द्र और जिनचन्द्र के शिष्य कुन्दकुन्दाचार्य हुए। इनके पांच नाम थे - पद्मनन्दी, कुन्दकुन्दाचार्य, वक्रग्रीवाचार्य, एलाचार्य एवं गृद्धपिच्छाचार्य। इनकी जमीन से चार अंगुल ऊपर आकाश में चलने की ऋद्धि प्राप्त थी। उमास्वामी इनके शिष्य थे। भारतीय श्रमणपरम्परा में कुन्दकुन्दाचार्य का नाम खासतौर से उल्लेखनीय है। इन्होंने आध्यात्मिक योगशक्ति का विकास कर अध्यात्मविद्या की उस अवच्छिन्न धारा को जन्म दिया था जिसकी निष्ठा एवं अनुभूति आत्मानन्द की जनक थी। ये बहुत बड़े तपस्वी थे। क्षमाशील और जैनागम के रहस्य के विशिष्ट ज्ञाता थे। उनकी आत्म-साधना कठोर होते हुए भी दुख निवृत्ति रुप सुखमार्ग की निदर्शक थी। वे अहंकार ममकार रुप कल्याण भावना से रहित तो थे ही, साथ ही उनका व्यक्तित्व असाधारण था। वास्तव में कुन्दकुन्दचार्य श्रमण मुनियों ऋषियों में अग्रणी थे। यही कारण है कि-'मंगलं भगवान वीरो' इत्यादि पद्यों में निहित 'मंगल कुन्दकुन्दाद्यो' वाक्य के द्वारा मंगल कार्यों में आपका प्रतिदिन स्मरण किया जाता है।

प्रथम श्रुतस्कन्धरुप आगम की रचना धरसेनाचार्य के शिष्य पुष्पदन्त और भूतबलि द्वारा ही हो रही थी। द्वितीय श्रुतस्कन्धरुप परमागम का क्षेत्र खाली था। मुक्तिमार्ग का मूल तो परमागम ही है अत: उसका व्यवस्थित होना आवश्यक था तथा वही कार्य आपने पूर्ण किया।

दिगम्बर आम्नाय के इन महान आचार्य के विषय मे विद्वानो ने सर्वाधिक खोज की है कौण्डकुण्डपुर गाँव के नाम से पद्मनन्दि कुन्दकुन्द नाम से विख्यात हुए। पी. बी. देसाई कृत जैनिज्म के अनुसार यह स्थान गुण्टकुल रेलवे स्टेशन से चार मील दक्षिण की ओर कोकोणडल नामक गाँव प्रतीत होता है। यहाँ से अनेको शिलालेख प्राप्त हुए है। इन्द्रनन्दि श्रुतावतार के अनुसार मुनि पद्मनन्दि ने कौण्ड्कुण्डपुर जाकर परिकर्म नामक टीका लिखी थी।

अटल नियम पालक- मुनि-पुगव कुन्दकुन्द जैन श्रमणपरम्परा के आवश्यक मूलगुण और उत्तर गुणो का पालन करते थे और अनशनादि बारह प्रकार के अर्न्तबाह्य तपों का अनुष्ठान करते हुए तपस्वियो मे प्रधान महर्षि थे। उन्होने प्रवचनसार मे जैन श्रमणों के मूलगुण इस प्रकार बतलाये है- पाँच महाव्रत, पाच समिति, पाँच इन्द्रियो का निरोध, केशलोञ्च षट्आवश्यक क्रियाँए-आचेलक्य (नग्नता), अस्नान, क्षितिशयन, अदन्तधावन, स्थिति भोजन और एक भुक्ति (एकासन) जैन श्रमणों के अटठाईस मूलगुण जिनेन्द्र भगवान ने कहे हैं। जो साधु उनके आचरण में प्रमादी होता है वह छेदोपस्थापक कहलाता है।

रचनाएँ - आचार्य कुन्दकुन्द की निम्न कृतियां उपलब्ध है। पंचास्तिकाय प्राभृत, समयसार

प्राभृत, प्रवचनसार, नियमसार, अष्टपाहुड़, चारित्त पाहुड, सुत्तपाहुड, बोध पाहुड, वारस अणुवेक्खा और भत्तिसंगहो। रयणसार और मूलाचार को भी आपकी कृति मानते है।

6. **दंसणपाहुड** - इसमें सम्यग्दर्शन का एकरुप और महत्व 36 गाथाओं द्वारा बतलाया गया है। दूसरी गाथा में बताया गया है धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है। सम्यगृदर्शन से भ्रष्ट व्यक्ति को निर्वाण नही हो सकता।

7. **चरित्तपाहुड** - इसमे 44 गाथाओ द्वारा चारित्र का प्रतिपादन किया गया है। चारित्र के दो भेद है - सम्यक्त्वाचरण और संयमआचरण।

8. **सुत्तपाहुड** - इसमें 27 गाथाएं है जिसमे सूत्र की परिभाषा बताते हुए कहा है। कि जो अरहन्त के द्वारा अर्थरुप से भाषित और गणधर द्वारा कथित हो उसे सूत्र कहते है।

9. **बोधपाहुड** - बोध पाहुड में 62 गाथाओं द्वारा आयतन, चैत्यगृह, जिनप्रतिमा, दर्शन जिनबिम्ब, जिनमुद्रा, आत्मा, ज्ञान, देव, तीर्थ, अर्हन्त और प्रवज्या का स्वरुप बतलाया है। अन्तिम गाथाओं में कुन्दकुन्द ने अपने को भद्रबाहु का शिष्य प्रकट किया है।

10. **भावपाहुड** - इसमे 163 गाथाओ द्वारा भाव की महत्ता बताते हुए भाव को ही गुण दोषो का कारण बतलाया है और लिखा है कि भाव की विशुद्धि के लिए ही परिग्रह का त्याग किया जाता है। इसमे कर्म की अनेक महत्वपूर्ण बातों का विवेचन आया है।

11. **मोक्खपाहुड** - मोक्खपाहुड की गाथा सख्या 106 है। जिसमें आत्मद्रव्य का महत्व बतलाते हुए आत्मा के तीन भेदों को -परमात्मा, अन्तरात्मा और बहिरात्मा की -चर्चा करते हुए बहिरात्मा को छोड़कर अन्तरात्मा के उपाय से परमात्मा के ध्यान की बात कही गई है।

12. **लिंगपाहुड** - इसमें 1 से 22 गाथाओं का वर्णन है। तथा द्रव्यलिंग व भावलिंग का वर्णन किया गया है।

13. **सीलपाहुड** - इसमें 40 गाथाए है जिसके द्वारा शील का महत्व बतलाया गया है और लिखा है कि शील का ज्ञान के साथ कोई विरोध नहीं है। परन्तु शील के बिना विषय-वासना से ज्ञान नष्ट हो जाता है। जो ज्ञान को पाकर भी विषयों में रत रहते है वे चर्तुगतियों मे भटकते है और जो ज्ञान को पाकर विषयों से विरक्त रहते हैं। वे भवभ्रमण को काट डालते है।

14. **वारसाणुवेक्खा (द्वादशानुप्रेक्षा)** - इसमें 91 गाथाओं द्वारा वैराग्योत्पादक द्वादश अनुप्रेक्षाओं का बहुत ही सुन्दर वर्णन हुआ है। वस्तु स्वरुप के बार-बार चिन्तन का नाम अनुप्रेक्षा है उनमें नामों का क्रम इस प्रकार है- अध्रुव, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, ससार, लोक, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, धर्म और बोधि। तत्त्वार्थ सूत्रकार ने अनुप्रेक्षाओं के क्रम में कुछ परिवर्तन किया है।

भक्तिसंग्रह - प्राकृत भाषा की कुछ भक्तिया भी कुन्दकुन्दचार्य की कृति मानी जाती हैं। भक्तियो के टीकाकार प्रभाचन्द्राचार्य ने लिखा है - सस्कृति की सब भक्तिया पूज्यपाद की बनाई हुई और प्राकृत की सब भक्तिया कुन्दकुन्दचार्य कृत है। दोनों भक्तियों पर प्रभाचन्द्राचार्य की टीकाए है। कुन्दकुन्दचार्य की आठ भक्तिया है। जिसके नाम इस प्रकार है।

1. सिद्ध भक्ति 2. श्रुत भक्ति 3 चारित्र भक्ति 4. योगि (अनगार) भक्ति 5. आचार्य भक्ति 6. निर्वाण भक्ति 7. पचगुरु (परमेष्ठी) भक्ति 8. थोस्सामि थुदि (तीर्थंकर भक्ति)।

15. **सिद्धभक्ति** - इसमे 12 गाथाओ द्वारा के गुण, भेद, सुख, स्थान, आकृति, सिद्धि के मार्ग तथा क्रम का उल्लेख करते हुए अति भक्ति से उनकी वन्दना की गई है।

16. **श्रुतभक्ति** - एकादश गाथात्मक इस भक्ति मे जैन-श्रुत के आचारागादि द्वादश अंगों का भेद-प्रभेद-सहित उल्लेख करके उन्हे नमस्कार किया गया है। साथ ही, 14 पूर्वों मे से प्रत्येक की वस्तु सख्या और प्रत्येक वस्तु के पाहुडो (प्राभृतो) की सख्या भी दी है।

17. **(चारित्रभक्ति)** - चारित्रभक्ति-दश अनुष्टुप्, पद्यो मे श्री वर्धमान प्रणीत, सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यातनाम के पाच चारित्रो, अहिसादि 28 मूलगुणो, दशधर्मो, त्रिगुप्तियो, सकलशीलो, परिषहजय और उत्तरगुणो का उल्लेख करके उनकी सिद्धि और सिद्धिफल (मुक्ति सुख) की कामना की है।

18. **(जोड़भक्ति) योगी (अनगार) भक्ति-** यह भक्ति पाठ 23 गाथात्मक है इसमे जैन साधुओं के आदर्श जीवन और उनकी चर्चा का सुन्दर अकन किया गया है। उन योगियो की अनेक अवस्थाओ ऋद्धियो, सिद्धियो और गुणो का उल्लेख करते हुए उन्हे भक्तिभाव स नमस्कार किया गया है।

19. **आचार्य भक्ति** - इसमे दस गाथाओं द्वारा आचार्य परमेष्ठी के विशेष गुणो का उल्लेख करते हुए उन्हे नमस्कार किया है।

20. **निर्वाणभक्ति** - 27 गाथात्मक इस भक्ति मे निर्वाण को प्राप्त हुए तीर्थंकरो तथा दूसरे पूतात्म पुरुषो के नामो का उन स्थानो के नाम सहित स्मरण तथा वन्दना की गई है जहाँ से उन्होंने निर्वाण पद की प्राप्ति की है। इस भक्ति पाठ मे कितनी ही ऐतिहासिक और पौराणिक बातो एव अनुभूतियो की जानकारी मिलती है।

21. **पचगुरु (परमेष्ठि) भक्ति-** इसमे स्रग्विणी छन्द के छह पद्यो में अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ऐसे पाच परमेष्ठियो का स्तोत्र और उनका फल दिया है। और पचपरमेष्ठि के नाम देकर उन्हे नमस्कार करके उनसे भव-भव मे सुख की प्रार्थना की गई है।

थोस्सामि थुदि (तीर्थंकर भक्ति) यह थोस्सामि पद से प्रारम्भ होने वाली अष्टगाथात्मक स्तुति है जिसे तित्थयर भक्ति कहते है इसमें वृषभादि वर्द्धमान पर्यन्त चतुर्विंशति तीर्थंकरों की उनके नामोल्लेखपूर्वक वन्दना की गई है।

मूलसंघ और कुन्दकुन्दावय - भगवान महावीर के समय में जैन साधु सम्प्रदाय निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध था। इसी कारण बौद्ध त्रिपिटकों में महावीर को निगंठ नात्तपुत्र लिखा मिलता है। अशोक के शिलालेखों में भी 'निगठ' शब्द से निर्देश किया गया है।

कुन्दकुन्दाचार्य मूलसघ के आदिप्रवर्तक माने जाते है। कुन्दकुन्दान्वय का सम्बन्ध भी इन्ही से कहा गया है। वस्तुत: कौण्डकुण्डपुर से निकले मुनिवंश को कुन्दकुन्दान्वय कहा गया है। कुन्दकुन्द का समय - नन्दिसघ की पट्टवली मे लिखा है कि कुन्दकुन्द वि. स. 49 मे आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए। 44 वर्ष की अवस्था में उन्हें आचार्य पद मिला। 51 वर्ष 10 महीने तक वे उस पद पर प्रतिष्ठित रहे। उनकी कुल आयु 95 वर्ष 10 महीने 15 दिन की थी।

आचार्य उमास्वामी

मूल सघ की पट्टावली मे कुन्दकुन्दचार्य के बाद उमास्वामी (ति) चालीस वर्ष 8 दिन तक नन्दिसघ के पट्ट पर रहे। श्रवणबेलगोल के 65 वें शिला लेख मे लिखा है - जिनचन्द्र स्वामी जगत प्रसिद्ध अन्वय मे पद्मनन्दी प्रथम इस नाम को धारण करने वाले हुए। उन्हें अनेक ऋद्धि प्राप्त हुई थी उन्ही कुन्दकुन्द के अन्वय में उमास्वामि मुनिराज हुए, जो गृद्धपिच्छाचार्य नाम से प्रसिद्ध थे उस समय गृद्धपिच्छाचार्य के समान समस्त पदार्थो की जानने वाला कोई दूसरा विद्वान नही था।

श्रवणबेलगोल के 258 में शिलालेख में भी यही बात कही गई है उनके वशरुपी प्रसिद्ध खान से अनेक मुनिरुप रत्नों की माला प्रकट हुई उसी मुनि रत्नमाला के बीच में मणि के समान कुन्दकुन्द के नाम से प्रसिद्ध ओजस्वी आचार्य हुए उन्ही के पवित्र वश में समस्त पदार्थों के ज्ञाता उमास्वामी मुनि हुए, जिन्होंने जिनागम को सूत्र रुप मे ग्रथित किया यह प्राणियों की रक्षा मे अत्यन्त सावधान थे। अतएव उन्होंने मयूरपिच्छ के गिर जाने पर गृद्धपिच्छों को धारण किया था। उसी समय से विद्वान लोग उन्हे गृद्धपिच्छाचार्य कहने लगे और गृद्धपिच्छाचार्य उनका उपनाम रुढ़ हो गया। वीरसेनाचार्य ने अपनी धवला टीका में तत्त्वार्थ सूत्र के कर्त्ता को गृद्धपिच्छाचार्य लिखा है। आचार्य विद्यानन्द ने भी अपने श्लोकवार्तिक में उनका उल्लेख किया है।

आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि के प्रारम्भ मे जो वर्णन किया है। वह अत्यन्त मार्मिक है। वे मुनिराज सभा के मध्य में विराजमान थे। जो बिना वचन बोले अपने शरीर से ही मानो मूर्तिधारी मोक्षमार्ग का निरुपण कर रहे थे। युक्ति और आगम में कुशल थे परीषहों का निरुपण करना ही जिनका एक कार्य था। तथा उत्तमोत्तम आर्यपुरुष जिनकी सेवा करते थे। ऐसे दिगम्बरचार्य गृद्धपिच्छाचार्य थे।

मैसूर प्रान्त के नगरताल्लुक के 46 वें शिलालेख मे लिखा है - मैं तत्त्वार्थ सूत्र के कर्त्ता, गुणों के मन्दिर एवं श्रुतकेवली के तुल्य श्रीउमास्वामी मुनिराज को नमस्कार करता हूँ।

तत्त्वार्थ सूत्र की मूलप्रति के अन्त मे प्राप्त होने वाले निम्न पद्य में तत्त्वार्थ सूत्र के कर्त्ता, गृद्धपिच्छोपलक्षित उमास्वामी या उमास्वामि मुनिराज की वन्दना की गई है।

इस तरह उमास्वाति आचार्य, उमास्वामी और गृद्धपिच्छाचार्य नाम से भी लोक में प्रसिद्ध रहे है। महाकवि पम्प (94) ई. ने अपने आदि पुराण मे उमास्वाति को आर्यनुतगृद्धपिच्छाचार्य लिखा है। इसी तरह चामुण्डराय (वि. स. 1035) ने अपने त्रिषष्ठिलक्षणपुराण तत्त्वार्थसूत्र कर्त्ता को गृद्धपिच्छाचार्य लिखा है। आचार्य वादिराज ने अपने पार्श्वनाथचरित में आचार्य गृद्धपिच्छ का उल्लेख किया है।

मै उन गृद्धपिच्छ का नमस्कार करता हूँ, जो महान गुणो के आगार है, जो निर्वाण को उड़कर पहुँचने की इच्छा रखने वाले भव्यो के लिए पखो का काम देते है। अन्य अनेक उत्तरवर्ती आचार्य ने भी तत्त्वार्थ सूत्र के कर्त्ता का गृद्धपिच्छाचार्य रुप से उल्लेख किया है।

श्रवणबेलगोल के 105 वें शिलालेख मे लिखा है कि - आचार्य उमास्वामी ख्याति प्राप्त विद्वान थे। यतियो के अधिपति उमास्वामी ने तत्त्वार्थ सूत्र प्रकट किया है, जो मोक्ष मार्ग में उद्यत हुए प्रजाजनो के लिए उत्कृष्ट पाथेय का काम देता है। जिनका दूसरा नाम गृद्धपिच्छ है। उनके एक शिष्य बालक पिच्छ थे, जिनके सूक्ति रत्न मुक्त्यगना के मोहन करने के लिए आभूषणो का काम देते है।

इन सब उल्लेख से स्पष्ट है कि उनका गृद्धपिच्छाचार्य नाम बहुत प्रसिद्ध था। वे जिनागम के पारगामी विद्वान थे। इसी से तत्वार्थसूत्र के टीकाकार समन्तभद्र, पूज्यपाद, अकलक और विद्यानन्द आदि मुनियों ने बड़े ही श्रद्धापूर्ण शब्दो मे इनका उल्लेख किया।

गृद्धपिच्छाचार्य की प्रमुख रचना का नाम 'तत्वार्थ सूत्र' है। प्रस्तुत ग्रन्थ दस अध्यायों में विभाजित है। इसमे जीवादि सप्ततत्वो का विवेचन किया गया है। जैन साहित्य में यह सस्कृत भाषा का एक मौलिक आद्य सूत्रग्रन्थ है। इसके पहले संस्कृत भाषा मे जैन साहित्य की रचना हुई इसका कोई आधार नहीं मिलता। यह एक लघुकाय सूत्रग्रन्थ होते हुए भी उसमें प्रमेयों का बड़ी सुन्दरता से कथन किया गया है। रचना प्रौढ़ और गम्भीर है इसमे जैन वाङ्मय का रहस्य अन्तर्निहित है। इस कारण यह ग्रन्थ दोनो जैन परम्परा मे समान रुप से मान्य है। दार्शनिक जगत मे तो यह ग्रन्थ प्रसिद्ध हुआ ही है, किन्तु आध्यात्मिक जगत मे इसका समादर कम नहीं है। हिन्दुओं मे जिस तरह गीता का, मुसलमानो मे कुरान का, और इसाईयों में बाइबिल का महत्त्व है वही महत्त्व जैनपरम्परा में तत्त्वार्थसूत्र को प्राप्त है।

ग्रन्थ के दस अध्यायो में से प्रथम के चार अध्यायों मे जीव तत्त्व का, पांचवें अध्याय में अजीव तत्त्व का, छठवे और सातवें अध्याय में आस्रव तत्त्व का, आठवें अध्याय में बन्ध तत्त्व

का नवमें अध्याय में संवर और निर्जरा का और दशवें अध्याय में मोक्ष तत्त्व का वर्णन किया गया है।

तत्त्वार्थसूत्र का निम्न मंगल पद्य सूत्रकार की कृति है। इसका निर्देश आचार्य विद्यानन्द ने किया है।

मोक्षमार्गस्य नेत्तार भेत्तारं कर्मभूभृतां।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुण लब्धये॥

इस मगल पद्य मे वही विषयवर्णित है जो तत्त्वार्थसूत्र के दस अध्यायो में चर्चित है मोक्ष मार्ग का नेतृत्व, विश्वतत्त्व का ज्ञान और कर्म के विनाश का उल्लेख है।

आचार्य समंतभद्र

रत्नकरण्डश्रावकाचार ग्रन्थ के कर्ता आचार्य श्री समन्तभद्रस्वामी हैं। प्रतिभाशाली आचार्यों, समर्थ विद्वानों एवं पूज्य महात्माओ में आपका स्थान बहुत ऊँचा है। आप समन्तातभद्र थे - बाहर भीतर सब ओर से भद्र रुप थे आप बहुत बड़े योगी, त्यागी, तपस्वी, एव तत्वज्ञानी थे। आप जैन धर्म एव सिद्धान्तो के मर्मज्ञ होने के साथ ही साथ तर्क, व्याकरण, छन्द, अलंकार और काव्यकोषादि ग्रन्थो मे पूरी तरह निष्णात थे। आपको 'स्वामी' पद से विशेष तौर पर विभूषित किया गया है। आप वास्तव में विद्वानों, योगियों, त्यागी-तपस्वियो के स्वामी थे।

जीवनकाल - आपने किस समय इस धरा को सुशोभित किया इसका कोई स्पष्ट उल्लेख नही मिलता है। कोई विद्वान आपको ईसा की तीसरी शताब्दी के बाद का बताते है तो कोई ईसा की सातवी-आठवी शताब्दी का बताते है। इस सम्बन्ध मे सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ स्वर्गीय पंडित जुगल किशोर जी मुख्तार ने अपने विस्तृत लेखों मे अनेक प्रमाण देकर यह स्पष्ट किया है कि स्वामी समन्तभद्र तत्त्वार्थ सूत्र के कर्ता आचार्य उमास्वामी के पश्चात् एव पूज्यपाद स्वामी के पूर्व हुए है। अत: आप असन्दिग्ध रुप से विक्रम की दूसरी-तीसरी शताब्दी के महान् विद्वान थे। अभी आपके सम्बन्ध मे यही विचार सर्वमान्य माना जा रहा है।

संसार की मोहममता से दूर रहने वाले अधिकाश जैनचार्यों के माता-पिता तथा जन्मस्थान आदि का कुछ भी प्रमाणिक इतिहास उपलब्ध नही है। समन्तभद्र स्वामी भी इसके अपवाद नही है। श्रवणबेलगोला के विद्वान श्री दोर्बलिजिनदास शास्त्री के शास्त्र भडार मे सुरक्षित आप्तमीमांसा, की एक प्राचीन ताडपत्रीय प्रति के निम्नांकित पुष्पिका वाक्य 'इति श्री फणिमडलांलकार स्योरगपुराधिपसूनोः श्रीस्वामी समन्तभद्र मुनेः कृतौ आप्तमीमासायाम्।' से स्पष्ट है कि समन्तभद्र फणिमडलान्तर्गत उरगपुर के राजा के पुत्र थे। इसके आधार पर उरगपुर आपकी जन्म भूमि अथवा बाल क्रीड़ा भूमि होती है। यह उरगपुर ही वर्तमान का 'उरैयूर' जान पड़ता है। उरगपुर चोल राजाओं की प्राचीन राजधानी रही है। पुरानी त्रिचनापल्ली भी इसी को कहते हैं। आपका प्रारम्भिक नाम शान्तिवर्मा था। दीक्षा के पहले आपकी शिक्षा या तो उरैयूर में ही हुई अथवा

कांची या मदुरै में हुई जान पड़ती है, क्योकि ये तीनों ही स्थान उस समय दक्षिण भारत में विद्या के मुख्य केन्द्र थे। इन सब स्थानों में उस समय जैनियो के अच्छे-अच्छे मठ भी मौजूद थे। आपकी दीक्षा का स्थान काची या उसके आसपास कोई गांव होना चाहिए। आप कांची के दिगम्बर साधु थे। "**काच्यां नग्नाटकोऽह।**"

पितृकुल की तरह समन्तभद्रस्वामी के गुरुकुल का भी कोई स्पष्ट लेख नही मिलता है, और न ही आपके दीक्षा गुरु के नाम का ही पता चल पाया है। आप मूलसघ के प्रधान आचार्य थे। श्रवणबेलगोल के कुछ शिलालेखो से इतना पता चलता है। कि आप श्री भद्रबाहु श्रुतकेवली, उनके शिष्य चन्द्रगुप्तमुनि के वंशज पद्यनन्दि अपर नाम कोन्डकुन्द मुनिराज उनके वंशज उमास्वाति की वशपरम्परा मे हुए थे (शिलालेख न. 40)

बड़े ही उत्साह के साथ मुनि धर्म का पालन करते हुए वे जब 'मणवकहल्ली' ग्राम में धर्म ध्यान सहित मुनि जीवन व्यतीत कर रह थे, उस समय असाता वेदनीय कर्म के प्रबल उदय से आपको 'भस्मक' नाम का रोग हो गया था। मुनिचर्या में इस रोग का शमन होना असंभव जानकर आप अपने गुरु के पास पहुँचे और उनसे रोग का हाल कहा तथा सल्लेखना धारण करने की आज्ञा चाहीं। गुरु महाराज ने सब परिस्थिति जानकर उन्हें कहा कि सल्लेखना का समय नहीं आया है, और आप द्वारा वीर शासन कार्य के उद्धार की आशा है। अत: जहाँ पर जिस वेष में रहकर रोगशमन के योग्य तृप्ति भोजन प्राप्त हो वहाँ जाकर उसी वेष को धारण कर लो। रोग उपशान्त होने पर फिर से जैनदीक्षा धारण करके सब कार्यों को सम्भाल लेना। गुरु की आज्ञा लेकर आपने दिगम्बर वेष का त्याग किया। आप वहाँ से चलकर काँची पहुँचे और वहाँ के राजा के पास जाकर शिवभोग की विशाल अन्न राशि को शिवपिण्ड को खिला सकने की बात कही। पाषाण निर्मित शिवजी की पिण्डि साक्षात् भोग ग्रहण करें इससे बढ़कर राजा को और क्या चाहिए था। वहाँ के मन्दिर के व्यवस्थापक ने आपको मन्दिर जी में रहने की स्वीकृति दे दी। मन्दिर के किवाड़ बन्द करके वे स्वयं विशाल अन्नराशि को खाने लगे और लोगों को बता देते थे कि शिवजी ने भोग ग्रहण कर लिया है! शिव भोग से उनकी व्याधि धीरे-धीरे ठीक होने लगी और भोजन बचने लगा। अन्त में गुप्तचरों से पता लगा कि ये शिवभक्त नहीं हैं। इससे राजा बहुत क्रोधित हुआ, और उसने इन्हें यथाथता बताने को कहा। उस समय समन्तभद्र ने निम्न श्लोक में अपना परिचय दिया -

"काञ्च्यां नग्नाटकोऽहं मलमलिनतनुर्लाम्बुशे पाण्डुपिण्ड:
पुण्ड्रेण्डे शाक्यभिक्षुः दशपुरनगरे मिष्टभोजी परिव्राट्।
वाराणस्यामभूंव शशकरधवल: पाण्डुरांगस्तपस्वी
राजन् यस्याऽस्ति शक्तिः स वदतु-पुरतो जैननिग्रन्थवादी॥

काची मे मलिन वेषधारी दिगम्बर रहा, लाम्बुस नगर में भस्म रमाकर शरीर को श्वेत किया, पुण्डोण्ड्र मे जाकर बौद्ध भिक्षु बना, दशपुर नगर मे मिष्ट भोजन करने वाला सन्यासी बना,

वाराणसी में श्वेत वस्त्रधारी तपस्वी बना। राजन् आपके सामने दिगम्बर जैनवादी खड़ा है, जिसकी शक्ति हो मुझसे शास्त्रार्थ कर ले।

राजा ने शिवमूर्ति को नमस्कार करने का आग्रह किया। समन्तभद्र कवि थे। उन्होंने चौबीस तीर्थंकरों का स्तवन शुरु किया। जब वे आठवें तीर्थंकर चन्द्रप्रभु का स्तवन कर रहे थे, तब चन्द्रप्रभु भगवान की मूर्ति प्रकट हो गई। स्तवन पूर्ण हुआ। यह स्तवन स्वयंभूस्तोत्र के नाम से प्रसिद्ध है। यह कथा ब्रह्म नेमिदत्त कथा कोष के आधार पर है।

देश में जिस समय बौद्धादिकों का प्रबल आतंक छाया हुआ था, और लोग उनके नैरात्म्यवाद, शून्यवाद, क्षणिकवादादि सिद्धान्तों से सत्रस्त थे , उस समय दक्षिण भारत में आपने उदय होकर जो अनेकान्त एव स्याद्वाद का डंका बजाया वह बहुत ही महत्त्व का है एवं चिरस्मरणीय है। आपको जिनशासन का प्रणेता तक लिखा गया है। आपके परिचय के सम्बन्ध में निम्न पद्य है -

''आचार्योऽहं कविरहमहं वादिराट् पण्डितोऽहं
दैवोऽहं भिषगहमहं मान्त्रिकस्तान्त्रिकोऽहम।
राजन्नस्यां जलधिवलया मेखलायामिलाया-
माज्ञासिद्धः किमिति बहुना सिद्धसारस्वतोऽहम्॥''

मै आचार्य हूँ, कवि हूँ, शास्त्रर्थियों मे श्रेष्ठ हूँ, पण्डित हूँ, ज्योतिष हूँ, वैद्य हूँ, मान्त्रिक हूँ, तान्त्रिक हूँ, हे राजन्! इस सम्पूर्ण पृथ्वी में मैं आज्ञासिद्ध हूँ। अधिक क्या कहूँ, सिद्ध सारस्वत हूँ।

शुभचन्द्राचार्य ने आपको 'भारत भूषण' लिखा है, आप बहुत ही उत्तमोत्तम गुणों के स्वामी थे। फिर भी कवित्व, गमकत्व, वादित्व और वाग्मित्व नामक चार गुण आप मे असाधारण कोटि की योग्यता वाले थे जैसा कि आज से ग्यारह सौ वर्ष पहिले के विद्वान् भगवज्जिनसेनाचार्य ने निम्न वाक्य से आदिपुराण में स्मरण किया है-

''कवीनां गमकांना च वादिनां वाग्मिनामपि।
यशः समन्तभद्रीयं मूर्ध्नि चूड़ामणीयते॥''

यशोधर चरित के कर्ता महाकवि वादिराज सूरि ने आपको उत्कृष्ट काव्य माणिक्यों का रोहण (पर्वत) सूचित किया है। अलंकार चिन्तामणि में अजितसेनाचार्य ने आपको 'कवि कुंजर' 'मुनि वंद्य' और 'निजानन्द' लिखा है। वरांगचरित्र में श्री वर्धमानसूरि ने आपको महाकवीश्वर और सुतर्कशास्त्रामृत के सागर बताया है। ब्रह्म अजित ने हनुमच्चरित्र में आपको भव्यरूप कुमुदों को प्रफुल्लित करने वाला चन्द्रमा लिखा है, तथा साथ में यह भी प्रकट किया है कि वे कुवादियों की वादरूपी खाज (खुजली) को मिटाने के लिए अद्वितीय महौषधि थे। इसके अलावा भी श्रवणबेलगोल के शिलालेखों में आपको 'वादीभवज्रांकुशसूक्तिजाल स्फुटरत्नदीप'

वादिसिंह, अनेकान्त जयपताका आदि अनेक विशेषणों से स्मरण किया गया है।

आपका वाद क्षेत्र संकुचित नहीं था। आपने उसी देश में अपने वाद की विजय दुदुंभि नहीं बजाई, जिसमें वे उत्पन्न हुए थे बल्कि सारे भारतवर्ष को-अपने वादका लीला स्थल बनाया था। करहाटक नगर में पहुँचने पर वहाँ के राजा के द्वारा पूछे जाने पर आपने अपना पिछला परिचय इस प्रकार दिया है -

**''पूर्व पटिलपुत्र मध्यनगरे भेरी मयाताडिता
पश्चान्मालवसिन्धुठक्कविषये कांचिपुरे वैदिशे।
प्रापतोऽहं करहाटंक बहुभंट विद्योत्कंट संकट
वादार्थी विचराम्यंह नरपते शार्दूलविक्रीडितम्।।''**

हे राजन्, सबसे पहिले मैंने पाटलीपुत्र नगर में शास्त्रार्थ के लिए भेरी बजवाई थी, फिर मालव, सिन्धु, ढक्क, कांची आदि स्थानों पर जाकर भेरी ताड़ित की। अब बड़े-बड़े दिग्गज विद्वानों से परिपूर्ण इस करहाटक नगर में आया हूँ। मैं तो शास्त्रार्थ की इच्छा रखता हुआ सिंह के समान घूमता फिरता हूँ।

'हिस्टी ऑफ कन्नडीज लिटरेचर' के लेखक मिस्टर एडवर्ड पी. राइस ने समन्तभद्र को तेजपूर्ण प्रभावशाली वादी लिखा है और बताया है कि वे सारे भारतवर्ष में जैनधर्म का प्रचार करनेवाले महान् प्रचारक थे। उन्होंने वाद भेरी बजने का दस्तूर का पूरा लाभ उठाया और वे बड़ी शक्ति के साथ जैनधर्म के स्याद्वाद सिद्धान्त को पुष्ट करने में समर्थ हुए हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है। कि आपने अनेक स्थानों पर वाद की भेरी बजवाई थी और किसी ने उसका विरोध नहीं किया। इस सम्बन्ध में स्वर्गीय पंडित, श्री जुगल किशोर जी मुख्तार लिखते हैं कि 'इस सारी सफलता का कारण उनके अन्तःकरण की शुद्धता, चारित्र की निर्मलता एवं अनेकान्तात्मक वाणी का ही महत्त्व था, उनके वचन स्याद्वाद्व न्याय की तुला में तुले होते थे और इसीलिए उन पर पक्षपात का भूत सवार नहीं होता था। वे परीक्षा प्रधानी थे।' स्वामी समन्तभद्र द्वारा विरचित निम्नलिखित ग्रन्थ उपलब्ध हैं -

1. स्तुतिविद्या (जिनशतक)
2. युक्त्यनुशासन
3. स्वयम्भूस्तोत्र
4. देवागम (आप्तमीमासा) स्तोत्र
5 रत्नकरण्डश्रावकाचार

अर्हद्गुणो की प्रतिपादक सुन्दर-सुन्दर स्तुतियाँ रचने की उनकी बड़ी रुचि थी। उन्होंने अपने ग्रन्थ स्तुति विद्या मे ''सुस्तुत्या व्यसन'' वाक्य द्वारा अपने आपको स्तुतियाँ रचने का व्यसन बतलाया है। स्वयभूस्तोत्र, देवागम और युक्त्यनुशासन आपके प्रमुख स्तुति ग्रन्थ हैं। इन स्तुतियो मे उन्होने जैनागम का सार एव तत्वज्ञान को कूट-कूट कर भर दिया है। देवागम स्तोत्र में सिर्फ आपने 114 श्लोक लिखे है। इस स्त्रोत्र पर अकलंकदेव ने अष्टशती नामक 800 श्लोक प्रमाण

वृत्ति लिखी जो बहुत ही गूढ़ सूत्रों में है। इस वृत्ति को साथ लेकर श्री विद्यानन्दचार्य ने 'अष्ट सहस्री' टीका लिखी जो 8000 श्लोक परिमाण हैं। इससे यह स्पष्ट होता है। कि यह ग्रन्थ कितने अधिक अर्थ गौरव को लिए हुए है। इसी ग्रन्थ में आचार्य महोदय ने एकान्तवादियो को स्वपर वैरी बताया है। 'एकान्तगृहरक्तेषुनाथ स्वपरवैरिषु'।

इन ग्रन्थों का हिन्दी अर्थ सहित प्रकाशन हो चुका हे। उपर्युक्त उपलब्ध ग्रन्थो के अलावा आपके द्वारा रचित निम्नं ग्रन्थों के उल्लेख मिलते हैं जो उपलब्ध नहीं हो पाये है -

1. जीवसिद्धि 2. तत्त्वानुशासन 3. प्राकृत व्याकरण 4. प्रमाणपदार्थ 5. कर्मप्राभृत टीका 6. गन्धहस्तिमहाभाष्य

महावीर स्वामी के पश्चात् अनेक ही महान आचार्य हमारे यहाँ हुए हैं, उनमें से किसी भी आचार्य एव मुनिराजों के विषय मे यह उल्लेख नहीं मिलता है कि वे भविष्य में इसी भारतवर्ष मे तीर्थकर होगे। स्वामी समन्तभद्र के सम्बन्ध मे यह उल्लेख अनेक शास्त्रो में मिलता है। इससे इनके चरित्र का गौरव भी बढ़ जाता है।

आचार्य जोइन्दु (योगीन्दु)

जैन परम्परा में 'जोइंदु' या 'योगीन्दु' एक अध्यात्मवेत्ता आचार्य हैं। इनके जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में न तो इनके ग्रन्थों से सामग्री उपलब्ध होती है और न अन्य वाङ्मय से ही। परमात्मप्रकाश में कवि ने अपने नाम का उल्लेख किया है और अपने शिष्य का नाम भट्टप्रभाकर बताया है। पंचपरमेष्ठी को नमस्कार करने के पश्चात् भट्टप्रभाकर ने जिनदेव और योगीन्दु से निर्मल परिणामों की प्राप्ति के हेतु प्रार्थना की है।

योगीन्दु योगिचन्द्र का रुपान्तर है और इनका अपभ्रंशरुप जोइंदु है। प्रायः चन्द्रान्त नामों को संक्षिप्त रूप देने के लिए ग्रन्थकार 'इन्दु' द्वारा अभिहित करते हैं। यथा-प्रभाचन्द्र का प्रभेन्दु, शुभचन्द्रका शुभेन्दु हो गया है। इसी प्रकार योगिचन्द्र का योगीन्दु या जोइंदु हुआ है। अतएव डॉ. ए. एन. उपाध्ये का यह सुझाव सर्वथा उचित है कि परमात्मप्रकाश के रचयिता का नाम योगीन्दु है।

समय-निर्णय :

डॉ. ए. एन उपाध्ये ने 'जोइंदु' के समयपर विस्तार पूर्वक विचार किया है। उनके निष्कर्ष निम्नप्रकार हैं -

1. श्रुतसागर ने चारित्तपाहुड की टीका मे परमात्मप्रकाश के दोहे उद्धृत किये है।
2. चौदहवीं औग बारहवीं शताब्दी में परमात्मप्रकाश पर बालचन्द और ब्रह्मदेव ने क्रमशः कन्नड़ एवं संस्कृत टीकाएं लिखी हैं।
3. कुन्दकुन्द के समयसार के टीकाकार जयसेन ने 12वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में समयसार टीका

मे परमात्मप्रकाश का एक दोहा उद्धृत किया है।

4. हेमचन्द्र ने मुनि रामसिंह के दोहे अपने अपभ्रंशव्याकरण में उद्धृत किये हैं। रामसिंह ने जोइदुके योगसार और परमात्मप्रकाश से बहुत से दोहे ग्रहण कर अपनी रचना को समृद्ध बनाया है। अतः जोइंदु हेमचन्द्र और रामचन्द्र दोनों से पूर्ववर्ती है।

5. देवसेनकृत तत्त्वसार के अनेक पद्य परमात्मप्रकाश के ऋणी हैं। अतः जोइंदु देवसेन से भी पूर्ववर्ती है।

6. चण्ड के प्राकृतलक्षण मे '*यथा तथा अनयोः स्थाने*' के उदाहरण में निम्न-लिखिल दोहा प्राप्त होता है।

काल लहेविणु जोइया जिमु-जिमु मोहु गलेइ।
तिमु-तिमु दंसणु लहइ जिउ णियमें अप्पु मुणेइ।।८५।।

अर्थात् जोइंदु चण्ड के पूर्ववर्ती हैं। जोइंदु का समय पूज्यपाद के पश्चात् और चण्ड के पूर्व अर्थात छठी शती के पश्चात् और सातवीं शती के पूर्व ई. सन् की छठी शती का उत्तरार्द्ध होना चाहिए।

रचनाएं :

परम्परा से जोइंदु के नाम पर निम्नलिखित रचनाएं मानी जाती हैं-

1. परमात्मप्रकाश (अपभ्रंश)
2. नौकारश्रावकाचार (अपभ्रंश)
3. योगसार (अपभ्रंश)
4. अध्यात्मसन्दोह (संस्कृत)
5. सुभाषिततंत्र (संस्कृत)
6. तत्त्वार्थटीका (संस्कृत)

इनके अतिरिक्त योगीन्द्र के नाम पर दोहपाहुड (अपभ्रंश), अमृतशीती (संस्कृत) और निजात्माष्टक (प्राकृत) रचनाएँ भी प्राप्त होती है। पर यथार्थ में परमात्मप्रकाश और योगसार दो ही ऐसी रचनाएँ हैं जो निर्भ्रान्त रुप से जोइंदु की मानी जा सकती हैं।

जोइंदु अध्यात्मवादी है, कवि नहीं! अपभ्रंश शुद्ध अध्यात्मविचारों की ऐसी सशक्त अभिव्यक्ति अन्यत्र नहीं मिल सकती है। इनके परमात्म प्रकाश में दो अधिकार हैं। प्रथम अधिकार में 126 दोहे और द्वितीय में 219 हैं। इन दोहों में क्षेपक और स्थलसंख्याबाह्यप्रक्षेपक भी सम्मिलित है। ब्रह्मदेव के मतानुसार परमात्मप्रकाश में समस्त 345 पद्य है। इनमें पाँच गाथाएँ, नहीं है। एक चतुष्पदिका भी है और शेष 377 दोहे हैं, जो अपभ्रंश में निबद्ध है।

विषय-वर्णन की दृष्टि से प्रारम्भ के सात पद्यों में पंचपरमेष्ठी को नमस्कार कियागया है। आठवें, नवें और दसवें भट्टप्रभाकर जोइंदु से निवेदन करता है-

गउ संसारि वसंताहें सामिय कालु अणंतु।
पर मइं किं पिण पत्तु सुहु-दुक्खु जि पतु महंतु॥
चउ-गइ-दुक्खहँ तत्ताहं जो परमप्पउ कोइ।
चउ-गइ-दुक्ख-विणासयरु कहहु पसाएँ सो वि॥

हे स्वामिन्! इस संसार में रहते हुए अनन्तकाल बीत गया, परन्तु मैंने कुछ भी सुख प्राप्त नही किया, प्रत्युत् महान दु:ख ही पाता रहा। अतः चारों गतियों के दुखों से सन्तप्त प्राणियों के चारों गति-सम्बन्धी दुखों का विनाश करने-वाले परमात्मा का स्वरुप बतलाइए। उत्तर में जोइंदु ने आत्मा के तीन भेदों का कथन किया है - 1. मूढ 2. विचक्षण 3. ब्रह्म।

जो शरीर को आत्मा मानता है, वह मूढ है। जो शरीर से भिन्न ज्ञानमय परमात्मा को जानता है, वह विचक्षण या पण्डित है। जिसने कर्मों का नाश कर शरीर आदि परद्रव्यों को छोड़ ज्ञानमय आत्मा को प्राप्त कर लिया है। वह परमात्मा है। जोइंदु ने आत्मा के स्वरुप और आकार के सम्बन्ध में विभिन्न मतों का निर्देश करते हुए जैन दृष्टिकोण के सम्बन्ध में बताया है। आत्मा के सम्बन्ध में निम्नलिखित मान्यताएं प्रचलित हैं, आचार्य ने इन मान्यताओं का अनेकान्तवाद के आलोक में समन्वय किया है -

1 आत्मा सर्वगत है।

2. आत्मा जड़ है।

3. आत्मा शरीरप्रमाण है।

4 आत्मा शून्य है।

1 कर्मबन्धन से रहित आत्मा केवलज्ञान के द्वारा लोकालोक को जानती है, अत: ज्ञानापेक्षया सर्वगत है।

2. आत्मज्ञान में लीन जीव इन्द्रियजनित ज्ञान से रहित हो जाते हैं, अतः ध्यान और समाधि की अपेक्षा जड़ हैं।

3. शरीर से रहित हुआ शुद्ध जीव अन्तिम शरीर प्रमाण ही रहता है, न वह घटता और न वह बढ़ता ही है, अतः शरीर प्रमाण है। जिस शरीर को आत्मा धारण करती हे, उसी शरीर के आकार की हो जाती है, अतएव प्रदेश के संहार और प्रसरपण के कारण आत्मा शरीर प्रमाण है।

4. मोक्ष अवस्था प्राप्त करने पर शुद्ध जीव आठों कर्मो और अठारह दोषों से शून्य हो जाता है, अतः उसे शून्य कहा गया है।

वन्दना, निन्दा, प्रतिक्रमण आदि को पुण्य का कारण बतलाकर एकमात्र शुद्धभाव को ही उपादेय बतलाया है। अतः शुद्धोपयोगी के ही संयम, शील और तप सम्भव हैं। जिसको सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान प्राप्त है, उसी के कर्मों का क्षय होता है। अतः शुद्धोपयोग ही प्रधान है। चित्त की शुद्धि के बिना योगियों का तीर्थाटन करना, शिष्य-प्रशिष्यों का पालन-पोषण करना सब निरर्थक है, जो जिनलिंग धारण कर भी परिग्रह रखता है, वह वमन के भक्षण करने वाले के समान हैं नग्नवेष धारण कर भी भिक्षा में मिष्टान्न भोजन या स्वादिष्ट भोजन की कामना करना दोष का कारण है। आत्मनिरीक्षण और आत्मशुद्धि सर्वदा अपेक्षित है।

योगसार में 108 दोहे हैं। वर्ण्यविषय प्रायः परमात्मप्रकाश के तुल्य ही हैं। इन दोहों में एक चौपाई और दो सोरठा भी सम्मिलित है।

कुन्दकुन्द ने कर्मविमुक्त आत्मा को परमात्मा बतलाते हुए उसे ज्ञानी, परमेष्ठी, सर्वज्ञ, विष्णु, चतुर्मुख और बुद्ध कहा है। योगसार में भी उसके जिन, बुद्ध, विष्णु, शिव आदि नाम बतलाये हैं। जोइन्दु ने भी कुन्दकुन्द की तरह दोनों ही दृष्टियाँ विशेषरुप से विद्यमान हैं-

देहा-देवलि देउ जिणु जणु देवलिहिं णिएइ।
हासउ महु पडिहाइ इहु सिद्धे भिक्ख भमेइ॥

श्रुतकेवलि ने कहा है कि देव न देवालय में है, न तीर्थों में। यह तो शरीर रुपी देवालय में है, यह निश्चय से जान लेना चाहिए। जो व्यक्ति शरीर के बाहर अन्य देवालयों में देव की तलाश करते है, उन्हें देखकर हँसी आती है।

जोइन्दु कवि का अपभ्रंशभाषा पर अपूर्व अधिकार है। इन्होने अपने उक्त दोनो ग्रन्थो मे आध्यात्मरस का सुन्दर चित्रण किया है। ये क्रान्तिकारी विचारधारा के प्रवर्त्तक हैं। इसी कारण इन्होने बाह्य आडम्बर का खण्डन कर आत्मज्ञान पर जोर दिया है। कवि ने लिखा है-

तत्तातत्तु मुणेवि मणि जे थक्का सम-भावि।
ते पर सुहिया इत्थु जगि जहँ रइ अप्प-सहावि॥

हे जीव! जिस मोह से अथवा मोह उत्पन्न करने वाली वस्तु से मन में कषायभाव उत्पन्न हों, उस मोह को अथवा मोह-निमित्तक पदार्थ को छोड़, तभी मोह-जनित कषाय के उदय से छुटकारा प्राप्त हो सकेगा। तात्पर्य यह है कि विषयादिक सब सामग्री और मिथ्यादृष्टि पापियों का संग सब तरह से मोहकषाय को उत्पन्न करते है। इससे ही मन में कषाय रुपी अग्नि दहकती रहती है, जो इसका त्याग करता है, वही सच्ची शान्ति और सुख को पाता है।

जैन रहस्यवाद का निरुपण रहस्यवाद के रुप में सर्वप्रथम इन्हीं से आरम्भ होता है। यों तो कुन्दकुन्द, वट्टकेर और शिवार्य की रचनाओं में भी रहस्यवाद के तत्त्व विद्यमान हैं, पर यथार्थतः रहस्यवाद का रुप जोइन्दु की रचनाओं में ही मिलता है। वर्गसाँ ने जिस रहस्यानुभूति का स्वरुप

प्रस्तुत किया है, वह रहस्यानुभूति हमें इनकी रचनाओं में प्राप्त होती है - ''यदि संसार के प्रति अनासक्ति पूर्ण हो जाए और वह अपने किसी भी ऐन्द्रिय प्रत्यय द्वारा किये किसी व्यापार के प्रति चिपके नहीं, तो यही एक कलाकार की आत्मा होगी, जैसा कि संसार ने पहले देखा न होगा। वह युगपत् समान रुप से प्रत्येक कला में पारंगत होगा, या यों कहें कि वह 'सब' को 'एक' में परिणत कर लेगा। वह वस्तुमात्र को उसके सहज शुद्ध रुप में देख लेगा। परमात्म प्रकाश के रहस्यवाद में आत्मानुभूति सम्बन्धी विशेषता के साथ अन्य विशेषताएँ भी पायी जाती हैं।

1. आत्मा और परमात्मा के बीच पारस्परिक अनुभूति का साक्षात्कार और दोनो के एकत्त्व की प्रतीति।
2. आत्म मे परमात्म शक्ति का पूर्ण विश्वास
3. ध्येय, ध्याता या ज्ञेय-ज्ञाता मे एकत्व का आरोप
4. सासारिक विषयो के प्रति उदासीनता
5. लौकिक ज्ञान के साधन इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना ही पूर्ण सत्य की जान लेने की क्षमता।
6. अध्यात्मवाद की रहस्यवाद के रूप मे कल्पना।
7. निश्चय और व्यवहार नय की दृष्टियो से भेदाभेद का विवेचन।
8. पुण्य-पाप की समता तथा दोनो को ही समान रुप से त्याज्य मानने का भावना का सयोजन।
9. अनुभूति द्वारा रसास्वाद की प्रक्रिया की स्थापना।

इस प्रकार जोइन्दु अपभ्रश के ऐसे सर्वप्रथम कवि हैं, जिन्होने क्रान्तिकारी विचारो के साथ आत्मिक रहस्यवाद की प्रतिष्ठा कर मोक्ष का मार्ग बतलाया है।

परमात्मप्रकाश - इस ग्रन्थ में टीकाकार ब्रह्मदेव के अनुसार 345 पद्य हैं। दो अधिकार है, उनमे पाच प्राकृत गाथाए, एक स्रग्धरा, एक मालिनी और एक चतुष्पादिका है। यद्यपि परमात्मप्रकाश मे दोहे है। किन्तु इसका कोई उल्लेख नहीं है। किन्तु योगसार, मे दोहा शब्द का उल्लेख मिलता है। दोहे में दोनों पक्तिया समान होती है और प्रत्येक पंक्ति में दो चरण होते है। प्रथम चरण में 13 और दूसरे में 11 मात्रायें होती है। विरहाक और हेमचन्द्र के अनुसार दोहे मे 14 और 12 मात्राए होती है किन्तु परमात्मप्रकाश के दोहो में दीर्घ उच्चारण करने पर भी प्रथम चरण में 13 मात्राए पायी जाती है और दूसरे मे 11 मात्रा पायी जाती हैं।

ग्रन्थ के प्रथम अधिकार में परमेष्ठियों को नमस्कार करने के बाद आत्मा के तीन भेदो का बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा का - स्वरूप बतलाया गया है। आत्मा के त्रैविद्य की यह चर्चा आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों और पूज्यपाद देवनन्दी के ग्रन्थों से ली गई है और उनका विस्तृत स्वरूप भी दिया है बहिरात्मा अवस्था को छोड़कर अन्तरात्मा होकर परमात्मा होने की प्रेरणा की है। परमात्मा के सकल विकल भेदों का स्वरूप 34 दोहों में दिया गया है। जीव के

स्वशरीर प्रमाण होने की चर्चा, द्रव्य गुण, पर्याय, कर्म, निश्चय नय सम्क्त्व और मिथ्यात्वादि का वर्णन किया गया है।

दूसरे अधिकार में मोक्ष का स्वरुप, मोक्ष का फल, मोक्ष मार्ग अभेद रत्नत्रय, समभाव पुण्य-पाप की समानता और परम समाधि का कथन दिया हुआ है। परमात्मप्रकाश के दोहा अत्यन्त सुन्दर रमणीय और शुद्ध स्वरूप के निरूपक है, उनके पढ़ने मे मन रम जाता है, क्योंकि वे सरस और भावपूर्ण हैं।

रहस्यवाद

जोगेन्दु ने आध्यात्मिक गूढ़वाद और नैतिक उपदेशो को सहज ढ़ग से व्यक्त किया है उन्होने अपने पद्यो मे योगियो को अनेक बार सम्बोधित किया है और गृहनिवास को पाप का निवास भी बताया है। परमात्मप्रकाश के दोहो मे गूढ़वादियो के सदृश कही अस्पष्टता का आभास नही होता। उन्होने पचेन्द्रियो को जीतने और विषयो से पराङ्गमुख रहने, अथवा उनका त्याग कर आत्म-साधना करने का स्पष्ट सकेत किया है। मानव देह पाकर जिन्होने जीवन को विषय कषायो मे लगाया और काम-क्रोधादि विभाव भावों का परित्याग न कर वीतराग परम आनन्द रुप अमृत पाकर भी अनशनादि तप का अनुष्ठान नही किया, वे आत्मघाती है, क्योकि ध्यान की गति महा विषम है। चित्तरूपी बन्दर के चचल होने से शुद्धात्मा मे स्थिरता प्राप्त नही हो सकती और ध्यान की स्थिरता के अभाव मे तो कर्म कलक का विनाश नही होता। तब शुद्धात्मा की प्रप्ति कैसे हो सकती है।

योगीन्दु देव जैन गूढ़वादी है, उनकी विशाल दृष्टि ने ग्रन्थ मे विशालता प्रदान की दी है, अतएव उनका कथन साम्प्रदायिक व्यामोह से अलिप्त है। उनमे बौद्धिक सहन-शीलता कम नही है। वेदान्त मे आत्मा को सर्वगत माना है और मीमासा युक्तावस्था मे ज्ञान नही मानते। बौद्धो का कहना है कि वहाँ शून्य के अतिरिक्त कुछ नही है। योगीन्दु देव इन मतभेदो से आकुलित नही होते क्योकि उन्होने आध्यात्म के प्रकाश मे नय की सहायता से शाकिक जाल का भेदन किया है। और परमात्म स्वरूप की निश्चित रूपरेखा स्वीकृत की है, वह मौलिक है। वह परमात्मा को जिन, ब्रह्म, शात, शिव और बुद्ध आदि सज्ञाए देते है, उन्होने परमात्मा स्वरूप को प्रकाशित करने का यथेष्ट उद्यम किया है। अन्त मे मोक्ष और मोक्ष का फल बतलाया है वस्तु के स्वरूप वर्णन मे उनकी दृष्टि विमल रही है।

उनके दो चार दोहो का भी आस्वाद कीजिए वे सुन्दर भावपूर्ण और सरस हैं। जो योगी समभाव मे - जीवन मरण, लाभ-अलाभ, सुख दुख, शत्रु और मित्रादि मे समरूप परिणत हैं, और परम आनन्द को प्रकट करता है वही परमात्मा है।

जो जीव ससार, शरीर, भोगो से विरक्त मन हुआ शुद्धात्मा का चिन्तन करता है उसकी ससार रूपी मोटी बेल नाश को प्राप्त हो जाती है। हे योगी! यद्यपि आत्मा कर्मो से सम्बद्ध है और देह मे रहता भी है परन्तु फिर भी वह कभी देह रूप नही होता, उसी को तू परमात्मा जान।

जो पुरुष परमात्मा को देह से भिन्न ज्ञानमय जानता है वही समाधि मे स्थित हुआ पंडित है अन्तरात्मा विवेकी है।

जिस शुद्ध आत्म स्वभाव में इन्द्रिय जनित सुख नहीं है और जिसमें संकल्प-विकल्प रूप मन का व्यापार नहीं है, हे जीव! उसे तू आत्मा मान और अन्य विभावो को परित्याग कर।

इस तरह परमात्मप्रकाश के सभी दोहा आत्मस्वरूप के सम्बोधक तथा परमात्मा स्वरूप के निर्देशक हैं। इनके मनन और चिन्तन से आत्मा आनन्द को प्राप्त होता है।

योगसार -

इसमे 108 दोहा है जिनमे आध्यात्म दृष्टि से आत्मस्वरूप का सुन्दर विवेचन किया गया है। दोहा सरस और सरल है और वस्तु स्वरूप के निर्देशक है। यथा -

आयु गल जाती है पर मन नही गलता और न आशा ही गलती मोह स्फुरित होता है, पर आत्महित का स्फुरण नहीं होता - इस तरह जीव ससार मे भ्रमण किया करता है।

ससार के सभी जीव धधे मे फसे हुए है इस कारण वे अपनी आत्मा को नही पहचानते अतएव वे निर्वाण को नही पा सकते इस तरह योगसार ग्रन्थ भी आत्मसम्बोधक है। इसका अध्ययन करने से आत्मा अपने स्वरूप की ओर सन्मुख हो जाता है।

अमृताशीति - यह एक उपदेशप्रद रचना है। इसमे विभिन्न छन्दो के 82 पद्य है। उनमे जैन धर्म के अनेक विषयो की चर्चा की गई है। तथापि पद्मप्रभमलधारि देव ने नियमसार की टीका मे योगीन्दु देव के नाम से जो पद्य उद्धृत किया है वह अमृताशीति मे नहीं मिलता अतएव प नाथूरामजी प्रेमी का अनुमान है कि वह पद्य उनके आध्यात्म सन्दोह ग्रन्थ का होगा।

निजात्माष्टक - यह आठ पद्यत्मक एक स्तोत्र है। इसकी भाषा प्राकृत है जिनमे सिद्ध परमेष्ठी का स्वरूप बतलाया है। पर किसी भी पद्य मे रचयिता का नाम नही है। ऐसी स्थिति मे इसे योगीन्द्र देव की रचना कैसे माना जा सकती है। इस सम्बन्ध मे अन्य प्रमाणो की आवश्यकता है।

आचार्य अकलंक

जीवन परिचय - मान्यखेट नगर के राजा शुभतुग के पुरुषोत्तम नाम का मत्री था। उसके दो पुत्र थे - एक अकलक और दूसरा निकलक। एक बार अष्टाह्निका पर्व मे माता-पिता के साथ वे दोनो भाई जैन गुरु रविगुप्त के पास गए। माता-पिता ने उक्त पर्व मे ब्रह्मचर्य व्रत लिया। और अपने बालको को भी दिलाया। जब वे युवा हो गए तब अपने पुराने ब्रह्मचर्य व्रत को यावज्जीवन व्रत मानकर उन्होने विवाह नही करवाया। पिता ने समझाया कि वह प्रतिज्ञा तो पर्व के लिए थी। पर वे कुमार अपनी बात पर दृढ़ रहे और उन्होंने आजीवन ब्रह्मचारी रहकर अपना समय शास्त्राभ्यास मे लगाया। अकलक एकसन्धि और निकलक द्विसन्धि थे। उनकी बुद्धि इतनी प्रखर थी कि अकलक को एक बार सुनने मात्र से स्मरण हो जाता था और उसी पाठ को दो

बार सुनने मात्र से निकलक को स्मरण हो जाता था। उस समय जैनधर्म पर होने वाले बौद्धो के आक्षेपो से उनका चित्त विचलित हो रहा था और वे इसके प्रतिकारार्थ बौद्ध शास्त्रों का अध्ययन करने के लिए बाहर निकल पड़े। वे अपना धर्म छिपाकर एक बौद्धमठ में विद्याध्ययन करने लगे। एक दिन गुरु जी को दिग्नाग के अनेकान्त खण्डन के पूर्व पक्ष का कुछ पाठ अशुद्ध होने के कारण ठीक नही लग रहा था। उस दिन पाठ बन्द कर दिया गया रात्रि को अकलंक ने वह पाठ शुद्ध कर दिया। दूसरे दिन जब गुरु ने शुद्ध पाठ देखा तो उन्हें सन्देह हो गया कि कोई जैन यहाँ छिप कर पढ़ रहा है। इसकी खोज के सिलसिले मे एक दिन गुरु ने जैन मूर्ति को लाघने की सब शिष्यो को आज्ञा दी। अकलक देव मूर्ति पर एक धागा डाल कर उसे लांघ गए और इस सकट से बच गए। एक रात्रि मे गुरु ने अचानक कांसे के बर्तनों से भरे बोरे को छत से गिराया सभी शिष्य उस भीषण आवाज से जाग गए और अपने इष्ट देव का स्मरण करने लगे। उस समय अकलक के मुँह से 'णमो अरिहन्ताण' आदि पच नमस्कार मंत्र निकल पड़ा। बस फिर क्या था दोनो भाई पकड़ लिए गए। दोनो भाई मठ की ऊपरी मंजिल में कैद कर दिए गए। तब दोनो भाई एक छाते की सहायता से कूद कर भाग निकले ज्ञान होने पर राजाज्ञा से उन्हे पकड़ने दो अश्वसवार सैनिक भेजे गए। सैनिको को आते देखकर छोटे भाई निकलंक ने बड़े भाई से प्रार्थना की कि आप एकसन्धि और महान विद्वान है। आपसे जिन शासन की महती प्रभावना होगी। अत: आप निकटवर्ती तालाब मे छिपकर अपने प्राण बचाइये, शीघ्रता कीजिए समय नहीं है। वे हत्यारे हमे पकडने के लिए शीघ्र ही पीछे आ रहे है। आखिर दुखी चित्त से अकलंक ने तालाब मे छिप कर अपने प्राणो की रक्षा की। निकलंक आगे भागे। वहाँ एक धोबी ने निकलक को भागते देखा। वह भी पीछे आते हुए घुडसवारो को देखकर किसी अज्ञात भय की आशका से निकलक के साथ ही भागने लगा। घुडसवारो ने आकर दोनो को तलवार के घाट उतार कर अपनी रक्त पिपासा शान्त की।

अकलक वहाँ से चलकर कलिंग देश सचयपुर मे पहुँचे। वहाँ के राजा हिमशीतल की रानी मदनसुन्दरी ने अष्टाह्निका पर्व के दिनो में जैन रथ यात्रा निकलवाने का विचार किया किन्तु बौद्धगुरु सघश्री के बहकावे में आकर राजा ने रथ यात्रा निकालने की यह शर्त रखी कि यदि कोई जैन गुरु बौद्धगुरु को शास्त्रार्थ में हरा दे तब ही जैन रथ यात्रा निकल सकती है। इससे रानी बड़ी चिन्तित हुई और धर्म मे विशेष रूप से संलग्न हुई। अकलंक देव वहाँ आये और राजा हिमशीतल की सभा मे बौद्ध विद्वान से शास्त्रार्थ हुआ। संघश्री बीच मे परदा डाल कर उसके पीछे बैठकर शास्त्रार्थ करता था। शास्त्रार्थ करते हुए छह महीने बीत गए पर किसी की हारजीत नही हो पायी। एक दिन रात्रि के समय चक्रेश्वरी देवी ने अकलंक को इसका रहस्य बताया कि परदे के पीछे घट मे स्थापित तारा देवी शास्त्रार्थ करती है। तुम उससे प्रात:काल कहे गए वाक्यों को द्वारा पूछना, इतने से ही उसकी पराजय हो जायेगी। अगले दिन अकलंक ने चक्रेश्वरी देवी की सम्मति के अनुसार प्रात: कहे गए वाक्यो को फिर दुहाराने को कहा तो उत्तर नहीं मिला उन्होने तुरन्त परदा खीच कर घड़े को पैर की ठोकर से फोड़ दिया। इससे जैनधर्म की विजय

हुई और रानी के द्वारा संकल्पित रथ यात्रा धूमधाम से निकाली गयी।

उस समय जैनधर्म की महती प्रभावना हुई। जनता के हृदय में जैनधर्म के प्रति आस्था बढ़ी और रानी का दृढ़ संकल्प पूरा हुआ।

कथाकोष में राजा शुभतुंग की राजधानी मान्यखेट और अकलकदेव को उसके मंत्री पुरुषोत्तम का पुत्र बतलाया है तथा राजा हिमशीतल की सभा में बौद्धों को शास्त्रार्थ में पराजित करने का भी उल्लेख किया है। राष्ट्रकूट राजा कृष्णराज प्रथम की उपाधि शुभतुग थी। उसका समर्थन शिलालेखो मे उत्कीर्ण प्रशस्तियों से भी होता है। शुभतुंग दन्तिदुर्ग के चाचा थे। युवावस्था मे दन्तिदुर्ग की मृत्यु हो जाने के बाद वे राज्याभिरुढ़ हुए थे। दन्तिदुर्ग का ही नाम साहसतुंग था। इसने कांची, केरल, चोल और पाण्ड्य देश के राजाओ का तथा राजा हर्ष को जीतने वाली कर्णाटक की सेना को हराया था। कर्णाटक की सेना का अर्थ चालुक्यों की सेना से है क्योंकि चालुक्यराज पुलकेशी द्वितीय ने राजा हर्ष को जीता था।

भारत के प्राचीन राजवश ग्रन्थ में दन्तिदुर्ग की उपाधियों में साहसतुंग उपाधि का भी उल्लेख किया गया है। डॉ. ए. वी. सालेतोर ने रामेश्वर मन्दिर के स्तम्भ लेख से सिद्ध किया है कि साहसतुग दन्तिदुर्ग का नाम था। उसने चालुक्य रूपी समुद्र का मंथन कर उसकी लक्ष्मी को चिरकाल तक अपने कुल की कान्ता बनाया था।

मल्लिषेण प्रशस्ति मे भी साहसतुंग और हिमशीतल की सभा में हुए शास्त्रार्थ का समर्थन होता है। इस कथन से कथाकोष और मल्लिषेणप्रशस्ति की भी प्रामाणिकता सिद्ध होती है।

इसमे सदेह नहीं कि अकलक देव का व्यक्तित्व महान था।

शिलावाक्यो और ग्रन्थोल्लेखो के अनुसार समकालीन और परवर्ती आचार्यों पर उनका प्रभाव अंकित है। वे अपने समय के युगनिर्माता महापुरुष थे। वे अनेक शास्त्रार्थों के विजेता कवि और वाग्मी थे और ये घटवाद के विस्फोटक सभा चतुर पंडित बौद्धों के साथ होने वाले प्रसिद्ध शास्त्रार्थ में, जो घटावतीर्ण तारादेवी के साथ छहमहीने तक किया गया था। उसकी विजय महान थी।

इन पद्यो में अकलंकदेव की निरवद्य विद्या का वैभव प्रकट करते हुए बतलाया है कि - हे साहसतुंग राजन्! श्वेतपत्र (छत्र) वाले राजा बहुत हैं, परन्तु तुम्हारे सदृश रणविजयी और त्यागोन्नत राजा दुर्लभ है उसी तरह अनेंक विद्वान हैं, पर कलिकाल में मेरे समान नाना शास्त्रो के विचारों में चतुर बुद्धि वाले कवि वादीश्वर और वाग्मी विद्वान नहीं है।

जिस तरह सर्वसाधुओं के मानमर्दन में आप प्रसिद्ध हैं, उसी तरह इस पृथ्वीमंडल मे, मैं पंड़ितों के समस्त मद को नष्ट करने मे प्रसिद्ध हूँ। यदि ऐसा न हो तो, यह मैं हूँ और आपकी सभा में सदा रहने वाले पंडित हूँ इनमें जिसकी शक्ति हो वह निखिल शास्त्रवेत्ता मेरे सामने बोले।

मैने अहंकार के वश अथवा मन के द्वेष से ऐसा नही कहा। किन्तु नैरात्म्यवाद के कारण मनुष्यो के विनाश को जान कर लोगो पर करुणा बुद्धि से मैने कहा है।

राजा हिमशीतल की सभा मे मैंने विदग्धता से बौद्धो को जीत कर पाद से घड़े का विस्फोटन किया है।

यह वह समय था, जब बौद्ध विद्वान धर्मकीर्ति के शिष्यो का समुदाय भारतीय दर्शन के रगमच पर छाया हुआ था। उसके नैरात्म्यवाद के नारो से आत्मदर्शन हिल उठा था। उस समय मे अकलकदेव ने भारतीय दर्शन की हिलती हुई दीवारो को थामा और उसी प्रयत्न मे अकलक न्याय का जन्म हुआ।

अकलकदेव के टीका ग्रन्थ और उसकी मौलिक कृतियाँ उनके गहन तत्त्व विचार, उनकी सूक्ष्मतर्क प्रवणता और स्वतत्त्व निष्ठा का पग-पग पर दर्शन कराती है। कृतियाँ गूढ और गम्भीर अर्थ की द्योतक है। अकलक ने धर्मकीर्ति का परिहास और अश्लील कटूक्तियो का उत्तर भी बडे मजे से दिया है।

अकलकदेव बालब्रह्मचारी और निर्ग्रन्थ तपस्वी थे। उनके मन मे अपने प्यारे भाई के बलिदान की आग बराबर जल रही थी। इससे भी अधिक उनके मानस मे बौद्धो के क्रान्तिकारी सिद्धान्तो के प्रचार से और आत्मवाद के लुप्त हो जाने से उथल पुथल मची हुई थी। शिलालेख मे उन्हे महर्द्धिक लिखा है। इस तरह उनका व्यक्तित्व महान और चरित्र सम्पन्न था। उनकी अकलकप्रभा से जैनशासन आलोकित हुआ है और होता रहेगा। तत्त्वार्थराजवार्तिक के 'लघुद्रव्यनृपतिवर तनय·' पद्य के 'वरतनय:' से अकलक के लघुभ्राता होने की सूचना मिलती है।

अकलकदेव का समय- अकलक देव यतिवृषभ, श्रीदत्त, सिद्धसेन, देवनन्दी, पात्रकेसरी और सुमतिदेव के बाद हुए है। उन्होने यतिवृषभ की 'तिलोयपण्णत्ति' के प्रथम अधिकार की दो गाथाओ का सस्कृतिकरण कर उन्हे लघीयस्त्रय मे शामिल कर लिया है। यतिवृषभ का समय ईसा की 5वी सदी है। श्रीदत्त का उल्लेख देवनन्दी ने किया है। अकलकदेव ने प्रवचन प्रवेश मे सिद्धसेन के 'सन्मतिसूत्र' का सस्कृत रूपान्तरण भी किया है।

आचार्य वीरसेन

मूलसघ के पंचस्तूपान्वय के विद्वान थे। यह पचस्तूपान्वय बाद में सेनान्वय या सेनसंघ के नाम से प्रसिद्ध हुआ है। वीरसेन ने अपने वंश को पंचस्तूपान्वय ही लिखा है। आचार्य वीरसेन चन्द्रसेन के प्रशिष्य और आर्यनन्दी के शिष्य थे। उनके विद्यागुरु एलाचार्य और दीक्षागुरु आर्यनन्दी थे। आचार्य वीरसेन ने अपने को गणित, ज्योतिष, न्याय व्याकरण और प्रमाण शास्त्रों मे निपुण, तथा सिद्धान्त एवं छन्दशास्त्र का ज्ञाता बतलाया है।

आचार्य जिनसेन उन्हें वादिमुख्य लोकविर वाग्मी और कवि के अतिरिक्त श्रुतकेवली के तुल्य बतलाया है और लिखा है। कि उनकी सर्वार्थगामिनी प्रज्ञा को देखकर बुद्धिमानो को सर्वज्ञ की सत्ता मे कोई शंका नही रही थी।

सिद्धान्त का उन्हें तलस्पर्शी पाण्डित्य प्राप्त था। सिद्धान्त समुद्र के जल मे धोई हुई अपनी शुद्ध बुद्धि से वे प्रत्येक बुद्धि के साथ स्पर्धा करते थे। पुन्नाट संघीय जिनसेन ने उन्हें कवियों का चक्रवर्ती और निर्दोष कीर्ति वाला बलताया है। जिनसेन के शिष्य गुणभद्र ने तमाम वादियो को त्रस्त करने वाला और उनके शरीर को ज्ञान और चारित्र की सामग्री से बना हुआ कहा है। इससे स्पष्ट है कि वीरसेन अपने समय के महान विद्वान थे। उन्होंने चित्रकूट में जाकर एलाचार्य से सिद्धान्त ग्रन्थों का अध्ययन किया था। तत्पश्चात् वे गुरु की आज्ञा प्राप्त कर वाटग्राम आये और वहाँ उन्हे बप्पदेव की व्याख्या प्रज्ञप्ति नाम की टीका प्राप्त हुई। इस टीका के अध्ययन से वीरसेन ने यह अनुभव किया कि इसमे सिद्धान्त के अनेक विषयों का विवेचन स्खलित है - छूट गया है और अनेक स्थलो पर सैद्धान्तिक विषयो का स्पष्टीकरण अपेक्षित है। छठे खण्ड पर कोई टीका नहीं लिखी गई। अतएव एक वृहत्टीका के निर्माण की आवश्यकता है। ऐसा विचार कर उन्होने धवला और जयधवला टीका लिखी।

धवला टीका- यह षट्खण्डागम के आद्य पांच खण्डों की सबसे महत्वपूर्ण टीका है। टीकाप्रमेय बहुल है टीका होने पर भी यह एक स्वतंत्र सिद्धान्तग्रन्थ है इसमें टीका की शैलीगत विशेषताएं है ही, पर विषय विवेचन की दृष्टि से यह टीका अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। इसमें वस्तु तत्त्व का मर्म प्रश्नोत्तरों के साथ उद्घाटित किया गया है और अनेक प्राचीन उद्धरणों द्वारा उसे पुष्ट किया गया है। जिससे पाठक षट्खण्डागम के रहस्य से सहज ही परिचित हो जाते हैं। आचार्य वीरसेन ने इस टीका में अनेक सांस्कृतिक उपकरणों का समावेश किया है। निमित्त, ज्योतिष और न्याय शास्त्र की अगणित सूक्ष्म बातों का यथास्थान कथन किया है। टीका में दक्षिण प्रतिपत्ति और उत्तर प्रतिप्रत्ति रुप दो मान्यताओं का भी उल्लेख किया है। टीका की प्राकृत भाषा प्रौढ़ मुहावरेदार और विषय के अनुसार संस्कृत की तर्क शैली से प्रभावित है। प्राकृत गद्य

का निखरा हुआ स्वच्छ रुप वर्तमान है। सन्धि और समास का यथास्थान प्रयोग हुआ है और दार्शनिक शैली में गम्भीर विषयों को प्रस्तुत किया गया है। टीका में केवल षट्खण्डगम के सूत्रों का ही मर्म उद्घाटित नहीं किया, किन्तु कर्म सिद्धान्त का भी विस्तृत विवेचन किया गया है और प्रसंगवश दर्शन शास्त्र की मौलिक मान्यताओं का भी समावेश निहित है। लोक के स्वरुप विवेचन में नये दृष्टिकोण को स्थापित किया है। अपने समय तक प्रचलित वर्तुलाकार लोक की प्रमाण प्ररुपणा करके उस मान्यता का खण्डन किया है क्योंकि इस प्रक्रिया से सात राजू घंन प्रमाण क्षेत्र प्राप्त नहीं होता अतएव उसे आयतचतुरस्त्राकार होने की स्थापना की है और स्वयंभूरमण समुद्र की बाह्य वेदिका से परे भी असंख्यात योजन विस्तृत पृथ्वी का अस्तित्व सिद्ध किया है।

सम्यक्त्व के स्वरुप का विशेष विवेचन किया गया है। सम्यक्त्वोन्मुख जीव के परिणामों की बढ़ती हुई विशुद्धि और उनके द्वारा शुभ प्रकृतियों का बन्धविच्छेद, सत्वविच्छेद और उदय विच्छेद का कथन किया है और जीव के सम्यक्त्वोन्मुख होने पर बंध योग्य कर्म प्रकृतियों का निरुपण किया है।

आचार्य वीरसेन गणित शास्त्र के विशिष्ट विद्वान थे इसीलिए उन्होने वृत्त व्यास, परिधि, सूचीव्यास, घन अर्द्धच्छेद घाताकवलय व्यास और चाप आदि गणित की अनेक प्रक्रियाओ का महत्वपूर्ण विवेचन किया है। गणित शास्त्र की दृष्टि से यह टीका बड़ी महत्त्वपूर्ण है। उन्होने ज्योतिष और निमित्त सम्बन्धी प्राचीन मान्यताओ का स्पष्ट विवेचन किया है। इसके अतिरिक्त नक्षत्रो के नाम, गुण स्वभाव, ऋतु, अयन और पक्ष आदि का विवेचन भी अकित है। नय, निपेक्ष, और आदि की परिभाषाएं तथा दर्शन के सिद्धान्तो का विभिन्न दृष्टियो से कथन किया है।

टीका मे अनेक ग्रन्थो और ग्रन्थकारों का भी उल्लेख किया गया है और अनेक प्राचीन ग्रन्थो के उद्धरणो से टीका को पुष्ट किया गया है। इसके आचार्य वीरसेन के बहुत श्रुत विद्वान होने के प्रमाण मिलते है।

सिद्धभूपद्धति टीका - आचार्य गुणभद्र ने उत्तरपुराण की प्रशस्ति मे इस टीका का उल्लेख किया है और बतलाया है कि सिद्धभूपद्धति ग्रन्थ पद-पद पर विषम था। वह वीरसेन की टीका से भिक्षुओ के लिए अत्यन्त सुगम हो गया। यह ग्रन्थ अप्राप्य है।

वीरसेन के जिनसेन के अतिरिक्त दशरथ और विनयसेन दो शिष्य थे और भी शिष्य होगें पर उनका परिचय या उल्लेख उपलब्ध नहीं है।

वीरसेन ने जय धवला टीका कषाय प्राभृत के प्रथम स्कन्ध की चार विभक्तियों पर बीस हजार श्लोक प्रमाण बनाई थी। उसी समय उनका स्वर्गवास हो गया और उसका अवशिष्ट भाग उनके शिष्य जिनसेन ने पूरा किया।

रचना काल - आचार्यवीरसेन ने अपनी यह धवला टीका विक्रमांक शक 738 कार्तिक 13 सन् 816 बुधवार के दिन प्रातःकाल में समाप्त की थी। उस समय जगतुंगदेव राज्य से विरक्त हो गए थे और अमोघवर्ष प्रथम राज्य सिहासन पर आरुढ़ हो राज्य संचालन कर रहे थे।

आचार्य अमृत चन्द्र

सारस्वताचार्यों में टीकाकार अमृतचन्द्रसूरि का वही स्थान है, जो स्थान संस्कृत काव्य रचियताओं में कालिदास के टीकाकार मल्लिनाथका है। कहा जाता है कि यदि मल्लिनाथ न होते, तो कालिदास के ग्रन्थों के रहस्य को समझना कठिन हो जाता। उसी तरह यदि अमृतचन्द्रसूरि न होते, तो आचार्य कुन्दकुन्द के रहस्यों को समझना कठिन हो जाता। अतएव कुन्दकुन्द आचार्यके व्याख्याता के रुप में और मौलिक ग्रन्थ रचियता के रूप में अमृतचन्द्रसूरिका महत्वपूर्ण स्थान है। निश्यतः इन आचार्य की विद्वता, वाग्मिता और प्राञ्जल शैली अप्रतिम है। इनका परिचय किसी भी कृति में प्राप्त नहीं होता है, पर कुछ ऐसे संकेत अवश्य मिलते हैं, जिनसे इनके व्यक्तित्व का निश्चय किया जा सकता है।

अध्यात्मिक विद्वानों मे कुन्दकुन्दके पश्चात् यदि आदरपूर्वक किसी का नाम लिया जा सकता है, तो वे अमृतचन्द्रसूरि ही है। इन्होने टीकाओ के अन्त में जो संक्षिप्त परिचय दिया है उससे अवगत होता है कि ये बड़े निस्पृह आध्यात्मिक आचार्य थे। 'पुरुषार्थसिद्धयुपाय' के अन्त मे लिखा है -

वर्णैः कृतानि चित्रैः पदानि तु पदैः कृतानि वाक्यानि।
वाक्यैः कृतं पवित्रं शास्त्रमिदं न पुनरस्माभिः॥

अर्थात् नाना प्रकार के वर्ण से पद बन गए, पदो से वाक्य बन गए और वाक्यो से यह पवित्र शास्त्र बन गया। इसमे मेरा कर्तृत्व कुछ भी नहीं है।

इसमे अमृतचन्द्रसूरि की कितनी निस्पृहता और आध्यात्मिकता टपक रही है। अतः वे अपने को आत्म-भावो का ही कर्ता मानते है, परवस्तुका नहीं। इसमे उनकी आध्यात्मिकता तो सिद्ध होती ही है, साथ ही वे आचार्य या मुनिपदसे विभूषित भी व्यक्त होते है।

आचार्य शुभचन्द्र ने अपने ज्ञानार्णव में अमृतचन्द्र के पुरुषार्थसिद्धयुपायका 'मिथ्यात्वेदरागा' आदि 'उक्तञ्च' रुपसे उद्धृत किया है। अतएव अमृतचन्द्र, शुभचन्द्र से भी पूर्ववर्ती है और

पद्मप्रभ मलधारिदेवने शुभचन्द्र के ज्ञानार्णव का एक श्लोक उद्धृत किया। अतएव शुभचन्द्र पद्मप्रभ से पूर्ववर्ती है। पद्मप्रभ का समय वि. सं. 12वी शताब्दी का अन्त माना जाता है। अत: अमृतचन्द्र का समय इसके पहले होना चाहिए। हमारा अनुमान है कि उनका समय ई. सन् की 10वी शताब्दी का अन्तिम भाग है। पट्टावली में अमृतचन्द्र के पट्टारोहण का समय वि. स. 962 दिया है, जो ठीक प्रतीत होता है। पुरुषार्थसिद्धयुपाय मे जयसेन के धर्मरत्नाकर के कई पद्य पाये जाते है और धर्मरत्नाकर का रचनाकाल वि. स. 1055 है, अतएव अमृतचन्द्र की यह उत्तर सीमा समय है।

आचार्य अमृतचन्द्रसूरि ने अपनी गुरुपरम्परा और गण-गच्छादिका कोई उल्लेख नहीं किया है। वे निलिप्त व्यक्ति थे उन्होंने अपने ग्रन्थो में अपने नाम के अतिरिक्त कोई भी वाक्य आत्म प्रशसापरक नहीं लिखा है।

आचार्य अमृतचन्द्र विक्रम की दसवी शनाब्दी के अध्यात्म रस विशिष्ट विद्वान थे। सस्कृत और प्राकृतभाषा पर उनका असाधारण अधिकार था। उन्होने शताब्दियों से विस्मृत कुन्दकुन्दाचार्य की महत्ता एव प्रभुता को पुनर्जीवित किया है। उन्होंने निश्चयनय के प्रधान ग्रन्थों की टीका लिखते हुए भी अनेकान्त दृष्टि को नही भुलाया है। समयसारादि टीका ग्रन्थो के प्रारम्भ में लिखा है कि - जो अननत धर्मो से शुद्ध आत्मा के स्वरुप का अवलोकन करती है। वह अनेकान्त रुप मूर्ति नित्य ही प्रकाशमान है।

इसी तरह प्रवचसार टीका के प्रारम्भ मे लिखा है कि जिसने मोहरुप अन्धकार के समूह को अनायास ही लुप्त कर दिया है, जो जगत तत्व को प्रकाशित कर रहा है। ऐसा यह अनेकान्त रुप तेज जयवन्त रहे पुरुषार्थसिद्धयुपाय मे तो उसे परमागम का बीज अथवा प्राण बतलाया है और जन्मान्ध मनुष्यो के हस्ति विधान का निषेध कर समस्त नय विलासों के विरोध को नष्ट करने वाले अनेकान्त को नमस्कार किया है टीकाओ के अन्त मे ही उन्होने स्याद्वाद को और उनकी दृष्टि को स्पष्ट करते हुए तत्त्व निरुपण किया है। इससे उनकी अनेकान्त दृष्टि का महत्व प्रतिभासित होता है।

इनकी कुन्दकुन्दचार्य के प्राभृतत्रय-समयसार, प्रवचनसार और पचास्तिकाय - इन ग्रन्थों की टीकाए बडी मार्मिक और ह्दयस्पर्शी और उनके हार्द को प्रकट करने वाली है। समयसार की टीका में तो उसके अन्त:रहस्य का केवल उद्घाटन ही नही किया गया अपितु उस पर समयसार कलश की रचना कर वस्तुत: उस पर कलशारोहण भी किया है। अध्यात्म के जिस बीज को आचार्य कुन्दकुन्द ने बोया और उसे पल्लवित, पुष्पित एव फलित करने का श्रेय आचार्य अमृतचन्द्र को ही प्राप्त है। टीकाओं का अध्ययन कर अध्यात्मरसिक विद्वान दांत तले अंगुली

दबाकर रह जाते है। टीकाओं की भाषा प्रौढ़, प्रभावशाली और गतिशील है और विषय की स्पष्ट विवेचक है। अध्यात्मदृष्टि से लिखी गई ये टीकाएं स्वसमय परसमय की बोधक है और अध्येता के लिए महत्वपूर्ण विषयों की परिचायक है इनमें निश्चय और व्यवहार दोनों दृष्टियों से वस्तु तत्व का विचार किया गया है।

आपकी इन तीनों टीकाओं के अतिरिक्त आपकी दो कृतिया और भी है पुरुषार्थसिद्धयुपाय और तत्त्वार्थसार । इन दोनों मे भी उनके वैदुष्य की स्पष्ट छाप है। पुरुषार्थसिद्धयुपाय 226 श्लोको का एक स्वंतत्र ग्रन्थ है। इसका दूसरा नाम वचन रहस्यकोष है। ग्रन्थ के नाम से ही उनका विषय स्पष्ट है। इसमें श्रावकधर्म के वर्णन के साथ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का सुन्दर कथन दिया हुआ है। जहाँ इस ग्रन्थ के नाम में वैशिष्टय है वहाँ आद्यन्त मे भी वैशिष्ट्य है ग्रन्थ के आदि में निश्चय और व्यवहार नय की चर्चा है तो अन्त में रत्नत्रय को मोक्ष का उपाय बतलाया गया है। यह कथन श्रावकाचारो में है। पुण्यास्त्रव को शुभोपयोग का अपराध बतलाना अमृतचन्द्र की वाणी की विशेषता है।

विक्रम की 13वीं शताब्दी के विद्वान प. आशाधर जी ने अनगार धर्मामृत की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र का ठक्कुर विशेषण के साथ उल्लेख किया है - ठक्कुर या ठाकुर शब्द का प्रयोग जागीरदारो और ओहदेदारों के लिए तो व्यवहृत होता था। किन्तु 'ठक्कुर' शब्द गोत्र की भी वाची है। आज भी जयसवाल आदि जातियो के गोत्रों में प्रयुक्त देखा जाता है।

तत्त्वार्थसार - गृद्धपिच्छाचार्य के तत्त्वार्थसूत्र के सार को लिए हुए होने पर भी अपना वैशिष्ट्य रखता है। तत्त्वार्थसार नाम से भी यह ध्वनित होता है कि इसमें तत्त्वार्थ सूत्र प्रतिपादित तत्त्वो का ही सार सगृहीत है। तत्वार्थ राजवार्तिकादि मे प्रतिपादित कितनी ही विशिष्ट बातों का इसमे सकलन किया गया है। आचार्य अमृतचन्द्र ने इसे मोक्षमार्ग का प्रकाश करने वाला एक प्रमुख दीपक बतलाया है। क्योंकि इसमें युक्ति आगम से सुनिश्चित सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र का स्वरुप प्रतिपादित किया है तथा सम्यग्दर्शन का स्वरुप बतलाते हुए सप्त तत्वो का विशद वर्णन किया है। तत्त्वार्थ सूत्र का पद्य का अनुवाद होते हुए भी एक स्वतन्त्र ग्रन्थ जैसा प्रतीत होता है। कही-कहीं तो ऐसा जान पड़ता है कि अमृतचन्द्रचार्य ने गद्य के स्थान में पद्य का रुप दिया है और कितने ही स्थानो पर उन्होने नवीन तत्त्वो का सयोजन भी किया है। और उसके लिए उन्हे अकलक देव के तत्त्वार्थवार्तिक का सर्वाधिक आश्रय लेना पड़ा है। उसके वार्तिको को श्लोक रुप में निबद्ध करके तत्त्वार्थसार क महत्व को वृद्धिगत किया है।

लोक और लोकैषणा से दूर रहने वाले बनवासी निरी निःस्पृह साधु-सन्तों का स्वभाव ही कुछ ऐसा होता है। कि वे केवल आत्मा-परमात्मा का ही चिन्तन-मनन एवं उसी की चर्चा करते

है, अन्य लौकिक वार्त्ता से एवम् अपनी-पराई व्यक्तिगत बात से उन्हें कोई प्रयोजन नहीं होता है। यदि लिखने-पढ़ने का विकल्प आता है, तो केवल वीतराग वाणी को लिखने पढ़ने का ही आता है। अतः उनसे स्वय के जीवन-परिचय के विषय में कुछ कहने-सुनने या लिखने की अपेक्षा नही की जा सकती।

हाँ, उनके साहित्य-दर्पण में उनके व्यक्तित्व की झांकी अवश्य देखी जा सकती है।

कृतित्व - 1. आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा रचित सात ग्रन्थ उपलब्ध है।

2. आत्मख्याति (समयसार टीका) 2. तत्त्वदीपिका (प्रवचनसार टीका) 3. समय व्याख्या (पंचास्तिकाय टीका) 4. पुरुषार्थसिद्धयुपाय 5. परमाध्यात्मतंरगिणी (समयसार कलश) 6. लघुतत्वस्फोट 7. तत्वार्थसार।

इनमे प्रथम तीन कुन्दकुन्दचार्य द्वारा प्राकृत भाषा मे निबद्ध नाटकत्रय अथवा प्राभृतत्रय के नाम से अभिहित किये जाने वाले समयसार, प्रवचनसार और पचास्तिकाय इन तीन शास्त्रों के भाव स्पष्ट करने वाली अत्यन्त गम्भीर मार्मिक संस्कृत टीकाए है। शेष चार ग्रन्थ जो उनकी स्वतत्र मौलिक रचनाये है, उनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है -

1. **तत्त्वार्थसार**- दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो ही सम्प्रदायों में समान रुप से माने जाने वाले तत्वार्थसूत्र को पल्लवित करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र ने तत्त्वार्थसार नामक ग्रन्थ की पद्यमय रचना की है। अनेक स्थलो पर तत्त्वार्थसूत्र की लीक से हटकर नवीन विषय वस्तु भी इसमे प्रस्तुत की गई है। इसमे आचार्य अकलकदेव के तत्वार्थ राजवार्तिक का सर्वाधिक आश्रय लिया है।

2. **परमाध्यात्मतरंगिणी** - इसमे अधिकारो का वर्गीकरण भी स्वतंत्र रुप से (मौलिक) किया गया है। विशेष जानकारी के लिए मूल ग्रन्थ देखना चाहिए।

   278 समयसार की आत्मख्याति टीका के बीच बीच मे जो कलश आये है, यद्यपि वे आत्मख्याति के ही अश है। तथापि उनका स्वतत्र सकलन भी हुआ है, जो परमाध्यात्म तरंगिणी के नाम से जाना जाता है ये कलश अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। इन पर शुभचन्द्र की संस्कृत टीका एवं पाण्डे राजमल की हिन्दी टीका प्रसिद्ध है।

3. **लघुतत्वस्फोट** - यह कृति भगवान महावीर के 2500वें निर्वाण वर्ष में प्रकाश में आई थी। इसके वर्ण्य विषय, भाषा शैली आदि से यह सिद्ध हो चुका है कि यह आचार्य अमृतचन्द्र की ही कृति है। इसमे 25-25 छन्दो के 25 अध्याय है कुल 625 छन्द है। इसमें आचार्य समन्तभद्र की शैली में 24 तीर्थंकरो की स्तुतियो के माध्यम से जिनागम के मूल

दर्शनिक तत्वों का प्रतिपादन किया गया है।

4. **पुरुषार्थसिद्धयुपाय** - प्रस्तुत पुरुषार्थसिद्धयुपाय ग्रन्थ आचार्य अमृतचन्द्र की सर्वाधिक पढ़ी जाने वाली मौलिक रचना है। आज तक के सम्पूर्ण श्रावकाचारों में इसका स्थान सर्वोपरि है। इसकी विषयवस्तु और प्रतिपादन शैली तो अनूठी है ही, भाषा एवं काव्य सौष्ठव भी साहित्य की कसौटी पर खरा उतरता है। अन्य किसी भी श्रावकाचार मे निश्चय-व्यवहार , निमित्त उपादान एवं हिंसा-अहिंसा का ऐसा विवेचन और अध्यात्म का ऐसा पुट देखने में नहीं आया।

आचार्य कुन्दकुन्द के कंचन को कुन्दन बनाने वाले एकमात्र आचार्य अमृतचन्द्र ही है, जिन्होने एक हजार वर्ष बाद उनके ग्रन्थों पर रहस्योद्घाटक बेजोड़ टीकाएं लिखकर उनकी गरिमा को जगत के सामने रखा।

यह तो सम्भव नहीं है कि अमृतचन्द्र के पूर्व कुन्दकुन्द का साहित्य पठन-पाठन में न रहा हो: क्योंकि परवर्ती साहित्यकारों ने जिस सम्मान के साथ उन्हें याद किया है, उससे प्रतीत होता है कि वे जिनपरम्परा में कभी भी अपरिचित या अचर्चित नहीं रहे, तथापि अमृतचन्द्र टीकाओ के पूर्व उनके साहित्य पर लिखी गई टीकाएं आज उपलब्ध नहीं है, और न ऐसे उल्लेख ही प्राप्त होते है जिनमें इस प्रकार की चर्चा हो। एक सम्भावना यह भी हो सकती है कि अमृतचन्द्र की सशक्त टीकाओं के सामने उनके पूर्व लिखी गई टीकाएं टिक न सकी हो और काल-कवलित हो गई हो।

जो भी हो पर कुन्दकुन्द के सशक्त टीकाकार के रूप में आज अमृतचन्द्र ही विख्यात हैं। उनके बाद आचार्य जयसेन् ने भी बहुत ही सुन्दर, सरल एवं सुबोध टीकाएं लिखी, परन्तु उन्होंने भी सर्वत्र ही आचार्य अमृतचन्द्र को आगे रखा तथा स्थान-स्थान पर उनका उल्लेख टीकाकार के नाम से बड़े ही आदर के साथ किया है।

आचार्य अमृतचन्द्र की कृतियों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वे परम् आध्यात्मिक सत, गहन तात्विक चिन्तक, रससिद्ध कवि, तत्वज्ञानी एव सफल टीकाकार थे। आत्मस्वाद मे निमग्न रहने वाले आचार्य अमृतचन्द्र की सभी गद्य-पद्य रचनाए अध्यात्म रस से सराबोर हैं।

वे अपने परवर्ती आचार्यों एवं विद्वानों द्वारा भी बहुत आदरपूर्वक स्मरण किये गए हैं।

आचार्य गुणभद्र

मूल संघ सेनान्वय के विद्वान थे और पंच स्तूपान्वय के विद्वान आचार्य जिनसेन के साधर्मी (गुरु भाई) दशरथ गुरु के शिष्य थे। सिद्धान्त शास्त्र रुपी समुन्द्र के परिगामी होने से जिनकी बुद्धि अतिशय प्रगल्भ तथा देदीप्यमान (तीक्ष्ण) थी, जो उनके नय और प्रमाण के ज्ञान में निपुण अगणित गुणों से विभूषित, समस्त जगत मे प्रसिद्ध थे, जो तपो लक्ष्मी से विभूषित थे, उत्कृष्ट ज्ञान से युक्त, पक्षोपवासी, तपस्वी तथा भावलिगी मुनिराज थे। राष्टकूट राजा अमोघ वर्ष ने गुणभद्राचार्य को अपने द्वितीय पुत्र कृष्ण का शिक्षक नियुक्त किया था। इन्होंने जिनसेनाचार्य के दिवंगत हो जाने पर उनके अपूर्ण आदि पुराण को 1620 श्लोकों में रचकर उसे पूरा किया था। उसकी रचना में गुणभद्राचार्य ने कवि परमेष्ठी के 'वागर्थ संग्रह' पुराण का आश्रय लिया था।

उत्तरपुराण - उत्तरपुराण में द्वितीय तीर्थंकर अजितनाथ से लेकर 23 तीर्थंकरों, 11 चक्रवर्ती, नवनारायण, नव बलभद्र और 9 प्रतिनारायण तथा जीवंधर स्वामी आदि विशिष्ट महापुरुषों के कथानक दिए हुए हैं। इस पुराण को कवि ने संभवतः बंकापुर में समाप्त किया था। प्रस्तुत बंकापुर अपने पिता वीरबंकेय के नाम से लोकादित्य द्वारा स्थापित किया गया है। प्रपितामह मुकुल के वश को विकसित करने वाले सूर्य के प्रताप के साथ, जिसका प्रताप सर्वत्र फैल रहा था और जिसने प्रसिद्ध शत्रुरूपी अधकार नष्ट कर दिया था जो चेल्ल पताका वाला था जिसकी पताका मे मयूर का चिन्ह था। चेलध्वज का अनुज था और चेल्ल केतनबकेय का पुत्र था। जैनधर्म की वृद्धि करने वाला चन्द्रमा के समान उज्ज्वल यश का धारक लोकादित्य बंकापुर मे बनवास देश का शासन कर रहा था।

उस समय बंकापुर बनवासी प्रान्त की राजधानी था और अनेक विशाल जिनमन्दिरो से सुशोभित था। यह नृपतुग का सामन्त था, और वीर योद्धा था। इसने गंगराज राजमल को युद्ध मे पराजित कर बन्दी बनाया था। इस विजयोपलक्ष्य में भरी सभा मे वीर बकेय को नृपतुंग द्वारा अभीष्ट वर माँगने की आज्ञा हुई। तब जिनभक्त बाकेय ने गद्‌गद्‌ हो नृपतुग से यह प्रार्थना की, कि अब कोई मेरी लौकिक कामना नही है। यदि आप देना ही चाहें तो कोलनूर में मेरे द्वारा निर्मित जिनमन्दिर के लिए पूजा आदि कार्य सचालनार्थ एक भूदान प्रदान कर सकते है। उन्होंने वैसा ही किया। बांकेय की पत्नी विजयादेवी बडी विदुषी थी। इसने सस्कृत में काव्य-रचना की। इनका पुत्र लोकादित्य भी अपने पिता के समान ही वीर और पराक्रमी था। लोकादित्य शत्रु रूपी अन्धकार को मिटाने वाला एक ख्याति प्राप्त शासक था। लोकादित्य पर गुणभद्राचार्य का पर्याप्त प्रभाव था। लोकादित्य जैनधर्म का प्रेमी था और समूचा वनवासी प्रान्त लोकादित्य के वश में था।

आचार्य जिनसेन की इच्छा महापुराण को विशाल ग्रन्थ बनाने की थी। परन्तु दिवगंत हो जाने से वे उसे पूर्ण नहीं कर सके। ग्रन्थ का जो भाग जिनसेन के कथन से अवशिष्ट रह गया था उसे निर्मल बुद्धि के धारक गुणभद्रसूरि ने सक्षेप में ही संग्रहीत किया है।

उत्तरपुराण को यदि गुणभद्राचार्य आदि पुराण के सदृश विस्तृत बनाते तो महापुराण एक उत्कृष्ट कोटि का महाभारत जैसा एक विशाल ग्रन्थ होता। किन्तु आयु एवं काया आदि की स्थिति देखते हुए वे उसे जल्दी ही पूर्ण करना चाहते थे। इसी से उसमें बहुत से कथन मौलिक और विस्तृत नहीं हो पाये है और कितने ही कथाओं में वह विशदता भी शीघ्रता के कारण नहीं ला सके है। फिर भी उनका उक्त प्रयत्न महान और प्रंशसनीय है।

जिनसेनाचार्य को यह विश्वास हो गया कि अब मेरा जीवन समाप्त होने वाला है और मैं महापुराण को पूरा नहीं कर सकूंगा। तब उन्होंने अपने सबसे योग्य शिष्यों को बुलाया और उनसे कहा कि सामने यह सूखा वृक्ष खडा है इसका काव्यवाणी में वर्णन करो। गुरुवाक्य सुनकर उनमें से एक शिष्य ने कहा **'शुष्कं काष्ठं तिष्ठात्यग्रे'**। फिर दूसरे शिष्य ने कहा **'नीरसतरुरिह विलसति पुरतः'** गुरु को द्वितीय वाक्य सरस ज्ञात हुआ अतः उन्होंने उसे आज्ञा दी कि तुम महापुराण को पूरा करो। गुणभद्र ने गुरुआज्ञा को स्वीकार कर महापुराण को पूरा किया।

आचार्य गुणभद्र ने लिखा है कि इस ग्रन्थ का पूर्वार्ध ही है उत्तरार्ध में तो ज्यों-त्यों करके ही रस की प्राप्ति होगी। गन्ने के प्रारम्भ का भाग ही स्वादिष्ट होता है। ऊपर का नहीं। यदि मेरे वचन सरस या सुस्वादु हो तो इसे गुरु का माहात्म्य ही समझना चाहिए। यह वृक्षों का स्वभाव है कि उनके फल मीठे होते हैं। वचन हृदय से निकलते हैं और हृदय में मेरे गुरु विराजमान है वे वहाँ से उनका सस्कार करेंगे। इसमें मुझे परिश्रम न करना पडेगा। गुरुकृपा से मेरी रचना संस्कार की हुई होगी। जिनसेन के अनुयायी पुराण मार्ग के आश्रय से संसार समुद्र के पार होना चाहते है फिर मेरे लिए पुराणसागर के पार पहुँचना क्या कठिन है।

उत्तर पुराण का रचना काल - आचार्य गुणभद्र ने उत्तरपुराण में उसका कोई रचना काल नहीं दिया हैं उनकी प्रशस्ति 27वें पद्य तक समाप्त हो जाती है। पांच छह श्लोकों में ग्रन्थ का महात्म्य वर्णन करने के अनन्तर 27वें पद्य में बताया है कि भव्यजनों को इसे सुनना चाहिए व्याख्यान करना चाहिए, चिन्तवन करना चाहिए, पूजना चाहिए और भक्तजनों को इसकी प्रतिलिपियाँ लिखनी चाहिए। यहीं गुणभद्राचार्य का वक्तव्य समाप्त हो जाता है। जान पड़ता है उन्होंने उसका रचनाकाल नहीं दिया। उनका समय शक सं. 820 से पूर्ववर्ती है। उस समय अमोघ वर्ष के सामन्त लोकदिव्य बंकापुर राजधानी से सारे बनावास देश का शासन कर रहे थे। तब शक सं. 820 पिंगल नाम के संवत्सर में पंचमी (श्रावण वदी 5) बुधवार के दिन भव्य जीवों ने उत्तरपुराण की पूजा की थी। गुणभद्राचार्य के शिष्य मुनि लोकसेन ने उत्तरपुराण की रचना करते समय अपने गुरु की सहायता की।

आत्मानुशासन - इसमें 266 श्लोक है। जिनमें आत्मा के अनुशासन का सुन्दर विवेचन किया गया है। यह गुणभद्राचार्य की स्वतंत्र कृति है। इसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक स्वरूप चार आराधनाओं का स्वरुप सरल रीति से दिया है। ग्रन्थ में चर्चित विषय उपयोगी ओर स्व-पर सम्बोधक है। ग्रन्थ मनन करने योग्य है। इस पर पंडित प्रभाचन्द्र की एक

सस्कृत टीका है जो सक्षिप्त और सरल है। ग्रन्थ हिन्दी और सस्कृत टीका के साथ जीवराज ग्रन्थमाला शोलापुर से प्रकाशित हो चुका हे। इसमें अनुष्टुप सहित आर्या, शिखारिणी, हरिणी, मालिनी, पृथ्वी, मन्दक्रान्ता, वशस्थ, उपेन्द्रा, रथोद्धता, गीति, बसन्ततिलका स्त्रग्धरा, शार्दूलविक्रीडित ओर बेताली आदि छन्दो का उपयोग किया गया है। कविता प्रभावशालिनी सरस तथा अलंकार सहित है, उसमे सुभाषितो की कमी नहीं है और काव्य के गुणों से युक्त हैं।

जिनदत्त चरित - यह भी इनकी कृति बतलाया जाता है। वह सस्कृत का एक काव्य ग्रन्थ है। जिसमे जिनदत्त का जीवन परिचय अकित है और जो माणिकचन्द्र ग्रन्थ से मूल रुप में प्रकाशित हो चुका है।

जैन विद्वान

श्रुतपरम्परा के सवर्द्धन और सरक्षण मे जैन विद्वानो का भी श्लाघनीय योगदान है उन्होंने अपनी प्रतिभा और वैदुष्य से अनेक उल्लेखनीय कृतिया प्रदान की। ऐसे ही कुछ लब्धप्रतिष्ठित विद्वानो का परिचय प्रस्तुत है -

पण्डित आशाधर

पण्डित श्री आशाधर का समय विक्रम की तेरहवी शताब्दी मे शुरु हुआ। अपने न्याय, व्याकरण, काव्य, साहित्य कोश, वैद्यक, कर्म--शास्त्र, अध्यात्मिक, पुराण आदि विविध विषयो पर ग्रन्थ रचना की। आप अपने समय के बहुश्रुत विद्वान् थे। विषय के अनुरूप सस्कृत भाषा और काव्यरचना पर आपका असाधारण अधिकार था। यद्यपि आप सामान्य गृहस्थ पण्डित थे, पर आपके पास मुनि तक पढ़ने के लिए आते थे। आपके पिता का नाम सल्लक्षण, माता का श्रीरत्नो, पत्नी का सरस्वती और पुत्र का नाम छाहड़ था। आप बघेरवाल वैश्य थे। आप माडलगढ (मेवाड़) के निवासी थे तथा शहाबुद्दीन गौरी के आक्रमण से त्रस्त होकर अपने परिवार के साथ मालवा की राजधानी धारा नगरी मे आकर बस गए थे। वहाँ आपने पण्डित महावीर से जैनेन्द्र व्याकरण और जैनन्याय पढ़ा था।

प. आशाधर जी का व्यक्तित्व बहुमुखी था। वे अनेक विषयो के विद्वान् होने के साथ असाधारण कवि थे। उन्होने अष्टागहृदय जैसे महत्त्वपूर्ण आयुर्वेद ग्रन्थ पर टीका लिखी। काव्यालंकार और अमरकोश की टीकाएँ भी उनकी विद्वत्ता की परिचायक हैं। आशाधर श्रद्धालु भक्त थे। उनके अनेक मित्र और प्रशसक थ। उनका व्यक्तित्व इतना सरल और सहज था, जिससे मुनि और भट्टारक भी उनका शिष्यत्व स्वीकार करने में गौरव का अनुभव करते थे। उनकी लोकप्रियता सूचना और उपाधियाँ ही दे रही है।

रचनाएं - प्रमेय-रत्नाकर, भरतेश्वराभ्युदयकाव्य, पंजिका सहित धर्मामृत, अष्टागहृदयोद्योत, मूलाराधना टीका, इष्टोपदेश टीका, अमरकोश टीका क्रियाकलाप, आराधनासार टीका, भूपाल-चतुर्विशतिका टीका, काव्यालंकार, जिनसहस्रनाम सटीक, नित्यमहोद्योत, रत्नत्रयविधान, जिनयज्ञकल्प, त्रिषष्टि स्मृतिशास्त्र, सागार धर्मामृतटीका, राजमती विप्रलम्भ, अध्यात्मरहस्य तथा अनगारधर्मामृतटीका (भव्यकुमुद चन्द्रिका)।

पं. बनारसीदास

बीहोलिया वंशकी परम्परा में श्रीमाल जाति के अन्तर्गत बनारसीदास का एक धनी मानी सम्भ्रान्त परिवार में जन्म हुआ। इनके प्रपितामह जिनदास का 'साका' चलता था। पितामह मूलदास हिन्दी और फारसी के पंड़ित थे और ये नरवर (मालवा) में वहाँ के मुसलमान-नबाब के मोदी होकर गए थे। इनके मातामह मदनसिंह चिनालिया जौनपुर के प्रसिद्ध जौहरी थे। पिता खड्‌गसेन कुछ दिनों तक बंगाल के सुल्तान मोदी खाँ के पोतदार थे। और कुछ दिनों के उपरान्त जौनपुरमें जवाहरात का व्यापार करने लगे थे। इस प्रकार कवि का वंश सम्पन्न था तथा अन्य सम्बन्धी भी धनी थे।

खड्‌गसेन को बहुत दिनों तक सन्तान की प्राप्ति नहीं हुई थी और जो सन्तान-लाभ हुआ भी, वह असमय मे ही स्वर्गस्थ हो गया। अतएव पुत्र-कामना से प्रेरित हो खड्‌गसेन ने रोहतकपुर की सती की यात्रा की।

बनारसीदास का जन्म वि. स. 1643 माघ, शुक्ला एकादशी रविवार को रोहिणी नक्षत्र में हुआ और बालक का नाम विक्रमाजीत रखा था। खडग्सेन बालक के जन्म के छह-सात महीने के पश्चात् पार्श्वनाथ की यात्रा करने काशी गए। बड़े भक्तिभाव से पूजन किया और बालक को भगवत् चरणो मे रख दिया तथा उसके दीर्घायु की प्रार्थना की। मन्दिर के पुजारी ने मायाचार कर खड्‌गसेन से कहा कि तुम्हारी प्रार्थना पार्श्वनाथ के यक्ष ने स्वीकार कर ली है। तुम्हारा पुत्र दीर्घायु होगा। अब तुम उसका नाम बनारसीदास रख दो। उसी दिन से विक्रमाजीत नाम परिवर्तित हो बनारसीदास हो गया। पांच वर्ष की अवस्था मे बनारसीदास को सग्रहणी रोग हो गया और यह डेढ़-दो वर्षों तक चलता रहा। बीमारी से मुक्त होकर बनारसीदास ने विद्याध्ययन के लिए गुरु-चरणों का आश्रय ग्रहण किया।

नव वर्ष की अवस्था मे इनकी सगाई हो गई और इसके दो वर्ष पश्चात् सं. 1654 मे विवाह हो गया। बनारसीदास का अध्ययनक्रम टूटने लगा। फिर भी उन्होने विद्या प्राप्ति के योग को किसी तरह बनाये रखने का प्रयास किया। 14 वर्ष की अवस्था मे उन्होंने प. देवीदास से विद्याध्ययन का सयोग प्राप्त किया। पंडित जी से अनेकार्थनाममाला, ज्योतिषशास्त्र, अलंकार तथा कोकशास्त्र आदि का अध्ययन किया। आगे चलकर इन्होंने अध्यात्म के प्रखर पंडित मुनि भानुचन्द्र से भी विविध शास्त्रों का अध्ययन आरंभ किया। पचसंधि, कोष, छन्द, स्तवन,

सामायिकपाठ आदि का अच्छा अभ्यास आरंभ किया। बनारसीदास की उक्त शिक्षा से यह स्पष्ट है कि वे बहुत उच्चकोटि की शिक्षा नहीं प्राप्त कर सके थे। पर उनकी प्रतिभा इतनी प्रखर थी, जिससे वे संस्कृत के बड़े-बड़े ग्रन्थो को समझ लेते थे। 14 वर्ष की अवस्था में प्रवेश करते ही कवि की कामुकता जाग उठी और वह ऐयाशी करने लगा। अपने अर्द्धकथानक में स्वयं कवि ने लिखा है -

तजि कुल आन लोककी जाल, भयो बनारसि आसिखबाज।
करै आसिखी धरत न धीर, दरदबंद ज्यों सेख फकीर।
इक-टक देख ध्यान सो धरे, पिता आपने को धन हरे।
चौर चूनी मानिक मनी, आने पान मिठाई घनी।
भेजै पेसकसी हितपास, आप गरीब कहावै दास।

माता-पिता की दृष्टि बचाकर मणि, रत्न तथा रुपये चुराकर स्वयं उड़ाना-खाना और अधिकांश प्रेमपात्रों में वितरित करने का एक लम्बा क्रमबंध गया। मुनि भानुचन्द्र ने भी इन्हें समझाने का बहुत प्रयास किया, पर सब व्यर्थ हुआ। कवि ने इसी अवस्था में एक हजार दोहा चौपाई प्रमाण नवरस की कविता लिखी थी, जिसे पीछे बोध आने पर गोमती में प्रवाहित कर दिया। 15 वर्ष 10 महीने की अवस्था में कवि सज-धजकर अपनी ससुराल खैरावत से पत्नी का द्विरागमन कराने गया। ससुराल में एक माह रहने के उपरान्त कवि को पूर्वोपार्जित अशुभोदय के कारण कुष्ठ रोग हो गया। विवाहिता भार्या और सासू के अतिरिक्त सबने साथ छोड़ दिया। वहाँ के एक नाई की चिकित्सा से कवि को कुष्ठ रोग से मक्ति मिली। कवि के पिता खड्गसेन सं. 1661 तक हीरानन्दजी द्वारा चलाये गए शिखरजी यात्रा-संघ में यात्रार्थ चले गए। बनारसीदास बनारस आदि स्थानों में घूमकर अपना समय-यापन करते रहे। कवि का पारिवारिक जीवन कष्टदायक रहा। कवि आगरा आकर पुनः व्यापार करने लगा; पर यहाँ भी दुर्भाग्यवश घाटा ही रहा। फलतः वह अपने मित्र नरोत्तमदास के यहाँ रहने लगा। दुर्भाग्य जीवन-पर्यन्त साथ में लगा रहा। अतः आगरा लौटते समय कुरी नामक ग्राम में झूठे सिक्के चलाने का भंयकर अपराध लगाया गया और इन्हें मृत्युदण्ड दिया गया। किसी प्रकार बनारसीदास वहाँ से छूटे। इनकी दो पत्नियों और नौ बच्चों का भी स्वर्गवास हुआ। सं. 1698 में अपनी तीसरी पत्नी के साथ बैठा हुआ कवि कहता है -

नौ बालक हुए मुए, रहे नारि-नर दो,
ज्यों तरुवर पतझार है, रहें ठूठसे होइ॥

कवि जन्मना श्वेताम्बर सम्प्रदाय का अनुयायी था। उसने खरतरगच्छी श्वेताम्बराचार्य भानुचन्द्र से शिक्षा प्राप्त की थी। उसके सभी मित्र भी श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अनुयायी थे पर सं. 1680 के पश्चात् कवि का झुकाव दिगम्बर सम्प्रदाय की मान्यताओं की ओर हुआ। इन्हें

खैराबाद निवासी अर्थमलजी ने समयसार की हिन्दी अर्थसहित राजमल की टीका सौंप दी। इस ग्रंथ का अध्ययन करने से उन्हें दिगम्बर सम्प्रदाय की श्रद्धा हो गयी। सं. 1629 में अध्यात्म के प्रकाण्ड् पंडित रुपचन्द्र पाण्डेय आगरा आये। रुपचन्द ने गोम्मटसार ग्रन्थ का प्रवचन आरंभ किया, जिसे सुनकर बनारसीदास दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुयायी बन गए। यही कारण है कि उनकी सभी रचनाओं में दिगम्बरत्व की झलक मिलती है। बनारसीदास का समय वि. की 17वीं शती निश्चित है, क्योंकि उन्होंने स्वयं ही अपने अर्द्धकथानक में अपनी जीवन-तिथियों के सम्बन्ध में प्रकाश डाला है।

रचनाएं - बनारसीदास के नाम से निम्नलिखित रचनाएं प्रचलित हैं - 1. नाममाला 2. समयसारनाटक 3. बनारसीविलास 4. अर्द्धकथानक 5. मोहविवेकयुद्ध एवं 6. नवरसपद्यावली।

नाममाला- प्राप्त रचनाओं में नाममाला सबसे पूर्व की है। इसका समाप्तिकाल वि. स. 1670 आश्विन शुक्ला दशमी है। परममित्र नरोत्तमदास सोवरा और थानमल सोवरा की प्रेरणा से कवि ने यह रचना लिखी है। यह पद्यबद्ध शब्दकोष 175 दोहों में लिखा गया है। प्रसिद्ध कवि धनञ्जय की संस्कृत नाममाला और अनेकार्थकोश के आधार पर इस ग्रंथकी रचना हुई है। कवि को इसकी साज-सज्जा, व्यवस्था, शब्द-योजना और लोकप्रचलित शब्दों की योजना के कारण इसे मौलिक माना जा सकता है।

नाटक समयसार - अध्यात्म-संत कविवर बनारसीदास की समस्त कृतियों में नाटक समयसार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। आचार्य कुन्दकुन्द के समय पाहुड पर आचार्य अमृतचन्द्र की आत्मख्याति नामक विशद टीका है। ग्रंथ के मूल भावों को विस्तृत करने के लिए कुछ संस्कृत-पद्य भी लिखे गए हैं, जो कलश नाम से प्रसिद्ध हैं। इसमें 277 पद्य है। इन कलशों पर भट्टारक शुभचन्द्र की परमाध्यात्मतरंगिणी नामक संस्कृत-टीका भी है। पाण्डेय राजमल ने कलशों पर बालबोधिनी नामक हिन्दी टीका भी लिखी है। इसी टीका को प्राप्त कर बनारसीदास ने कवित्तबद्ध नाटक समयसार की रचना की है। इस ग्रंथ में 310 दोहा-सोरठा, 245 इकत्तीस कवित्त, 86 चौपाई, 37 तेइसा सवैया, 20 छप्पय, 18 घनाक्षरी, 7 अडिल्ल और 4 कुंडलियाँ इस प्रकार सब मिलाकर 727 पद्य है। बनारसीदास ने इस रचना को वि. सं. 1683 आश्विन-शुक्ला, त्रययोदशी रविवार को समाप्त किया है।

नाटक-समयसार में जीवद्वार, कर्त्ता-कर्म-क्रियाद्वार, पुण्यपाप-एकत्व द्वार, आस्रव-द्वार, संवरद्वार, निर्जराद्वार, बन्धद्वार, स्याद्‌वादद्वार, साध्यसाधकद्वार और चतुर्दश गुणस्थानाधिकार प्रकरण हैं। नामानुसार इन प्रकरणों में विषयों का निरुपण किया गया है।

बनारसी बिलास - इस ग्रन्थ में महाकवि बनारसीदास की 48 रचनाओं का संकलन है। यह संग्रह आगरा निवासी दीवान जगजीवन जी ने बनारसीदास के स्वर्गवास के कुछ समय के पश्चात् वि. सं. 1701 चैत्र शुक्ला द्वितीया को किया है। बनारसीदास ने वि. सं. 1700 फाल्गुन

शुक्ला सप्तमी को कर्म-प्रकृति विधान की रचना की थी। यह रचना भी इस संग्रह में समाविष्ट है।

मोह-विवेक-युद्ध - इस रचना को कुछ लोग बनारसीदास कृत मानते हैं और कुछ लोग उसके विराधी भी है। कृति के आरभ मे कहा है कि मेरे पूर्ववर्त्ती कविमल, लालदास और गोपाल द्वारा पृथक-पृथक रचे गए। मोह-विवेक-युद्ध के आधार पर उनका सार लेकर इस ग्रंथ की रचना की है।

इसमे 110 दोहा-चौपाई है। यह लघु खण्ड काव्य है। इसका नायक मोह है और प्रतिनायक विवेक। दोनो मे विवाद होता है और दोनो ओर की सेनाएँ सजकर युद्ध करती है। महाकवि बनारसीदास की शैली गम्भीर है। उन्होने अध्यात्म की बड़ी-से-बड़ी बातो को सक्षेप मे सरलतापूर्वक गुम्फित कर दिया है।

अर्द्धकथानक मे कवि ने आत्मकथा लिखी है। इसमें स. 1698 तक की सभी घटनाएँ आ गई है। कवि ने 55 वर्षो का यथार्थ जीवनवृत्त अकित किया है।

पं. टोडरमल

महाकवि आशाधर के अनुपम व्यक्तित्व की तुलना करनेवाले व्यक्ति प. टोडरमलजी है। इन्हे प्रकृतिप्रदत्त स्मरणशक्ति और मेधा प्राप्त थी। एक प्रकार स्वयबुद्ध थे। इनका जन्म जयपुर मे हुआ था। पिता का नाम जोगीदास और माता का नाम रमा या लक्ष्मी था। इनकी जाति खण्डेलवाल और गोत्र गोदीका था। ये शैशव से ही होनहार थे। गूढ़-से-गूढ़ शकाओं का समाधान इनके पास मिलता था। इनकी योग्यता एव प्रतिभा का ज्ञान तत्कालीन साधर्मी भाई रायमल्ल ने इन्द्रध्वज पूजा के निमन्त्रणपत्र मे जो उद्‌गार प्रकट किये है उनसे स्पष्ट हो जाता है। इन उद्‌गारो को ज्यो-का-त्यो दिया जा रहा है -

''यहाँ घणां भाया और घणी बाया के व्याकरण व गोम्मटसारजी की चर्चा का ज्ञान पाइए है। सारा ही विषय भाईजी टोडरमल जी के ज्ञान का क्षयोपशम अलौकिक है, जो गोम्मटसारादि ग्रन्थो की सम्पूर्ण लाख श्लोक टीका बनाई, और पाच-सात ग्रन्थो की टीका बनाने का उपाय है। न्याय, व्याकरण, गणित, छन्द, अलकार का यदि ज्ञान पाइये है। ऐसे पुरुष महन्त बुद्धि का धारक ईकाल विषय होना दुर्लभ है। ताते यासू मिले सर्व सन्देश दूरि होय है। घणी लिखवा करि कहा आपणा हेतका वाछीक पुरुष शीघ्र आप यासू मिलाप करो।''

इस उद्धरण से स्पष्ट कि टोडरमल जी महान् विद्वान थे। वे स्वभाव से बडे नम्र थे। अहकार उन्हे छू तक नही गया था। इनमे एक दार्शनिक का मस्तिष्क, श्रद्धालु का हृदय, साधु का जीवन और सैनिक की दृढ़ता मिली थी। इनकी वाणी मे इतना आकर्षण था कि नित्य सहस्रों व्यक्ति इनका शास्त्र प्रवचन सुनने के लिए एकत्र होते थे। गृहस्थ होकर भी गृहस्थी मे अनुरक्त नहीं थे। अपनी साधारण आजीविका कर लेने के बाद ये शास्त्रचिन्तन में रत रहते थे। इनकी प्रतिभा

विलक्षण थी। इसका एक प्रमाण यही है कि इन्होंने किसी से बिना पढ़े ही कन्नड़ लिपि का अभ्यास कर लिया था।

अब तक के उपलब्ध आधार पर इनका जन्म वि. स. 1797 है और मृत्यु सं. 1824 है। टोडरमल जी आरभ से ही क्रान्तिकारी और धर्म के स्वच्छ स्वरुप को हृदयंगम करने वाले थे। इनकी शिक्षा-दीक्षा के सम्बन्ध में विशेष जानकारी नही है, पर इनके गुरु का नाम बंशीधर जी मैनपुरी बतलाया जाता है। वह आगरा से आकर जयपुर में रहने लगे थे और बालको को शिक्षा देते थे। टोडरमल बाल्यकाल से ही प्रतिभाशाली थे। अतएव गुरु को भी उन्हें स्वयबुद्ध कहना पड़ा था। वि. सं. 1811 फाल्गुन शुक्ला पचमी को 14-15 वर्ष की अवस्था में अध्यात्मरसिक मुलतान के भाइयों के नाम चिट्ठी लिखी थी, जो शास्त्रीय चिट्ठी है।

आरा सिद्धान्त भवन मे सगृहीत शान्तिनाथपुराणकी प्रशस्ति में टोडरमल जी के सम्बन्ध में जो उल्लेख मिलता है। उससे उनके साहित्यिक व्यक्तित्व पर पूरा प्रकाश पड़ता है -

वासी श्री जयपुर तनौ, टोडरमल्ल क्रिपाल।
ता प्रसंग को पाय के, गह्यो सुपंथ विशाल।
गोमठसारदिक तने, सिद्धान्तन में सार।
प्रवर बोध जिनके उदैं, महाकवि निरधार।
फुनि ताके तट दूसरो, राजमल्ल बुधराज।
जुगल मल्ल जब ये जुरे, और मल्ल किह काज।
देश ढूंढ़ाहड आदि दै, सम्बोधे बहु देस।
रचि रचि ग्रन्थ कठिन किये, 'टोडरमल्ल' महेश।

माता पिता की एकमात्र सन्तान होने के नाते टोडरमल जी का बचपन बड़े लाड़ प्यार से बीता। बालक की व्युत्यपन्नमति देखकर इनके माता -पिता ने शिक्षा की विशेष व्यवस्था की और वाराणसी से एक विद्वान को व्याकरण, दर्शन आदि विषयो को पढ़ाने के लिए बुलाया। अपने विद्यार्थी की व्युत्पन्नमति और स्मरण शक्ति देखकर गुरुजी भी चकित थे। टोडरमल व्याकरण सूत्रो की गुरु से भी अधिक स्पष्ट व्याख्या करके सुना देते थे। छह मास मे ही इन्होंने जैनेन्द्र व्याकरण को पूर्ण कर लिया।

अध्ययन समाप्त करने के पश्चात् इन्हें धनोपार्जन के लिए सिंहाणा जाना पड़ा। इससे अनुमान लगता है कि इस समय तक इनके पिता का स्वर्गवास हो चुका था। वहाँ भी टोडरमलजी अपने कार्य के अतिरिक्त पूरा समय शास्त्रस्वाध्याय मे लगाते थे। कुछ समय पश्चात् रायमल्लजी भी शंका-समाधानार्थ सिघणा पहुँचे और इनकी नैसर्गिक प्रतिभा देखकर इन्हे 'गोम्मटसार' का भाषानुवाद करने के लिए प्रेरित किया। अल्प समय मे ही इन्होने इसकी भाषा टीका समाप्त कर ली। मात्र 18-19 वर्ष की अवस्था मे ही गोम्मटमसार, लब्धिसार, क्षपणासार एवं त्रिलोकसार के 65000 श्लोकप्रमाण की टीका कर इन्होंने जनसमूह मे विस्मय भर दिया।

सिंघाण से जयपुर लौटने पर इनका विवाह सम्पन्न कर दिया गया। कुछ समय पश्चात दो पुत्र उत्पन्न हुए। बड़े का नाम हरिचन्द्र और छोटे का नाम गुमानीराम था। इस समय तक टोडरमल जी के व्यक्तित्व का प्रभाव सारे समाज पर व्याप्त हो चुका था और चारों ओर उनकी विद्वत्ता की चर्चा होने लगी थी। यहाँ उन्होने समाज-सुधार एवं शिथिलाचार के विरुद्ध अपना अभियान शुरु किया। शास्त्रप्रवचन एवं ग्रन्थनिर्माण के माध्यम से उन्होंने समाज में नई चेतना एवं नई जागृति उत्पन्न की। इनका प्रवचन तेरहपन्थी बड़े मन्दिर में प्रतिदिन होता था, जिसमें दीवान रतनचन्द, अजबराय, त्रिलोकचन्द महाराज जैसे विशिष्ट व्यक्ति सम्मिलित होते थे। सारे देश में उनके शास्त्रप्रवचन की धूम थी।

टोडरमल का जादू जैसा प्रभाव कुछ व्यक्तियो के लिए असह्य हो गया। वे उनकी कीर्ति से जलने लगे और इस प्रकार उनके विनाश के लिए नित्य प्रति षड्यन्त्र किया जाने लगा। अन्त में वह षड्यन्त्र सफल हुआ और युवावस्था में यौवन की कीर्ति अन्तिम चरण मे पहुंचने वाली थी कि उन्हे मृत्यु का सामना करना पड़ा। स. 1824 में इन्हें आततायियों का शिकार होना पड़ा और हंसते-हसते इन्होने मृत्यु का आलिगन किया।

रचनाएं - टोडरमल जी की कुल 11 रचनाए हैं, जिनमें सात टीकाग्रन्थ और चार मौलिक ग्रन्थ है। मौलिक ग्रन्थों में 1. मोक्षमार्गप्रकाशक 2. आध्यात्मिक पत्र, 3. अर्थसदृष्टि और 4. गोम्मटसार पूजा परिगणित है। टीकाग्रन्थ निम्नलिखित हैं -

1. गोम्मटसार (जीवकाण्ड) - सम्यज्ञानचन्द्रिका। यह स. 1815 में पूर्ण हुई।
2. गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) - सम्यज्ञानचन्द्रिका। यह स. 1815 में पूर्ण हुई।
3. लब्धिसार - सम्यज्ञानचन्द्रिका टीका सं0 1818 में पूर्ण हुई।
4. क्षपणासार - वचनिका सरस है।
5. त्रिलोकसार - इस टीका मे गणित की अनेक उपयोगी और विद्वत्तापूर्ण चर्चाए की गई हैं।
6. आत्मानुशासन - यह आध्यात्मिक सरस संस्कृत-ग्रंथ है। इसको वचनिका संस्कृत-टीका के आधार पर है।
7. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय - इस ग्रन्थ की टीका अधूरी ही रह गई है।

मौलिक रचनाएँ - 1. अर्थसंदृष्टि 2. आध्यात्मिक पत्र 3. गोम्मटसार पूजा और 4. मोक्षमार्ग-प्रकाशक।

इन समस्त रचनाओं मे मोक्षमार्गप्रकाशक सबसे महत्त्वपूर्ण है। यह 9 अध्यायों में विभक्त है। और इसमें जैनागम का सार निबद्ध है। इस ग्रन्थ के स्वाध्याय से आगम का सम्यग्ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। इस ग्रन्थ के प्रथम अधिकार मे उत्तम सुख प्राप्ति के लिए परम इष्टअर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय एव साधु का स्वरुप विस्तार से बतलाया गया है। पंचपरमेष्ठी का

स्वरुप समझने के लिए यह अधिकार उपादेय है। द्वितीय अधिकार में संसारावस्था का स्वरुप वर्णित है। कर्मबन्धन का निदान, कर्मों के अनादिपन की सिद्धि, जीव-कर्मों की भिन्नता एवं कथंचित् अभिन्न, योग से होने वाले प्रकृति-प्रदेशबन्ध, कषाय से होने वाले स्थिति और अनुभाग बन्ध, कर्मों के फलदान मे निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध, द्रव्य कर्म और भावकर्म का स्वरुप, जीव की अवस्था आदि का वर्णन है।

तृतीय अधिकार मे ससार दु:ख तथा मोक्षसुख का निरुपण किया गया है। दु:खो का मूल कारण मिथ्यात्व और मोहजनित विषयाभिलाषा है। इसीसे चारो गतियो मे दु:ख प्राप्ति होती है। चौथे अधिकार में मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र का निरुपण किया गया है। इष्ट-अनिष्ट की मिथ्या कल्पना राग-द्वेष की प्रवृत्ति के कारण होती है; जो इस प्रवृत्तिका त्याग करता है उसे सुख की प्राप्ति होती है।

पचम अधिकार में विविधमत-समीक्षा है। इस अध्याय से प. टोडरमल के प्रकाण्ड पण्डित्य और उनके विशाल ज्ञानकोश का परिचय प्राप्त होता है। इस अध्याय से यह स्पष्ट है कि सत्यान्वेषी पुरुष विविध मतों का अध्ययन कर अनेकान्तबुद्धि द्वारा सत्य प्राप्त कर लेता है।

पष्ठ अधिकार में सत्यतत्त्वविरोधी असत्यायतनों के स्वरुप का विस्तार बतलाया गया है। इसमे यही बतलया गया है कि मुक्ति के पिपासु को मुक्ति विरोधी तत्त्वों का सम्पर्क नहीं करना चाहिए। मिथ्यात्वभाव के सेवन से सत्य का दर्शन नहीं होता।

सप्तम अधिकार में जैन मिथ्यादृष्टि का विवेचन किया है। जो एकान्त मार्ग का अवलम्बन करता है। वह ग्रन्थकार की दृष्टि में मिथ्यादृष्टि है। रागादिका का घटना निर्जरा का कारण है और रागादिक का होना बन्धका। जैनाभास, व्यवहारभास के कथनके पश्चात्, तत्त्व और ज्ञान का स्वरुप बतलाया गया है।

अष्टम अधिकार मे आगम के स्वरुप का विश्लेषण किया हैं। प्रथमानुयोग, करणानुयोग, द्रव्यानुयोग और चरणानुयोग के स्वरुप और विषय का विवेचन किया गया है। नवम अधिकार मे मोक्षमार्ग का स्वरुप, आत्महित, पुरुषार्थ से मोक्षप्राप्ति, सम्यक्त्व के भेद और उसके आठ अग आदिका कथन आया है।

इस प्रकार प. टोडरमल ने मोक्षमार्गप्रकाशक जैनतत्त्वज्ञान के समस्त विषयों का समावेश किया है। यद्यपि उसका मूल विषय मोक्षमार्ग का प्रकाशन है; किन्तु प्रकारान्तर से उसमे कर्मसिद्धान्त, निमित्त-उपादान, स्याद्वाद-अनेकान्त, निश्यच-व्यवहार, पुण्य-पाप, दैव और पुरुषार्थपर तात्त्विक विवेचना निबद्ध की गयी है।

पं. टोडरमल गद्य लेखक के साथ कवि भी है। उनके कविहृदय का पता टीकाओं में रचित

पद्यो से प्राप्त होता है। लब्धिसार की टीका के अन्तमे अपना परिचय देते हुए लिखा है-

मैं हों जीव द्रव्य नित्य, चेतना स्वरुप मेरो;
लग्यों है अनादि तें कलंक कर्म- मलको।
वाही को निमित्त पाय रागादिक भाव भए,
भयो है शरीर को मिलाप जैसे खलको॥
रागादिक भावनकों पाय के निमित्त पुनि,
होत कर्मबन्ध ऐसो है बनाव कलको।
ऐसे ही भ्रमत भयो मानुष शरीर जोग,
बने तो बने यहाँ उपाय निज थलको॥

पं. दौलतराम

कवि दौलतराम द्वितीय लब्धप्रतिष्ठ कवि है। ये हाथरस के निवासी और पल्लीवाल जाति के थे। इनका गोत्र गगटीवाल था, पर प्रायः लोग इन्हे फतेहपुरी कहा करते थे। इनके पिता का नाम टोडरमल था। इनका जन्म वि. स 1855 या 1856 के मध्य हुआ था।

कवि के पिता के दो भाई थे। छोटे भाई का नाम चुन्नीलाल था। हाथरस मे ही दोनो भाई कपड़े का व्यापार करते थे। अलीगढ़ निवासी चिन्तामणि कवि के श्वसुर थे। जिस समय छीट का थान छापने बैठते थे, उस समय चौकी पर गोम्मटसार, त्रिलोकसार और आत्मानुशासन ग्रंथ को विराजमान कर लेते थे और छापने के काम के साथ 70-80 श्लोक या गाथाए भी कण्ठाग्र कर लेते थे।

वि. स 1882 मे मथुरा निवासी सेठ मनीराम जी, प. चम्पालाल जी के साथ हाथरस आये और उक्त पण्डितजी को गोम्मटसार का स्वाध्याय करते हुए देखकर बहुत प्रसन्न हुए तथा अपने साथ मथुरा ले गए। वहाँ कुछ दिन तक रहने के पश्चात् आप सासनी या लश्कर मे आकर रहने लगे।

कवि के दो पुत्र हुए। कवि को अपनी मृत्यु का परिज्ञान अपने स्वर्गवास से छह दिन पहले ही हो गया था। अतः उन्होने अपने समस्त कुटुम्बियो को एकत्र कर कहा- "आज से छठवें दिन मध्याह्न के पश्चात् मै इस शरीर से निकलकर अन्य शरीर धारण करुँगा। अतः आप सबसे क्षमायाचना कर समाधिमरण ग्रहण करता हूँ।" सबसे क्षमायाचना कर सवत् 1923 मार्गशीर्ष कृष्ण-अमावस्या को मध्याह्न मे आपने प्राणो का त्याग किया था।

कवि के समयकालीन विद्वानो मे रत्नकरण्डश्रावकाचार के वचनिकाकर्त्ता प. सदासुख, बुधजन विलास के कर्त्ता बुधजन, तीस-चौबीसी आदि कई ग्रंथों के रचयिता वृन्दावन, चन्द्रप्रभकाव्य की वचनिका के कर्त्ता तनसुखदास, प्रसिद्ध भजनरचयिता भागचन्द्र और प. बख्तावरमल आदि प्रमुख है।

भूतकाल में दस प्रकार के दौलतराम हुए जिनमें से इन्होंने प्रसिद्ध ग्रन्थ छहढाला नामक ग्रन्थ लिखा है अन्य दौलतराम जी का परिचय निम्न प्रकार है -

1. प. दौलतराम पल्लीवाल	-	छहढाला के लेखक
2. प. दौलतराम	-	दिलाराम अन्यनाम, बंदी नरेश के कवि
3. पं. दौलतराम का सलीवाल	-	पद्मपुरण, आदिपुराण, हरिवश पुराण की टीका पुरुषार्थ सिद्धि उपाय (1829 वि0 स0)
4. प. दौलतराम अंसेरी	-	श्रेणिक चारित्र (1834)
5. प. दौलतराम वर्णी	-	पूजाएं लिखी
6. पं. दौलतराम ओसवाल	-	मल्लिनाथ चारित्र (1818)
7. प. दौलतराम उजियारे	-	कस चन्द्रिका, जुगल प्रकाश कृति के लेखक (1837)
8. प. दौलतराम	-	1863 जलान्धरनाथ जीरोगुण परिचय प्रकाश रचना
9. प. दौलतराम	-	कवि प्रिया, अलकार सग्रह लेखक (1857)
10. प. दौलतराम	-	ज्यौलर, मैनपुरी के निवासी

रचनाएं - इनकी दो रचानाए उपलब्ध है - 1. छहढाला और 2. पदसग्रह। छहढाला ने तो कवि को अमर बना दिया है। भाव, भाषा और अनुभूति की दृष्टि से रचना बेजोड़ है। जैनागम का सार इसमे अंकित कर 'गागर मे सागर' भर देने की कहावत को चरितार्थ किया है। इस अकेले ग्रथ के अध्ययन से जैनागम के साथ परिचय प्राप्त किया जा सकता हैं।

पदसग्रह मे विविध प्रवृत्तियो का विश्लेषण किया गया है। कवि कहता है। कि मन को बुरी आदत पड़ गयी है, जिससे अनादिकाल से विषयो की ओर दौड़ता रहता है। कवि कहता है-

हे मन, तेरी कुटेव यह, करन-विषय में धावै है।।टेक।।
इन्हीं के वश तू अनादि तैं, निज स्वरुप न लखावै है।
पराधीन छिन-छिन समाकुल, दुरगति-विपति चखावै है। हे० मन०॥१॥
फरस-विषय के कारण वारन, गरत परत दुःख पावै है।
रसना इन्द्रीवश झख जलमें , कटंक कंठ छिदावे है। । हे० मन०॥२॥

इसके पद विषय की दृष्टि से 1. रक्षा की भावना 2. आत्म-भर्त्सना, 3. भयदर्शन, 4. आश्वासन, 5. चेतावनी, 6. प्रभुस्मरण के प्रति आग्रह, 7. आत्मदर्शन होने पर अस्फुट वचन 8. सहज समाधि की आकांक्षा 9. स्वपद की आकाक्षा 10. संसार विश्लेषण 11. परसत्त्वबोधक और 12. आत्मानन्द क्षेणी मे विभक्त किये जा सकते है।

भर्त्सना विषयक पदो में कवि ने विषय-वासना के कारण मलिन हुए मन को फटकारा है तथा कवि अपने विकार और कषायो का कच्चा चिट्ठा प्रकटकर अपनी आत्मा का परिष्कार करना चाहता हैं। भयदर्शन सम्बन्धी पदों में मन को भय दिखलाकर आत्मोन्मुख किया गया है। कवि आत्मानुभूति की ओर झुकता हुआ कहता है -

मान ले या सिख मोरी, झुकै मत भोगन ओरी॥
भोग भुजंग भोग सम जानो, जिन इनसे रति जोरी।
ते अनन्त भव-भोग भरे, दुख, परे अधोगति खोरी,
बंधे दृढ़ पातक डोरी॥ मान ले०॥

इस प्रकार कवि दौलत राम के पदो मे भावावेश, उन्मुक्त प्रवाह, आन्तरिक संगीत कल्पना की तूलिका द्वारा भावचित्रो की कमनीयता, आनन्द विह्वलता, रसानुभूति की गम्भीरता एव रमणीयता का पूरा समन्वय विद्यमान है।

कविवर सन्तलालजी

श्री सिद्धचक्रविधान भाषा के रचयिता कविवर सतलाल जी का परिचय इस स्थान पर जानना उपयोगी होगा।

कविवर सतलाल जी कस्बा नकुड़ जिला सहारनपुर के सुप्रतिष्ठित परिवार लाला शीलचंद जी के खानदान के थे। आपका जन्म ई. सन् 1834 मे हुआ था। आपके सब कुटुम्बी पिता और बाबा आदि धर्मात्मा थे। आपने बड़े उत्साह, धर्म-प्रेम व परिश्रम से इस सिद्धचक्र-विधान भाषा छदबद्ध की उत्तम रचना की थी, तथा आपने और भी बहुत सी पूजन छद पद वगैरह रचे थे जो मौजूद है। आपको शास्त्रो का बहुत अच्छा ज्ञान था इस कारण शास्त्रार्थ का भी आपको बहुत शौक था। आपने रुड़की कालेज से परीक्षा पास की थी तो भी धर्म मे रुचि होने के कारण नौकरी नही की थी। आर्य समाजी और अन्यमती, शास्त्रार्थ मे कभी भी आपका मुकाबला नही कर सके थे और आपकी सदा विजय होती थी। जाति सुधार और कुरीति निवारण में भी आप और आपके कुटुम्बी अग्रसर रहे है। आपने शुभ कार्यों पर होता हुआ मिथ्यात्व त्याग कराने मे बडा उद्योग किया था जिसमे सफलता भी प्राप्त की थी। तथा आप के कुटुम्बियो ने 'जैन विवाहविधि' के अनुसार विवाह करने की परिपाटी प्रचलित की थी।

इस विधान की रचना करने के बाद आपने अपनी आयु धर्म-ध्यान मे ही व्यतीत की थी और आपका स्वर्गवास ई. सन् 1886 के जून मास मे 52 साल की आयु मे हुआ था।

पण्डित जयचन्द छावड़ा

हिन्दी जैन साहित्य के गद्य-पद्य लेखक विद्वानो मे पण्डित जयचन्द जी छाबड़ा का नाम उल्लेखनीय है। इन्होने पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धि की हिन्दी टीका समाप्त करते हुए अन्तिम प्रशस्ति मे अपना परिचय अकित किया है -

काल अनादि भ्रमत संसार, पायो नरभव मैं सुखकार।
जन्म फागई लयौ सुथानि, मोतीराम पिताकै आनि॥

पायो नाम तहां जयचन्द, यह परजाल तणूं मकरंद।
द्व्य दृष्टि में देखूं जबै, मेरा नाम आतमा कबै।।
गोत छावड़ा श्रावक धर्म, जामें भली क्रिया शुभकर्म।
ग्यारह वर्ष अवस्था भई, तब जिन मारगकी सुधि लही।।
निमित्त पाय जयपुर में आय, बड़ी जु शैली देखी भाय।।
गुणी लोक साधर्मी भले, ज्ञानी, पंडित बहुत मिले।
पहले थे वंशीधर नाम, धरै प्रभाव भाव शुभ ठाम।।
टोडरमल पंडित मति खरी, गोमटसार वचनिका करी।
ताकी महिमा सब जन करै, वाचैं पढै बुद्धि विस्तरै।।
दौलतराम गुणी अधिकाय, पंडितराय राजमैं जाय ।
ताकी बुद्धि लसै सब खरी, तीन प्रमाण वचनिका करी।।
रायमल्ल त्यागी गृह वास, महाराम व्रत शील निवास।
मैं हूँ इनकी संगति ठानि, बुधसारु जिनवाणी जानि।।

कवि का जन्म फागी नामक ग्राम में हुआ था। यह ग्राम जयपुर से डिग्गीमालपुरा रोड पर 30 मी की दूरी पर बसा हुआ है। यहाँ आपके पिता मोतीराम जी पटवारी का काम करते थे। इसी से आपका वंश पटवारी नाम से प्रसिद्ध रहा है।

11 वर्ष की अवस्था व्यतीत हो जाने पर कवि का ध्यान जैनधर्म की ओर गया और उसी मे अपने हित को निहित समझकर आपने अपनी श्रद्धा को सुदृढ़ बनाने का प्रयत्न किया। फलतः जयचन्दजी ने जैनदर्शन और तत्त्वज्ञान के अध्ययन का प्रयत्न किय। वि. स. 1821 मे जयपुर मे इन्द्रध्वज पूजा महोत्सव का विशाल आयोजन किया गया था। इस उत्सव मे आचार्यकल्प पंडित टोडरमल जी के आध्यात्मिक प्रवचन होते थे। इन प्रवचनो का लाभ उठाने के लिए दूर-दूर के व्यक्ति वहाँ आये थे। पण्डित जयचन्द भी यहाँ पधारे ओर जैनधर्म की ओर इनका पूर्ण झुकाव हुआ। फलतः 3-4 वर्ष के पश्चात् ये जयपुर मे ही आकर रहने लगे। जयचन्द जी ने जयपुर मे सैद्धान्तिक ग्रन्थों का गम्भीर अध्ययन किया।

जयचन्दजी का स्वभाव सरल और उदार था। उनका रहन-सहन और वेश-भूषा सीधी-सादी थी। ये श्रावकोचित क्रियाओं का पालन करते थे और बडे अच्छे विद्याव्यसनी थे। अध्ययनार्थियों की भीड़ इनके पास सदा लगी रहती थी। इनके पुत्र का नाम नन्दलाल था, जो बहुत ही सुयोग्य विद्वान् था और पण्डित जी के पठनपाठनादि कार्यो मे सहयोग देता था। मन्नालाल, उदयचन्द और माणिकचन्द इनके प्रमुख शिष्य थे।

एक दिन जयपुर में एक विदेशी विद्वान शास्त्रार्थ करने के लिए आया। नगर के अधिकांश

विद्वान उससे पराजित हो चुके थे। अतः राज्य कर्मचारियों और विद्वान पंचों ने पण्डित जयचन्दजी से, उक्त विद्वान् से शास्त्रार्थ करने की प्रार्थना की पर उन्होंने कहा कि आप मेरे स्थान पर मेरे पुत्र नन्दलाल को ले जाइये। यही उस विद्वान को शास्त्रार्थ में परास्त कर देगा। हुआ भी यही। नन्दलाल ने अपनी युक्तियो से उस विद्वान् को परास्त कर दिया। इससे नन्द लाल का बड़ा यश व्याप्त हुआ और उसे नगर की ओर से उपाधि दी गयी। नन्दलाल ने जयचन्द जी को सभी टीकाग्रन्थो मे सहायता दी है। सवार्थसिद्धि की प्रशस्ति मे लिखा है -

लिखी यहै जयचन्द नै सोधी सुत नन्दलाल।
बुधलखि भूलि जु शुद्ध करी बांची सिखै वो बाल।।
नन्दलाल मेरा सुत गुनी बालपने तैं विद्यासुनी।
पण्डित भयौ बड़ी परवीन ताहू ने यह प्रेरणाकीन।।

पण्डित जयचन्द जी का समय वि. स. 11वी शती है। इन्होने निम्नलिखित ग्रंथों की भाषा वचनिकाएँ लिखी है -

1. सर्वार्थसिद्धि वचनिका (वि. स. 1861 चैत्र शुक्ला पञ्चमी)
2. तत्त्वार्थसूत्र भाषा
3. प्रमेयरत्नमाला टीका (वि. स. 1863 आषाढ़ शुक्ला चतुर्थी बुधवार)
4. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा (वि. स. 1863 श्रावण कृष्णा तृतीया)
5. द्रव्यसंग्रह टीका (वि. स. 1863 श्रावण कष्णा चतुर्दशी और दोहामय पद्यानुवाद)
6. समयसार टीका (वि. स. 1864 कार्तिक कृष्णा दशमी)
7. देवागमस्तोत्र टीका (वि. स. 1866)
8. अष्टपाहुड भाषा (वि. स. 1867 भाद्र शुक्ला त्रयोदशी)
9. ज्ञानार्णव भाषा (वि. स. 189)
10. भक्तामरस्तोत्र (वि. स. 1870)
11. पद सग्रह
12. चन्द्रप्रभचरित्र (न्यायविषयिका) भाषा। वि. स. 1874
13. धन्यकुमारचरित्र

पण्डित जयचन्द की वचनिकाओ की भाषा ढूढारी है। क्रियापदो के परिवर्तित करने वर उनकी भाषा आधुनिक खड़ी बोली का रुप ले सकती है। उदाहरणार्थ यहाँ दो एक उद्धरण प्रस्तुत किये जाते है -

"बहुरि वचन दोय प्रकार है, द्रव्यवचन, भाववचन। तहां वीर्यान्तराय मतिश्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम होतैं, अंगोपांगनामा नामकर्म के उदयतैं आत्मा के बोलने की सामर्थ्य होय, सो तौ

भाववचन है। सो पुद्गलकर्म के निमित्त तैं भाया तातैं पुद्गल का कहिये बहुरि तिस बोलने का सामर्थ्य सहित आत्माकरि कंठ तालुवा जीभ आदि स्थाननिकरि प्रेरे जे पुद्गल, ते वचन रुप परिणये ते पुद्गल ही है। ते श्रोत्र इन्द्रिय के विषय हैं और इन्द्रिय के ग्रहण योग्य नाहीं है। जैसे घ्राणइन्द्रिय का विषय गंधद्रव्य है, तिस घ्राण कैं रसादिक ग्रहण योग्य नहीं है तैसें।''

सर्वार्थसिद्धि 5-19

''जैसे इस लोकविषै सुवर्ण अर रुपाकू गालि एक किये एक पिंडका व्यवहार होता हैं, तैसै आत्मा के अर शरीरके परस्पर एक क्षेत्रावगाह की अवस्था होतै, एकपणाका व्यवहार है, ऐसैं व्यवहार मात्र ही करि आत्मा अर शरीर का एकपणा है। बहुरि निश्चयतै एकपणा नही है, जातैं पीला अर पाडुर है स्वभाव जिनका ऐसा सुवर्ण अर रुपा है, तिनकैं जैंसै निश्चय विचारिये सब अत्यन्त भिन्नपणा करि एक-एक पदार्थपणा की अनुपपत्ति है, तातैं नानापना ही है। तैसैं ही आत्मा अर शरीर उपयोग स्वभाव हैं। तिनिकैं अत्यन्त भिन्नपणातैं एक पदार्थपेणा की प्राप्ति नहीं तातै नानापणा ही है। ऐसा प्रगट नय विभाग है।'' -समयसार 28

सदासुख काशलीवाल

वि. की 19वीं शती के विद्वानों में पण्डित सदासुख काशलीवाल का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनका जन्म वि. सं. 1852 में जयपुर नगर में हुआ था। इनके पिता का नाम दुलीचन्द्र और गौत्र काशलीवाल था। इनका जन्म डेडराजवंश में हुआ था। अर्थप्रकाशिका की वचनिका में अपना परिचय देते हुए लिखा है -

डेडराज के वंश माँहि इक किंचित् ज्ञाता।
दुलीचन्दका पुत्र काशलीवाल विख्याता॥
नाम सदासुख कहें, आत्मसुख का बहु इच्छुक।
सो जिनवाणी प्रसाद विषयतैं भये निरिच्छुक॥

पण्डित सदासुखजी बड़े अध्ययनशील थे। ये सदाचारी, आत्मनिर्भय, अध्यात्मरसिक और धार्मिक लगन के व्यक्ति थे। ये परम संतोषी थे। आजीविका के लिए थोड़ा-सा कार्य कर लेने के पश्चात् अध्ययन और चिन्तन मे रत रहते थे। इनका ज्ञान भी अनुभव के साथ-साथ वृद्धिगत होता गया था। बीसपथी आम्नाय के अनुयायी होने पर भी तेरहपथी आम्नाय के प्रति किसी भी प्रकार का विद्वेष नही था। इनके शिष्यो मे पण्डित पन्नालाल सगी, नाथूराम दोषी और पण्डित पारसदास निगोत्या प्रधान है। पारसदासने 'ज्ञानसूर्योदय' नाटक की टीका में इनका परिचय देते हुए इनके स्वभाव और गुणों पर प्रकाश डाला है -

लौकिक प्रवीना तेरापंथ माँहि लीना,
मिथ्याबुद्धि करि छीना जिन आतमगुण चीना है।
पढ़ै औ पढ़ावें मिथ्या अलट कूँ कढ़वैं,
ज्ञानदान देय जिन मारग बढ़ावें है।
दीसै घरवासी रहें घर हू तें उदासी
जिनमारगप्रकाशी जग कीरत जगमासी है।
कहाँ लौ कही जे गुणसागर सुखदास जूके।
ज्ञानामृत पीय बहु मिथ्याबुद्धि नासी है।

पण्डित सदासुख जी के गृहस्थ जीवन के सम्बन्ध मे विशेष जानकारी प्राप्त नही है, फिर भी इतना तो कहा जा सकता है कि पण्डित जी का एक पुत्र था, जिसका नाम गणेशीलाल था। यह पुत्र भी पिता के अनुरुप होनहार और विद्वान् था, पर दुर्भाग्यवश 20 वर्ष की अवस्था मे ही इकलौते पुत्र का वियोग हो जाने से पण्डिजी पर विपत्ति का पहाड़ टूट पड़ा। संसारी होने के कारण पण्डित जी भी इस आघात से विचलित से हो गए। फलतः अजमेर निवासी स्वनामधन्य सेठ मूलचन्द जी सोनी ने इन्हे जयपुर से अजमेर बुला लिया। यहाँ आने पर इनके दुःख का कुछ शान्त हुआ। इनका समाधिमरण वि. स. 1923 में हुआ। इनकी रचनाए निम्नलिखित है -

1. भगवती आराधना वचनिका
2. सूत्रजी की लघुवचनिका
3. अर्थप्रकाशिका का स्वतन्त्र ग्रन्थ
4. अकलकाष्टक वचनिका
5. रत्नकरंडश्रावकाचार वचनिका
6. मृत्युमहोत्सव वचनिका
7. नित्यनियम पूजा
8. समयसार नाटकपर भाषा वचनिका
9. न्यायदीपिका वचनिका
10. ऋषिमडलपूजा वचनिका

पण्डित सदासुख जी की भाषा ढूढारी होने पर भी, पण्डित टोडरमल जी और पण्डित जयचन्द जी की अपेक्षा अधिक परिष्कृत और खड़ी बोली के अधिक निकट है। भगवती आराधना की प्रशस्ति की निम्नलिखित पंक्तियां दृष्टव्य हैं-

मेरा हित होने को और, दीखै नाहिं जगत में ठौर।
यातैं भगवति शरण जु गही, मरण आराधन पाऊँ सही।।
हे भगवति तेरे परसाद, मरण मै मति होहु विषाद।
पंच परमगुरु पदकरि ढोक, संयम सहित लहू परलोक।।

पं. गोपालदास बरैया

पंडित जी का जन्म वि. सं. 1923 के चैत्र मास में आगरा में हुआ था। आपके पिता का नाम लक्ष्मणदास जी था। आपकी जाति 'बरैया' और गोत्र 'एछिया' था। आपके बाल्यकाल के विषय में हम विशेष कुछ नहीं है। आपके पिता की मृत्यु बचपन में ही हो गयी थी। आप की माता की कृपा से आप मिडिल तक हिन्दी और छठी सातवीं तक अंग्रेजी पढ़ सके थे। बचपन मे धर्म की ओर आपकी जरा भी रुचि नही थी। अंग्रेजी के पढ़े लिखे लडके प्रायः जिस मार्ग के पथिक होते है आप भी उसी पथ के पथिक थे। खेलना कूदना, मजा मौज, तम्बाकू सिगरेट पीना, शेर और चौबोला गाना आदि आपके दैनिक कृत्य थे। 19 वर्ष की अवस्था मे अजमेर में रेलवे के दफ्तर मे पन्द्रह रुपये महीने की नौकरी कर ली। उस समय आपको जैनधर्म से इतना भी प्रेम नही था कि कम से कम जिनमन्दिर मे दर्शन तो प्रतिदिन कर लिया करे। अजमेर में पडित मोहनलाल जी नाम के एक जैन विद्वान थे। एक बार उनसे आपका जैन मन्दिर में परिचय हुआ। उनकी संगति से आपका चित्त जैनधर्म की ओर आकर्षित हुआ और आप जैन ग्रन्थों का स्वाध्याय करने लगे। दो वर्ष के बाद आपने रेलवे की नौकरी छोड़ दी और रायबहादुर सेठजी मूलनन्द जी नेमिचन्द जी के यहाँ इमारत बनवाने के काम पर 20 रु. मासिक की नौकरी कर ली। आपकी ईमानदारी और होशियारी से सेठ जी प्रसन्न रहे। अजमेर में आप 6-7 वर्ष तक रहे। इस बीच आपका अध्ययन बराबर होता रहा। संस्कृत का ज्ञान भी आपको वहीं पर हुआ। वहाँ की जैन पाठशाला मे आपने लघुकौमुदी और जैनेन्द्रव्याकरण का कुछ अंश और न्यायदीपिका ये तीनो ग्रन्थ पढ़े थे। गोम्मटसार का अध्ययन भी आपने उसी समय शुरु कर दिया था। अजमेर के सुप्रसिद्ध प. मथुरादास जी और जैन प्रभाकर के वास्तविक सम्पादक बाबू बैजनाथ जी से आपका बहुत मेल-जोल रहता था।

कुशल व्यापारी - संवत् 48 में सेठ मूलचन्द जी जैनबद्री, मूडबद्री की यात्रा को निकले और आपको साथ लेते गए। लौटते समय आप बम्बई आये और यहाँ आप की तबियत ऐसी लग गयी कि फिर आपने यही रहने का निश्चय कर लिया। हिसाब किताब के काम में आप बहुत तेज थे। इस कारण यहाँ आपको एस. जे. टेलरी नाम की यूरोपियन कम्पनी में 45 रु मासिक की नौकरी मिल गयी। आपके काम से कम्पनी के मालिक बहुत खुश रहते थे। उन्होंने थोड़े ही समय में आपका वेतन 60 रु मासिक कर दिया। उसी समय आपकी माता जी का स्वर्गवास हो गया और आप बिना छुट्टी लिए ही आगरा चल दिए। फल यह हुआ कि आपको नौकरी से हाथ धोना पड़ा। इसके बाद आप फिर बम्बई आये और जुहारुमल मूलचन्द जी की दुकान पर मुनीम हो गए। कुछ समय पीछे एस. जी. टेलरी ने आपको फिर रख लिया। अब की बार आप ने कई वर्ष तक यह काम किया। सं. 51 में दिल्ली वाले लाला श्यामलाल जी जौहरी के साथ आप जवाहरात की कमीशन ऐजेन्ट का काम करने लगे। इस काम को आपने लगभग छह महीने तक किया, पर इसमें आपने अचौर्य और सत्य व्रत का पालन न होते देखकर आप इससे

अलग हो गए और गोपालदास लक्ष्मणदास के नाम से गल्ले का काम करने लगे। यथेष्ट लाभ न होने से पांच छह महीने बाद यह काम उठा दिया। संवत् 52 में पंडित धन्नालाल जी काशलीवाल के सांझे में आपने रुई, अलसी, चांदी आदि की दलाली का काम करना शुरु कर दिया और तीन चार वर्ष तक जारी रखा। संवत् 56 में इसी काम को आप स्वतन्त्र होकर करने लगे और दो वर्षों तक करते रहे।

बम्बई मे सेठ नाथारग जी गाधी के फर्म के मालिक सेठ रामचन्द्रनाथ जी से आपका अच्छा परिचय हो गया था। सेठजी बडे सज्जन और धर्मात्मा थे। स. 58 मे आपके ही साझे मे पडित जी ने मौरेना मे आढ़त की दुकान खोल ली और बम्बई का रहना छोड़ दिया। यह काम आपने कोई चार वर्ष तक किया गाधी नाथारग को जब मौरेना मे लाभ नही दिखाई दिया। तब उन्होने स. 62 मे शोलापुर बुला लिया और वहाँ लगभग आप दो वर्ष तक काम करते रहे। इसके बाद आप फिर मौरेना चले गए और वहाँ आपने सेठ हरिभाई देवकरण और सेठराव जी नानचन्द्र की सहायता से गोपालदास माणिकचन्द्र के नाम से स्वतत्र आढ़त की दुकान खोली। इस काम को करते हुए आपने 'माधव जीनिग फैक्टरी लिमिटेड' की स्थापना की। इस काम मे आपने बहुत परिश्रम किया पर कई कारणों से आपको दो वर्ष के बाद इससे सम्बन्ध छोडना पड़ा। इसके बाद आपने फिर गाधी नाथारग जी के साथ काम किया। स. 70-71 मे रायबहादुर सेठ कल्याणमल जी के और उनके बाद आपने रायबहादुर सेठ कस्तूरचन्द जी के साथ साझे मे काम किया।

जिस समय पडित जी अजमेर मे थे उस समय उनकी शादी हो चुकी थी। स. 45 मे आपको प्रथम पुत्र उत्पन्न हुआ जो अल्प समय ही जीवित रहा। स. 47 मे कौशल्या बाई और 49 मे चि. माणिकचन्द्र का जन्म हुआ। इसके बाद आपके कोई सन्तान पैदा नहीं हुई। भाई माणिकचन्द्र के बालमुकुन्द और चन्द्रभान नाम के दो पुत्र है।

सार्वजनिक जीवन - प. जी के सार्वजनिक जीवन का प्रारम्भ बम्बई से होता है यहाँ आपके और प. धन्नालाल जी के उद्योगो से मार्ग शीर्ष सुदी 14 सम्वत् 1949 को दिगम्बर जैन सभा की स्थापना हुई। प. धन्नालाल जी आपके अनन्य मित्रो से थे। लोग आप दोनो को दो शरीर एक प्राण कहा करते थे। प. धन्नालाल जी आपके प्रत्येक काम मे प्रधान सहायक थे। इसी वर्ष मे माघ मे श्रीमन्त सेठ मोहन लाल जी की ओर से खुराई (सागर) की सुप्रसिद्ध जिनबिम्ब प्रतिष्ठा हुई। इतना बड़ा जनसमूह शायद ही किसी मेले मे इकट्ठा हुआ होगा। दिगम्बर जैन समाज के प्रायः सभी धनी, मानी और पण्डितजन उपस्थित हुए थे। इस अवसर को बहुत ही उपयुक्त समझ कर बम्बई सभा ने आपको और पडित धन्नालाल जी को सम्पूर्ण दिगम्बर जैन समाज की एक महासभा स्थापित करने के लिए खुराई भेजा। इसके लिए वहाँ यथेष्ट प्रयत्न किया किया गया। परन्तु यह जानकर जम्बूस्वामी मथुरा के मेले मे महासभा की स्थापना का निश्चय हो चुका है, इन्हे लौट आना पड़ा। इसके बाद स. 50 के जम्बू स्वामी के मेले में भी बम्बई सभा ने इन्हे भेजा और उनके उद्योग से वहाँ पर महासभा का कार्य आपके ही द्वारा होता

रहा। स. 53 के लगभग भारतवर्षीय दिगम्बर जैन परीक्षालय स्थापित हुआ और उसका काम आपने बड़ी ही कुशलता से सम्पादन किया। इसके बाद आपने दिगम्बर जैनसभा बम्बई की ओर से जनवरी सन् 1900 मे (स. 56 के लगभग) जैन मित्र निकालना शुरु किया। यह पहले 6 वर्ष तक मासिक रुप मे और फिर संवत् 62 की कार्तिक सुदी से 2-3 वर्ष तक पाक्षिक रुप मे पण्डित जी के सम्पादकत्व मे निकलता रहा। सं. 1965 के 18वें अंक तक जैन मित्र के सम्पादन मे प. जी का नाम रहा। इसकी दशा उस समय के तमाम पत्रो मे अच्छी थी। इस कारण इसका प्राय: प्रत्येक आन्दोलन सफल होता था। स. 58 के असोज मे बम्बई प्रान्तीयसभा की स्थापना हुई और इसका पहला अधिवेश माघ सुदी 8 को अकलूज की प्रतिष्ठा पर हुआ। इसके मत्री का काम पण्डित जी करते थे और आगे बराबर आठ दस वर्ष तक करते रहे। प्रान्तीयसभा के द्वारा सस्कृत विद्यालय बम्बई, परीक्षालय, तीर्थक्षेत्र, उपदेश भण्डार आदि के जो-जो काम होते रहे है वे किसी से छिपे नही हैं।

बम्बई की दिगम्बर जैन पाठशाला स. 50 में स्थापित हुई थी। यह पाठशाला अब भी चल रही है। पडित जीवराम लल्लूराम शास्त्री के पास आपने परीक्षामुख, चन्द्रप्रभकाव्य और कातन्त्र व्याकरण इसी पाठशाला मे पढ़ा था।

जैन सिद्धान्त विद्यालय - कुण्डलपुर के महासभा के अधिवेशन में यह सम्मति हुई कि महाविद्यालय सहारनुपर से उठाकर मौरेना में पंडित जी के पास भेज दिया जाए। परन्तु पंडित जी का वैमनस्य मुशी चम्पतराय जी के साथ इतना बढ़ा हुआ था कि उन्होंने उनके नीचे में रहकर इस काम को स्वीकार नहीं किया। इसी समय उन्हें एक स्वतंत्र पाठशाला खोलकर काम करने की इच्छा हुई। आपके पास पं. बंशीधर जी कुण्डलपुर के मेले के पहले से ही पढ़ते थे। अब दो तीन विद्यार्थी और भी जैन सिद्धान्त का अध्ययन करने के लिए उनके पास जाकर रहने लगे। इन्हें छात्रवृत्तियां बाहर से मिलती थी। पंडित जी केवल इन्हें पढ़ा देते थे। इसके बाद कुछ विद्यार्थी और भी आ गए और एक व्याकरण का अध्यापक रखने की आवश्यकता हुई। जिसके लिए सबसे पहले सेठ सूरज जी शिवराम जी ने 30 रु मासिक सहायता देना स्वीकार किया। धीरे-धीरे छात्रों की संख्या इतनी हो गई कि पंडित जी को इसके लिए नियमित पाठशाला की स्थापना करनी पड़ी। यही पाठशाला आज 'जैन सिद्धान्त विद्यालय' के नाम से प्रसिद्ध है और इसके द्वारा जैन धर्म के बड़े-बड़े ग्रन्थों के पढ़ने वाले अनेक पण्डित तैयार हो गए। पाठशाला के साथ में एक छात्राश्रम भी है। छात्राश्रम और पाठशाला के लिए एक अच्छी इमारत लगभग दस हजार रुपयों की लागत की बन गई। पाठशाला का छात्राश्रम का वार्षिक खर्च उस समय कोई दस हजार रुपया था। यह सब रुपया पंड़ित जी चन्दे से वसूल करते थे।

उपाधियाँ- ग्वालियर स्टेट की ओर से पंड़ित जी को मौरेना में ऑनरेरी मजिस्ट्रेट का पद प्राप्त था। वहाँ के चेम्बर ऑफ कामर्स और पंचायती बोर्ड के भी आप मेम्बर थे। बम्बई प्रान्तीय सभा ने आप को 'स्याद्वादवारिधि', इटावा की 'जैनतत्वप्रकाशिनी सभा' ने आपको 'वादिभ

केशरी' और कलकत्ते के गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज के पण्डितों ने 'न्याय वाचस्पति' पदवी प्रदान की थी। सन् 1912 में दक्षिण जैनसभा ने आपको वार्षिक अधिवेशन का सभापति बनाया था। और आपका बहुत सम्मान किया था।

अगाध पांडित्य - पण्डित जी की पठित विद्या बहुत ही थी। जिस संस्कृत के वे पंडित कहलाये, उसका उन्होंने कोई एक भी व्याकरण अच्छी तरह नहीं पढ़ा था। गुरु मुख से तो उन्होंने बहुत ही कम नाममात्र को पढ़ा था। तब वे इतने बडे विद्वान कैसे हो गए? इसका उत्तर यह है कि उन्होंने स्वावलम्बनशीलता और निरन्तर अध्ययन से पाण्डित्य प्राप्त किया था। पण्डित जी जीवन भर विद्यार्थी रहे। उन्होंने जो कुछ ज्ञान प्राप्त किया वह अपने ही अध्ययन के बल पर, और इस कारण उनका मूल्य रटे हुए या थोपे हुए ज्ञान से बहुत अधिक था। उन्हें लगातार दस वर्ष तक बीसों विद्यार्थियों को पढ़ाना पडा और उनकी शंकाओं का समाधान करना पड़ा। विद्यार्थी प्रौढ़ थे। कई न्यायाचार्य और तार्किकों ने भी आपके पास पढ़ा है। इस कारण प्रत्येक शंका पर आपको घण्टों परिश्रम करना पड़ा था। जैन धर्म के प्राय: सभी बड़े -बड़े उपलब्ध ग्रन्थों को उन्हें आवश्यकताओं के कारण पढ़ना पड़ा। इसी का यह फल हुआ कि उनका पाण्डित्य असामान्य हो गया। वे न्याय और धर्मशास्त्र के अद्वितीय विद्वान थे और इस बात को न केवल जैनों ने किन्तु कलकत्ते के बडे-बडे महा-महोपाध्यायों और तर्क वाचस्पतियों ने भी माना। विक्रम की बीसवीं शताब्दी के आप सबसे बडे पण्डित थे, आपकी प्रतिभा और स्मरण शक्तिविलक्षण थी।

व्याख्यान कला - पंडित जी की व्याख्यान देने की शक्ति भी बहुत अच्छी थी। यह भी आपको अभ्यास के बल पर प्राप्त हुई थी। आपके व्याख्यानों में यद्यपि मनोरंजकता नहीं रहती थी और जैन सिद्धान्तों के सिवाय अन्य विषयों पर आप बहुत कम ही बोलते थे। फिर भी आप लगातार दो दो, तीन-तीन घण्टे तक व्याख्यान दे सकते थे। आपके व्याख्यान विद्वानों के लिए उपयोगी हुआ करते थे। वाद या शास्त्रार्थ करने की शक्ति आप में बडी विलक्षण थी। जब जैन तत्व प्रकाशिनी सभा इटावा के दौरे शुरु हुए और उसने पंडित जी को अपना अग्रगामी बनाया, तब पंडित जी की इस शक्ति का बहुत ही विकास हुआ। आर्य समाज के कई बड़े बड़े शास्त्रार्थ में आपकी वास्तविक विजय हुई और उस विजय को प्रतिपक्षियों ने स्वीकार किया। बड़े से बडा विद्वान आपके आगे बहुत समय तक नहीं टिक सकता था। आपको अपनी इस शक्ति का अभिमान था। कभी-कभी आप कहा करते थे मैं अमुक-अमुक महामहोपाध्यायों को भी बहुत जल्दी पराजित कर सकता हूँ परन्तु क्या करुं उनके सामने घंटों तक धारा प्रवाह संस्कृत बोलने की शक्ति मुझ में नहीं है। पंडित जी संस्कृत में बातचीत कर सकते थे और अपने छात्रों के साथ तो वे घंटों बोला करते थे। परन्तु व्याकरण इतना शुद्ध नहीं था कि वे इसकी सहायता से शुद्ध संस्कृत के प्रयोग औरों के सामने निर्भय होकर करते।

रचनाएं - पंडित जी की अच्छी लेखनशक्ति थी। यद्यपि अन्यान्य कार्यों में फंसे रहने के कारण उनकी इस शक्ति का विकास नहीं हुआ फिर भी हम उन्हें जैनसमाज के अच्छे लेखक

कह सकते है। उनके बनाये हुए तीन ग्रन्थ है। "जैन सिद्धान्त दर्पण", "सुशीला उपन्यास" और जैन "सिद्धान्त प्रवेशिका"। जैन सिद्धान्त दर्पण का एक ही भाग है। यदि उसके आगे के भी भाग लिखे गये होते, तो जैन साहित्य में यह अनुपम ग्रन्थ होता। यह पहला भाग भी बहुत अच्छा है। प्रवेशिका जैन धर्म के विद्यार्थियों के लिए एक छोटे से पारिभाषिक कोष का काम देती है। इसका बहुत प्रचार है। सुशीला उपन्यास उस समय लिखा गया था जब हिन्दी में अच्छे उपन्यासों का एक तरह से अभाव ही था और आश्चर्यजनक घटनाओं के बिना उपन्यास ही नहीं समझा जाता था, उस समय की दृष्टि से इसकी गणना अच्छे उपन्यासों में ही जा सकती है। इसके भीतर जैन धर्म के कुछ गम्भीर विषय डाल दिए गए है, जो एक उपन्यास में नहीं चाहिए थे। फिर भी वे बड़े महत्व के है। इन तीन पुस्तक के सिवाय पंडित जी ने सर्वधर्म जैन जॉगरफी आदि कई छोटे-छोटे ट्रैक्ट भी लिखे थे।

चारित्रिक दृढ़ता - पंडित जी का चारित्र बड़ा ही उज्ज्वल था। इस विषय में वे पंडित मंड़ली में अद्वितीय थे। उन्होंने अपने चरित्र से दिखला दिया था कि संसार में व्यापार भी सत्य और अचौर्यव्रत को दृढ़ रखकर किया जा सकता है। यद्यपि इन दो व्रतों के कारण उन्हें बार-बार असफलताएं हुई फिर भी उन्होंने इन व्रतों को मरणपर्यन्त अखंड रखा। कड़ी परीक्षाओं में भी आप इन व्रतों से नहीं डिगे। एक बार मंड़ी में आग लगी और उसमें आप का तथा दूसरे व्यापारियों का माल जल गया। माल का बीमा बिका हुआ था। दूसरे लोगों ने बीमा कम्पनियों से उस समय खूब रुपये वसूल किये, जितना माल था, उससे भी अधिक का बतला दिया। आप से भी कहा गया। आप भी उस समय अच्छी कमाई कर सकते थे। पर आपने एक कौड़ी भी अधिक नहीं ली। रेलवे और पोस्ट आफिस का यदि एक पैसा भी आपके यहाँ भूल से अधिक आ जाता था तो उसे वापिस किये बिना आपको चैन नहीं पड़ती थी। रिश्वत देने का आपको त्याग था इसके कारण आपको कभी-कभी कष्ट उठाना पड़ता था पर आप उसे चुपचाप सह लेते थे।

पंडित जी को कोई भी व्यसन नहीं था। खाने पीने की शुद्धता पर आपको अत्यधिक ख्याल था। खाने पीने की अनेक वस्तुएं आपने त्याग रखी थी। इस विषय में आपका व्यवहार बिल्कुल पुराने ढंग का था। आपका रहन सहन बहुत ही सादा था। कपड़े आप इतने मामूली पहनते थे कि अपरिचित लोग आपको कठिनाई से पहचान सकते थे।

धर्मकार्यों के द्वारा आपने अपने जीवन में कभी एक पैसा भी नहीं लिया। यहाँ तक कि इसके कारण आप अपने प्रेमियो को दुखी तक कर दिया करते थे, पर भेंट या विदाई तो क्या, एक दुपट्टा या कपडे का टुकड़ा भी ग्रहण नहीं करते थे। हाँ जो कोई बुलाता था, उससे आने-जाने का किराया ले लिया करते थे।

उत्साह और लगन- पंडित जी में अत्यधिक उत्साह और विलक्षण काम करने की लगन थी अन्तिम दिनों में उनका शरीर बहुत ही शिथिल हो गया था पर उनके उत्साह में जरा भी

अन्तर नहीं पड़ा था वे धुन के पक्के थे। जो काम उन्हें जंच जाता था उसे वे करके ही छोड़ते थे। उनके उत्साह में जरा भी अन्तर नहीं पड़ता था। उन्हें अपनी शक्तियों पर विश्वास था इसलिए वे कठिन से कठिन कार्य में हाथ डाल देते थे। मौरेना की पाठशाला का भवन उनके इसी गुण के कारण बना था। लोग नहीं चाहते थे कि मौरेना जैसे अयोग्य स्थान में भवन जैसा स्थायी काम हो, पर उन्हें विश्वास था कि पाठशाला का ध्रुव फंड एक लाख रुपये का हो जायेगा और तब मौरेना में भी पाठशाला का काम मजे से चलता रहेगा। कहते है कि पंडित जी अन्तिम समय तक यह कहते रहे कि यदि एक बार अच्छा हो जाऊँ तो एक लाख रुपया पूरा कर डालूं और फिर सुख से परलोक की यात्रा करूँ।

निर्भीकता - पंडित जी जिस बात को सत्य मानते थे, उसके कहने में उन्हें जरा भी संकोच या भय नहीं होता था। खतौली के दस्सा और बीसा अग्रवालों के बीच में जो पूजा के अधिकार के सम्बन्ध में मामला चला था उसमें आपने निर्भीक होकर साक्षी दी थी कि दस्सों को पूजा करने का अधिकार है। जैन जनता का विश्वास इसके बिल्कुल उल्टा था, परन्तु आपने इसकी जरा सी भी परवाह नहीं की। इस विषय को लेकर कुछ 'धर्मात्माओं' और सेठों ने बड़ा शोर मचाया, पंडित जी को हर तरह से बदनाम करने की कोशिशें की, परन्तु अन्त में जनता ने पंडित जी के न्याय को समझ लिया और वह शान्त हो गयी। इसके बाद 'मांसभोजी भी सम्यग्दृष्टि हो सकता है या नहीं' इस विषय में भी पंडित जी ने एक 'अप्रिय सत्य कहा था, और उस पर भी बडी उछल कूद मची थी। इस विषय में वे जैनसमाज के वर्तमान पंडितों से बहुत ऊंचे थे। पंडित जी बडे निर्भीक थे। चापलूसी और खुशामद से उन्हें चिढ़ थी। वे बड़े-बड़े लखपतियों और करोडपतियों को उनके मुँह पर खरी-खरी सुना दिया करते थे। इसी स्वभाव के कारण अनेक धनी उनके शत्रु बन गए थे।

प्रगाढ़ श्रद्धा - जैन ग्रन्थों पर पण्डित जी की प्रगाढ़श्रद्धा थी, बल्कि सत्य के अनुरोध से कहना पड़ेगा कि अपेक्षा से ज्यादा थी। एक बार आप ने जोश में आकर यहाँ तक कह डाला कि यदि कोई पुरुष जैन भूगोल को असत्य सिद्ध कर देगा, तो मैं उसी दिन जैनधर्म का परित्याग कर दूँगा। इससे पाठक जान सकेगे कि उनकी श्रद्धा कितनी बढ़ी चढ़ी हुई थी इस श्रद्धा के अतिरेक के कारण ही जैन पाठशालाओं के कोर्स के द्वार पर 'दिगम्बर जैन धर्म से अविरुद्ध' को मजबूत अर्गला लगाई गई थी। पंडित जी नहीं चाहते थे कि किसी भी जैन पाठशाला में कोई ऐसी पुस्तक पढाई जाये जो जैनधर्म के विरुद्ध हो। उन्होंने अपने विद्यालय में भूगोल, इतिहास आदि विषयों को कभी जारी नहीं होने दिया। अजैनों के संस्कृत ग्रन्थ भी, यहाँ तक कि व्याकरण, काव्य नाटक आदि भी पढ़ना पसन्द नहीं था। काशी की पाठशाला के विद्यार्थी गवर्नमेन्ट की संस्कृत परीक्षा के ग्रन्थ पढ़ा करते थे। इस पर पण्डित जी ने जैन मित्र में 'काशी का कटुक फल' शीर्षक से बड़ा ही कड़ा लेख लिखा था। सिद्धान्त विद्यालय के किसी भी विद्यार्थी ने विद्यालय में रहते हुए कोई भी सरकारी परीक्षा नहीं दी।

पण्डितजी अपनी विचार शक्ति के बल पर पदार्थ का स्वरुप इस ढंग से बतलाते थे कि उसमे एक नूतनता मालूम होती थी। उन्होने जैन सिद्धान्तो की ऐसी अनेक गाठें सुलझाई थी जो असाधारण थी। वे गोम्मटसार के प्रसिद्ध टीकाकार पं. टोडरमल जी की भी कई सूक्ष्म भूलें बतलाने में समर्थ हुए थे। जैन भूगोल के विषय मे उन्होंने जितना विचार किया था और इस विषय को सच्चा समझने के लिए जो-जो कल्पनाए की थी, वे बड़ी ही कौतूहलवर्धक थी। एक बार उन्होने उत्तर ध्रुवो की छह महीने की रात दिन को भी जैनभूगोल के अनुसार सत्य सिद्ध करने का यत्न किया था। वर्तमान के यूरोप आदि देशो को उन्होने भरत क्षेत्र मे ही सिद्ध किया था और शास्त्रोक्त लम्बाई चौड़ाई से वर्तमान का मेल न खाने का कारण पृथ्वी का वृद्धि ह्रास या घटना बढ़ना 'भरतैरावतयोर्वृद्धि ह्रासौ' आदि सूत्र के आधार से बतलाया गया था। यदि पंडित जी के विचारो का क्षेत्र केवल अपने ग्रन्थो की ही परिधि के भीतर कैद न होता, तो सारे ही जैन ग्रन्थो को प्राचीनो और अप्राचीनो को वे केवली भगवान की दिव्य ध्वनि के सदृश न समझते होते तो वे इस समय के एक अपूर्व विचारक होते, उनकी प्रतिभा जैनधर्म पर एक अपूर्व ही प्रकाश डालती और उनके द्वारा जैनसमाज का आशातीत कल्याण होता।

निस्वार्थ सेवा - पंडित जी की प्रतिष्ठा और सफलता का सबसे बड़ा कारण उनकी नि:स्वार्थ सेवा का या परोपकारशीलता का भाव था। एक इसी गुण से वे इस समय के सबसे बड़े पंडित कहलाये। जैनसमाज के लिए उन्होंने अपने जीवन मे जो कुछ किया उसका बदला कभी नहीं चाहा। जैनधर्म की उन्नति हो, जैन सिद्धान्त के जानने वालों की संख्या बढ़े, केवल इसी भावना से उन्होंने निरन्तर परिश्रम किया। अपने विद्यालय का प्रबन्ध सम्बन्धी तमाम काम करने के सिवाय अध्यापन कार्य भी उन्हें करना पड़ता था। शायद ही कोई दिन ऐसा जाता होगा जिस दिन पंडित जी को अपने कम से कम चार घंटे विद्यालय के लिए न देने पडते हो। जिन दिनों पंडित जी का व्यापार सम्बन्धी कार्य बढ़ जाता था और उन्हें समय नहीं मिलता था, उस समय बड़ी भारी थकावट हो जाने पर भी वे कभी-कभी 10-11 बजे रात को विद्यालय मे आते थे। गत कई वर्षों से पंडित जी का शरीर बहुत शिथिल हो गया था। फिर धर्म के लिए काम करते थे तथा बड़े-बड़े लम्बे लम्बे सफर करने में भी नहीं चूकते थे।

पंडित जी की नि:स्वार्थ वृत्ति और ईमानदारी पर लोगों को दृढ़ विश्वास था। यही कारण है जो बिना किसी स्थिर आमदनी के वे विद्यालय के लिए लगभग दस हजार रुपया साल की सहायता प्राप्त कर लेते थे।

कौटुम्बिक विपदाएं - पंडित जी को, जहाँ तक हम जानते है कुटुम्ब सम्बन्धी सुख की कभी प्राप्ति नहीं हुई। इस विषय में हम उन्हें ग्रीस के प्रसिद्ध विद्वान सुकरात के समकक्ष समझते है। पंडितजी का स्वभाव बहुत ही कर्कश, क्रूर, कठोर, जिद्दी और अर्धविक्षिप्त था। जहाँ पण्डित जी को लोग देवता समझते थे, वहाँ पंडितानी जी उन्हें कौडी काम का आदमी नही समझती थी। वे उन्हें बहुत तंग करती और इस बात का जरा भी ख्याल नहीं रखती थी कि मेरे व्यवहार

से पंडित जी की कितनी अप्रतिष्ठा होती होगी। कभी-कभी पंडितानी जी का धावा विद्यालय पर भी होता था और उस समय छात्रों तक की भी शामत आ जाती थी। पंडित जी जब आगरे में बहुत सख्त बीमार थे, तब पंडितानी जी की विक्षिप्तता इतनी बढ़ गयी थी कि छात्रों को उनके आक्रमण से पंडित जी का जीवन बचाना भी कठिन हो गया था। वे बड़ी मुश्किल से पिंड छुडाकर उन्हें अपने घर से बेलनगंज ले गए थे। सारा समाज आज जिस के लिए रो रहा है, उनके लिए पंडितानी जी की आंख से शायद एक आंसू भी न पड़ा होगा। इस अप्रिय कथा के उल्लेख करने का कारण यह हैं कि पंडित जी इस निरन्तर यातना को, कलह को उपद्रव को बड़ी धीरता से बिना उद्वेग के भोगते थे और अपने कर्त्तव्य में जरा भी शिथिलता नहीं आने देते थे और यह पण्डित जी का अनन्य साधारण गुण था। पण्डित जी को गृहस्थ जीवन दार्शनिक सुकरात जैसा था।

सुकरात के जीवन का उदाहरण है। सुकरात की स्त्री खिसियानी हुई बैठी थी सुकरात कई दिनों बाद घर आये। खाने पीने की वस्तुओं का इन्तजाम किये बिना ही वे घर से चलेगए थे और कही लोकोपकारी व्याख्यानादि देने में लग कर घर की चिन्ता भूल गए थे। पहले तो श्रीमती ने बहुत सा गर्जन तर्जन किया, पर जब उसका कोई भी फल नहीं हुआ तब उनका वेग निःसीम हो गया और उसने बर्फ जैसे पानी का एक घड़ा उस शीतकाल में सुकरात के ऊपर औंधा दिया। सुकरात ने हंस कर कह दिया कि गर्जन के बाद वर्षण तो स्वाभाविक ही है, पंडित जी के यहाँ इस प्रकार की घटनाएं अक्सर हुआ करती थी और पंड़ित जी उन्हें सुकरात के ही समान चुपचाप सहन किया करते थे। विद्यालय से पण्डित जी को बहुत मोह हो गया था। उसे तो वे अपन सर्वस्व समझते थे। पण्डित जी बडे ही स्वाभिमानी थे। किसी से एक पैसे की भी याचना करना उनके स्वभाव के विरुद्ध था।

अन्य विशेषताएं - पंडित जी बहुत सीधे और भोले थे। उनके भोलेपन से धूर्त लोग अक्सर लाभ उठाया करते थे। एकाग्रता का उन्हें बहुत ही ज्यादा अभ्यास था चाहे जैसा कोलाहल हो और अशान्ति के स्थान में वे घण्टों तक विचारों में लीन रह सकते थे। स्मरणशक्ति भी उनकी बड़ी विलक्षण थी। बरसों की बातें वे अक्षर-अक्षर याद रख सकते थे। विदेशी रीति रिवाजों से उन्हें अरुचि थी। जब तक कोई बहुत जरुरी काम न पड़ता था तब तक वे अंग्रेजी का उपयोग नहीं करते थे। हिन्दी से उन्हें बहुत ही ज्यादा प्रेम था। अन्य पण्डित जी के समान वे इसे तुच्छ दृष्टि से नहीं देखते थे। उनके विद्यालय की लायब्रेरी में हिन्दी की अच्छी-अच्छी पुस्तकों का संग्रह था। पण्डित जी बडे देशभक्त थे। स्वदेशी आन्दोलन के समय अपने जैनमित्र के द्वारा जैनसमाज में अच्छी जागृति उत्पन्न की थी।

महाकवि भूधरदास

हिन्दी भाषा के जैन कवियों में महाकवि भूधरदास का नाम उल्लेखनीय है। कवि आगरा निवासी थे और इनकी जाति खण्डेलवाल थी। इसके अधिक इनका परिचय प्राप्त नहीं होता है। इनकी रचनाओं के अवलोकन से यह अवश्य ज्ञात होता है कि कवि श्रद्धालु और धर्मात्मा था।

कविता करने का अच्छा अभ्यास था। कवि के कुछ मित्र थे, जो कवि से ऐसे सार्वजनीक सहित्य का निर्माण कराना चाहते थे, जिसका अध्ययन कर साधारणजन भी आत्मसाधना और आचार तत्त्व को प्राप्त कर सके। उन्हीं दिनों आगरा मे जयसिंह सवाई सूबा और हकीम गुलाबचन्द वहाँ आये। शाह हरिसिंह के वंश में जो धर्मानुरागी मनुष्य थे उनकी बार-बार प्रेरणा से कवि के प्रमाद का अन्त हो गया और कवि ने विक्रम स. 1871 मे पौष कृष्णा त्रयोदशी के दिन अपना शतक नामक ग्रन्थ रचकर समाप्त किया।

कवि के हृदय मे आत्मकल्याण की तरंग उठती थी और विलीन हो जाती थी, पर वह कुछ नहीं कर पाते था। अध्यात्मगोष्ठी मे जाना और चर्चा करना नित्य का काम था।

इनकी रचनाओ से इनका समय वि. सं. की 18 वीं शती (1781) सिद्ध होता है।

रचनाएं - महाकवि भूधरदास ने पार्श्वपुराण, जिनशतक और पद-साहित्य की रचना कर हिन्दी-साहित्य को समृद्ध बनाया है। इनकी कविता उच्च-कोटि की होती है।

1. **पार्श्वपुराण** - यह एक महाकाव्य है। इसकी कथा बड़ी ही रोचक और आत्मपोषक है। किस प्रकार वैर की परम्परा प्राणियों के अनेक जन्म जन्मान्तरों तक चलती रहती है, यह इसमें बड़ी ही खूबी के साथ बतलाया गया है।
2. **जैन-शतक** - इस रचना मे 107 कवित्त, दोहे, सवैये और छप्पय है। कवि ने वैराग्य जीवन के विकास के लिए इस रचना का प्रणयन किया है। वृद्धावस्था, ससार की असारता, काल सामर्थ्य, स्वार्थपरता, दिगम्बर मुनियो की तपस्या, आशा-तृष्णा, नग्नता आदि विषयो का निरुपण बडे ही अद्‌भुत ढग से किया है। कवि जिस तथ्य प्रतिपादन करना चाहता है उसे स्पष्ट और निर्भय होकर प्रतिपादित करता है। नीरस और गूढ़ विषयो का निरुपण भी सरस एवं प्रभावोत्पादक शैली मे किया गया है। कल्पना, भावना और विचारों का समन्वय सन्तुलित रुप में हुआ है। आत्म-सौन्दर्य का दर्शन कर कवि कहता है कि संसार के भोगो में लिप्त प्राणी अहर्निश विचार करता रहता है कि जिस प्रकार भी संभव हो उस प्रकार मै धन एकत्र कर आनन्द भोगूँ। मानव नाना प्रकार के सुनहले स्वप्न देखता है और विचारता है कि धन प्राप्त होने पर ससार के समस्त अभ्युदयजन्य कार्यों को सम्पन्न करुँगा, पर उसकी धनार्जन की यह अभिलाषा मृत्यु के कारण अधूरी ही रह जाती है। यथा -

चाहत है धन होय किसी विध, तो सब काज करे जिय राजी।
गेह चिनाय करुं गहना कुछ, ब्याहि सुता सुत बांटिय भाजी।।
चिन्तत यों दिन माहिं चले, जम आनि अचानक देत दगाजी।
खेलत खेल खिलारिगए, रहि जाए यूं ही शतरंज की बाजी।

3. **पद साहित्य-** महाकवि भूधरदास की तीसरी रचना पद-सग्रह है। इनके पदों को - 1. स्तुतिपरक 2. जीव के अज्ञानावस्था के कारण परिणाम और विस्तार सूचक 3. आराध्य की शरण के दृढ़ विश्वास सूचक 4. अध्यात्मोपदेशी 5. ससार और शरीर से विरक्ति उत्पादक 6. नाम स्मरण के महत्त्व द्योतक और 7. मनुष्यत्वके पूर्ण अभिव्यञ्जक इन सात वर्गो मे विभक्त किया जा सकता है। इन सभी प्रकार के पदों में शाब्दिक कोमलता, भावों की मादकता और कल्पनाओ का इन्द्रजाल समन्वित रुप मे विद्यमान है। इनके पदो में राग-विरागता गगा-यमुनी सगम होने पर भी श्रृगारिकता नही है। कई पद सूरदास के पदो के समान दृष्टिकूट भी है। "जगत्-जन जुआ हार चले" पद मे भाषा की लाक्षणिकता और काव्योक्तियो की विदग्धता पूर्णतया समाविष्ट है। 'सुनि ठगनी माया। ते सब जग ठग खाया' पद कबीर के "माया महा ठगनी हम जानी' पद से समकक्षता रखता है। इसी प्रकार "भगवन्त भजन क्यो भूला रे। यह ससार रैन का सुपना, तन धन वारि बबूला रे' पद 'भजु मन जीवन नाम सबेरा' कबीर के पद के समकक्ष है। 'चरखा चलता नाहीं, चरखा हुआ पुराना' आदि आध्यात्मिक पद कबीर के 'चरखा चलै सुरत विरहिन का ' पद के तुल्य है। इस प्रकार भूधरदास के पद जीवन मे आस्था, विश्वास की भावना जागृत करते है।

वरं व्रतैः पदं दैवं नाव्रतैर्वत नारकं।
छायातपस्थयोर्भेदः प्रतिपालयतो र्महान॥

अव्रत अवस्था मे मरण कर नरकों में जाने की अपेक्षा व्रत पालन कर स्वर्ग में जाना श्रेष्ठ है क्योंकि रास्ते मे छाया में और धूप मे बैठने वालो में बड़ा भारी अन्तर हैं।

चतुर्थ अध्याय : जैनदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन

भारतीय दर्शनों का वैदिक और अवैदिक दर्शनो के रूप में विभाजन किया गया है। न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, मीमाँसा और अद्वैत वेदान्त वैदिक दर्शन है तथा चार्वाक, जैन एव बौद्ध अवैदिक दर्शन हैं। स्वतंत्र रूप में वैदिक दर्शन न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमासा और अद्वैत-वेदान्त षड्दर्शन नाम से भी अभिहित किये जाते हैं। जगत्स्रष्टा के रूप में ईश्वर की सत्ता स्वीकारने की दृष्टि से आस्तिक और ईश्वर की सत्ता नकारने की दृष्टि से नास्तिक के रूप मे भी कहीं कहीं पर भारतीय दर्शनों का विभाजन दृष्टिगोचर होता है। इस दृष्टि से चार्वाक्, जैन, बौद्ध और मीमांसक नास्तिकदर्शन तथा अन्य न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, और वेदान्त आस्तिक दर्शन कहे जाते हैं। यहाँ सभी भारतीय दर्शनो का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत है -

जैन-दर्शन

अन्य धर्म दर्शनों की तरह जैनधर्म और दर्शन अलग-अलग न होकर परस्पर अनस्यूत है। तीर्थङ्करो की वाणी के आलोक में पूर्व से अद्यावधि समग्र चिन्तन की धारा अविच्छन्न रुप से प्रवाहित होती रहीं। जैनो का दिगम्बर और श्वेताम्बर विभाग आचार के आधार पर उद्भूत है। अल्प वैचारिक मतभेद विकास का द्योतक है। मूलधारा की दृष्टि दिगम्बरो के मूल ग्रन्थ षट्खण्ड़ागम, कषायपाहुड़, महाबन्ध, समयसार, प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, नियमसार आदि हैं तथा श्वेताम्बरों के स्थानाग, सूत्रकृतांग, समवायांग, आदि ग्यारह आगम हैं। उमास्वामी द्वारा रचित तत्त्वार्थसूत्र दोनो परम्पराओ मे समान रुप से स्वीकृत है। यद्यपि उपर्युक्त साहित्य में जैनदर्शन के सम्पूर्ण बीज निहित है, परन्तु-दिगम्बर परम्परा में जैनदर्शन का सुव्यवस्थित इतिहास आचार्य कुन्दकुन्द की परम्परा के ईसा की दूसरी शताब्दी मे हुए आचार्य समन्तभद्र से प्रारम्भ होता है। वस्तुत: कहा जाए तो आचार्य समन्तभद्र न केवल जैनदर्शन न्याय के जनक है, बल्कि पौराणिक सन्दर्भो तथा आचारविषयक सिद्धांतों के भी जनक एवं व्यवस्थापक है।

आचार्य समन्तभद्र द्वारा रचित आप्तमीमांसा, युक्त्यनुशासन, स्वयम्भूस्तोत्र, रत्नकरण्ड़श्रावकाचार और जिनशतक ये पांच कृतिया वर्तमान में उपलब्ध हैं। आचार्य समन्तभद्र के पश्चात् सिद्धसेन, माणिक्यनन्दि, पात्रकेशरी, पूज्यपाद, अकलंक, विद्यानन्द आदि महान आचार्यों की परम्परा ने आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा स्थापित नींव पर दर्शन का विशाल प्रासाद निर्मित किया। अनेकान्तवाद, स्याद्वाद, अहिसा, अपरिग्रह, जैनदर्शन के मूल सिद्धान्त है, जिनके प्रकाश में प्रमाण, नय और सप्तभङ्गी द्वारा जीव और जगत को समझने का प्रयत्न किया गया है। संसार कर्मजनित है। कर्मों के पूर्ण क्षय के अभाव में होने वाला मोक्ष जैनदर्शन का परमलक्ष्य अथवा परमपुरुषार्थ है।

आजीवक दर्शन

महावीर के समय में 363 मतवाद प्रचलित थे। उनमें आजीवक मंखली गोशाल, पूरण

कश्यप, अजित केश कृम्बल, प्रकुद्ध कत्यायन और सजय बेलद्धि पुत्र थे। जिनके क्रमशः नियतिवाद, अक्रियावाद, उच्छेदवाद, अन्योन्यवाद, तथा विक्षेपवाद सिद्धान्त माने जाते हैं।

चार्वाक दर्शन

चार्वाक दर्शन के सस्थापक बृहस्पति माने जाते है। इनका कोई स्वतंत्र ग्रन्थ नहीं है, परन्तु सभी वैदिक अवैदिक दर्शनो मे लोकयत, लोकायतिक, चार्वाक्क, पुरन्दर, बार्हस्पत्य आदिनामों से चार्वाक का उल्लेख पाया जाता है। चार्वाक, पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन चार तत्त्वों को भूतचतुष्टय कहते है। उनका कहना है कि इन चार तत्त्वो के मिलने से चैतन्य की उत्पत्ति हो जाती है जैसे कि गोबर आदि से बिच्छू उत्पन्न हुए देखे जाते है।

यह शरीर को ही आत्मा मानता है। जन्म के पहले और मरण के अनन्तर आत्मा नाम की कोई चीज नही है। परलोक, ईश्वर, स्वर्ग, नरक आदि कुछ भी नहीं है। जो प्रत्यक्ष मे दिखता है उसके सिवाय कुछ भी नही है अतः प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है। यह सर्वज्ञ आदि के अस्तित्व को भी नही मानता है। अतः नास्तिकवादी कहलाता है।

इस पर जैनाचार्यो का कहना है कि पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु ये सर्वथा अचेतन हैं। गोबर आदि मे तिर्यञ्चगति, त्रीन्द्रिय जाति आदि नामकर्म के उदय से अनादि चैतन्य सत्ता वाला जीव आकर जन्म लेता है। जाति स्मरण आदि निमित्तो से जीव के परलोक का अस्तित्व और जीव का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। इसी तरह आत्मा का अस्तित्व सिद्ध हो जाने से सर्वज्ञ आदि की भी सिद्धि हो जाती है।

भूतचैतन्यवाद, प्रत्यक्षैकप्रमाणवाद और अर्थकामाचारवाद इसके प्रमुख सिद्धान्त है। ये आत्मा, परमात्मा, स्वर्ग नरक, पाप-पुण्य आदि को नही मानते। इनके बारे मे प्रसिद्ध है -

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥

अर्थात् जब तक जीना है सुख पूर्वक जियो और ऋण लेकर घृत पिओ, क्योंकि भस्मीभूत देह का पुनरागमन नहीं होता।

बौद्धदर्शन

बौद्धदर्शन का मौलिक सिद्धान्त है 'सर्व क्षणिक सत्त्वात्' सभी पदार्थ क्षणिक हैं क्योंकि सत्रूप है।

बौद्धो के उपास्य भगवान् बुद्ध है। इनके यहाँ आत्मा का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। किन्तु रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार और विज्ञान इन पांच स्कन्धो के समुदाय को ही आत्मा माना है।

बौद्धो के चार भेद हैं - **माध्यमिक** - बाह्य अभ्यन्तर समस्त वस्तु को शून्य रूप मानने वाले, **योगाचार** - बाह्य वस्तु का अभाव मानने वाले, **सौत्रांतिक** - बाह्य वस्तु को अनुमान ज्ञान का विषय मानने वाले, **वैभाषिक** - बाह्य वस्तु को प्रत्यक्ष मानने वाले।

ये चारों ही **बौद्ध** वस्तु को सर्वथा क्षणिक मानते हैं। एक समय मात्र अवस्थित मानते हैं। जैनाचार्यों ने सूक्ष्म ऋजुसूत्र नय से वस्तु की अर्थपर्याय को एक क्षण अवस्थित माना है। उसी का एकान्त लेकर के **बौद्ध** ने द्रव्य को ही क्षणिक मान लिया है।

ईसा पूर्व 636 शताब्दी मे उत्पन्न बुद्ध के उपदेश मागधी-पाली भाषा में हुए। जिनका मौलिक रूप त्रिपिटको -सुत्तपिटक, विनयपिटक और अभिधर्मपिटक में पाया जाता है। इन्ही ग्रन्थों के आधार पर उत्तरकालीन विद्वानो ने अनेक व्याख्या ग्रन्थो की रचना की, जिसमें बौद्ध दार्शनिक दृष्टिकोण को समझा जा सकता है। ग्रन्थों से यह विदित होता है कि बुद्ध युक्तिवादी और व्यावहारिक थे। वे आध्यात्मिक विषय के जटिल प्रश्नों को सुनकर मौन हो जाते थे या अव्याहारिक कहकर टाल देते थे। उनका मुख्य लक्ष्य प्राणियों को ससारिक दु:खों से मुक्ति दिलाना था। यही कारण है कि उन्होंने अपने शिष्य समुदाय को बहुतजनहितार्थ शिक्षाएं प्रदान की। चार आर्य सत्य अष्टागमार्ग उनकी शिक्षाओं के महत्त्वपूर्ण तत्व हैं। दु:ख आर्यसत्य, समुदय आर्यसत्य, निरोध आर्यसत्य और मार्ग आर्य सत्य ये चार आर्यसत्य हैं। सम्यग्दृष्टि, सम्यक्संकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि ये अष्टाग मार्ग हैं। प्रतीतसमुत्पाद, अनात्मवाद, क्षणिकवाद, शून्यवाद, विज्ञानवाद आदि बौद्धदर्शन के प्रतिफलित सिद्धान्त है। हीनयान और महायान के रूप में इनके दो सम्प्रदाय हैं।

वैदिक दर्शन

श्रमण परम्परा मे वेदो को पौरुषेय माना गया है, परन्तु वैदिक परपरा में वेद अपौरुषेय हैं, अर्थात् वेद किसी के द्वारा रचित न होकर ईश्वरीय देन हैं जो ऋषियों की महान् परम्परा में मौखिक रूप से प्राप्त है। वेदत्रयी ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद इन तीन वेदों को मूल और अत्यन्त प्राचीन माना गया है, चौथे वेद के रुप मे अथर्ववेद को बाद की रचना स्वीकार किया गया है इन सभी को चार भागों मे विभाजित किया गया है संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्।

उपर्युक्त सभी वेदों मे ऋग्वेद सबसे प्राचीन है। इस वेद मे इन्द्र तथा सूर्य को प्रधानता दी गयी है तथा प्राकृतिक शक्तियो को देवता मानकर उनकी प्रार्थना की गई है। देवताओं को प्रसन्न करने के लिए यज्ञ एक प्रमुख कर्म या सोमयाग भी ऋग्वेद का प्रमुख विषय माना गया है। इस वेद का सत् और ऋतु का प्रतिपादन वाद में दर्शन एवं आचार के लिए प्रमुख आधारभूमि बने। यज्ञों में उच्च स्वर से मन्त्रों का उच्चारण सामवेद से सम्बिन्धत है। इस वेद में अनेक मंत्रो का संग्रह किया गया है। कौथुम, राणायनीय एवं जैमिनीय इसकी प्रमुख शाखाएं मानी गयी हैं।

यजुर्वेद मे यज्ञ अनुष्ठानो के लिए यज्ञ सम्बन्धी मन्त्र सग्रहीत है। यह वेद कृष्णयजुर्वेद और शुक्ल यजुर्वेद मे विभक्त है। शुक्ल यजुर्वेद के अन्तर्गत 'वाजसनेमि संहिता' में यज्ञो का सागोपाग वर्णन प्राप्त होता है। पितृयज्ञ, पिण्डयज्ञ, राजसूय यज्ञ, अश्वमेध यज्ञ आदि का इसमे विस्तृत वर्णन हैं। सुरापान से सम्बन्धित 'सौत्रायणि-यज्ञ' का भी उल्लेख इसी वेद में है।

अथर्ववेद मे उच्चारण, मारण, मोहन एव अभिशाप आदि का विस्तृत वर्णन पाया जाता है जादू, टोना, रोगो, विभिन्न जातियो के सभी पुरुषो के लिए अनेक विचित्र कार्यो का इस वेद में वर्णन है।

उपनिषद्

वेद को प्रामाण्य मानने वाले षड्वैदिक दर्शनो का विकास उपनिषदो से हुआ। सामान्य रूप से प्रमुख 14 उपनिषद् है, परन्तु 108 से भी अधिक उपानिषदो का उल्लेख वैदिक परम्परा मे पाया जाता है। उपनिषद् शब्द 'उप' तथा 'नि' उपसर्गपूर्वक सद् मे क्विप् प्रत्यय जोड़ने पर बना है, जिसका अर्थ पास बैठना अर्थात् गुरु के पास बैठना या आत्मा के नजदीक जाना आदि किया गया है। उपनिषदो के प्रायः सभी सिद्धान्त ब्रह्म और आत्मा पर केन्द्रित है। वेदान्त के विविध सम्प्रदाय प्रमुख रूप से औपनिषद् दर्शन माने जाते है।

अधोलिखित ग्यारह उपनिषद मुख्य है -

1. ईशोपनिषद् 2. केनोपनिषद् 3. कठोपनिषद् 4. मुण्डकोपनिषद् 5. प्रश्नोपनिषद् 6. माण्डूक्योपनिषद् 7. ऐतरयोपनिषद् 8. तैत्तिरोयोपनिषद् 9. छान्दोग्योपनिषद् 10. बृहदारण्यकोपनिषद् और 11. श्वेताश्तरोपनिषद्

न्यायदर्शन

षड् वैदिकदर्शनो मे 'न्याय दर्शन' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस दर्शन का स्पष्ट इतिहास 'न्याय सूत्र ' से आरम्भ होता है। इसके रचियता गौतम या अक्षपाद माने जाते है। न्यायदर्शन के हार्द को प्रकट करने वाले परवर्ती समय मे वात्स्यायन का न्यायभाष्य, उद्योतकर का न्यायवार्तिक, वाचस्पति मिश्र का न्याय-वार्तिक तात्पर्यटीका, उदयनाचार्य के 'आत्मतत्त्वविवेक' तथा न्यायकुसुमाञ्जलि आदि प्रमुख ग्रन्थ है। 12 वी शताब्दी के बाद गगेश से यज्ञपति तक के नैयायिक 'नव्य-न्याय' के रूप मे न्यायदर्शन को प्रतिष्ठापित करने के लिए प्रसिद्ध है। न्यायदर्शन मे निःश्रेयस अपवर्ग की प्राप्ति के लिए प्रमाण, प्रमेय, सशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा ,हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान, इन सोलह पदार्थो का तत्त्वज्ञान आवश्यक माना गया है। प्रमाणो के द्वारा प्रमेय का विस्तृत निरुपण करना इस दर्शन का मुख्य प्रयोजन है। प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शाब्द ये चार प्रमाण है। इस सभी प्रमाणो मे अनुमान की प्रमुख भूमिका है, क्योंकि प्रमाणो का प्रामाण्य अनुमान पर ही निर्भर करता है। जगत् को सत्य मानना न्यायदर्शन की प्रमुख विशेषता हैं, जिसका निर्माण और नियन्त्रण ईश्वर करता है।

नैयायिक लोग कहते हैं कि जगत् की सृष्टि तथाा संहार करने वाला, व्यापक, नित्य, एक, सर्वज्ञ, ज्ञानी, महेश्वर सदा शिव है अर्थात् ईश्वर को सृष्टि का कर्ता मानते है।

जैनाचार्यों का कहना है कि यदि कोई ईश्वर सृष्टि का कर्ता है तो उसने दु:खी जीव क्यो बनाये। यदि कहो कि उन्होने पाप किया था तो ईश्वर ने पाप की सृष्टि भी क्यों की थी क्योंकि ईश्वर परम कारुणिक होता है। उसे पाप और पापियों की सृष्टि भी नहीं बनाना चाहिए थी। अत: सभी जीव अनादि काल से कर्मों से बधे हुए हैं वे ही पुरुषार्थ द्वारा कर्मो का नाश कर मुक्त होते है ।

वैशेषिक दर्शन

वैशेषिक दर्शन का प्राय: न्यायदर्शन के साथ साम्य होने के कारण दोनों को 'न्याय-वैशेषिक' दर्शन नाम से भी अभिहित किया जाता है। वैशेषिक सूत्रों का प्रणयन करने वाले कणाद ऋषि इसके प्रवर्तक माने जाते है। कणाद का औलूक नाम भी प्राप्त होता है, जिससे इस दर्शन की औलूक्य दर्शन भी संज्ञा है। मोक्षप्राप्ति के लिए इस दर्शन मे द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव इन सप्त पदार्थों का तत्त्वज्ञान आवश्यक बताया गया है। 'विशेष ' पदार्थ की कल्पना इस दर्शन की मौलिक देन है। परमाणुवाद का इनका विवेचन प्राय: जैनदर्शन के परमाणु विवेचन जैसा है। न्यायदर्शनकी तरह इस दर्शन मे भी विश्व स्रष्टा के रूप मे ईश्वर को स्वीकार किया गया है।

वैशैषिक ने बुद्धि, सुख, दु:ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और सस्कार इन नव गुणो के अत्यन्त विनाश को मोक्ष माना है।

जैनाचार्यो ने इनकी सभी मान्यताओ का निराकरण किया है। वास्तव में ज्ञान और सुख का भी मोक्ष मे विनाश मान लेना तो सर्वथा मूर्खता का ही द्योतक है। ज्ञान और सुख के लिए ही तो लोग मुक्ति हेतुक अनुष्ठान करते है।

सांख्य दर्शन

साख्य दर्शन के प्रवर्तक कपिल मुनि माने जाते हैं। तीसरी शती ई. में ईश्वरकृष्ण द्वारा रचित 'सांख्यकारिका' इस दर्शन के सिद्धान्तो को प्रतिपादित करने वाला सुव्यवस्थित ग्रन्थ है। इसके 'तत्त्व-कौमुदी, युक्तिदीपिका, माठरवृत्ति, जयमंगला आदि अनेक टीकाएं हैं। कुछ सांख्य ईश्वर को नहीं मानकर केवल आध्यात्मवादी हैं। कुछ सांख्य ईश्वर को ही मानते हैं। ये दोनों ही सांख्य साधारणतया पच्चीस तत्त्वों को स्वीकार करते है।

प्रकृति - सत्, रज, तम, इन तीनों गुणों की साम्यावस्था ही प्रकृति है। इनके यहाँ आत्मा अमूर्त, चेतन, भोक्ता, नित्य, सर्वगत, निष्क्रिय, अकर्ता, निर्गुण और सूक्ष्म है।

प्रकृति ओर आत्मा के संयोग से ही ये सृष्टि की उत्पत्ति मानते है। कुछ ईश्वर को भी सृष्टि का कर्ता मान लेते हैं।

पच्चीस तत्त्व - प्रकृति से महान् बुद्धि, बुद्धि से अहकार, अंहकार से सोलह गण (स्पर्शन आदि पाच इन्द्रियां, पायु, उपस्थ, वाणी, हस्त, पाद तथा मन और रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा शब्द) उत्पन्न होते हैं। इनमे से पाच तन्मात्राओं से पांचभूतो की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार साख्यमत में प्रकृति आदि चौबीस तत्त्व रूप परिणत हुआ, प्रधान पुरुष तत्त्व एक है।

इनके यहाँ प्रकृति के वियोग का नाम मोक्ष है। वह प्रकृति तथा पुरुष के विज्ञान रूप तत्त्व ज्ञान से होता है।

आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक दु:खो की निवृत्ति करना साख्यदर्शन का प्रमुख लक्ष्य है। जिसके लिए तत्त्वज्ञान आवश्यक बताया गया है। तत्त्व इस दर्शन में 25 माने गए है। मूल तत्त्व प्रकृति है एव 23 उसके विकार है तथा एक तत्त्व पुरुष है। प्रकृति के तेईस विकारों मे महत् अहकार, मन, पाच ज्ञानेन्द्रिया, पाच कर्मेन्द्रिया, पाच महाभूत और पांच तन्मात्राएं आती हैं। इन तत्त्वो मे प्रकृति परिणाम नित्य है और पुरुष कूटस्थ नित्य। सम्पूर्ण जगत जड़ प्रकृति का ही परिणाम है। सृष्टि के लिए प्रकृति और पुरुष का सयोग होना नितान्त आवश्यक है। इससे प्रकृति की साम्यावस्था भग होकर उससे परिणाम द्वारा तत्त्वो की सृष्टि होती है। जिस क्रम से प्रकृति की साम्यावस्था भग होकर तत्त्व आविर्भूत होते है वैसे ही वे कार्य अपने कारण मे लीन होते जाते है।

इस पर जैनाचार्यो का कहना है कि यदि पुरुष सर्वथा अकर्ता, निर्गुण, निष्क्रिय है तो उसका प्रकृति के साथ सयोग भी नही हो सकता है क्योकि कूटस्थ नित्य सिद्धान्त मे परिणमन का अभाव होने से पुरुष की ससार और मोक्ष की व्यवस्था नही बन सकती है। ऐसे अनेक दोष आते है। ये साख्य प्रत्येक वस्तु को सर्वथा नित्य ही मानते है जो कि द्रव्यार्थिकनय का विषय है। एकान्त, दुराग्रही होने से उनका सिद्धान्त भी शुद्ध नही है।

योग दर्शन

आध्यात्म विद्या का सैद्धान्तिक रूप साख्य और व्यावहारिक रूप योग माना गया है। इस दर्शन के प्रणेता दूसरी शती मे हुए महर्षि पतञ्जनि माने जाते है। इनका प्रमुख सूत्रग्रन्थ 'योग-सूत्र' इस दर्शन का प्रमुख आधार है। 'योग-सूत्र' के रहस्यों को प्रकाशित करने वाला आचार्य व्यासदेव द्वारा रचित 'व्यासभास्य' एक पाण्डित्यपूर्ण भाष्य ग्रन्थ है। जिस पर परवर्ती विद्वानो ने अनेक टीकाए लिखी। योगदर्शन मे ईश्वर प्रणिधान को एकाग्रता की प्राप्ति में उपाय माना गया है "योगश्चित्तवृत्ति निरोध:" अर्थात् चित्तकी वृत्तियो का निरोध योग है जो दो प्रकार का है। सम्प्रज्ञात योग और असम्प्रज्ञात योग।

उत्तम, मध्यम एव जघन्य के रूप मे साधक तीन प्रकार के होते हैं। पतञ्जलि के अनुसार चितवृत्ति निरोध के लिए 'अभ्यास-वैराग्य' उपाय उत्तम साधक के लिए अत्यन्त आवश्यक है। मध्यम साधक का प्रारम्भ 'क्रिया योग' से होता है तथा अधम, दीन, हीन, साधकों की मंगल

कामना के लिए 'अष्टांग-योग' की साधना बतलाई गयी है। वैराग्य के उत्तरोत्तर विकास की यतमान, व्यतिरेक, एकेन्द्रिय एवं वशीकार में चार श्रेणियां बतायी गयी हैं। चित्तका मल शोधक प्रयत्न वैराग्य की प्रथम श्रेणी है। राग, द्वेष आदि चित्त के मल हैं। मैत्री, करुणा, मुदिता एवं उपेक्षा चित्त रूपी मल के प्रक्षालन की शक्तिया हैं। 'क्रिया योग' के अन्तर्गत तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान मे तीन क्रियाएं आती हैं। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये आठ साधक के लिए 'अष्टांग योग' बताये गए हैं।

मीमांसा दर्शन

मीमासा दर्शन मे वैदिक वाक्यों को पूर्णतः प्रमाण माना गया है। कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड के रुप में वेद के दो भेद माने जाते हैं। कर्मकाण्ड पूर्वमीमांसा का विषय है और ज्ञानकाण्ड उत्तरमीमांसा का विषय है। पूर्वमीमांसा दर्शन का प्रमुख ग्रन्थ जैमिनीसूत्र है, जिसे मीमांसासूत्र भी कहते हैं। जैमिनी सूत्र पर शबर स्वामी का प्रसन्न-गम्भीर भाष्य है, जिसे शाबरभाष्य कहा जाता है। भाट्टमत और गुरुमत के रूप में मीमांसा के दो सम्प्रदाय हैं। कुमरिल भट्ट ने शाबर भाष्य पर प्रसिद्ध वार्तिकग्रन्थ लिखा है, जिसका नाम मीमांसा श्लोकवार्तिक है। धर्म का प्रतिपादन करना मीमासा दर्शन का प्रमुख लक्ष्य है। धर्म इनके यहाँ प्रेरणा मूलक अर्थ को माना गया है। यज्ञभूत धर्म के लिए प्रमाण, वेद को माना गया है, जो किसी पुरुष विशेष के द्वारा निर्मित न होकर अपौरुषेय है। श्रुति वाक्यों के समर्थन मे इस दर्शन में प्रमाण का विशद विवेचन किया गया है।

अद्वैत वेदान्त

औपनिषद् अद्वैत, शक्त्यद्वैत, गौडपादीय अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत आदि वेदान्त दर्शन में अनेक अद्वैतवाद हैं। सभी अद्वैतवाद उपनिषद् की अवधारणा से विकसित हुए है। वेदान्त के सभी सम्प्रदाय ब्रह्मवादी हैं जो जीव, जगत्, और ब्रह्म का विवेचन करते हैं । उपनिषदों पर लिखे गये सभी भाष्यों में शाकर-भाष्य का प्रमुख स्थान है, जिसके आधार पर अद्वैतवेदान्त के रूप में स्वतन्त्र दर्शन उदय में आया। वेदान्त दर्शन के मुख्य प्रतिपाद्य ब्रह्म और माया हैं। पारमर्थिक दृष्टि से एक ब्रह्म की ही सत्ता मानी गयी है। ब्रह्म के अतिरिक्त जो कुछ जितनी, जिस रुप में प्रतीत होती है। वह सब मायिक या अविद्यात्मिक है।

''सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन।

यह सारा जगत् एक ब्रह्म स्वरुप ही है, यहाँ अन्य कुछ भी नहीं है, सब उसी प्रभाव को देखते हैं और उसको कोई नहीं देख सकता है। ये ग्राम, नगर आदि चेतन, अचेतन पदार्थ सब उसी ब्रह्म से उत्पन्न हुए हैं उसी की ही पर्यायें हैं। इसके यहाँ कहा है कि 'अरे भक्त! तुम आत्मा को देखो, सुनो, मानो और ध्यान करो। एक ही ब्रह्म सभी प्राणियों में भासमान होता है,

वह एक रूप है फिर भी सभी में अवस्थित है। ये ब्रह्माद्वैतवादी लोग एक ब्रह्म के अतिरिक्त सारे जगत् को अविद्यामाया का विलास बतलाते हैं।

किन्तु वास्तव में उनका यह सिद्धान्त स्वयं ही अविद्या का विलास है। देखो! चेतन स्वरूप ब्रह्म से समस्त चेतन, अचेतन रूप जगत् की उत्पत्ति मानना तो नितान्त गलत है। फिर एक का सुख-दुख दूसरे को नहीं होता है यह स्पष्ट है पुनः सभी में एक आत्मा का अस्तित्व मानना ठीक नहीं है। हाँ! प्रत्येक आत्मा में ब्रह्मस्वरुप परमात्मा बनने की शक्ति विद्यमान होने से प्रत्येक आत्मा को कथंचित् शुद्धनय से शुद्ध ब्रह्मस्वरुप कह देना ठीक है। कहा भी है 'सत्वे हु सुद्धणया' सभी जीव शुद्धनय से शुद्ध ही हैं। यदि इसी का एकान्त लिया जाता है तो महा मिथ्यात्व आ जाता है।

सिख धर्म

इस धर्म मे निराकार परमेश्वर की सच्चे हृदय से उपासना पर बल दिया गया है। सिख धर्म के आदि गुरु गुरुनानक माने जाते है। इनका जन्म स. 1526 कार्तिक पूर्णिमा के दिन ग्राम तलबंडी जिला लाहौर मे हुआ था। इनकी माता का नाम तृप्ता और पिता का नाम कालूचन्द खत्री था। संवत् 1545 मे गुरुनानक का विवाह गुरुदासपुर की कन्या सुलक्षणी से हुआ था। गुरुनानक साहब जो भजन किया करते थे। उनका संग्रह 'गुरुग्रन्थ साहब' में किया गया है। अपने भजनो मे नानकजी ने हिन्दू तथा मुसलमान दोनो के पाखण्डो का जमकर-विरोध किया है। तथा सत्य बात कहकर दोनो सम्प्रदायों को निकट लाने का प्रयत्न किया है। ज्ञान प्राप्ति, जीवन की पवित्रता, सत्य बोलना, मांस-मदिरा का सेवन न करना, लोभ, क्रोध और घृणा का परित्याग करना, भगवान का भजन करना, नम्रता का व्यवहार करना, गुरु उपदेश को ईश्वरीय आदेश मानना उनकी प्रमुख शिक्षाए थी। गुरु गोविन्द सिह ने पचककार - (कच्छ, कड़ा, केश, कघा, कृपाण रखना) प्रत्येक सिख के लिए अनिवार्य घोषित किया था।

इस्लाम धर्म

इस्लाम धर्म मे 'विसिमल्लाह हरि रहमान निर रहीम' यह कुरान शरीफ के प्रारम्भ में लिखा है। 'रहीम' अर्थात् सभी पर रहम करने वाला खुदा होता है। इस्लाम के धर्म ग्रन्थ कुरान में नम्रता, प्रेम, सहानुभूति, दान, मित्रता, कृतज्ञता, साहस आदि को सद्गुण कहा गया है। इसके विपरीत क्रोध, लोभ, दुर्वचन, चुगली, मिथ्या वचन, रिश्वत, अभिमान, फिजूल खर्चा, कृपणता आदि को दुर्वचन कहा है। मुहम्मद साहब ने जुआ खेलना, मद्यपान और ब्याज लेने को पाप माना है। इस्लाम, धर्म मे जकात (अपनी आय का 2.5 प्रतिशत दान देने को बहुत बल दिया है। इसके पाच स्तवक है - 1. कलमा 2 नमाज 3 रोजा 4. जकात. 5. हज। सामूहिक नमाज इस धर्म की विशेषता है।

ईसाई धर्म

ईसाई धर्म में परोपकार, सहानुभूति, दया, न्याय, दान, नम्रता, आत्म, बलिदान आदि को प्रधान माना गया है। ईश्वर प्रेम, पड़ौसी से प्रेम, दीन दु:खियो की सेवा को अधिक महत्त्व दिया गया है। महात्मा ईसा ने क्षमा पर भी विशेष बल दिया है। उनका मुख्य उपदेश 'गिरी उपदेश' नाम से प्रसिद्ध है। इनका प्रमुख धर्म ग्रन्थ बाइबिल है।

पारसी धर्म

इस धर्म में व्यक्ति के विचार, वाणी और कर्म की एकरूपता पर विशेष ध्यान दिया गया है। इस धर्म के पैगम्बर जरथुस्त्र साहब ने दैनिक जीवन में निम्न आचारों को प्रधानता दी है- 'सबके साथ भलाई का व्यवहार 2. परस्पर मिलकर सौहार्द्र के साथ रहना, 3. सहनशीलता 4. स्वार्थ त्याग और 5. बन्दगी

यहूदी धर्म

यहूदी धर्म प्रवर्तक मोजेज ने अपने अनुयायियो के लिए ईश्वर की ओर से दस धर्मोपदेश, प्रसारित किये, जिनमें पांच का पालन प्रत्येक यहूदी के लिए अनिवार्य है- 1. तुझे दीर्घायु प्राप्त हो 2. तू मिलावट का अपराध नहीं करेगा 3. तू चोरी नहीं करेगा 4. तू अपने पड़ौसी के विरुद्ध झूठी गवाही नहीं देगा। 5. तू अपने पड़ौसी के प्रति वस्तु का लोभ नहीं करेगा।

बहाई धर्म

बहाई धर्म मानवतावादी है। इस धर्म के मूल अग निम्नांकित हैं - 1. सब धर्मों के अच्छे सिद्धान्तो को ग्रहण करना 2. एक ही परमात्मा के पुत्र होने के नाते विश्वभर के लोगों को भाई समझना 3. मानव मात्र प्रेम और सभी के प्रति न्याय 4. संसार भर की जातियों मे परस्पर सद्भाव पर आधारित सहयोग की भावना।

महात्मा गांधी

मोहनदास करमचद गांधी का जन्म 2 अक्टूबर 1869 को कठियाबाड, गुजरात में हुआ था। हाई स्कूल पास करने के बाद ये कानून की शिक्षा हेतु इग्लैण्ड चले गए। वहाँ से सन् 1891 में बैस्टिर की शिक्षा लेकर भारत लौट आये। अनेक वर्षों तक इन्होंने अफ्रीका में जातिगत भेदभाव को दूर करने के लिए अहिंसक आन्दोलन चलाया, तत्पश्चात् स्वतंत्रता आन्दोलन में कूद पड़े और सन् 1947 में देश को स्वंतत्र कराया सन् 1948 में नाथूराम गोड़से की गोली से मारे गए। 'एन आटोबायोग्राफी, हिन्दूधर्म, डिसकोर्सेस ऑन द भगवद्गीता' आदि उनकी प्रमुख कृतियां है। अहिंसा और सत्याग्रह उनके जीवन के सफलता के प्रमुख सूत्र माने जाते हैं।

मीराबाई

मीराबाई का जन्म संवत् 1573 में चौकड़ी नाम के ग्राम में हुआ था। उनके पिता का नाम रत्न सिंह था इनका विवाह उदयपुर के महाराणा कुमार भोजराज के साथ हुआ था। कुछ दिन पश्चात् इनके पति का देहावसान हो गया था। ये प्राय: भक्तों, सन्तों के बीच एवं कृष्ण भगवान की मूर्ति के सामने आनन्दमग्न होकर नाचती और गाती थीं। इनके विषय में एक जनश्रुति है कि इनके भक्ति के आवेग मे नाचने गाने को राजकुल विरुद्ध आचरण मानकर इन्हें जान से मारने के लिए कई बार विष देने का प्रयत्न किया गया, परन्तु विष का प्रभाव उन पर नहीं हुआ। घरवालों से खेदखिन्न होकर मीराबाई द्वारका और वृन्दावन के मन्दिरों में घूम-घूमकर भजन सुनाया करती थीं। अन्त में सम्वत् 1603 में द्वारका मे इनका निधन हो गया था।

विवेकानन्द

स्वामी विवेकानन्द का जन्म 12 जनवरी 1863 में कलकत्ता में हुआ था। बचपन का इनका नाम नरेन्द्रनाथदत्त था। रामकृष्ण परमहस को इन्होंने अपना आदर्श मानकर उनकी मृत्यु के पश्चात् एक परिव्राजक के रूप में उन्होने सम्पूर्ण भारत की यात्रा की तथा धर्म की वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत कर कर्म करने पर विशेष जोर दिया। शिकागो की धर्म संसद मे इनके द्वारा दिए गए भाषण की यूरोपीय विद्वानों द्वारा अत्यन्त सराहना की गयी। जनकल्याण हेतु सन् 1897 में उन्होंने 'रामकृष्ण मिशन' की भी स्थापना की थी।

कबीर

कबीर अहिंसावादी सत्यवक्ता, लोकहितैषी और रुढ़िविरोधी, फक्कड़ सन्त थे। उनका जन्म विक्रम सम्वत् 1456 मे काशी के लहरतारा ग्राम में एक विधवा से हुआ था। विधवा द्वारा परित्याग कर दिए जाने के कारण अली या नीरु नाम के जुलाहे ने जिस बालक का लालन पोषण किया बाद मे वही कबीरदास कहलाया। कबीर की वाणी का संग्रह बीजक नामक ग्रन्थ मे है, जिसमे तीन भाग हैं - रमैनी, सबद और साखी। कबीर दास कर्मकाण्ड विरोधी थे। विचार की शुद्धता आचरण की पवित्रता आदि का उपदेश देते थे। कबीर का रहस्यवाद अनूठा है।

तुलसीदास

हिन्दुओं के प्रसिद्ध ग्रन्थ रामचरितमानस के रचयिता गोस्वामी तुलसीदास का जन्म विक्रम सम्वत् 1589 में राजापुर या दुवेपुरवा में हुआ था। पिता का नाम आत्माराम एवं माता का नाम हुलसी था। सम्वत् 1680 में काशी में गंगा नदी में अस्सीघाट पर इनकी मृत्यु हुई थी। रामचरितमानस इनके द्वारा लिखा गया अनुपम ग्रंथ है। यह एक लोकप्रिय धर्मग्रंथ है।

अनेकांत और स्याद्वाद

जैनदर्शन को अनेकान्त-दर्शन भी कहा जाता है। प्रत्येक धर्म, दर्शन या तत्त्वज्ञानी की अपनी एक मौलिक दृष्टि और शैली होती है। उसीके अनुसार सम्पूर्ण प्रतिपादन होता है। यह दृष्टि शरीर में प्राणों की भाँति व्याप्त होती है। जैसे वृक्ष का रस, उसकी आत्मा, उसका गुण जड़ से लेकर पत्तों तक समान रूप से व्याप्त रहता है, वैसे ही प्रत्येक तत्त्वज्ञान या सिद्धान्त का विस्तार भी दृष्टि-विशेष के अनुरुप रहता है। जैनधर्म, तत्त्वज्ञान, आचार-विचार, दर्शन और सिद्धान्त सबमें अनेकान्त-दृष्टि तिल में तेल और दूध में घी की भाँति ओतप्रोत है।

ढ़ाई हजार वर्ष पूर्व भगवान महावीर का युग मत-मतान्तरो तथा वाद-विवादों का संघर्ष स्थल बना हुआ था। वैदिक-औपनिषदिक विचारधाराओं में ही समन्वय नहीं था अपितु अनेक परिव्राजक एंव भिक्षु अपनी एक-एक शाखा प्रशाखा को पकड़ कर आग्रह की ध्वजा फहरा रहे थे। कुछ तो अपने को शास्ता, तीर्थंकर, सर्वज्ञ भी कहते थे। बाह्य उपकरणों, साधनों, क्रियाओं आदि का भी आग्रह पराकाष्ठा पर पहुँचा हुआ था। स्वयं जैन परम्परा में भी आगे चल कर कई परम्पराएं प्रचलित हो गयी थीं। एक-दूसरे में समन्वय और सहृदयता के बदले संघर्ष, विरोध और टकराहट ही ज्यादा थी। यह परिस्थिति मनुष्य को मनुष्य से तोड़ने वाली थी, वे विचार-भेद और पथ-भिन्नता के बावजूद मानव-मात्र के प्रति आदर और प्राणिमात्र के प्रति समता उत्पन्न करना चाहते थे। बारह वर्ष की मौन-साधना से उनमें अपनी परम्परा के तीर्थंकरों से प्राप्त अनेकान्त दृष्टि का आविर्भाव हुआ।

जो अनेकान्त दृष्टि को व्यवहार और चिन्तन में स्थान देते है। उनसे जीवन में आमूल परिवर्तन हो जाता है, दृष्टि बदल जाती है, उलझने सुलझ जाती हैं, समाधान मिल जाता है और रास्ता प्रकाशमान हो उठता है। यह एक आनन्द का क्षण होता है, जिसमें मनुष्य को लगता है कि सम्पूर्णता की उपलब्धि हो गयी। संभवतः उनके केवलज्ञान का, उनकी सर्वज्ञता का रहस्य भी इसी क्षण में निहित हो।

अनेकान्त दृष्टि-सम्पन्न व्यक्ति प्रत्येक के विचार का आदर करता है उसमे सत्य का दर्शन करता है और यह तभी सम्भव है जब उसकी वाणी या भाषा में मिठास हो, माधुर्य हो, अमृत-रस हो।

मनुष्य स्वतत्र इकाई भी है और समष्टि का अंग भी। मनुष्य ही नहीं, हर प्राणी की स्वतंत्र सत्ता है, उसकी अपनी निजता है, वैयक्तिकता है। प्रत्येक जीव अपने कर्म का भोक्ता और कर्ता होता है। मनुष्य बाह्य रूप में या कि सासारिक दृष्टि से, आर्थिक दृष्टि से पराधीन या बंधा हुआ-सा लगता है, फिर भी आत्मगुण की दृष्टि से वह स्वतंत्र अस्तित्व रखता है। उसमें स्व-पर हित सोचने तथा तदनुसार चलने की बुद्धि, भावना, शक्ति और दृष्टि होती है। वह अनुभव करता

है कि उसका अपना स्वतत्र व्यक्तित्व है। यह सब है, लेकिन वह सामाजिक भी है। समाज के बिना मानवीय विकास के, उन्नयन की सम्भावना भी नही। नितान्त और निरपेक्ष रूप में मनुष्य न वैयक्तिक है, न सामाजिक। वैयक्तिकता और सामाजिकता के तटों के बीच अनेकान्त के सेतु पर ही विवेकपूर्वक एवं सापेक्षतापूर्वक विचरण किया जा सकता है। बूंद के बिना सागर नहीं बनता, लेकिन सागर से पृथक् बूंद का व्यक्तित्व कैसा और कितना?

मनुष्य का समग्र जीवन सत्य की खोजों का परिणाम है। मानव-सृष्टि के आदिकाल से सत्य की खोज हो रही है। हजारों-हजार मनीषियों, ऋषि-मुनियों, योगियों तथा वैज्ञानिकों ने सत्य की खोज में अपने को गला-खपा दिया है। हमारी अनेक कहावते, मुहावरे बदल गये, आचार-विचार की प्राणलियाँ बदल गयी, दैनिक जीवन के क्रियाकलाप और रीतियाँ बदल गयी। यह क्रम चिरन्तन काल से चल रहा है और अनन्त काल तक चलता रहेगा। इसीमे मानव-समाज की प्रगति निहित है। असल में मनुष्य-स्वभाव की यह विशेषता या विचित्रता है कि उसे अपनी वर्तमान स्थिति से कभी संतोष नहीं होता। बीता क्षण उसके लिए जीर्ण हो जाता है। वह प्रतिक्षण नूतनता का आकांक्षी होता है। वह चाहता है कि उसे कुछ ऐसी' उपलब्धियाँ हो जो अपूर्व हो। इसका एक कारण यह भी है कि प्रत्येक नयी पीढ़ी पुरानी पीढ़ी के कन्धे पर चढ़कर ज्यादा दूर का देखती है। पुरानी पीढ़ी के अस्त होने मे ही नयी पीढ़ी की प्रगति के अवसर निहित होते है। उदय और अस्त पर ही प्रगति का पुल निर्मित होता है।

सत्य की खोज में निरन्तर मानव की भटकन भी कम नहीं है। वह विचारों के अरण्य में, आग्रह के गिरि-शिखरों पर, विरोध के सागर में और एकाकीपन के श्मशान में भटक गया है, खो गया है। वह सत्य का स्पर्श करना चाहता है, लेकिन सत्य छिटक जाता है। अन्धे की भाँति हाथी के किसी एक अवयव को पकड़कर उसने मान लिया है कि सत्य यही और उतना ही है। आग्रह इतना तीव्र और तेज है कि आँख खुलती ही नही और वह खोलना चाहता भी नही। विवेक-नेत्र का नाम ही अनेकान्त है। विवेक की आँख के खुलते ही सम्पूर्ण हाथी का दर्शन होने लगता है। और आग्रह-अहकार की अकड़ छूट जाती है। प्रतिकूलता अनुकूलता मे बदल जाती है। दूसरे का मिथ्या सत्य प्रतीत होने लगता है। इस विश्व में तत्त्व या अस्तित्व की दृष्टि से अवास्तविक या अयथार्थ कुछ नहीं है। इस विराट सृष्टि मे अणु से लेकर ब्रह्माण्ड तक सब कुछ सत्य और वास्तविक है, उसीका विस्तार है। परिवर्तनशीलता का दर्शन तो मात्र पर्याय-सापेक्ष है, जैसे कि एक पूरी फिल्म के या दृश्य के सैकड़ो टुकड़े।

जैनाचार्यो ने जीवन-सन्तुलन एवं समता-साधना की दृष्टि से एक सूत्र प्रदान किया है - 'आचार मे अहिंसा और विचार मे अनेकान्त'। जीवन मे सामाजस्य तभी आ सकता है जब हमारे विचारो मे अनेकान्त दृष्टि हो। अनेकान्त की मनोभूमिका के बिना बाह्य आचरण में अहिंसा दीख पड़ती है वह मात्र लोकसंस्कार या लोकरुढ़ि है। इसीलिए विचार नीव है और अहिंसा कलश

है। अहिंसा शोभा है, लेकिन आधार तो अनेकान्त ही हो सकता है। नींव की मजबूती पर ही कलश टिकता है।

दार्शनिक क्षेत्र में अनेकान्त वस्तु या द्रव्य की स्वतंत्र सत्ता का उद्घोष करता है। द्रव्य या सत् की स्वतन्त्रसत्ता त्रिलक्षण है अर्थात् उसमें उत्पत्ति, विनाश तथा स्थायित्व ये तीन लक्षण निरन्तर रहते हैं। इन तीन मूल लक्षणों मे से किसी एक का या उसके भी किसी विशिष्ट अंश को अपने सिद्धान्त का आधार माननेवाले मतमतान्तरों में समन्वय स्थापित करने और उनकी एकान्त धारणा या मान्यता का निरसन करने के लिए जैनाचार्यों ने अनगिनत प्रयास किये हैं। इससे अनेकान्त उत्तरोत्तर शास्त्रीय एव वैज्ञानिक रूप ग्रहण करता गया है। बिहारी-सतसई के न जाने कितने अर्थ उपलब्ध हैं। कालिदास के मेघदूत को पार्श्वभ्युदय काव्य में एक-एक चरण के रूप मे समाविष्ट करके आचार्य जिनसेन ने मेघदूत को नया गौरव प्रदान कर दिया। गोस्वामी तुलसीदास कृत रामचरितमानस की "सब कर मत खगनायक एहा। करिय रामपद पंकज नेहा।" चौपाई के शायद 16 लाख तक अर्थ किये जा चुके हैं। एक ही शब्द के अनेक परस्पर विरोधी अर्थ करने के हजारो उदाहरण विश्व-साहित्य में मिलते हैं। समय के थपेड़े खाकर शब्द और ध्वनियो के अर्थ बदल गये है। हम अपनी ही बात के स्पष्टीकरण के लिए बार-बार तात्पर्य और मतलब का सहारा लेते रहते हैं। गाधीजी हमेशा कहते थे कि मेरी कल की बात आज व्यर्थ समझनी चाहिए। विश्व का सारा साहित्य परस्पर विरोधी एवं अर्न्तमुखी अनुभूतियों एवं प्रवृतियों मे सामजस्य स्थापित करने की दृष्टि से बड़ा मूल्यवान है। इन सब से स्पष्ट है कि प्रत्येक अनेकान्ती होता है और अनेकान्ती हुए बिना कोई जीवित रह भी नहीं सकता।

अनेकान्त का शब्दगत अर्थ अनेक अन्त अर्थात् अनेक धर्मात्मकता है। प्रत्येक वस्तु पदार्थ मे अनेक धर्म होते हैं। एक समय में एक साथ कोई भी व्यक्ति वस्तु के अनेक धर्मों या पहलुओ का प्रतिपादन नही कर सकता। अनेक का अर्थ एक से भिन्न भी होता है। भिन्न में दो से लेकर अनन्त तक समाविष्ट है। वस्तु में अनेक धर्मों या गुणो के अस्तित्व को तो सभी दर्शन स्वीकार करते है, लेकिन परस्पर विरोधी दो धर्मों के तुल्य अस्तित्व की सार्थकता या उपयोगिता उनके समझ मे नही आती। सुख-दुःख, नित्य-अनित्य, सत्-असत्, शाश्वत-अशाश्वत आदि विविध द्वन्द्वों का अपेक्षामूलक सम्पूर्ण अस्तित्व प्रत्येक पदार्थ में, निरन्तर रहता है, यह बात केवल जैनदर्शन ने ही व्यवस्थित एवं शास्त्रीय रूप से प्रतिपादित की है।

अनेकान्त के साथ साथ स्याद्वाद शब्द का प्रयोग भी होता है। लोक-व्यवहार मे दोनों एकार्थवाचक हैं। दोनों अन्योन्याश्रित है। जहाँ अनेकान्त वस्तु के समस्त धर्मों की ओर समग्र रूप से हमारा ध्यान खींचता है, वहाँ स्याद्वाद वस्तु के एक धर्म का ही प्रधान रूप से बोध कराता है। विविधधर्मात्मक वस्तु हमारे लिए किस प्रकार उपयोगी हो सकती है, यह बतलाना स्याद्वाद की पद्धति है। अनेकान्त लक्ष्य है और स्याद्वाद इसे प्राप्त करने का साधन है। स्याद्वाद एक वचन-पद्धति या अभिव्यक्ति की प्रणाली है, जो वस्तु एक-एक धर्म का प्रतिपादन नय-सापेक्ष दृष्टि से करती है।

जैनदर्शन में स्यात् शब्द का प्रयोग सापेक्ष, कथंचित के अर्थ मे होता है। अन्य दार्शनिकों ने स्यात् का अर्थ शायद सम्भवत: हो सकता है, किसी तरह किया है जो सर्वथा गलत है। स्यात् शब्द के प्रयोग का विश्लेषण करते हुए स्व. डॉ. महेन्द्रकुमार जी न्यायाचार्य ने लिखा है कि कोई ऐसा शब्द नहीं है जो वस्तु के पूर्ण रूप का स्पर्श कर सके। हर शब्द एक निश्चित दृष्टिकोण से प्रयुक्त होता है और अपने विवक्षित धर्म का कथन करता है। इस तरह जब शब्दों मे स्वभावत: विवक्षानुसार अमुक धर्म का प्रतिपादन करने की शक्ति है, तब यह आवश्यक हो जाता है कि अविवक्षित शेष धर्मों की सूचना के लिए एक प्रतीक अवश्य हो, जो प्रधानता से ज्ञान कराके भी अविवक्षित धर्मों के अस्तित्व का द्योतन करता है। स्यात् शब्द जिस धर्म के साथ प्रयुक्त होता है, उसकी स्थिति कमजोर न करके वस्तु मे रहने वाले तत्प्रतिपक्षी धर्म की सूचना देता है।

अनेकान्त का आधार नयवाद है। यह भी कहा जा सकता है कि स्याद्वाद वस्तु का प्रतिपादन किसी अपेक्षा से पूर्णरूप मे करता है और नय उस वस्तु को ज्ञाता के अभिप्राय विशेष के सन्दर्भ में अश रूप मे प्रकट करता है। अभिप्राय: सन्दर्भ, काल, शब्द ध्वनि, अर्थ आदि के आधार पर नयों के अनेक उत्तर-भेद हो सकते हैं।

स्याद्वाद को सप्तभगी न्याय भी कहते हैं। सप्तभंगी का अर्थ है वस्तु के अस्तित्व या सत्ता का विरोधी और निषेधपरक कथन के प्रकार। वस्तु है भी, नहीं भी है और है-नहीं, दोनो भी है और दोनो रूप अनर्विचनीय भी है। इस प्रकार सात प्रकार से वस्तु से वर्णन किया जाता है। घड़ा घड़ा है भी, घड़ा नही भी है-अन्य कुछ है। हम कैसे कह सकते हैं कि घड़ा, घड़ा या मिट्टी ही है या नहीं है, क्योंकि उसके कण-कण में न जाने कितने तत्त्व, कितनी ऊर्जा, कितनी सभावनाएँ है। इसीलिए वह अनिर्वचनीय भी है। यह बड़ी गहरी पैठ है। सत्य तक पहुचने के लिए यह सप्तभगी न्याय बहुत उपयोगी है।

'ही' और 'भी' को लेकर भी बहुत गलतफहमी है। अनेकान्ती व्यक्ति आग्रह-अहंकार या अभिनिवेशवश अर्थात् दूसरे के दृष्टिकोण या विचार का तिरस्कार करने के लिए ही का प्रयोग कदापि नही करेगा। 'भी' का प्रयोग इस तथ्य की सूचना है कि इसके अतिरिक्त और भी बहुत कुछ उसमें गर्भित है। हाँ, जीवन में बार-बार 'ही' का भी प्रयोग करना पड़ता है। 'ही' का प्रयोग कथन की सार्थकता के लिए अनिवार्य हो जाता है। जहाँ अपेक्षा का स्पष्ट निर्देश, नहीं होता वहाँ 'भी' का प्रयोग आवश्यक है, लेकिन जहाँ अपेक्षा का स्पष्ट निर्देश हो वहां 'ही' लगाना आवश्यक हो जाएगा।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि अनेकान्त-दृष्टि के बिना जीवन चल नहीं सकता। आध्यात्मिक एवं दार्शनिक क्षेत्र में तो उसकी उपयोगिता और सार्थकता निर्विवाद है, सामाजिक एव व्यवहारिक क्षेत्रो मे भी उसकी उपयोगिता संशय से परे है। अनेकान्त हमें जीवन की पात्रता प्रदान करता है। जीवन की पात्रता का आधार सत्य-निष्ठा और सत्यग्राहित है और यह मानव

मात्र के प्रति आदर-भाव पर निर्भर है। अनेकान्त की मर्यादा इतनी विश्वस्त और व्यापक है कि उससे विश्व की सारी समस्याएं हल की जा सकती है, सारे विवाद दूर किये जा सकते है। शर्त इतनी ही है कि मन में अपने विचारो के प्रति दृढ़ता तो रहे, पर आग्रह न रहे और दूसरे के विचारो में निहित सत्यांश को ग्रहण करने की तत्परता और उदारता रहे। अन्यथा तो जैसे अहिंसा धीरे-धीरे जड़ कर्मकाण्ड या लीक पीटने की निस्तेज प्रक्रिया मात्र रह गयी, वैसे ही अनेकान्त के साथ भी खिलवाड़ किया जा सकता है।

जैसे ताली दोनों हाथ से बजती है, वीणा के तारों से स्वर अंगुलियों के स्पर्श से ही निकलता है, दधि का मन्थन रस्सी के दोनों सिरों को आगे पीछे घुमाने से होता है, हमारे पैरों में गति दोनों पैरों को आगे बढ़ने से ही आती है, हमारी इन्द्रियां पारस्परिक सहयोग पर ही अपना काम करती हैं, उसी प्रकार समाज का जीवन विरोधों के समन्वय से चलता है। यहां राजनीतिक क्षेत्र के दो महान् देश-सेवकों के दो वचन इस सन्दर्भ में देकर मैं अपनी बात समाप्त करुँगा। अंग्रेजी राज्य के जमाने में प. जवाहरलाल जी नेहरु कहा करते थे, कि "हम झुक जाएंगे लेकिन टूटेंगे नहीं और नेताजी सुभाषचन्द्र बोस कहा करते थे कि हम टूट जाएंगे लेकिन झुकेंगे नहीं। ये दोनों वचन परस्पर विरोधी प्रतीत होते है, लेकिन दोनों वचन हमें अंग्रेजी सल्तनत के खिलाफ एक ही जगह पहुँचाते हैं।

एक वस्तु में वस्तुत्व की सिद्धि वाले परस्पर विरोधी द्रव्य-पर्याय रूप दो शक्ति धर्मों का युगपत एकत्र अविनाभाव अविरोध सिद्ध करना यही अनेकान्त का मुख्य प्रयोजन है। वस्तु स्वयं अनेकान्तात्मक, उभयधर्मात्मक, द्रव्यपर्यायात्मक, सामान्य-विशेषात्मक है।

वस्तु में अनंतधर्मो की, अनंतगुणों की सिद्धि करना यह अनेकांत का मुख्य प्रयोजन नहीं है। अनेकांत में अनेक शब्द उभय इस अर्थ में अभिप्रेत है।

वस्तु के परस्पर विरुद्ध उभय धर्मों की युगपत् अविरोध सिद्धि करना यही अनेकान्त का मुख्य प्रयोजन है।

सामान्य विशेष का सम्बन्ध

1. वस्तु सामान्य धर्म से सदा सत्रूप ही रहती है, सामान्य से कमी असत्रूप नहीं होती सामान्य विरहित कभी नहीं होती या सामान्य से कभी उत्पाद-व्ययरूप या आविर्भाव तिरोभावरूप नहीं होती।
2. वस्तु विशेष धर्म से सदा असत्रूप (उत्पाद-व्ययरूप) (आविर्भाव-तिरोभावरूप) होती है।

   वस्तु सामान्य धर्म से सदा सत्रूप-आविर्भूत ही रहती है। तो भी सामान्य का सत्पना विशेष के असत् के उत्पाद व्यय के बिना नहीं रह सकता। सामान्य का सत्पना विशेष के असत्पने की अपेक्षा अवश्य रहता है।

   सामान्य के सत्पने के बिना विशेष का असत्पना नहीं बन सकता। उसी प्रकार विशेष के

असत्पने के बिना सामान्य का सत्पना बन नहीं सकता। इस प्रकार इनका परस्पर सापेक्षभाव है - अविनाभाव है।

3. इसी प्रकार वस्तु सामान्य धर्म से नित्य-अविनाशी है। अनादिनिधन है, विशेष धर्मो से अनित्य-उत्पाद-व्यय रुप सादि-सात है।
4. वस्तु सामान्य धर्म से सदा एक अखण्ड है और अपने विशेष धर्मों से बुद्धि कल्पित खण्ड खण्डरुप अनेक है।
5. सामान्य धर्म से सदा तत्रूप (एकाकाररूप) है और अपने विशेष धर्मों से अतत्रूप (अनेक आकार रूप) है।

इस प्रकार परस्पर विरोधी (देखने में विरोधी) लेकिन वास्तव मे परस्पर अविरोध रूप से रहने वाले इन दो धर्मो का युगपत् एकत्र अविरोध समन्वय (अविनाभाव-सापेक्षभाव) सिद्ध करना यही अनेकात रूप का मुख्य प्रयोजन है।

अलोचना-प्रत्यालोचना - जैनधर्मानुयायी होकर भी जो अनेकांत की अयथार्थ परिभाषा कहते है - जैसे कि निश्चय ही मोक्ष मार्ग है अथवा व्यवहार ही मोक्ष मार्ग है, या उत्पाद ही कार्य का कारण है अथवा निमित्त ही कारण है, कार्य कुछ नियत होता है और कुछ अनियत भी होता है। इस प्रकार की परिभाषा ही अनेकांत के दोष का कारण बन जाती है। अनेकांत की यह परिभाषा सदोष है। अनेकान्त ऐसा अनिश्चित-अव्यवस्थित, व्याघातरूप नहीं है। यदि वस्तु को जिस रूप से 'सत्' माना है उसी रूप से असत् माना जाता तो वह मानना अव्यवस्थित-अनिश्चितपना का द्योतक सिद्ध होता है। लेकिन अनेकान्त का वैसा स्वरूप नहीं है। अनेकात्मक वस्तु का विवेचन करते समय स्याद्वाद जिस दृष्टिकोण को अपनाता है, वह दृष्टिकोण उस समय यथार्थ होता है, अन्यथा वस्तु का विवेचन ही सम्भव नहीं हो सकेगा।

जैनधर्म का अनेकान्त सर्वथा अनेकान्तरूप व्यभिचरित नहीं है प्रमाण और नय से अनेकान्त और एकान्त स्वरूप है।

अनेकान्त दर्शन यही सिखाता है कि युक्ति-सिद्ध वस्तु स्वरूप को ही शुद्ध दृष्टि से स्वीकार करना चाहिए, बुद्धि का यही वास्तविक फल है। जो एकान्त के प्रति आग्रहशील है और दूसरों के सत्यांश को स्वीकारने के लिए तत्पर नहीं है, वह तत्त्वरूपी नवनीत को प्राप्त नहीं कर सकता। गोपी नवनीत तभी पाती है, जब वह मथानी की रस्सी के एक छोर को खींचती है और दूसरे छोर को ढीला छोड़ती है। अगर वह एक ही छोर खींचे और दूसरे को ढीला न छोड़े तो नवनीत नहीं निकल सकता। इसी प्रकार जब एक दृष्टिकोण को गौण करके दूसरे दृष्टिकोण को प्रधान रूप से प्रकाशित किया जाता है, तभी सत्य का नवनीत हाथ लगता है। अतएव एकान्त के गंदले पोखर से निकलकर अनेकान्त के शीतल सरोवर में अवगाहित होना ही श्रेयस्कर है।

दो सुनिश्चत तत्त्वों का परस्पर सापेक्ष भाव ग्रहण करने वाले प्रमाण ज्ञान से वस्तु

अनेकान्तात्मक कही जाती है। लेकिन वस्तु का प्रत्येक धर्म एकान्त सुनिश्चित स्वरूप कहा है वह अनिश्चित अव्यवस्थित नहीं है।

उसी प्रकार निश्चय रहित व्यवहार ही मोक्ष का साक्षात् मार्ग है। निश्चय सहित व्यवहार को ही व्यवहार मार्ग-पुण्यमार्ग कहा है। निश्चय रहित व्यवहार मार्ग भी नहीं है। निश्चय सहित मार्ग पुण्य मार्ग है। इस प्रकार सुनिश्चित दो एकान्त तत्वों पर आरूढ़ ऐसा अनेकान्त सम्यक् एकान्त है।

इसके विरूद्ध निश्चय और व्यवहार को समकक्ष मानकर मोक्षमार्ग मानना यह अनेकान्तिक दोष से दूषित व्यभिचरित होने से सम्यक् अनेकान्त नहीं है।

जिस प्रकार एक ही पुरुष अपने पुत्र का पिता होता है और वही पुरुष अपने पिता का पुत्र होता है। अर्थात् पितृत्व और पुत्रत्व इत्यादि अनेक धर्म युगपत् एक ही पुरुष में भिन्न-भिन्न विवक्षा से रह सकते हैं। उसमें कुछ भी विरोध नहीं आता उसी प्रकार द्रव्य से सामान्य दृष्टि से वस्तु सत्रूप, नित्यरूप-एकरूप-तत्रूप-नित्य शुद्धरूप रहती है। उसी समय द्रव्य से सामान्य दृष्टि से वस्तुसत् रूप-नित्यरूप एकरूप तत्रूप-नित्य शुद्ध रहती है।

उसी समय वही वस्तु विशेष दृष्टि से, पर्याय दृष्टि से असत् (उत्पाद-व्ययरूप) अनित्य अनेक रूप असत्रूप-अशुद्ध रूप प्रतीत होती है। जब शुद्ध होगा तब उसको शुद्ध कहना यह शुद्ध दृष्टि-द्रव्य दृष्टि नहीं है, वह तो पर्याय दृष्टि है, अशुद्ध दृष्टि ही है। भेद दृष्टि ही है।

जीव पर्याय रूप से अशुद्ध रहते हुए भी वह द्रव्य दृष्टि से शुद्ध है ऐसा कहना समझना यह द्रव्यदृष्टि-शुद्ध-दृष्टि है -

जीव द्रव्य दृष्टि से शुद्ध है उसी समय वह पर्यायदृष्टि से अशुद्ध भी है।

प्रश्न - यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि जब जीव शुद्ध होगा तब शुद्ध कहो, जब अशुद्ध है तब अशुद्ध कहो एक साथ शुद्ध अशुद्ध कैसे रह सकता है?

समाधान - उसका समाधान पंचाध्यायीकार करते है - यहाँ शुद्धत्व, अशुद्धत्व पर्याय दृष्टि से अभिप्रेत नहीं है। पर्याय दृष्टि से युगपत् शुद्ध-अशुद्ध मानना अवश्य विरुद्ध है। लेकिन द्रव्य दृष्टि से शुद्धत्व और पर्याय दृष्टि से अशुद्धत्व युगपत् मानना विरुद्ध नहीं है। इनकी परस्पर अन्यथा सिद्धि है, अविनाभाव है, इनमें परस्पर सापेक्ष भाव है, इसलिए दिखने में विरोध दिखता है लेकिन वास्तविक अविरोध है। इस प्रकार परस्पर विरोधी दो धर्म युगपत् एकत्र अविरोध रुप प्रतीत होते है।

व्यवहार और निश्चय का समन्वय - कुछ लोग कहते हैं कि निश्चय दृष्टि एकान्त है, पर जब अंशी की अपेक्षा व्यवहार किया जाता है तो वह एकान्त नहीं है क्योंकि वह वस्तु के एक-एक अंश दिखलाने वाले विशेष दृष्टि की तरह विश्रृंखलित अंश दृष्टि नहीं है। वह तो अंशीदृष्टि है- द्रव्यदृष्टि है जो एक साथ पूर्ण वस्तु का विवेचन करते हैं। सामान्य दृष्टि के ही

अंशीदृष्टि-द्रव्य दृष्टि अभेददृष्टि शुद्धदृष्टि निश्चयदृष्टि इत्यादि अनेक नाम हैं। ये सब एकार्थ वाचक है। सामान्य में ही अशेष विशेष समाविष्ट रहते हैं। इसलिए सामान्य दृष्टि अंशदृष्टि या अपूर्णदृष्टि है। सामान्य पूर्ण और व्यापक होता है। विशेष अपूर्ण एक अंश व्याप्त होता है। इसलिए सामान्य दृष्टि पूर्ण है और विशेषदृष्टि अपूर्णदृष्टि एकान्तदृष्टि है।

आध्यात्मशास्त्र में द्रव्य दृष्टि से वस्तु का वर्णन है, इसलिए एकान्त दृष्टि नहीं है वह अनेकान्त है।

व्यवहार शास्त्र में यद्यपि वस्तु के एक-एक अंश का वर्णन होने से वह एकान्त दृष्टि है तो भी उसके साथ 'स्यात्' पद रहता है। वह 'एकान्त', 'स्यात्' पद से विभूषित होता है। इसलिए वह वस्तु की अन्य अंशीदृष्टि का सूचक होने से सापेक्ष भाव रखने से वह सम्यक् एकान्त है-अनेकान्त है।

आध्यात्म शास्त्र में यद्यपि व्यवहार को अभूतार्थ -असत्यार्थ जो कहा है इसका भेद अभेद वस्तु में जो भेद कल्पना-अंश कल्पना है वह यद्यपि बुद्धि कल्पित है, वास्तव में वस्तु भेदरूप नहीं है। प्रयोजनवश उसमें भेद कल्पना अवश्य इष्ट है। क्योंकि बिना भेद के अभेद का यथार्थ स्वरूप समझना असंभव है इसलिए वस्तु में भेद कल्पना बुद्धि कल्पित होने पर भी उसको सर्वथा असत्यार्थ नहीं कहा है। भेदरूप कथन से वस्तु का सर्वथा भेदरूप न समझे अथवा वस्तु में जिस प्रकार वास्तविक अभेद है उसी प्रकार भेद भी वास्तव में है, ऐसा मिथ्या अनेकान्त न समझे, इसलिए व्यवहार को अभूतार्थ-असत्यार्थ कहा है। वास्तव में वस्तु को अभेद रूप ही समझना और भेद को प्रयोजनवश बुद्धि कल्पित लेकिन तावत्काल आवश्यक वक्तव्य समझना-सर्वथा अनावश्यक न समझना यह अनेकान्त सम्यक् अनेकान्त है।

व्यवहार को अभूतार्थ कहने का दूसरा प्रयोजन यह है कि -मोक्ष के लिए द्रव्य दृष्टि ही साक्षात् कारण है व्यवहार दृष्टि यह पर्याय दृष्टि होने से यदि वह द्रव्य सापेक्ष नहीं हो, सर्वथा एकान्त पर्याय दृष्टि हो तो वह संसार का ही कारण है, मोक्ष का कारण नहीं है इसलिए उसको अभूतार्थ कहा हैं।

व्यवहार को अभूतार्थ कहने में वस्तु में जो पर्याय होती है वे सर्वथा असत्यार्थ है, यह अभिप्रेत नहीं है। पर्याय दृष्टि यह अंशदृष्टि है-अंशीदृष्टि नहीं है अंशीविरहित अंशदृष्टि संसार का ही कारण होती है, मोक्ष का कारण कदापि नहीं हो सकती। इसलिए उसको आध्यात्मशास्त्र में यह कहा है और अंशी दृष्टि-द्रव्य दृष्टि ही मोक्ष के लिए प्रयोजनभूत होने से उसको भूतार्थ कहकर उपादेय कहा है।

वहाँ अभूतार्थ असत्यार्थ का अभिप्राय खपुष्पवत् सर्वथा असत् है इसलिए उसको असत्यार्थ कहा, ऐसा नहीं है। जो निश्चय एकान्तवादी निश्चय को ही मोक्ष के लिए प्रयोजन-भूत उपादेय मानते हैं, और व्यवहार को (निश्चय सापेक्ष-व्यवहार को) तावत्काल उपादेय समझते हैं, साक्षात्

मोक्ष के लिए उपादेय नहीं समझते हैं तथा व्यवहार को आकाश पुपवत् सर्वथा असत् झूठा भी नहीं समझते हैं वे निश्चयवादी, निश्चयाभासी की तरह मिथ्याएकान्तवादी नहीं हैं वे सम्यक् एकान्तवादी-अनेकान्तवादी ही हैं।

शब्द प्रयोग का नयार्थ-अभिप्रायार्थ न समझने से ही संशय-विरोध आदि दोष उत्पन्न होते हैं वही संघर्ष का मुख्य कारण है। केवल शब्द यह नहीं कह सकते कि हमारा यह अर्थ है और यह अर्थ नहीं है। वक्ता के अभिप्राय जानने से ही शब्द प्रयोग का यर्थाथ ज्ञान हो सकता है।

आजकल केवल शब्दार्थ से ही झगड़े चल रहे हैं। परस्पर अभिप्राय समझने की दृष्टि ही नहीं है। इसलिए निष्कारण संघर्ष हो रहा है। केवल शब्द प्रयोग से मनमाने अभिप्राय निकालना छोड़कर वक्ता के अभिप्राय को समझ कर उसको यथार्थ या अयथार्थ कहने में संघर्ष नहीं हो सकता है।

संघर्ष का दूसरा कारण कषाय है। कषाय भाव से प्रेरित शब्द प्रयोग से ही संघर्ष होता है। चर्चा तो वीतराग भाव से होनी चाहिए। 'भैया, हम तो इस दृष्टि से इतना समझते हैं, अधिक तो केवली जाने' इस प्रकार का वीतराग भाव यदि हो तो संघर्ष का कारण ही नहीं है।

एकान्त दृष्टि ही पक्षपात दृष्टि है, सराग दृष्टि है। अनेकान्त दृष्टि-सापेक्ष दृष्टि-वीतराग दृष्टि है लेकिन इस अनेकान्त दृष्टि में सापेक्ष भाव व्यभिचरित नहीं होना चाहिए। निश्चय भी मोक्ष मार्ग और व्यवहार भी मोक्ष मार्ग इस प्रकार का सापेक्ष भाव व्यभिचरित नहीं होने से सदोष है। वह यथार्थ न होकर मिथ्या-ज्ञान कहलाता है।

वस्तु अनेकान्तात्मक है। इसका अर्थ वस्तु का स्वरूप अनेकान्तात्मक है ऐसा नहीं है। वस्तु का स्वरूप (लक्षण) अव्यस्थित-अनिश्चित-व्यभिचरित-अनेकान्तात्मक मानना यह अनैकान्तिक दोष कहलाता है। जैनधर्म का अनेकान्त इस प्रकार अनिश्चित-अनेकान्त का प्रतिपादक नहीं है।

वस्तु अनेकांतात्मक सामान्य विशेषात्मक-अभेद-भेदात्मक होकर भी सामान्य वस्तु का स्वरूप है और विशेष वस्तु का विरूप है। पर्याय को गुण का विकार कहा है।

यद्यपि पर्याय दो प्रकार की है- 1. स्वभाव 2. विभाव। विभाव पर्याय तो विकार है ही। स्वभाव पर्याय को जो विकार कहा है उसका प्रयोजन, स्वभाव पर्याय वस्तु का विरूप है। लेकिन स्वभाव पर्याय दृष्टि भी एक अंशदृष्टि है वह अंशीदृष्टि नहीं है इसलिए उसको भी विकार कहा गया है। विकार का अर्थ यहाँ केवल विभाव रूप आकार अभिप्रेत नहीं है। आकार फिर चाहे वह स्वभावरूप हो या विभावरूप हो वह आकार ही है- भेद रूप ही अंशरूप ही है। अंशदृष्टि मोक्ष का कारण नहीं होती है। कार्य दृष्टि से कभी भी कार्य सिद्ध नहीं हो सकता। कार्य सिद्धि के लिए कारण दृष्टि ही साक्षात् प्रयोजन भूत है। कारण के आश्रय से ही कार्य सिद्ध होता है।

आध्यात्मशास्त्र में जो शुद्धपरमात्मा का वर्णन है वह कर्म से अतीत हुए सिद्धपरमात्मा का कार्य परमात्मा का नहीं हैं। कार्य परमात्मा का आश्रय लेने से कार्य-परमात्मा नहीं बन सकता।

कार्य परमात्मा बनने के लिए कारण परमात्मा का ही आश्रय लेना आवश्यक है। वही एकमेव मार्ग है। दूसरा मार्ग नहीं है।

यद्यपि प्राथमिक अवस्था में व्यवहार भाषा से कार्य परमात्मा का -देव गुरु -शास्त्र का आश्रय लेने का उपदेश दिया है लेकिन उसमें यह अभिप्राय नहीं कि कार्य-परमात्मा को देखने से कार्य परमात्मा बनेगा।

कार्य परमात्मा तो केवल आर्दश है उसको आदर्श कहने में प्रयोजन यह है कि जो कार्य परमात्मा का स्वरूप प्रकट है वैसा ही अपने कारण परमात्मा का स्वरूप होता है। जैसा मुख वैसा प्रतिबिम्ब। जैसा गुण वैसा उसका आकार। कारण परमात्मा सूक्ष्म केवल अनुभवगम्य है कार्य परमात्मा दृष्य-अल्पज्ञान गम्य होता है इसलिए अल्पज्ञ मुमुक्षु ज्ञानी के लिए प्राथमिक अवस्था में कार्य परमात्मा का आश्रय लेने का उपदेश दिया जाता हैं जिस प्रकार अपना मुख देखने के लिए दर्पण में देखना आवश्यक है, बिना दर्पण के हम अपना मुख नहीं देख सकते। उसी प्रकार प्राथमिक अवस्था में कार्य परमात्मा के बिना कारण परमात्मा का दर्शन नहीं हो सकता। कारण परमात्मा के दर्शन के लिए कार्य परमात्मा का दर्शन तत्काल आवश्यक है।

इसका अर्थ यह नहीं, केवल दर्पण को देखने से कार्य सिद्धि होगी। दपर्ण में अपना मुख देखने से कार्य बनेगा। उसी प्रकार केवल कार्य परमात्मा को देखने से कार्य सिद्ध नहीं हो सकता। कार्य परमात्मा नहीं बन सकता। कार्य परमात्मा तो आर्दश समान केवल निमित्त मात्र है यह तुम्हारी कार्य सिद्धि के लिए कदापि साक्षात् कारण नहीं हो सकता। कार्य परमात्मा में अपने कारण परमात्मा का दर्शन लेना ही मुख्य प्रयोजन है। दर्पण में अपना मुख देखना ही दर्पण में देखने का प्रयोजन है। कार्य परमात्मा में अपने कारण परमात्मा को देखना ही मुख्य प्रयोजन है उसी का अवलम्बन लेने का आध्यात्मशास्त्र में उपदेश है।

कोई कहते हैं कि कार्य परमात्मा के दर्शन करते-करते कारण परमात्मा का दर्शन हो जायेगा, लेकिन यह भी सम्भव नहीं है।

वैसा केवल व्यवहार से कह सकते हैं, क्योंकि व्यवहारीजनों को वैसा ही उपदेश देना आवश्यक तथा इष्ट है। लेकिन ज्ञानी मुनि जनों के लिए केवल कार्य परमात्मा के दर्शन से कार्य नहीं बनेगा। उनको तो यही कहना पडेगा कि कार्यपरमात्मा की दृष्टि छोड़कर कारण परमात्मा में दृष्टि स्थिर करो, तब काम होगा। कार्य परमात्मा पर की दृष्टि हटाने से और कारण परमात्मा में दृष्टि लगाने से ही कार्य सिद्धि होगी। तब ही स्वयं कार्य परमात्मा बनेगा।

इस प्रकार निश्चय में (कारण में) स्थिर होने के लिए अन्त में व्यवहार को (कार्य के आश्रय को) छोड़ना ही पड़ता है। कार्य का आश्रय लेते-लेते कारण का आश्रय हो जायेगा। यह कदापि सम्भव नहीं है। लेकिन यह आत्मा का तत्त्वज्ञान केवल मुमुक्षु ज्ञानी मुनि के लिए ही प्रयोजन भूत है। व्यवहार को छोड़कर अव्यवहार में जाने की सम्भावना नहीं है। उनको ही यह उपदेश प्रयोजन भूत है। सामान्य जन को यह आध्यात्म का उपदेश इष्ट नहीं है। उनमें भी कोई

निकट भव्य अपना कल्याण कर सकता है। लेकिन प्राय: उसका यथार्थ अभिप्राय न समझने से उसके अधोमार्ग में जाने की संभावना अधिक होती है। आजकल वही हो रहा है इसलिए उनके लिए आध्यात्म का उपदेश निषिद्ध ही है। उनके लिए व्यवहार ही शरण है। यही तीर्थंकरों का तीर्थ प्रवृत्ति चलाने का मुख्य उद्देश्य है। इसलिए उनको तीर्थंकर कहा है। तीर्थं का अर्थ घाट (किनारा) है। जिस प्रकार जमीन पर पांव रखने के प्रथम घाट का (किनारे का) आश्रय लेना आवश्यक है- उसके बिना ऊपर नहीं जा सकते है, उसी प्रकार तीर्थ का अर्थ व्यवहार कर्म-पुण्य मार्ग इसका आश्रय लेना आवश्यक है। बिना तीर्थ प्रवृत्ति के सहसा निश्चय में आरूढ़ नहीं हो सकता। लेकिन जो घाट पर ही अटका रहेगा, व्यवहार को ही निश्चय मानेगा, व्यवहार को छोड़कर आगे कदम नहीं उठाएगा तो वह कदापि मोक्ष पर आरूढ़ नहीं हो सकता।

इसलिए आध्यात्मशास्त्र में व्यवहार छोड़ने का जो उपदेश है। वह आगे बढ़ाने के लिए निश्चय में स्थिर होने के लिए है। व्यवहार में पैर रखकर निश्चय में पैर नहीं रख सकते। निश्चय में पैर रखने के लिए व्यवहार का पैर उठाना ही आवश्यक है।

इस प्रकार व्यवहार शास्त्र तथा आध्यात्मशास्त्र इनका अभिप्राय समझना आवश्यक है। केवल शब्दार्थ समझने से कार्य सिद्धि नहीं होती है।

सम्यक् अभिप्राय पूर्वक शब्द प्रयोग करना और दूसरे के शब्द प्रयोग का सम्यक् अभिप्राय समझना यही प्रमाण दृष्टि है। यही सम्यक् अनेकान्त है।

जैनधर्म का अनेकान्त अनिश्चित-व्याभिचरित-डाँवा डौल स्वरूप नहीं है। वह सुनिश्चित, सुव्यवस्थित दो सापेक्ष एकान्त धर्मों के आधार पर आरूढ़ है।

1 वस्तु स्वरूप चतुष्टय से (सत् एव) सदा सत् रूप ही है।

2. और पर रूपचतुष्टय से (असत् सब) सदा असत् रूप ही है।

इस प्रकार दो सुनिश्चित एकान्त धर्मों के आधार पर आरूढ़ होने से जैनधर्म का अनेकान्त सुव्यवस्थित सुनिश्चित है।

1. घट घट रूप से घट ही है।

2. घट पर रूप से घट नही है।

इस प्रकार दो सुनिश्चित तत्त्वों को प्रतिपादन करने वाला अनेकांत सुनिश्चित सुव्यवस्थित है।

घट में घट की अस्ति सिद्ध करने के लिए घट में पट की नास्ति मानना आवश्यक है। पट की नास्ति माने बिना घट में घट की अस्ति सिद्ध नहीं हो सकती।

प्रश्न - यहाँ पर कोई अन्यमती कहते हैं कि घट मे केवल घट की अस्ति मानने से काम बनेगा। उसमे पट की नास्ति मानने की क्या आवश्यकता है?

समाधान - उसका आचार्य समाधान करते हैं कि - घट में केवल घट की अस्ति मानने से काम नहीं हो सकता क्योंकि घट की अस्ति पट की नास्ति की अविनाभावी है।

घट में घट की नास्ति हो तब ही घट की सिद्धि नहीं हो सकती। घट में घट की भी अस्ति हो और पट की भी अस्ति हो, ऐसा बन नहीं सकता। इसमें सर्वसंकर दोष है। युगपत् सब पदार्थों का प्रसंग आना इसको संकर दोष कहते हैं। घट में पट का अभाव माने बिना घट का घटपना सिद्ध नहीं हो सकता।

इस प्रकार घट में घट की अस्ति-सिद्धि करने के लिए उसमें पट की नास्ति मानना नितान्त आवश्यक है। यही अनेकान्त का मर्म है।

वास्तव में एकान्तवाद अनिश्चित-अव्यवस्थित है। वह वस्तु के यथार्थ रूप का-पूर्ण रूप का कथन नहीं कर सकता। एकान्त में ही संशय-विरोध-संकर आदि दोष उत्पन्न होते हैं, जिससे अशान्ति का निर्माण होता है।

अनेकांतवाद सुनिश्चित-सुव्यवस्थित है, वस्तु के पूर्ण-यथार्थ स्वरूप का प्रतिपादक है, उसमें संशय विरोध-संकर आदि दोष दूर होते हैं इसलिए अनेकांत ही संशयादि दोषों को दूर करने वाला और शान्ति निर्माण करने वाला होने से ही जगत् को शरण है।

अनेकांत धर्म ही मंगल है, अनेकांत धर्म ही लोकोत्तम है और अनेकान्त धर्म ही शरण है।

धम्मो मंगल-मुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया णमो॥

धर्म उत्कृष्ट मंगल है। अहिंसा, संयम, तप उसके लक्षण हैं। जिसका मन सदा धर्म में लगा रहता है, उसे देव भी नमस्कार करते हैं।

द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप

जो गुण और पर्यायों सहित है, उसको हे प्रभाकर भट्ट! तू द्रव्य जान, सो सदा पायें जावे, नित्य रूप हों व उन द्रव्यों के गुण हैं और जो द्रव्य की अनेक रूप परिणति क्रम से हो अर्थात् अनित्यपने रूप समय-समय उपजे, विनाशे, नाना स्वरूप हो वह पर्याय कही जाती है।

जो द्रव्य होता है वह गुण पर्याय सहित होता है। यही कथन तत्त्वार्थसूत्र में कहा है 'गुणपर्ययवद्द्रव्यं' अब गुण पर्याय का स्वरूप कहते है- ''भुवो गुणाः क्रमभुव पर्यायाः'' यह नयचक्र ग्रन्थ का वचन है अथवा ''अन्वयिनो गुणा व्यतिरेकिणः'' इनका अर्थ ऐसा है कि गुण तो सदा द्रव्य से सहभावी है, द्रव्य में हमेशा एक रूप नित्यरूप पाये जाते हैं और पर्याय नाना रूप होती है जो परिणति पहले समय में थी वह दूसरे समय में नहीं होती। समय-समय में उत्पाद व्यय रूप होता है। इसलिए पर्याय क्रमवर्ती कहा जाता है। अब इसका विस्तार कहते हैं जीव द्रव्य के ज्ञान आदि अर्थात् ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनंत गुण हैं और पुद्गल द्रव्य के स्पर्श, रस गन्धवर्ण इत्यादि अनंत गुण हैं। सो ये गुण तो द्रव्य में सहभाव हैं अन्वयी हैं, सदा नित्य हैं, कभी द्रव्य से तन्मयपना नहीं छोडते तथा पर्याय के दो भेद हैं। एक तो स्वभाव दूसरा विभाव। जीव के सिद्धत्वादि स्वभाव पर्याय हैं और केवलज्ञानादि स्वभाव गुण हैं। ये तो जीव में ही पाये जाते हैं, अन्य द्रव्य में नहीं पाये जाते तथा अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, अगुरुलघुत्व गुण का परिणाम षट्गुणी हानिवृद्धि रूप है। वह शुद्ध पर्याय है। यह शुद्ध पर्याय संसारी जीवो के, सब अजीव पदार्थों के तथा सिद्धों के पायी जाती है और सिद्धपर्याय तथा केवलज्ञानादि गुण सिद्धों के ही पाया जाता है दूसरों के नहीं। संसारी जीवों के मतिज्ञानादि विभावगुण और नर नारकी आदि विभाव पर्याय ये संसारी जीवों के पायी जाती है। ये तो जीव द्रव्य के गुण पर्याय कहे और पुद्गल के परमाणुरूप तो द्रव्य तथा वर्ण आदि स्वभाव गुण और एक वर्ण से दूसरे वर्ण रूप होना ये विभाव गुण व्यञ्जन पर्याय तथा एक परमाणु में दो तीन इत्यादि अनेक परमाणु मिलाकर स्कंध रूप होना, ये विभाव द्रव्य व्यञ्जन पर्याय हैं द्वयणुकादि स्कंध में जो वर्ण आदि के विभाव गुण कहे जाते हैं, और वर्ण से वर्णान्तर होना, रस से रसान्तर होना, गंध से अन्य गंध होना यह विभाव-पर्याय है। परमाणु शुद्ध द्रव्य में एक रूप, एक रस, गन्ध और शीत उष्ण में से एक तथा रूखे-चिकने में से एक, ऐसे दो स्पर्श इस तरह पांच गुण तो मुख्य हैं। इनको आदि के अस्तित्वादि अनंत गुण हैं, वे स्वभाव गुण कहे जाते हैं और परमाणु का जो आकार है वह स्वभाव द्रव्य व्यञ्जन-पर्याय है तथा वर्णादि गुण रूप परिणमन वह स्वभावगुण व्यञ्जन-पर्याय है। जीव और पुद्गल इन दोनों में तो स्वभाव और विभाव दोनों हैं, तथा धर्म, अधर्म, आकाश, काल इन चारों में अस्तित्वादि स्वभाव गुण ही हैं और अर्थ पर्याय षट्गुणी हानि-वृद्धि रूप स्वभाव पर्याय सभी के है। धर्मादिक चार पदार्थो के विभाव गुण पर्याय नहीं है। आकाश के घटाकाश, मठाकाश इत्यादि की जो कहावत है वह उपचार मात्र है। ये षट्द्रव्यों

के गुण पर्याय कहे हैं। इन षट्द्रव्यों में शुद्ध गुण पर्याय सहित जो शुद्ध जीव द्रव्य है वही उपादेय है-आराधने योग्य है।

आगे जीव के विशेषपने कर द्रव्य गुण पर्याय कहते हैं - हे शिव! तू आत्मा को तो द्रव्य जान, और दर्शन ज्ञान को गुण जान, चार गतियों के भाव तथा शरीर को कर्मजनित विभाव पर्याय समझ। शुद्ध निश्चयनयकर शुद्ध, बुद्ध, अखण्ड, स्वभाव आत्मा को तू द्रव्य जान चेतनपने के सामान्य स्वभाव को दर्शन जान और विशेषता से जानपना उसको ज्ञान समझ। ये दर्शन ज्ञान, आत्मा के निज गुण हैं। उनमें से ज्ञान के आठ भेद हैं, उनमें केवलज्ञान तो पूर्ण हैं अखंड है शुद्ध है तथा मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनः पर्ययज्ञान ये चार ज्ञान तो सम्यक्ज्ञान और कुमति, कुश्रुत, कुअवधि ये तीन मिथ्या ज्ञान हैं, ये केवलज्ञान की अपेक्षा सातों ही खंडित हैं, अखंड नहीं है और सर्वथा शुद्ध नहीं हैं अशुद्धता सहित हैं, इसलिए परमात्मा में एक केवलज्ञान ही है।

भावयामि भवावर्ते भावनाः प्राग्भाविताः।
भावये भाविता नेति भवाभावाय भावनाः॥

मैंने संसार रूप भँवर मे पड़कर कभी जिन सम्यग्दर्शनादि भावनाओं का चिन्तन नहीं किया है उनका अब चिन्तन करता हूँ और जिन मिथ्यादर्शनादि भावनाओं का बार-बार चिन्तन कर चुका हूँ उनका अब मैं चिन्तन नहीं करता हूँ। इस प्रकार मैं अब पूर्वभावित भावनाओं को छोड़कर उन अपूर्व भावनाओं को भाता हूँ क्योंकि इस प्रकार की भावनायें संसार विनाश की कारण होती हैं।

पंचम अध्याय : पंचपरमेष्ठी का स्वरूप एवं अमृत वचन

परमेष्ठी - आत्मशुद्धि द्वारा जो परम (सर्वोच्च) पद में स्थित है उन्हे परमेष्ठी कहते है। शासन की अपेक्षा जिस तरह जमींदार, जागीरदार, राजा महाराजा, मडलेश्वर, सम्राट चक्रवर्ती एक दूसरे से महान् होते हैं परन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से चक्रवर्ती भी परमेष्ठियो को पूज्य समझकर उनको नमस्कार करते हैं। अत: उनका परमेष्ठी नाम सार्थक है।

अरहा सिद्धाइरिया उवझाया साहु पंचपरमेट्ठी।
ते विहु चिट्ठदि आदे तम्हा आदा हुमे सरणं॥

अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये पांचों परमेष्ठी आत्मा में ही निवास करते हैं - आत्मस्वरुप ही है। अत: आत्मा ही मेरा शरण है।

अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पांचों परमेष्ठियों को विभूति कहा गया है। ये पांचों विभूतियाँ गुण-विकास की श्रेणियाँ हैं, कर्मठता तथा पुरुषार्थ की प्रेरक शक्तियाँ हैं। ये विभूतियाँ निष्क्रिय नहीं होती। मानवता की साधना में अपने को न्यौछावर करने वाले ही ऐसी विभृतियों में नाम पाते हैं।

प्रत्येक मनुष्य अपना कुछ कुछ लक्ष्य निश्चित करके अपने जीवन की धारा प्रवाहित करता है। व्यापारी अपने समय, समझ और परिस्थिति के अनुकूल लक्ष्य बनाकर व्यापार प्रारम्भ करता है। उद्योगी पुरुष किसी उद्योग की नींव भी अपने सामने किसी लक्ष्य को रखकर डालता है। गर्भधारण तथा प्रसव की महती वेदना भी सहन करके जो पुत्र को प्रसव करती है, वह भी अपना कोई लक्ष्य रखकर ही पुत्र का मुख देखते ही अपनी समस्त पीड़ा भूल जाती है। तदनन्तर उसका महान् यत्न और सावधानी से पालन पोषण करती है, अपना दूध पिलाती है, उसके इस अनुपम त्याग का भी कुछ उद्देश्य होता है। उसकी भावना होती है कि मेरा पुत्र बड़ा होकर अपने कुल का उद्धार करे, परिवार को सुख समृद्ध बनाये।

पिता स्वयं अनेक कष्टों को सहर्ष स्वीकार करके अपने पुत्र को शिक्षित बनाने में अपनी शक्ति जुटा लेता है, उसका भी उद्देश्य होता है कि मेरा पुत्र अच्छा विद्वान् बनकर अपना तथा मेरा नाम प्रसिद्ध करे तथा जीवन की अन्तिम घड़ियों में मेरे असमर्थ शरीर को कुछ सहायता प्रदान करें।

एक किसान खेत को बड़े परिश्रम से जोतता है, अपने पास रखे हुए सबसे अच्छे अन्न को स्वयं न खाकर उस मिट्टी के खेत में बिखेर देता है, फिर उस मिट्टी को गहरे कुएँ में पानी निकाल-निकाल कर अनेक बार सींचता है। सर्दियों की ठंडी रातों में पानी में खड़ा रहता है। वर्षा ऋतु में खुले मैदान में फावड़ा लेकर अपने खेत के अनेक चक्कर लगाता है, गर्मियों में

दोपहर की धूप और भयानक लू की कुछ चिन्ता न करके उस खेत के काम में लगा रहता है इतना महान् प्रयास करने का भी उद्देश्य यही होता है कि अपने बोये हुए अन्न के एक-एक दाने के बदले अन्न के हजारों दाने प्राप्त करूँ, वर्ष भर अपने परिवार को भोजन खिलाऊँ, अपने पशुओं को भूसा देता रहूँ और अतिरिक्त अन्न व भूसे को बेचकर अपनी अन्य आवश्यकताओं को पूरा करुं। तात्पर्य यह है कि अपना लक्ष्य बनाकर ही प्रत्येक प्राणी कोई कार्य करता है। जो आध्यात्मिक दृष्टिकोण से आत्मा का उत्थान करना चाहते हैं वे अपना अंतिम लक्ष्य संसार से आवागमन (जन्ममरण) से छुड़ाकर संसार से पूर्ण मुक्ति प्राप्त करने का रखते हैं। इस लक्ष्य की पूर्ति करने के लिए वे अपने आदर्श पंचपरमेष्ठियों को रखते हैं।

अरिहन्त, अरहन्त, अर्हत् आदि शब्द यहां प्राचीनकाल से प्रचलित हैं। कोई इसका अर्थ आत्मपूजा में लीन करते हैं, कोई वीतराग करते हैं, कोई इन्द्रिय तथा आन्तरिक विकारों को जीतनेवाला करते हैं। सबसे कठिन बात है अपने भीतरी शत्रुओं या विकारों को जीतना। राग-द्वेष, कषाय, मोह-अहंकार, परिग्रह-माया, काम, आदि का चक्र इतना पैना और तीव्र गतिशील है कि आदमी को उलझते-फंसते देर नहीं लगती। इन सब विकारों का नितान्त दमन कर देना तो किसी के लिए संभव है नहीं, न वे कुचले ही जा सकते हैं। इनको तो वश में ही किया जा सकता है। दबाने पर भी मौका पाकर ये कभी-कभी उभर ही जाते हैं। सिद्धि की राह पर अग्रसर व्यक्ति जब विकारों के व्यूह-जाल और पेचीदिगियों को समझ लेता है, तो वे विकार बाधक नहीं रह जाते हैं। वे विकार गुणों में परिवर्तित हो जाते हैं। यही विकार-विजय है। यहीं अरहन्त-अवस्था कहलाती है। यहां पहुंच कर कर्तव्यपरायण व्यक्ति निष्णात बन जाता है। क्रोध एक शक्ति है। पर जब वह किसी भले काम में लग जाती है तो उसमें से तेजस्विता चमक उठती है। जो निष्णात या प्रवीण अपने पथ से स्वप्न में भी नहीं डिगता, वही स्थायी सुख का उपभोग करता है, इस प्रवीणता की उपलब्धि गहरे अभ्यास से होती है। यह बाह्य प्रवीणता से बहुत ऊंची चीज है, आत्मिक है। आत्मिक प्रवीणता की राह में हजारों बाधाएं हैं। उन सभी से निपट कर अरहन्त-अवस्था उपलब्ध होती है। यही स्थितप्रज्ञता, वीतरागता है। ऐसे पुरुषों की सलाह या मार्ग दर्शन में न राग होता है, न लगाव होता, न दुःख। वह बिलकुल सम्यक् होता है। इसीलिए उनको परमइष्ट कहा गया है।

दूसरी अवस्था है सिद्ध अरहन्त या निष्णात से आगे की अवस्था है। सिद्ध अपने लक्ष्य में सिद्ध या सफल हो चुके होते हैं। इनको विदेह भी कहते हैं। देह से ऊपर उठ गये होते है। इन्हें देह के सहारे की जरुरत ही नहीं होती। ये तन-मन की दासता से सर्वथा मुक्त हो जाते हैं। उनका जीवन-व्यवहार इतना हल्का और निर्मल होता है कि किसी इन्द्रिय या अंग के संचालन का भी श्रम या कष्ट उन्हें नहीं होता। सारे तन-मन पर वे नियन्त्रण कर चुके होते हैं। जब कोई नेत्ररहित व्यक्ति बड़ा काम करता है और करता रहता है, तो उसे अन्धा कह नहीं सकते, वैसे ही सिद्ध अपने कर्तव्य में इतने एकरस हो जाते हैं कि उन्हें कही कुछ करना ही नहीं पड़ता। उनके दर्शन

मात्र से ही लोगों को सफलता मिलने लगती है। सिद्ध का शरीर स्वयं का न रहकर सर्वमय बन जाता है। जनता रूपी अथाह-सागर में वह समा जाता है। यद्यपि बाहर से देखने पर ऐसा लगता है कि सिद्ध पुरुष किसी प्रकार का उपदेश नहीं करते, हाथ-पैरों से कोई काम नहीं करते, फिर भी उनके दर्शन मात्र से लोगों को प्रेरणा मिलती है। अनेकों को अपनी विस्मृत बातें याद आने लगती हैं और वे अपने काम में लग जाते हैं। सफल व्यक्ति जीवन में इतना प्रयोग और कर्म कर चुका होता है कि अपने ध्येय के अणु-अणु से अवगत हो जाता है। उसके सामने अपना काम हस्तामलकवत् स्पष्ट हो जाता है। सिद्ध का ज्ञान बिलकुल सही होता है, उसका विश्वास सम्यक् होता है। कर्म, अनुभूति और सफलता की त्रिवेणी ही सिद्धि देती है। ऐसे सिद्धपुरुष हर क्षेत्र में, हर उद्योग में होते हैं। इनका ज्ञान अविनाशी, अविकारी होता है। ये परस्पर के धाम होते है, सबको समाधान देते हैं और सहज होते हैं। ज्ञानरूप ही बन जाते है। इन्हें अलौकिक इसीलिए कहा जाता है कि ये तरह-तरह के सांसारिक प्रपंच से परे रहते हैं।

तीसरी विभूति हैं आचार्य। आचार्य अर्थात् आचार की संहिता तैयार करने वाले, समाज को आचार-सम्पन्न बनाने की प्रेरणा देने वाले। समाज-जीवन के सम्यक् संचालन की जिम्मेदारी इन पर होती है। समाज-जीवन का मतलब अमुक-अमुक प्रकार की नियम-मर्यादाएँ ही नहीं है। किसी भी धन्धे, काम और प्रवृत्ति के लिए आचार जरुरी है। आचार के बिना उच्चार और विचार दुर्बल और तेजोहीन ही रहते हैं। विचार-आचार-उच्चार की एकरूपता ही आचार्यत्व है। आचार्य देश, काल, परिस्थिति को समझकर आचार-संहिता बनाते हैं। कोई व्यापार हो, कोई कला हो, कोई उद्योग हो, कोई कानून हो, सर्वत्र आचार की आवश्यकता है। यह सूक्ष्म दृष्टि जिसमें हो, वही आचार्य बन सकता है। ये संसार में रहकर भी संसार के नहीं रहते, ये आध्यात्मिक प्रेरणा देते हैं।

उपाध्याय अर्थात् प्राध्यापक, प्रोफेसर या शिक्षक। जनसामान्य को सिखाने के लिए ऐसे उपाध्यायों की महत्ता स्पष्ट ही है। आचार्य के निर्देशों को ठीक से समझ कर जनता को बोध देने का दायित्व उपाध्यायों पर होता है। ये आचार्य के सीधे सम्पर्क में रहते हैं। समाज और व्यक्ति के जीवन की पेचीदिगियों को सुलझाने में ये बड़े सहायक होते हैं, ये जीवन के कलाकार होते हैं।

पाँचवे परमेष्ठी हैं साधु। साधु यानी भले लोग। साधु शब्द आज जनसामान्य के लिए पराया सा बन गया है। साधु कहते ही विशिष्ट वेशधारी, चिह्नधारी, गृह-त्यागी-वैरागी की मूर्ति सामने खड़ी हो जाती है। साधु का सीधा-सादा अर्थ नेक पुरुष होना चाहिए। किसी स्कूल में हजार छात्र पढ़ते हैं। उनमें से सौ-पचास ऐसे भी होते हैं, जो बड़े नेक और सरल, साधु-स्वभाव माने जाते हैं। वे समाज के तौर-तरीकों, नियम-कायदों का सम्मान करते हैं और किसी की बुराई नहीं करते। ऐसे सत्पुरुषों को ही साधु कहना चाहिए। ये समाज के लिए बल और सम्बल होते हैं। समाज को गिरने से बचाने में इनका बड़ा हाथ होता है। उपाध्याय आदि तो कुछ अंशों में समाज

से थोड़े ऊँचे हो जाते हैं, लेकिन साधु तो समाज के ही अंग होते हैं, समाज की अच्छाई-बुराई के बीच रहते हैं और ऊँच-नीच को समझे हैं। रात-दिन की उलझनों से निपटते हैं। साधु पुरुष बड़े कर्त्तव्यपरायण होते हैं, इसलिए समाज के भूषण होते हैं। ये भी परम-इष्ट हैं।

इस तरह ये विभूतियां समाज के लिए परम-इष्ट या पूज्य होती हैं। ये आत्मा में निवास करती हैं। देहगत या इन्द्रियगत विकारों पर विजय प्राप्त करने वाले ही आत्मान्वेषी होते हैं। समाज के प्रति बिना किसी स्वार्थ के समानता का व्यवहार इनका आचरण-सूत्र होता है। ये मुक्ति-मार्ग के पथिक होते हैं, और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की मूर्ति होते हैं। ये हठाग्रह और कट्टरता से परे रहते हैं। हर समस्या को ये द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के आधार पर सुलझाते हैं।

एक ही व्यक्ति उक्त पाँचों स्थितियों तक पहुँच सकता है या उनमें घूमता रह सकता है। हर व्यक्ति जीवन में अनेक बार इनमें से किसी-न-किसी अवस्था का अनुभव करता भी है, भले ही यह अनुभव पलमात्र का हो। सब आत्माओं की शुद्ध अनुभूति एक-सी होती है। इन्द्रियों तथा शारीरिक वासनाओं से ऊपर उठे बिना आत्म-निवास संभव नहीं। आत्म-निवास की उपलब्धि ही आत्मा की शरणता है।

जैन-परम्परा में उक्त पाँचों विभूतियों की आराधना, चिन्तन और जाप प्रतिदिन, प्रतिक्षण करने का विधान और परम्परा है। इसके लिए पंचपरमेष्ठी के नमन का एक मन्त्र ही बन गया है। इस मन्त्र के जाप से, चिन्तन से अद्भुत प्रेरणा और शक्ति मिलती है। लेकिन यह जाप प्रेरक तभी हो सकती है, जब इनके गुणों और विशेषताओं को हृदयंगम करके जीवन को तदनुरूप ढाला जाय, उसमें समरस हुआ जाय। नाम-जाप की भी एक शक्ति होती है और उतनी इन गुण-वाचक विभूतियों में अवश्य है।

आचार्यो ने विषय-कषायजन्य अशान्ति और बेचैनी को दूर करने के लिए मगलवाक्यों या मगलमत्रो को स्मरण करने का विधान किया है। वैदिक-धर्म मे गायत्रीमन्त्र और बौद्ध-धर्म मे त्रिशरणमन्त्र का जैसा और जितना महत्त्व है वैसा ही महत्त्व जैन सम्प्रदाय में णमोकारमन्त्र का है। प्रत्येक सामाजिक या धार्मिककृत्य के आरम्भ के पूर्व इस मन्त्र का स्मरण लाभप्रद समझा जाता है। अत: इस मन्त्र मे प्रतिपादित भावना प्रारम्भिक साधक से लेकर उच्चश्रेणी साधक तक को शान्ति और श्रेयोमार्ग प्रदान करती है। मन्त्र मे नमस्करणीय पञ्चपरमेष्ठी का स्तवन अथवा स्मरण आशा तृष्णा-जन्य आशन्ति को दूर करता है। जिससे सम्यक्त्व का प्रादुर्भाव होता है। आत्मस्वरूप को अवगत करने मे इस मत्र मे प्रतिपादित शुद्ध आत्माए विकारग्रस्त प्राणी के समक्ष प्रेरणाप्रद आदर्शमार्ग उपस्थित करती है जिससे पुण्यास्त्रव तो होता ही है साथ ही शुद्धोपयोग की ओर भी साधक की आत्मशक्ति प्रवृत्त होती है। वीतरागी, शान्त, अलौकिक दिव्यज्ञान धारी, अनुपम दिव्यानन्द और अनन्त सामर्थ्यवान आत्माओं का आदर्श सामने रखने से मिथ्याबुद्धि दूर हो जाती है। दृष्टिकोण मे परिवर्तन आ जाता है। रागद्वेष की भावनाएं निकल जाती हैं और

आध्यात्मिक विकास होने लगता है। अतः आत्मोत्थान एवं पापास्रव के त्याग की दृष्टि से इस मन्त्र का स्मरण जाप एव अनुष्ठान विशेष कल्याणकारी होता है।

णमोकारमन्त्र ऐसा महामगल वाक्य है जिसमे द्वादशाङ्गवाणी का सारभूत दिव्यात्मा पञ्चपरमेष्ठी का पावन नाम निरूपित है। पञ्चपरमेष्ठी के इन नामों के स्मरण, श्रवण, मनन और अनुचिन्तन से प्रत्येक श्रद्धालु व्यक्ति अपने रागद्वेषजन्य विकारों को दूर करने में समर्थ होता है। इस महामंगल का स्मरण अनेक प्रकार के द्वेष और उपद्रवों को शान्त करता है, अशान्त चंचल मन स्थिर और शान्त होता है। जिस प्रकार एक जलते हुए दीपक से अनेक बुझे हुए दीपकों को जलाया जा सकता है उसी प्रकार पंचपरमेष्ठी की विशुद्ध आत्माओ से अपनी ज्ञान ज्योति को प्रज्वलित किया जा सकता है। उसके आदर्श को अपने अन्दर प्रविष्ट किया जा सकता है और उन्ही के समान बनने का दृढ़ संकल्प किया जा सकता है।

दर्शनशास्त्र मे तीन प्रकार के अनुभव बतालाये गए हैं। सहज, इन्द्रियगोचर और आध्यात्मिक या अलौकिक। सहज अनुभव उन व्यक्ति को होता है जो भौतिकवादी हैं तथा जिनकी आत्मा विकसित नही हैं। ये क्षुधा, तृष्णा, मैथुन और मल मूत्रोत्सर्जन आदि प्राकृतिक शरीर सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति में ही सुख और पूर्ति के अभाव में दुःख का अनुभव करते रहते है। ऐसे व्यक्तियो में आत्मविश्वास की मात्रा प्रायः नहीं होती और ये अपनी समस्त क्रियाओं को शरीर सुख हेतु ही पूर्ण करते हैं। आत्मविश्वास या आत्मास्था का ही दूसरा नाम सम्यक्त्व है। णमोकारमत्र की आराधना सहज अनुभव को आत्मविश्वास के रूप मे परिणत कर देती है और शरीर एव आत्मा की उपयोगिता भी व्यक्त हो जाती है।

दूसरे प्रकार का अनुभव प्राकृतिक रमणीय दृश्यो के दर्शन, स्पर्शन आदि के द्वारा इन्द्रियो को होता है। यह प्रथम प्रकार के अनुभव की अपेक्षा सूक्ष्म है किन्तु इस अनुभव से उत्पन्न होने वाला आनन्द भी ऐन्द्रियिक आनन्द है। जिससे आकुलता दूर नहीं हो सकती। आत्म-विश्वास के अभाव में इन्द्रियगोचर अनुभव भी आकुलता का कारण बन सकता है। विकारों की उत्पत्ति इससे अधिक होने लगती है तथा ये विकार नाना प्रकार के रूप धारण कर मोहक अवस्था में प्रस्तुत होते है। जिससे अंहकार और ममकार की वृद्धि होती है। अतएव उस अनुभव जन्य ज्ञान का परिमार्जन भी णमोकार मत्र के द्वारा सम्भव है। इस मत्र में निरूपित वीतरागी आदर्श व्यक्ति को अहभाव के बन्धन से मुक्त करता है और उसे वास्तविक स्थिति का परिज्ञान कराता है। जिस प्रकार गन्दा पानी वस्त्र द्वारा छानने से निर्मल हो जाता है उसी प्रकार णमोकार मंत्र की साधना से सांसारिक अनुभव शुद्ध होकर आत्मिक बन जाते है।

तीसरे प्रकार का अनुभव आध्यात्मिक अनुभव है। इस अनुभव से उत्पन्न आनन्द आलौकिक कहलाता है। सत्संगति, तीर्थाटन, समीचीन ग्रन्थों का स्वाध्याय, देवार्चन, प्रार्थना, एवं मंगल वाक्यों का स्मरण आत्मा में इस प्रकार की शक्ति प्रादुर्भूत करते है जिससे आत्मा मे धर्म धारण की पात्रता आती है। बहिरात्मावस्था दूर हो अंतरात्मावस्था प्राप्त होती है। आत्मबल और

आत्मविश्वास की भूमिका इस मंगल मंत्र का स्मरण है। आचार्य शुभचन्द्र ने अपने ज्ञानार्णव ग्रन्थ में समस्त विपत्तियों, विकारों और पापो से छुटकारा देने वाला यही मत्र बतलाया है। बड़े से बड़ा पापी भी इस मंत्र के स्मरण से शुद्ध हो जाता है।

भावपूर्वक इस मंत्र का जाप और स्मरण करने से पापी और हत्यारा व्यक्ति भी देव-पर्याय को प्राप्त करता है। शास्त्रकारो ने बताया है कि पवित्र, अपवित्र, सोते जागते , चलते फिरते किसी भी अवस्था में इस मत्र का स्मरण करने मे आत्मा सर्वपापों से मुक्त हो जाती है। शरीर और मन पवित्र हो जाते हैं। यह मंत्र देवो की विभूति और सम्पत्ति को आकृष्ट करने वाला है। मुक्तिरुपी लक्ष्मी को वश मे करने वाला है, चतुर्गति मे होने वाले सभी तरह के कष्ट और विपत्तियों को दूर करने वाला है। आत्मा के समस्त पापो को भस्म करने वाला है। मोह का स्तंभन करने वाला हैं, विषयासक्ति को घटाने वाला है। आत्मश्रद्धा को जागृत करने वाला है। और सभी प्रकार से प्राणियों की रक्षा करने वाला है।

एक उपवास करने से आत्मा मे जितनी विशुद्धि उत्पन्न होती है, उतनी ही इस मत्र के 108 बार जाप करने से। अत: मत्र का 108 बार स्मरण करना एक उपवास की फल प्राप्ति है।

णमोकार मंत्र में प्रयुक्त प्रथम पद अर्हन्त है। इस अर्हन्त पद के तीन पाठ उपलब्ध है। अरहन्त, अरिहन्त, और अरुहन्त। इन तीनों पदों की व्याख्या भी आर्ष ग्रन्थों में प्राप्त होती है। धवला टीका में अरिहन्त पाठ आता है। जिसका निर्वचन निम्न प्रकार निबद्ध किया है।

शत्रुओ को नाश करने से 'अरिहन्त' यह सज्ञा प्राप्त होती है। नरक, तिर्यञ्च, कुमानुष और प्रेत इन पर्यायो में निवास करने का कारण मोह है और इस मोहरुपी शत्रु को नाश करने से अरिहन्त कहलाते है।

यहाँ यह आशका उत्पन्न होती है कि मोह को अरि मान लेने पर शेष कर्मो का व्यापार निष्फल हो जायेगा पर यह शका उपयुक्त नही है क्योंकि अवशेष सभी कर्म मोह के आधीन है। मोह के अभाव के शेष कर्म अपना कार्य उप्पन्न करने मे असमर्थ है। अत: मोह की ही प्रधानता है। जब मोह की प्रधानता है तो मोह के नष्ट होने पर भी कितने ही काल तक शेष कर्मों की सत्ता क्यो बनी रह जाती है? अत: समस्त कर्मो को मोह के आधीन मानना उचित नहीं।

उपर्युक्त आशंका भी ठीक प्रतीत नहीं होती क्योंकि मोह रुप अरि के नष्ट हो जाने पर जन्म, मरण की परम्परा रुप संसार के उत्पादन की शक्ति शेष कर्मों में नहीं रहने से उन कर्मों का सत्त्व असत्त्व के समान हो जाता है तथा केवलादि समस्त आत्मगुणों के अविर्भाव के रोकने मे समर्थ कारण होने से भी मोह को प्रधान संज्ञा प्राप्त होती है। अत: उसके नाश करने से 'अरिहन्त' सज्ञा प्राप्त होती है।

अथवा रज-आवरण कर्मों के नाश करने से 'अरिहन्त' यह संज्ञा प्राप्त की जाती है।

ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म धूलि की तरह ब्रह्म और अन्तरंग समस्त त्रिकाल के विषयभूत अनन्त अर्थपर्याय और व्यञ्जन पर्याय रुप वस्तुओं को विषय करने वाले बोध और अनुभव के प्रतिबन्धक होने से रज कहलाते है। मोह को भी रज कहा जाता हैं, क्योंकि जिस प्रकार जिनका मुख भस्म से व्याप्त होता है उनमें कार्य की मन्दता देखी जाती है। उसी प्रकार मोह से जिनकी आत्मा व्याप्त रहती है, उनकी स्वानूभूति में कालुष्य और मन्दता पायी जाती है। अथवा 'रहस्य के' अभाव में भी 'अरिहन्त' संज्ञा प्राप्त होती है। रहस्य अन्तराय कर्म को कहते है। अन्तराय का नाश शेष तीन अघातिया कर्मों के नाश का अविनाभावी है और अन्तराय कर्म के नाश होने पर अघातिया कर्म भ्रष्ट बीज के समान नि:शक्त हो जाते है। इस प्रकार अन्तराय कर्म के नाश से अरिहन्त सज्ञा प्राप्त होती है।

दूसरा पाठान्तर अरुहन्त है। राग द्वेष रुप शत्रुओं को नाश करने वाले अरिहन्त अथवा जिस प्रकार जला हुआ बीज उत्पन्न नहीं होता, उसी प्रकार कर्म नष्ट हो जाने के कारण पुनर्जन्म से रहित अरुहन्त कहलाते है।

अरहन्त शब्द का तीसरा पाठान्तर भी प्राप्त होता है। अरहन्त का अर्थ 'अतिशयपूजार्हत्वाद्वार्हन्त:' अर्थात् सातिशय पूजा के योग्य होने से अर्हन् संज्ञा प्राप्त होती है। क्योंकि गर्भ, जन्म, दीक्षा, केवल और निर्वाण इन पाँचो कल्याणको में देवो द्वारा की गयी पूजाएँ देव, असुर और मनुष्यों की प्राप्त पूजाओ से अधिक है। अत: अतिशयों के योग्य होने से अरहन्त कहलाते हैं। अरहन्त अपने दिव्य ज्ञान द्वारा संसार के समस्त पदार्थों की समस्त अवस्थाओं को प्रत्यक्ष रुप से जानते है। अपने दिव्य दर्शन द्वारा समस्त पदार्थों का सामान्य अवलोकन करते है उनके वचनों से धर्म तीर्थ की प्रवृत्ति होती है।

अब विचारणीय यह है कि उक्त तीनो पाठो में से कौन सा पाठ अधिक समीचीन है? और इन पाठान्तरो का क्या कारण है? और मूल पाठ कौन सा है?

प्राचीन इतिहास, शिलालेख एवं ग्रन्थों का अवलोकन करने से अवगत होता है कि सबसे प्राचीन पाठ अरहन्त है। खारवेल के शिलालेख की पहली पंक्ति में 'नमो अरहंतानं' एवं पन्द्रहवीं पंक्ति मे 'अरहन्त निसोदिया' पाठ उपलब्ध होते है। इसी प्रकार आचार्य वीरसेन द्वारा उद्धृत एक प्राचीन गाथा 'सिद्धि सयम लप्परुवा अरहन्ता दुण्णय कयंता-' में भी अरहन्त पाठ उपलब्ध होता है। षट्खण्ड़गम के मूल सूत्रो में अरहन्त पाठ उपलब्ध है। तीर्थंकर नामकर्म के बन्ध का कारण बतलाते हुए 'अरहन्त मत्तोए' का निर्देश किया गया है। मूलाराधना नामक ग्रन्थ में 'वंदित्ता अरहंते' गाथा (1) और 'अरहंत सिद्ध चेइय' मे अरहन्त शब्द का ही पाठ आया है। अत: अन्य दो पाठों की अपेक्षा अरहन्त पद का पाठ अधिक प्राचीन है और यह अहिंसा संस्कृति के अनुकूल भी है। 'अरिहन्त' पद में प्रयुक्त 'अरि' शब्द शत्रुओं या कर्म शत्रुओं के हन्त-हनन करने वाले निर्वचन में प्रयुक्त है, पर इस कोटि के मंगल मंत्र हन् धातु का प्रयोग अहिंसा संस्कृति

के अनुकूल कदापि नहीं है। अतः कोई अहिसक व्यक्ति इन शब्दों का प्रयोग मगल कार्य में हिसावाची क्रिया पर अन्तराय का कारण माने जाते है। अतः कोई अहिसक व्यक्ति इन शब्दो का प्रयोग मंगल कार्य में किस प्रकार कर सकेगा। खारवेल के शिलालेख मे अकित अरहन्त पद प्राचीनता के साथ मंगल अतिशय का भी द्योतक है। मगल वाक्यों का स्मरण सर्वथा कल्याण कामना से किया जाता है। अतः किसी भी मगल वाक्य मे 'शत्रु' और 'हन्' धातु जैसे पदार्थो का प्रयोग कदापि मागलिक कहा नही जा सकता। अतएव गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण इन पाचो कल्याणकों मे पूजा अतिशय को प्राप्त होने वे तीर्थकर अरहन्त अथवा ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय इन चार कर्मो के नाश होने से अनन्त चतुष्टय विभूतियो की प्राप्ति के कारण तीर्थकर अरहन्त कहलाते है। अतः साधक विघ्न निवारणार्थ या अभीष्ट कार्य सिद्धयर्थ मागलिक पदो का प्रयोग ही करेगा। अर्थ की दृष्टि से पद के मोहनीय होने पर भी शब्द की दृष्टि से महनीयता ही मगल वाक्य का मूलाधार है। मंगलवाक्यो में प्रयुक्त होने वाली शब्दावली इस प्रकार की होनी चाहिए जिसमे समस्त ध्वनियाँ एक साथ मगल का नियोजन करे। साधक की दृष्टि ही किसी दोष से दृष्ट हो तो वह मगल वाक्य कल्याण प्राप्ति का साधन नही हो सकता।

अरहन्त, अरिहन्त, अरुहन्त, इन पदो मे प्रथम पद सर्वाधिक मगलमय है। इसी कारण अधिकाश हस्तलिखित ग्रथो मे इसी पद का पाठ पाया जाता है। मुद्रित पूजापाठो मेभी अरहन्त पद ही सर्वाधिक प्रचालित है। यद्यपि आचार्य वीरसेन के समय मे इस महामंत्र में प्रयुक्त अरिहन्त और अरहन्त पाठान्तर भी प्रचलित थे। इन पाठो का कारण हमारी दृष्टि से निर्वचन शास्त्र का विस्तार है। कर्म बीज के जल जाने के कारण पुनर्जन्म से रहित अरुहन्त तथा कर्म शत्रुओ को नष्ट करने का कारण अरिहन्त ये दोनो पाठ अर्थ विस्तार दिखलाने के लिए ही किये गए प्रतीत होते है। आचार्य वीरसेन ने इसी कारण धवला टीका मे उक्त तीनो पाठो का निर्वचन प्रस्तुत किया है।

मत्र शास्त्र की दृष्टि से विचार करने पर उक्त दोनो पाठ उस समय प्रचलित हुए होगे जब मारण, मोहन उच्चाटन की विधियो का प्रयोग तत्रशास्त्र मे प्रचलित हो गया था। बीजाक्षरो के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि अरिहन्त पद मे प्रयुक्त 'अरि' शब्द मे निहित इकार शक्ति बोधक बीज है और इसका व्यवहार उस शक्ति के लिए किया गया है जो मारण और उच्चाटन के लिए आवश्यक है। अरहन्त से अरिहन्त पद का प्रचलन तान्त्रिक प्रभाव का परिणाम है। अन्यथा मगलमय आत्माओं के स्वरुपांकन मे शक्ति बीज का न्यास सम्भव नही था। अहिंसा सस्कृति आत्मशोधन पर विशेष बल देती है। अतः 'अरि' 'अरु' और अन् का प्रयोग यहाँ सम्भव ही नही है। 'अरुहन्त' पद मे उकार मानसिक उद्वेग का द्योतक बीज है। इस बीज का प्रयोग

शक्तिस्तम्भन या मोहन के लिए मंत्रशास्त्र मे किया जाता है। अतएव स्पष्ट है कि उक्त दोनों पाठों का प्रचार तान्त्रिक प्रवृतियों के विस्तार से ही कल्याण बीज कहा जा सकता है। कुलार्णव तंत्र मे 'अ' कल्याण बीज 'इ' शक्तिबीज और 'उ' उद्वेग बीज माना गया है। जब गुप्तकाल मे सस्कृतियो का समन्वय हुआ तो जैन वाङ्मय मे ऐसे बहुत से तथ्य समाविष्ट हो गए जो वास्तव मे समत्व योग के अनुकूल नही थे। जैनाचार्यों की यह विशेषता है कि वे अन्य स्थानो से प्राप्त सामग्री को भी अपने मे पचा लेते है और उस सामग्री का निर्वचन अपनी मान्यताओ के आधार पर प्रस्तुत करते है। श्री जैन सिद्धान्त भवन आरा में 11वी 12वीं शताब्दी का गायत्री मत्र का एक निवर्चन उपलब्ध है जिसमे समस्त मंत्र की व्याख्या जैन सस्कृति के अनुकूल की गयी है और मत्र की प्रत्येक ध्वनि से पञ्चपरमेष्ठी वाचक शक्तियो को सिद्ध किया गया है। अत: उक्त तीन पाठो मे से प्रथम पाठ अरहन्त संस्कृति रुप 'अर्हन्त' मूल पाठ है। यही पाठ श्रमण सस्कृति के अनुकूल भी है।

इस मन्त्र मे प्रस्तुत 'लोए' 'सव्व' पद अन्त्यदीपक है। जिस प्रकार दीपक भीतर रख देने से अभ्यन्तर के समस्त पदार्थो का प्रकाशन करता है उसी प्रकार उक्त दोनो पद भी अन्य समस्त पदो के ऊपर प्रकाश डालते है। अत: सम्पूर्ण लोक मे निवास करने वाले त्रिकालवर्ती अरहन्त, सिद्ध आचार्य, उपाध्याय और साधुओ को इस मत्र मे नमस्कार किया गया है। खारवेल के शिलालेख मे 'नमो सवसिधान' पाठ पाया जाता है। इस पद में प्रयुक्त सर्वशब्द ही उक्त दोनो पदो को अन्त्यदीपक सिद्ध करने के लिए पर्याप्त प्रमाण है। अतएव णमोकार मत्र का सशोधित पाठ निम्न प्रकार होना चाहिए।

णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व-साहूणं।।

णमोकार मंत्र: एक दृष्टि में

णमोकार मंत्र में आर्या छन्द है।

णमोकार मंत्र प्राकृतभाषा में लिखा गया है।

सर्वप्रथम णमोकार मंत्र षट्खण्डागम ग्रंथ में मंगलाचरण के रुप में लिखा गया है।

एक बार णमोकार मंत्र का शुद्ध उच्चारण करने के लिए तीन श्वासोच्छ्वास लगते है।

णमोकार मंत्र जैनधर्म का मूलमंत्र है। इस मंत्र से 84 लाख मंत्रों की उत्पत्ति हुई है।

णमोकार मंत्र में 5 पद 35 अक्षर और 58 मात्राएं हैं।

णमोकार मंत्र को मूलमंत्र के अतिरिक्त नवकार मंत्र, पंच नमस्कार मंत्र, महामंत्र, अपराजित मंत्र, अनादिमंत्र व मंत्रराज भी कहते हैं।

णमोकार मंत्र बीजाक्षरों की दृष्टि से विलक्षण है, अलौकिक है, अद्‌भुत है, संपूर्ण, परिपूर्ण है, सार्वलौकिक है।

णमोकार मंत्र में 68 बीज है जिनमें से 30 व्योम, 8 जल, 11 भूमि, 6 अग्नि और 20 वायुबीज हैं।

णमोकार मंत्र में ओज है, बल है, आत्मविश्वास है, बीजाक्षरों के रुप में इसमें जो अग्निबीज निहित है उनकी उर्जा निश्चित रुप से आत्मजागृति के लिए फलदायी है।

णमोकार मंत्र एक ऐसी छैनी है जो सम्यक्त्व के माध्यम से मिथ्यात्व तोड़ती है।

णमोकार मंत्र को 18432 प्रकार से पढ़ा जा सकता है।

ध्यान का स्वरुप

ध्यान के माध्यम से शरीर, मन और आत्मा में विलक्षण क्रान्तिकारी परिवर्तन होता है। पाप-कर्म शिथिल, क्षीण होते हैं और पुण्यकर्म दृढ़ प्रभावशाली होते है। इतना ही नहीं आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने सिद्ध किया है कि ध्यान अवस्था में मस्तिष्क से कुछ विशेष तरंगे निकलती है जिससे आभामंण्डल बनता है। यह आभामण्डल इतना शक्तिशाली रहता है कि इस आभामण्डल के अन्दर बड़े-बड़े प्राणघातक अस्त्र-शस्त्र, हिंसक पशु, रोगाणु आदि प्रवेश नहीं करते हैं। इस प्रभामण्डल से प्रभावित होकर जन्मजात हिंसक पशु अपने हिंसा स्वभाव को त्याग नम्र, प्रेमभाव से उन मुनिराज के चरणसानिध्य में रहते हैं। इससे वनस्पति, प्रकृति आदि भी प्रभावित होती है। जिसके कारण पेड़ पौधों में अधिक फल, पुष्प आना, एक ही ऋतु में सम्पूर्ण ऋतुओं के फल पुष्प आना, उस क्षेत्र के जीवों का निरोग होना आदि अलौकिक कार्य होते हैं। इसका वर्णन प्राय: जैन, बौद्ध, हिन्दू, सिक्ख, मुस्लिम आदि सभी धर्मों में पाया जाता है। वर्तमान वैज्ञानिक लोगों ने ध्यान के बारे में विशेष शोधपूर्ण तथ्य समाज के सामने रखे हैं। वैज्ञानिक कहते हैं कि मस्तिष्क में ध्यान के समय अद्‌भुत परिवर्तन हो जाता है।

मस्तिष्क तरंगे - अभी तक निम्न प्रकार की मस्तिष्क तरंगे पाई गई है -

अल्फा, बीटा, थीटा

अल्फा तरंग- ये तरंग तब उठती है जब मस्तिष्क शान्त, निष्क्रिय, तटस्थ और तनाव रहित होता है। यह प्रति सैकेण्ड 8 से 13 आवृत्ति करती है। ध्यानावस्थित योगियों पर परीक्षण करने पर पाया गया है कि उनके मस्तिष्क की यही अल्फा तरंग स्थिति होती है। साधारण आदमी में भी जब यह तरंग उठती है तो एक तरह की शांति आनन्द का अनुभव कराती है।

बीटा तरंग- ये तरंगें प्रति सैकण्ड 14 या उससे अधिक आवृत्ति करती है इनका उदय तब होता है जब आदमी दत्त-चित्त होकर किसी कार्य में लीन होता है जैसे जोड़ना, हिसाब लगाना या कोई गुत्थी सुलझाना। यह सक्रिय दिमाग की स्थिति है।

थीटा तरंग- ये तरंगे प्रति सैकेण्ड 1 से 6 आवृत्ति करती है और नींद की अवस्था में उठती है। जागृत अवस्था में यह शायद ही कभी उठती हैं।

जागृत अवस्था में प्रायः अल्फा और बीटा तरंगे ही उठती है। यह बड़ी अनूठी बात है कि किसी एक क्षण में ही मस्तिष्क के एक हिस्से में अल्फा तरंग उठती रहती है और दूसरे हिस्से में बीटा तरंग। कुछ व्यक्तियों में खासकर अन्तर्मुखी व्यक्तियों में अल्फा तरंगें पैदा होती हैं। दूसरी तरफ कुछ ऐसे लोग भी होते हैं जो लाख कोशिश करने पर भी अल्फा तरंगे पैदा नहीं कर पाते। कुछ योगियों की मस्तिष्क तरंगे शुरु में अल्फा और बाद में बीटा में बदल गई। कुछ तनाव रहित व्यक्तियों में थीटा तरंगे अधिक पाई गई जो गहराई में उतरे तो अचतेन में दबी हुई यादें सजग हो गई।

ध्यानी का प्रभाव हिंस्रपशु आदि के ऊपर कैसे पड़ता है, उसका वर्णन ध्यानशास्त्र 'ज्ञानार्णव' में जैनाचार्य शुभचन्द्र ने निम्न प्रकार से किया है -

शाम्यन्ति जन्तवः क्रूराः बद्धवैराः परस्परम्।
अपि स्वार्थेप्रवृत्तस्य मुनेः साम्यप्रभावतः॥

(ज्ञानार्णवः सर्ग 24, श्लोक 20)

अपने आत्मप्रयोजन की सिद्धि में प्रवृत्त हुए मुनि के साम्यभाव के प्रभाव से परस्पर में वैरभाव को रखने वाले दुष्ट जीव शांति को प्राप्त होते हैं। जातिगत दुष्ट स्वभाव को छोड़ देते है।

भजन्ति जन्तवा मैत्रीयमन्योऽन्यंत्यक्तमत्सराः।
समत्वालम्बिलनां प्राप्य पादपद्मार्चितां क्षितिम्॥

(ज्ञानार्णव· सर्ग 24, श्लोक 21)

साम्यभाव का आश्रय लेने वाले मुनियों के चरण कमलों से पूजित (अधिष्ठित) पृथ्वी को पाकर प्राणी परस्पर में मत्सरता (द्वेष व ईर्ष्या) छोड़कर मित्रता को प्राप्त होते है।

शाम्यन्ति योगिभिः क्रूराः जन्तवो नेति शङ्क.यते।
दावदीप्तमिवारण्यं यथा वृष्टैर्बलाहकैः॥

(ज्ञानार्णव सर्ग 24, श्लोक 22)

जिस प्रकार वर्षा को प्राप्त हुए मेघों के प्रभाव से दावानल से प्रज्वलित वन शान्त हो जाता है उसी प्रकार साम्यभाव को प्राप्त योगियों के प्रभाव से दुष्ट जीव अपनी क्रूरता को छोड़कर शान्त हो जाते हैं, इसमें शंका नहीं है।

भवन्त्यतिप्रसन्नानि कृमलान्यपि देहिनाम्।
चेतांसि योगिसंसर्गेऽगस्त्ययोगे जलानिवत॥

(ज्ञानार्णव· सर्ग 24, श्लोक 23)

जिस प्रकार आगस्त्य तारा के संयोग से बरसात का मलिन जल निर्मल हो जाता है, उसी प्रकार योगियों के संसर्ग से प्राणियों के मलिन मन भी अति निर्मल हो जाते है।

क्षुभ्यन्ति ग्रहयक्षकिन्नरनरास्तुष्यन्ति नाकेश्वराः।
मुञ्चन्ति द्विपदैत्यसिंहशरभव्यालादयः क्रूरताम्।
रुग्वैरप्रतिबन्धविभ्रमभयभ्रष्टं जगज्जायते।
स्याद्योगीन्द्रसमत्वसाध्यमथवा किं किं न सद्यो भुवि॥

(ज्ञानार्णवः सर्ग 24, श्लोक 24)

साम्यभाव के धारक योगियों के प्रभाव से शनि आदि दुष्ट ग्रह, यक्ष, किन्नर और मनुष्य क्षोभ को प्राप्त होते है। इन्द्र सन्तुष्ट होते है, हाथी, दैत्य, सिंह, अस्पष्ट और सर्प आदि दुष्टता को छोड़ देते हैं, तथा लोक, रोग, विघ्नबाधा, विभ्रम (भ्रान्ति) और भय से रहित हो जाता है। अथवा ठीक ही है, लोक में योगीन्द्रों के समताभाव से शीघ्र ही क्या क्या नहीं सिद्ध किया जाता है? उस प्रभाव से सब प्रकार का अभीष्ट सिद्ध होता है।

चन्द्रः सान्द्रैर्विकिरति सुधामंशुभिर्जीवलोके
भास्वानुग्रैः किरणपटलैरुच्छिनत्त्यन्धकारम्।
धात्री धत्ते भुवनमखिलं विश्वमेतच्च वायु
र्यद्वत्साम्याच्छमयति तथा जन्तुजातं यतीन्द्रः॥

(ज्ञानार्णवः सर्ग 24, श्लोक 25)

जिस प्रकार चन्द्रमा अपनी सघन किरणों के द्वारा जीव लोक में अमृत की वर्षा करता है, जिस प्रकार सूर्य स्वभाव से अपने तीक्ष्ण किरण समूहों के द्वारा अन्धकार को नष्ट करता है, जिस प्रकार पृथ्वी स्वभाव से समस्त लोक को धारण करती है तथा जिस प्रकार वायु (वातवलय) स्वभाव से इस विश्व को धारण करती है, उसी प्रकार मुनीन्द्र स्वभाव से प्राणी समूह को शान्त किया करते है।

सारङ्गी सिंहशावं स्पृशति सुतधिया नंदिनी व्याघ्रपोतं
मार्जारी हंसबालं प्रणयपरवश केकिकान्ता भुजङ्गम्।
वैराण्याजन्मजातान्यपि गलितमदा जन्तवोऽन्ये त्यजन्ति
श्रित्वा साम्यैकरुढं प्रशमितकलुषं योगिनं क्षीणमोहम्॥

(ज्ञानार्णवः सर्ग 24, श्लोक 26)

जिस योगी ने मोह से रहित होकर पाप को शान्त कर दिया है और असाधारण साम्य भाव को प्राप्त कर लिया है उसका आश्रय पाकर मृगी सिंह के बच्चे को पुत्र के समान स्नेह से स्पर्श करती है, गाय व्याघ्र के बच्चे को बछड़े के समान प्रेम करती है, बिल्ली हंस के बच्चे से स्नेह

करती है, तथा मयूरी स्नेह के वशीभूत होकर सर्प का स्पर्श करती है। इसी प्रकार अन्य प्राणी भी अभिमान से रहित होकर उक्त योगी के प्रभाव से जन्म से उत्पन्न हुए भी वैरभाव को छोड़ देते हैं। अब वैज्ञानिक तेजोवलय के स्पेक्ट्रम (दिखाई देने वाले रंगों) के आधार पर यह जान सकते हैं कि अमुक व्यक्ति का व्यक्तित्व स्तर क्या है? उसके गुण व स्वभाव में किस प्रकार की कमी-बेशी है? इतना ही नहीं, उसकी प्रकृति और शरीरिक, मानसिक स्थिति की भी बहुत हद तक पता लगाया जा सकता है। निदान होने पर तद्नुरुप औषधि चिकित्सा अपने रोगी की स्थिति का विश्लेषण अपनी सूक्ष्म इन्द्रियों के सहारे ही कर लेता है, जबकि सामान्य तथा पैथोलॉजी के विभिन्न परीक्षणों एवं इलेक्ट्रोफिजीयोलीजी की जाँच के आधार पर अनेक प्रकार के जटिल यन्त्रों की सहायता से वस्तुस्थिति का पता लगाया जाता है।

स्थूल रुप से वाष्प ऊर्जा को मापे जाने के प्रयास थर्मोग्राफी से हुए है। वैज्ञानिक ऐसा मानते हैं कि अन्दर की सक्रिय ऊर्जा त्वचा में रक्त प्रवाह के माध्यम से बाहर अभिसरित होती है, वह इस प्रकार पूरे शरीर का मैपिंग (मापन) किया जा सकना सम्भव है। एक विचित्र बात इस अनुसन्धान से सामने आई है कि जो अंग व्याधिग्रस्त रहते हैं या आगे चलकर जिनके प्रभावित होने की सम्भावना रहती है, वे काफी पहले से उष्मा परिवर्तन बताने लगते है। इन्हें ''कोल्ड'' एवं ''हॉट'' क्षेत्र कहते हैं। जहाँ कैंसर होता या होने की सम्भावना रहती है, वे स्थान आसपास के हल्के आसमानी या ग्रे रंग की तुलना में लाल या काले रंग की ऊष्मा फेंकते हैं। एक औसत वजन व क्षेत्रफल (175 वर्ग मीटर) वाले शरीर से 875 वॉट शक्ति की ऊर्जा उत्सर्जित होती है। इस प्रकार थर्मोग्राफी के माध्यम से सारे शरीर के निकलने वाला रेडिएशन (विकिरण) मापा जाता है जो कि आँखों से न देखी जा सकने वाल इन्फ्रारेड से भी परे की तरंगों के स्तर का होता है।

थर्मोग्राफी से आगे चलें तो किलिर्यन फोटोग्राफी एवं आर्गोन एनर्जी मापे जाने वाले यन्त्र की बारी आती है जो तथाकथित वाष्प प्रकार का मापन करते हैं। किलिर्यन फोटोग्राफी बहुत दिनों तक विवाद का विषय बनी रही, पर ड्यूक विश्वविद्यालय के इलेक्ट्रीकल इन्जीनियरिंग विभाग के लेरी बर्टन, विलियम जॉइन्स एवं ब्रेड स्टीवेन्स ने 19वीं शताब्दी में पैरासाइकोलॉजीकल एसोसिएशन कन्वेंशन, न्यूयार्क में यह प्रमाणित किया है कि जो स्पेक्ट्रम ओरा के रुप में रिकार्ड होता है, उसे विशेष फोटोमल्टीप्यालयर ट्यूब्स एवं ऑप्टीकल फिल्टर्स द्वारा देखा जा सकता है। एवं वह लाल वर्ण क्रम के 770 नैनोमीटर रैंज में अंकित होता है। इसी तथ्य का डॉ. थेलमा मास (यू सी.एल.ए., न्यारोसाइकिएट्री संस्थान) ने भी अपने प्रयोगों से सत्यापन किया है कि शरीर के आसपास एक ऊर्जा मण्डल बनाते हैं। जनरल ऑफ ऑर्गोनॉमी में विल्हेम राइव के द्वारा नवम्बर 1971 के आर्गोन एक्यामुलेटर्स को निदान व चिकित्सा दोनों ही क्षेत्रों में काफी मान्यता मिली है।

जैनागम मे ध्यान तप के अन्तर्गत आता है। अभ्यन्तर तप के छह भेदों में अन्तिम भेद ध्यान

है। इस ध्यान के बल से ही मुनि कर्मों का नाश करते है। कहा भी है -

सभी सारो मे भी सारभूत तत्व क्या है? हे गौतम! वह सार ध्यान ही है, ऐसा सर्वदर्शियो ने कहा है।

ध्यान का लक्षण- एक विषय में चित्तवृत्ति को रोकना ध्यान है। यह उत्तम संहनन वाले को एक अन्तर्मुहूर्त तक हो मकता है।

ध्यान के चार भेद हैं - आर्त रौद्र, धर्म और शुक्ल।

इनमे से आर्त रौद्र ध्यान ससार के हेतु है और धर्म, शुक्ल ध्यान मोक्ष के हेतु हैं।

आर्तध्यान

पीड़ा से उत्पन्न हुए ध्यान को आर्तध्यान कहते है। इसके चार भेद हैं -

विष, कटक, शत्रु आदि अप्रिय पदार्थो का सयोग हो जाने पर "वे कैसे दूर हो" इस प्रकार चिन्ता करना प्रथम अनष्टि मयोगज आर्तध्यान है।

अपने इष्ट-पुत्र स्त्री और धनादिक के वियोग हो जाने पर उसकी प्राप्ति के लिए निरन्तर चिन्ता करना द्वितीय इष्ट वियोगज आर्तध्यान है।

वेदना के होन उसे दूर करने के लिए सतत चिन्ता करना तीसरा वेदनाजान्य आर्तध्यान है।

आगामीकाल म विषयो की प्राप्ति के लिए निरन्तर चिन्ता करना चौथा निदानज आर्तध्यान है।

यह आर्तध्यान छठ गुणस्थान तक हो सकता है। छठे मे निदान नाम का आर्तध्यान नही हो सकता है।

रौद्रध्यान

क्रूर परिणामो स उत्पन्न हुए ध्यान को रौद्रध्यान कहते है। उसके चार भेद है-

1 हिमा म आनन्द मानना हिंसानन्द रौद्रध्यान है।

2 झूठ बालने मे आनन्द मानना मृषानन्द रौद्रध्यान है।

3 चोरी म आनन्द मानना चौर्यानन्द रौद्रध्यान है।

4 विषयो क संरक्षण मे आनन्द मानना परिग्रहानन्द रौद्रध्यान है।

यह ध्यान पाँचवे गुणस्थान तक हो सकता है किन्तु देशविरतो का रौद्रध्यान नरक आदि दुर्गतियो का कारण नही हा सकता है।

धर्मध्यान

ससार, शरीर ओर भोगो से विरक्त होने के लिए या विरक्त होने पर उस भाव की स्थिरता क लिए जो प्राणिधान होता है उस धर्मध्यान कहते है।

उसके चार भेद है - आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान। इनकी विचारणा के निमित्त मन को एकाग्र करना धर्मध्यान है।

सर्वज्ञ प्रणीत आगम को प्रमाण मान करके 'यह इसी प्रकार है' क्योंकि जिनेन्द्र भगवान अन्यथावादी नही है। इस प्रकार सूक्ष्मपदार्थों का भी श्रद्धान कर लेना आज्ञाविचय धर्म ध्यान है।

मिथ्यादृष्टि प्राणी उन्मार्ग से कैसे दूर होंगे? इस प्रकार निरन्तर चिन्तन करना अपायविचय धर्मध्यान है।

ज्ञानावरणादि कर्मो के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव निमित्तक फल के अनुभव के प्रति उपयोग का होना विपाकविचय धर्मध्यान है।

लोक के आकार और स्वभाव का निरन्तर चिन्तवन करना संस्थानविचय धर्मध्यान है।

प्रतिक्रमण ग्रन्थत्रयी धर्म्यध्यान के दश भेद भी माने है। यथा-

अपायवियच, उपायविचय, विपाकविचय, विरागविचय, लोकविचय, भवविचय, जीवविचय, आज्ञाविचय, सस्थानविचय, ससारविचय, - ये धर्मध्यान के दश भेद है।

मुख्यरुप से सस्थान विचय आदि धर्म्यध्यान के स्वामी मुनि ही है। किन्तु गौण रुप से असयत सम्यग्दृष्टि और देशविरत भी माने गए है। अर्थात् यथाशक्ति श्रावको को भी ध्यान का अभ्यास करना चाहिये।

संस्थानविचय धर्मध्यान

सस्थानविचय धर्मध्यान के चार भेद है- पिण्ड्स्थ, पदस्थ, रुपस्थ, रुपातीत।

पिण्डस्थ ध्यान - पिण्डस्थ ध्यान मे पाँच धाराणाएं बताई गई हैं। उनके बल से सयमी मुनि ज्ञानी होकर ससार रुपी पाश को काट ड़ालता है।

उनके नाम - पार्थिवी, आग्नेयी , श्वसना, वारुणी और तत्वरुपवती।

पार्थिवी धारणा- प्रथम ही योगी, मध्यलोक में स्वयंभू-रमण समुद्र पर्यन्त जो तिर्यक्‌लोक है, उसके समान कल्लोल रहित, क्षीर समुद्र का ध्यान करें। इस समुद्र के मध्य भाग में सुन्दर सुवर्ण जैसी प्रभावाले और जम्बूद्वीप सदृश एक लाख योजन विस्तार के एक सहस्रदल कमल का चिन्तवन करे। उस कमल के मध्य में मेरु सदृश और पीत रंग वाली कर्णिका है। उस पर श्वेतवर्ण का सिहांसन है, उस पर योगी अपनी आत्मा का शान्तस्वरुप चिन्तवन करें।

पुन: उस सिहासन पर बैठे हुए चिन्तवन करे कि - मेरी आत्मा कर्मो का नाश करने मे उद्यमशील है।

आग्नेयी धारण - तत्पश्चात् वह योगी ध्यान करता है कि - अपने नाभिमण्डल में सोलह ऊँचे-ऊँचे पत्तों वाला एक कमल है। उन पत्तों पर क्रम से 'अ, आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ल लृ ए ऐ ओ औ अं अ:' ये सोलह अक्षर लिखे हैं। कमल की कर्णिका पर 'र्हं' महामंत्र विराजमान

है। पुनः सोचे कि - हृदय में स्थित एक कमल अधोमुख है, आठ पांखुरी वाला है, उन पत्तों पर क्रम से आठ कर्म स्थित है। नाभि में स्थित कमल के 'र्हं' से अग्नि की लौं निकलती हुई ऊपर बढ़ते-बढ़ते आठ दल कमल को जला रही है। कमल को दग्ध करते हुए (अग्नि बाहर) व्याप्त होकर पश्चात् त्रिकोण अग्नि बन जाती है जो कि ज्वाला समूह जलते हुए बड़वानल के समान है। बाह्य त्रिकोण अग्नि बीजाक्षर 'रं' से व्याप्त और अन्त में साथिया के चिन्ह से चिन्हित है एवं ऊर्ध्व मण्डल में उत्पन्न धूम रहित कांचन की सी प्रभावान है। यह अग्निमण्डल नाभिस्थ उस कमल और शरीर को भस्म करके जलाने योग्य पदार्थ का अभाव होने से धीरे-धीरे स्वयं शान्त हो जाता है।

श्वसना (वायवी) धारणा- पुनः वह ध्यानी सोचता है कि- आकाश में विचरण करता हुआ महावेगवान् वायुमण्ड्ल है अर्थात् पर्वतों को कम्पित करती हुई महावेगशाली वायु चल रही है और जो शरीरादि की भस्म है उसको इसने तत्काल उड़ा दिया फिर शान्त हो गई।

वारुणी धारणा- पुनः बिजली, इन्द्रधनुष आदि सहित मेघमण्डल चारों तरफ से मूसलाधार वर्षा कर रहा है। यह जल शरीर के जलने से उत्पन्न हुए समस्त भस्म को प्रक्षालित कर देता है।

तत्त्वरुपवती धारणा- तत्पश्चात् 'मैं' सप्तधातु रहित पूर्णचन्द्रवत् निर्मल सर्वज्ञ सदृश हो गया हूँ। सिंहासन पर आरुढ़ हूँ, देव असुर आदि से पूजित हूँ। ऐसा चिन्तवन करें।

इस प्रकार पिण्डस्थ ध्यान में निश्चल अभ्यास करता हुआ ध्यानी मुनि मोक्षसुख को शीघ्र ही प्राप्त कर लेता है।

पदस्थ ध्यान - जिसको योगीश्वर अनेक पवित्र मत्रो के अक्षर पदो का अवलंबन करके चिन्तवन करते हैं। उसे पदस्थ ध्यान कहते है।

वर्णमातृका ध्यान- अनादि सिद्धान्त में प्रसिद्ध वर्णमातृका का ध्यान करना चाहिए। उसकी विधि ध्यानी मनुष्य नाभि में स्थित सोलहदल वाले कमल के पत्तों पर क्रम से 'अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ लॄ ए ऐ ओ औ अं अः' इन अक्षरों का चिन्तन करें। पुनः हृदय स्थान पर कर्णिका सहित चौबीसपत्रों के कमल पर क्रम से पच्चीस अक्षरों का ध्यान करें, अर्थात् कर्णिका पर 'क' से लेकर क्रम से प्रत्येक दल पर 'ख ग घ ङ, च छ ज झ ञ, ट ठ ड् ढ् ण, त थ द ध न, प फ ब भ म,' ये पच्चीस अक्षर है। तत्पश्चात् आठ पत्रों से विभूषित मुख कमल के प्रत्येक दल पर भ्रमण करते हुय 'य र ल व, श ष स ह' इन आठ वर्णों का ध्यान करें। इस प्रकार से वर्णमातृका का ध्यान करने वाला मनुष्य समस्त श्रुत पारंगत - श्रुतकेवली हो जाता है। इसका जाप्य क्षय रोग, अरुचिपना, अग्निमन्दता, कुष्ठ, उदर रोग, श्वास-कास आदि रोगों को भी जीतता है और उसके वचनसिद्धि आदि भी प्राप्त हो जाती है।

ऐसे ही हदय कमल, ललाट अदि में 'ऊँ' 'ह्री' आदि मंत्रों का ध्यान करना चाहिए।

हृदय मे आठ पांखुरी का कमल स्थापित करके उसकी कर्णिका पर 'णमो अरहंताणं' उस

कर्णिका से बाहर आठ पत्तों में से चार दिशाओं के चार दलों पर क्रम से 'णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं, इन मंत्रो का ध्यान करे एवं चारविदिशाओं के चार पत्तों पर सम्यग्दर्शनाय नमः, सम्यग्ज्ञानाय नमः, सम्यक्चारित्राय नमः, सम्यक्तपसे नमः इन चार मंत्रों का चिन्तवन करें।'

और भी अनेक मंत्रों के ध्यान का अभ्यास करना चाहिये जिससे कि मन की चंचलता का अभाव होता है। और सातिशय पुण्य का भी बध होते हुए तमाम पाप कर्मों की निर्जरा हो जाती है।

रुपस्थ और रुपातीत ध्यान - इस रुपस्थ ध्यान में समवशरण में स्थित अर्हन्त परमेष्ठी का ध्यान किया जाता है। आगम से समवशरण का विस्तृत वर्णन समझ करके उसका ध्यान करें।

रुपातीत ध्यान में अमूर्त, अजन्मा, इन्द्रियों के अगोचर ऐसे परमात्मा -सिद्ध परमेष्ठी का ध्यान करता है। पुनः वह योगी अपनी आत्मा को ही शुद्ध, बुद्ध निरंजन, निर्विकार, परमात्मास्वरुप चिन्तवन करता है। 'मैं ही सर्वज्ञ हूँ' व्यापक हूँ, सिद्ध हूँ, इत्यादि रुप से अपनी शुद्ध आत्मा का ध्यान करता है।

इस प्रकार से ध्यानी, रुपातीत ध्यान मे सिद्ध परमेष्ठी के ध्यान का अभ्यास करके शक्ति की अपेक्षा से अपने आपको भी उनके समान जानकर और अपने आपको उनके समान व्यक्त करने के लिए उसमे (अपने आप मे) लीन हो जाता है। तब आप ही कर्मो का नाश करके व्यक्त रुप सिद्ध परमेष्ठी हो जाता है।

शुक्ल ध्यान - जिस प्रकार अचल दीपक सघन अन्धकार को शीघ्र ही नष्ट कर देता है, उसी प्रकार मुनि का सुनिश्चल धर्मध्यान भी कर्म कलंक के समूह को शीघ्र ही नष्ट कर देता है।

जिनके आदि का संहनन है और जो वैराग्यपदवी को प्राप्त हुए है, ऐसे पुरुष ही अपने चित्त को शुक्लध्यान करने में सर्मथ ऐसा निश्चय कर सकते है। अर्थात् उत्तम संहनन वाला ही मुनि शरीर को छेदने, भेदने, मारने और जलाने पर भी अपनी आत्मा में उस शरीर को अत्यन्त भिन्न देखता हुआ चलायमान नहीं होता है। चित्राम की तरह मूर्तिवत् निश्चल रहता है। वही शुक्लध्यान का पात्र हो सकता है। जिसके प्रथम वज्रवृषभनाराचसंहनन है, जो ग्यारह अंग और चौदह पूर्व का जानने वाला है, शुद्ध चारित्रवान् है वही मुनि चारों प्रकार के शुक्लध्यान को धारण करने के योग्य होता है।

शुक्लध्यान का लक्षण - जो निष्क्रिय है, इन्द्रियातीत है और ''मैं इसका ध्यान करुँ इस प्रकार के विकल्प से रहित है। जिसमें चित्त अपने स्वरुप के ही सम्मुख है ऐसा आत्मा के शुचिगुण के सम्बन्ध से यह शुक्लध्यान कहलाता है।

शुक्लध्यान के चार भेद है- पृथक्त्व वितर्क, एकत्वविक्र, सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाती और व्युपरत क्रियानिवृत्ति। इनमें से पहले के दो ध्यान तो छद्मस्थ योगी- बारहवें गुणस्थान पर्यन्त श्रुतकेवलियों के होते हैं और अन्त के दो ध्यान केवलज्ञानियों के ही होते हैं।

पृथत्ववितर्क - जिसमें पृथक-पृथक रुप से श्रुतज्ञान बदलता रहता है। अर्थात् अर्थव्यजन और योगों का सक्रमण होता रहता है। वह प्रथम शुक्लध्यान है।

एकत्ववितर्क - जिसमे अर्थ, व्यजन आदि का सक्रमण न हो, जो एक रुप से ही स्थित हो उसे एकत्ववितक्र कहते है।

प्रथम शुक्लध्यान से मोहनीय कर्म का उपशम अथवा क्षय हो जाता है और द्वितीय शुक्लध्यान से बारहवें गुणस्थान मे शेष तीन घातिया कर्मों का अभाव हो जाता है।

वे योगी द्वितीय शुक्लध्यान से घातिया कर्मों का नाश करके लोकाकाश प्रकाशी केवलज्ञान को प्राप्त कर लेते है और नवकेवललब्धियो के स्वामी परमात्मा हो जाते है। समवशरण मे विराजमान हुए वे भगवान बहुत काल तक भव्यो को धर्मोपदेश देते हुए अन्त में योग निरोध करते है।

जो जिनदेव उत्कृष्ट आयु छह महीने की अवशेष रहते हुय केवली हुए हैं उनके अवश्य ही समुद्घात होता है और जो छह महीने से अधिक आयु शेष रखते हुए केवली हुए हैं उसके समुद्घात मे विकल्प है अर्थात् हो या न भी हो।

जब केवली भगवान की आयु अन्तर्मुहूर्तमात्र अवशेष रह जाती है तब उनके बाहर मनोवचन योग सूक्ष्म होकर बादरकाय योग भी सूक्ष्म हो जाता है, तथा 'सूक्ष्म वचन मनोयोग का निग्रह करके सूक्ष्म एक काययोग में स्थित हो जाते है उनका वह ध्यान सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति कहलाता है। अनन्तर सूक्ष्म काययोग से रहित होते हुए केवली चौदहवें गुणस्थान मे अयोगी कहलाते है। उनके उपान्त्य समय मे चौथा व्युपरतक्रियानिवृति नाम का शुक्लध्यान प्रगट होता है जिससे बहत्तर प्रकृतियो का नाश होकर अन्तिम समय मे शेष तेरह प्रकृतियो का विलय हो जाता है। इस चौहदवे गुणस्थान का काल लघु ह्स्वाकार 'अ इ उ ऋ लृ' के उच्चारण काल-प्रमाण है। इसके अनन्तर वे अयोगीभगवान कर्मो के बन्धन से रहित होते हुए एक समय मे ही ऊर्ध्वगमन स्वभावी होने से लोक के अग्रभाग मे विराजमान हो जाते हैं। लोकाग्रभाग से आगे धर्मास्तिकाय का अभाव होने से इनका आगे गमन नही होता है, अतः वही सदा सदा के लिए विराजमान हो जाते है।

पांच लब्धियां

लब्धियां - किसी भी गति का जीव जब सम्यक्त्व धारण करने के योग्य बनता है तब नियम से पांच लब्धियों को प्राप्त होता है। लब्धि का अर्थ है प्राप्ति, अर्थात् सम्यक्त्व ग्रहण करने के योग्य सामग्री की प्राप्ति। लब्धियों के नाम इस प्रकार है - क्षयोपशमिक, विशुद्धि, देशना, प्रयोग्य और करण। इन पांच लब्धियों में से चार लब्धि तो सामान्य हैं, ये भव्य और अभव्य दोनों के होती है, परन्तु कारण लब्धियां सम्यक्त्व के सन्मुख भव्यजीवों के ही होगीं। इन पांच लब्धियो का स्वरुप इस प्रकार है -

चतुर्गति के अन्दर परिभ्रमण करते हुए अनादि मिथ्यादृष्टि भव्यजीव का संसारकाल अधिक से अधिक अर्द्धपुद्गल परावर्तन शेष रह गया हो तब उसे प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने की योग्यता होती है। इसे प्रथम काललब्धि कहते है। इस प्रथम काललब्धि के होने पर यह जीव देव या नारकी पर्याय में हो अथवा पर्याप्तक सैनी, गर्भज, भव्य मनुष्य या तिर्यञ्च पर्याय के अन्दर हो एवं साकार ज्ञानोपयोग सहित हो तथा क्षयोपशमलब्धि के प्रथम समय से लेकर प्रतिसमय बढ़ती हुई परिणामो की अनन्तगुणी विशुद्धता से पांचवी करणलब्धि के उत्कृष्ट भागरुप अनिवृतिकरण परिणामों के अन्तिम समय मे स्थित हो। मनुष्य, तिर्यञ्चगति वाला जीव प्रथम तीन लेश्याओं वाला हो और उस जीव के न तो उत्कृष्ट स्थिति वाले कर्मों का बंध हो और न जघन्य स्थिति वाले कर्मों का बन्ध हो अर्थात् अत: कोटाकोटि सागर परिणाम रख ले यह कर्मस्थिति नाम की दूसरी काललब्धि है।

क्षायोपशमिकलब्धि - पूर्व संचित अशुभ कर्मपटल के अनुभागस्पर्धकों का विशुद्धि द्वारा प्रति समय अनन्तगतिहीन न होते हुए झरना अर्थात् उदीरणा को प्राप्त होना क्षायोपशमिक लब्धि है। इस लब्धि के द्वारा जीव के परिणाम उत्तरोत्तर निर्मल होते जाते हैं।

विशुद्धिलब्धि - निर्मलता विशेष को या साता वेदनीय आदि प्रशस्त प्रकृतियो के बन्ध में कारणभूत परिणमो की प्राप्ति को विशुद्धिलब्धि कहते है।

देशनालब्धि - आचार्य आदि के द्वारा दिए हुए छह द्रव्य, नवपदार्थ आदि के उपदेश सुनकर जो धारण करने की योग्यता है उसे ही देशनालब्धि कहते है।

प्रायोग्यलब्धि - पचेन्द्रयादिस्वरुप योग्यता के मिलने को प्रायोग्य लब्धि या आयुकर्म कहते है। इसे छोड़कर शेष सात कर्मो की स्थिति को अन्त: कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण कर देना और अशुभ कर्मों में से घातिया कर्मो के अनुभाग को लता और दारु इन दो स्थानगत तथा अघातिया कर्मों के अनुभाग को नीम और काजी इन दो स्थानगत कर देना प्रायोग्यलब्धि है।

करणलब्धि- करण भावो को कहते है। सम्यग्दर्शन प्राप्त करने वाले भावों की प्राप्ति को करणलब्धि कहते है। इनमे तीन भेद हैं - अध:करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण। जिसमें अगामी समय मे रहने वाले जीवो के परिणाम पिछले समयवर्ती जीवों के परिणामों से समान व असमान दोनो प्रकार होते है। परिणामों की समानता और असमानता नाना जीवों की अपेक्षा घटित होते है। इस करण का काल अन्तर्मुहूर्त से छोटा है। इस अन्तर्मुहूर्त प्रमाणकाल को अध:करण कहते है। जिसमे प्रत्येक समय अपूर्व अपूर्व नये-नये परिणाम होते है उसे अपूर्वकरण कहते है। अपूर्वकरण में समसमयवर्ती जीवों के परिणाम समान होते हैं। किन्तु भिन्न समसमवर्ती जीवों के परिणाम समान भी हो सकते हैं और असमान भी। यह कथन भी नाना जीवों की अपेक्षा है। इस करण का काल भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। किन्तु यह अन्तर्मुहूर्त अध:प्रवृतिकरण के अन्तर्मुहूर्त से छोटा है। इस अन्तर्मुहूर्त प्रमाणकाल मे भी उत्तरोत्तरवृद्धि को लिए हुये असख्यातलोकप्रमाण परिणाम होते हैं। जिसमें एक समय में एक ही परिणाम होता है उसे अनिवृत्तिकरण कहते है।

इन कारणों के कुछ आवश्यक भी होते हैं। यहाँ पर पुस्तक बढ़ने केभय से इनका विवेचन नहीं किया जा रहा है, जीवकाण्ड, लब्धिसार आदि ग्रन्थों से पूर्ण जान लेना चाहिये।

उपशम सम्यक्त्व - उपशम शब्द का अर्थ होता है, दब जाना, जिस प्रकार मैले पानी के अन्दर कतक आदि डालने पर उसका कीचड़ नीचे दब जाता है, और पानी बिल्कुल स्वच्छ हो जाता है, उसी प्रकार भेदज्ञानरुपी निर्मली के बीज आत्मरुपी पानी में डालने पर पांच प्रकृति रुपी कीचड़ अर्थात् अनन्तानुबधी क्रोध, मान, माया और लोभ तथा मिथ्यात्व दब जाता है, इसे ही उपशम सम्यग्दर्शन कहते हैं। इन पांच प्रकृतियों का उपशम हो जाने पर सत्ता में रहते हुए भी आत्मपरिणामो के अन्दर अन्तर्मुहूर्त तक कुछ भी मलिनता उत्पन्न नही होती अर्थात् परिणाम विशुद्ध ही रहते है।

उपशम सम्यक्त्व के दो भेद हैं- 1. प्रथमोपशम सम्यक्त्व, 2. द्वितीयोपशम सम्यक्त्व। प्रथमोपशम सम्यक्त्व सादि मिथ्यादृष्टि के भी होता है और अनादि के भी। अनादि मिथ्यादृष्टि वह जीव कहलाता है जिसे आज तक सम्यक्त्व की प्राप्ति नही हुई। इस अनादि मिथ्यादृष्टि जीव के मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान माया और लोभ इन पाच प्रकृतियो का ही उपशम करके प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्राप्त होता है।

सम्यक्त्व के प्रभाव से अनादि मिथ्यादृष्टि मिथ्यात्वप्रकृति के तीन खण्ड कर देता है- मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति। ये दर्शनमोहनीय की तीन और चार अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और मिलकर सात प्रकृतिया कही जाती है। सभी उपशम सम्यक्त्वो की उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति एक अन्तर्मुहूत मात्र है। इसके पश्चात् नियम से जीव मिथ्यादृष्टि बन जाता है। इसलिए जो सम्यक्त्व के काल मे उक्त तीनो प्रकृतियो की उद्वेलना से तीनो को ही मिथ्यात्वरुप कर डालता है, उद्वेलना करने वाले जीव के पाच प्रकृतियां ही सत्ता में रहती है। जो उद्वेलना नही करता उसके सात प्रकृतियो सत्ता में बनी रहती है। योग्य निमित्त मिलने पर कभी यह जीव पुनः सम्यक्त्व की प्राप्ति करे तो सात वाला सात का और पाच वाला पाच प्रकृतियो का उपशम करके उपशम सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। जब तक यह क्रम चलता रहता है और यही जीव उपशम श्रेणी न मोड़े तब तक प्रथमोपशम सम्यक्त्वी कहलाता है। इस उपशम सम्यक्त्व को एक जीव असख्यात बार प्राप्त कर सकता है और छोड़ सकता है।

द्वितीयोपशमसम्यक्त्व - क्षायोपशम सम्यक्त्व के बाद श्रेणी चढ़ते समय सातवें गुणस्थान के सातिशय भेद में होता है। इसका धारक सातवें गुणस्थान से ग्यारहवें गुणस्थान तक जाता है। वहाँ से नियम के गिरकर नीचे आता है।

क्षायिकसम्यक्त्व - मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व और सम्क्त्वप्रकृति तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ इन प्रकृतियों का क्षय होना ही क्षायिकसम्यक्त्व है। दर्शनमोहनीय की क्षपणा अर्थात् क्षय का आरम्भ कर्मभूमिज मनुष्य ही करता है, और वह भी केवली या श्रुतकेवली के पादमूल में क्षपणा का क्रम इस प्रकार है - उपयुक्त सात प्रकृतियों में से

अनन्ताबुन्धी की चौकड़ी और मिथ्यात्व का जिसके क्षय हो गया है सिर्फ सम्यक्त्व प्रकृति का उदय शेष रह गया है वह कृतकृत्यवेदकसम्यग्दृष्टि कहलाता है। असंयतादि चार गुणस्थान वाले अनन्तानुबन्धी आदि सात प्रकृतियों का क्रम से क्षय कर क्षायिकसम्यग्दृष्टि होते है। उन सातों में से पहले अनन्तानुबन्धी चार को अनिवृत्तिकरणरुप परिणामों के अन्तर्मुहूर्त काल के अन्त समय में एक ही बार विसंयोजन अर्थात् अनन्तानुबन्धी चौकड़ी को अप्रत्याख्यानादि बारह कषायरुप परिणमन करा देता है तथा अनिवृत्तिकरण काल के बहुभाग को छोड़कर शेष संख्यातवें एक भाग में पहले समय से लेकर क्रम से मिथ्यात्व, मिश्र तथा सम्यक्त्व प्रकृति का क्षय करता है, यदि कदाचित् पूर्ण क्षय होने से प्रथम ही मरण को प्राप्त हो जाये तो उस क्षपण की समाप्ति चारों गतियों में से किसी भी गति में हो सकती है। अन्य सम्यक्त्व होकर छूट जाते है, परन्तु यह होने के बाद कभी नहीं छूटता। संसार स्थिति की अपेक्षा से इसका समय 8 वर्ष अन्तर्मुहूर्त कम दो कोटि पूर्व अधिक तैंतीस सागर प्रमाण है। क्षायिक सम्यक्त्व का धारी जीव नियम से उसी भव में या अधिक से अधिक चौथे भव में मोक्ष प्राप्त करता है। इस सम्यग्दर्शन का धारी इतना पवित्र होता है कि कितने ही भय आदि से इसे डिगाने की कोशिश क्यों न की जाय, परन्तु तिल मात्र भी विचलित नहीं होता । यह समयग्दर्शन चतुर्थ गुणस्थान से लेकर सप्तम गुणस्थान तक ही प्राप्त होता है। इसकी महिमा अपार है, उसका कौन विवेचन करने के लिए समर्थ है सिवाय केवली भगवान् और गणधरों के।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व- सम्यक्त्व की घातक जो प्रकृतियां हैं उनमें से मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया लोभ यह छह प्रकृतियां तो सर्वघाती हैं और एक सम्यक्त्व प्रकृति देशघाती है। वर्तमान सर्वघाती स्पर्द्धकों का अर्थात् कार्माण पुद्‌गलों का तो उदय में न अपने रुप क्षय अर्थात् बिना फल दिये ही खिर जाना और आगामी में उदय आने योग्य स्पर्द्धकों का सत्ता रुप उपशम अर्थात् जहाँ के तहां ठहर जाना तथा देशघाती सम्यक् प्रकृति का उदय होना, इस तीन बातों के हाने पर क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है। इस सम्यक्त्व का दूसरा नाम वेदक भी है। इसकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट छयासठ सागर की है। उसका क्रम सर्वार्थसिद्धि में इस प्रकार दिया है -''खुद्दाबन्ध'' में क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन का उत्कृष्ट काल छयासठ सागर इस प्रकार घटित करके बतलाया है एक जीव उपशम सम्यक्त्व से वेदक सम्यक्त्व को प्राप्त होकर शेष भुज्यमान आयु से कम बीस सागर की आयु वाले देवों में उत्पन्न हुआ फिर मनुष्यों में उत्पन्न होकर पुनः मनुष्यायु से कम बाईस सागर की आयु वाले देवों में उत्पन्न हुआ। फिर मनुष्य गति में जाकर भुज्यमान मनुष्यायु से तथा दर्शनमोह की क्षपणा पर्यन्त आगे भोगी जाने वाली मनुष्यायु से तथा दर्शनमोह की क्षपणा पर्यन्त आगे भोगी जाने वाली मनुष्यायु से कम चौबीस सागर की आयु वाले देवों में उत्पन्न हुआ। वहाँ से फिर मनुष्य गति में आकर वहाँ वेदक सम्यक्त्व के काल में अन्तर्मुहूर्त रह जाने पर दर्शनमोह की क्षपणा का प्रारम्भ करके कृतकृत्य वेदक सम्यग्दृष्टि हो गया। यह जीव जब कृतकृत्य वेदक के अन्तिम समय में स्थित होता है तब क्षयोपशम सम्यग्दर्शन का उत्कृष्ट काल छयासठ सागर प्राप्त होता है। सम्यक्त्व प्रकृति का उदय

होने के कारण इस सम्यक्त्व के अन्दर चल, मल और अगाढ़ दोष उत्पन्न होते है। इन तीन दोषों को पहले बता आये है, सम्यक्त्व की महिमा आगे बतायेगें। अब उसके अन्य भेदों को बताया जा रहा है -

जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा की प्रधानता से जो समीप या दूरवर्ती सूक्ष्म या स्थूल पदार्थों का श्रद्धान होता है, वह आज्ञासम्यक्त्व है। जो देव, शास्त्र और गुरुओं के उपदेश से होने वाले सम्यक्त्व को उपदेश सम्यग्दर्शन कहते है। मुनि के आचार का वर्णन करने वाले आचारसूत्र को सुनकर जो तत्त्वश्रद्धान होता है उसे सूत्रसम्यक्त्व कहते हैं। गणितज्ञान के कारण बीजों के समूह से जो सम्यक्त्व होता है उसे बीजसम्यक्त्व कहते हैं। संक्षेपरुप से पदार्थों का विवेचन सुनने से जो सम्यक्त्व हो उसे संक्षेपसम्यक्त्व कहते हैं। जिनवाणी को विस्तार से सुनकर जो श्रद्धा उत्पन्न होती है उसे विस्तारसम्यक्त्व कहते हैं। शास्त्रों के श्रवण बिना किसी अन्य के तत्त्वश्रद्धान को परमावगाढ़ सम्यक्त्व कहते है। इन दस भेदों में आरम्भ के आठ भेद कारण की अपेक्षा और अन्त के दो भेद ज्ञान के सहकारीपने की अपेक्षा किये गये हैं। सम्यक्त्व के इस प्रकार मार्गणादि की अपेक्षा से और भी असंख्यात भेद हैं।

भोगों का विषम रुप -

सोचा करता हूँ भोगों से, बुझ जायेगी इच्छा ज्वाला।
परिणाम निकलता है लेकिन, मानो पावक में घी डाला।।

दिन रात पाँचों इन्द्रियों के विषय, उनको ही हम उत्तम मान रहे है लेकिन वे काले नाग विष के समान है जैसे-स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, कर्ण व मन। एक-एक इन्द्रिय का भोगी, प्राण दे गए। जैसे-स्पर्शन इन्द्रिय का भोगी हाथी, मायामयी हथिनी बनाई गड्ढा खोदा, वह उस पर छलाग लगाता है तो हाथी पकड़ा जाता है। रसना इन्द्रिय की भोगी मछली, टुकड़े के लोभ मेअपने प्राण गवाँ गयी। घ्राण इन्दिय को भोगने वाला एक भौरा फूल पर आकर बैठा, रस लेने लगा, रात्रि हो गई, फूल बन्द हो गया। सुबह कोई पशु आया तो उसे खा गया। चक्षु इन्द्रिय का भोगी, पतगा बिजली पर अपने प्राण गवा बैठा। कर्ण इन्द्रिय का भोगी, सर्प व हिरण, शिकारी व सपेरे से पकड़े गए। तो इसलिए बन्धुओ इन पाँचो इन्द्रियो के विषय को छोड़कर अतीन्द्रिय आनन्द का रसपान करो। आगे विषय को बताते हुए कहते है कि भोगों का विषम रुप बतायेगे कि भोग कैसे है -

भोग बुरे भव रोग बढ़ावें, बैरी है जग जीके।
नीरस होय विपाक समय, अति सेवत लागे नीके।।
वज्र अग्नि विष से विषधर, से है अधिक दुखदाई।
धर्म रत्न के चोर चपल, अति दुर्गति पक्ष सहाई।।

कवि प. भूधरदासजी ने अनुभूत भोगो की कलाई इस छन्द में खोल कर रख दी है। वे गम्भीर अनुभव की बात करते है कि ये ससारवर्ती पंचेन्द्रियो के विषयभोग संसारी जीवों का

महान अहित करने वाले महाशत्रु है। भोगते समय ये अच्छे लगते है, परन्तु भोग लेने के बाद जीव की शान्ति क्षीण हो जाने पर बहुत नीरस प्रतीत होते है। वज्र अग्नि, विष या विषधर सर्प से अधिक दुख ये विषय भोग संसारी जीव को दिया करते है, क्योंकि व्रत और अग्नि विष आदि तो जीवो की भौतिक सम्पत्ति अथवा भौतिक शरीर का ही विनाश कर सकते है। परन्तु ये विषय भोग जीव की आध्यात्मिक सम्पत्ति धर्मनिधि को चुरा लेते है और जीव को नरक, पशु गति के मार्ग पर पहुँचा देते है। इसके आगे पण्डित भूधरदास जी लिखते है-

मोह उदय यह जीव अज्ञानी भोग भले करि जाने
जो कोई जन खाय धतूरा सो सब कंचन माने
ज्यों-ज्यों भोग संयोग मनोहर मनवांछित जन पावे
तृष्णा नागिन त्यों-त्यों डंकें लहर जहर की आवें॥

आत्मा का इतना अनिष्ट करने वाले इन पचेन्द्रियो के भोग यह संसारी जीव मोह के कारण सुखदायी समझता है। जैसे कि यदि किसी मनुष्य ने धतूरा खा लिया तो उसको अपने नेत्रो से सभी चीजे सोना दिखायी देती है। ये मनोहर प्रतीत होने वाले विषय, भोग भोगने कि लिए ज्यो-ज्यो इस जीव को प्राप्त हो जाते है, त्यो-त्यो ही लोभवश इसकी लालसा और अधिक बढ़ती चली जाती है। इसकी तृप्ति नहीं होती। इस संदर्भ निम्न दृष्टांत दृष्टव्य है-

वेश्या का रुप

बनारस मे एक अच्छे शिक्षित ब्राह्मण ने एक बार बनी ठनी यौवन मद में चूर सुन्दरी वेश्या को देखा और उस पर आसक्त हो गया और कम से कम एक बार विषय वासना तृप्त करने की तीव्र इच्छा उसके चित्त मे जागृत हुई। वह कुछ साहस करके उसके निकट गया तो उसके पहरेदार से पता चला कि वेश्या से एक बार अपनी वासना तृप्त करने के लिए कम से कम 100 रुपये वेश्या को भेट करने के लिए चाहिए। सौ रुपये का नाम सुनकर वह गरीब ब्राह्मण युवक चुपचाप निराश होकर अपनी चारपाई पर लेट गया। उसकी तरुण सुन्दर सती पत्नी ने उससे पूछा कि इस उदासी का क्या कारण है, भोजन तो कर लो, ब्राह्मण युवक ने भोजन तो कर लिया किन्तु उदासी का कारण न बताया फिर चारपाई पर लेट गया।

बहुत आग्रह करने पर जब उसकी पत्नी ने पूछा तो उस युवक ने अपनी पत्नी से वेश्या मे मन आसक्त हो जाने का सारा वृत्तान्त सुना दिया। उसकी बुद्धिमति पत्नी ने अपने पति की निराशा और उदासी दूर करने के लिए बहुत समझाया। परन्तु उसके पति की समझ मे कुछ भी नही आया। उसका चित्त उदास ही बना रहा।

तब उसकी पत्नी साहस रखकर उस वेश्या के घर जा पहुँची और अपना परिचय देकर अपने पति की उदासी का सब हाल वेश्या को सुनाया और अपने पति को सुमार्ग पर ले जाने

में उससे सहायता मांगी। ब्राह्मणी युवती की बात सुनकर उस वेश्या का हृदय पिघल गया, वेश्या को उस पतिव्रता ब्राह्मणी पर दया आयी और उसने कहा कि जाकर अपने पति को मेरे पास भेज दो। साथ ही अपने पहरेदार से कह दिया कि एक ब्राह्मण आयेगा उसको सीधे मेरे पास भेज देना।

वह ब्राह्मण युवती अपने घर गयी और अपने पति से बोली कि मैं उस वेश्या के पास जाकर तुम्हारी वासना तृप्त करने का प्रबन्ध कर आयी हूँ। तुम जाकर अपनी उदासी दूर कर लो। अपनी पत्नी की उस सहानुभूति का उस युवक पर गहरा प्रभाव पड़ा। किन्तु एक बार वेश्या के साथ अपनी काम वासना शान्त करने के लिए उसके पास अवश्य गया। वेश्या ने उस ब्राह्मण का स्वागत किया और बड़े आदर सत्कार से उसको अपने पास बैठाया। उससे मधुर भाषा में बातचीत करती रही। उसके मन की उदासी दूर करने के लिए उसके साथ शतरंज खेलने बैठ गयी, शतरज खेलते-खेलते बहुत देर हो गयी तब उस ब्राह्मण को प्यास लगी। उसने वेश्या से पीने के लिए जल मांगा। वेश्या ने बड़े उत्साह के साथ उठ कर उस युवक के सामने दो गिलासों में जल लाकर रख दिया और बड़े मीठे शब्दों में बोली - कि आप कौन सा गिलास जल पीना चाहते है वह बोला - क्या दोनो जल में कुछ अन्तर है? तो वेश्या ने बताया कि एक गिलास में मीठा जल और दूसरे गिलास में खारा जल है। मीठे जल से आपकी प्यास मिट सकती है और खारा जल पीने से आपकी प्यास और भी बढ़ जायेगी। ब्राह्मण ने मीठा जल पीने के लिए गिलास की ओर हाथ बढ़ाया तो वेश्या ने बड़ी ही नम्र भाषा मे कहा कि यदि तुम मीठे जल से ही अपनी प्यास बुझा सकते हो तो यहाँ पर क्यो आये हो, मीठा जल तो तुम्हारे घर पर है। तुम्हारी पत्नी तो मुझ से भी सुन्दर है यहाँ पर तो तुम्हे खारा पानी ही मिलेगा। एक बार भी मेरे साथ कामवासना बुझाने के साथ-साथ तुम्हारी प्यास अधिक तीव्र हो जायेगी और जिसको बुझाने के लिए तुम्हारे पास रुपयो का प्रबन्ध भी नही हैं दूसरी बार तुमको बिना रकम लायें यहाँ आने नही दिया जायेगा, तब अब से भी अधिक दुख का अनुभव करोगे यदि तुम मेरी सुन्दरता देखना चाहते हो तो उस वेश्या ने अपने शरीर के ऊपरी भाग से वस्त्र हटा दिए। युवक ने देखा उसके सारे शरीर पर एग्जिमा, फुन्सी, मवाद के जख्म थे। वेश्या ने कहा कि अब देखो कि मैं सुन्दर हूँ कि तुम्हारी पत्नी सुन्दर है? ब्राह्मण युवक उसका गन्दा शरीर देखकर बहुत लज्जित हुआ और बिना कुछ उत्तर दिए चुपचाप अपने घर चल दिया।

जिस प्रकार वेश्या का बाह्यरुप सुन्दर लगता है वास्तव में वह अपने अन्दर अनेक बीमारियाँ लिए हुए है उसी प्रकार विषय-भोग भी ऊपर से मनोहर लगते हैं लेकिन इसके अन्तः स्थल में देखने पर अनेक बीमारियाँ दिखाई देती है। विषयभोग के बाद पूछिए आपकी वास्तविकता क्या है? जैसे किसी वस्तु पर सोने का पानी चढ़ा हुआ होता है, किन्तु वह सोने से भी अधिक चमकदार दिखाई देता हैं परन्तु कुछ समय बाद वह काला पड़ जाता है। नकली रत्न जो काँच का होता है, वह हीरे से भी ज्यादा चमकता है परन्तु उसकी वह चमक कुछ

दिन बाद समाप्त हो जाती है। जिस प्रकार गुड़ियाँ देखने में अच्छी लगती है किन्तु उसके अन्दर चीथड़े भरे रहते हैं। जो चीज अन्दर से गन्दी होती है उस पर ऊपर से पालिश करके चमक दमक आ जाती है। पुरुष स्त्री के जिस शरीर को देखकर रीझता है वह शरीर तो पेशाब, थूक, माँस, चर्बी, बलगम आदि गन्दी चीजों से भरा है। इन वस्तुओं को खुला छोड़ दिया जाए तो उन पर मक्खियाँ भिनभिनाने लगेगी।

एक बार राजा देवरतिकुमार अपनी रानी वक्ता पर इतना आसक्त था कि वह राज्य के कार्यों की उपेक्षा करने लगा था। आखिरकार प्रजा को लाचार होकर राजा को कहना पड़ा कि या तो आप राज काज में ध्यान लगाईये अथवा अगर आप रानी में ही आसक्त है तो राज्य छोड़कर चले जाईये। राजा रानी पर अधिक आसक्त था। अतः उसने राज्य छोड़ना स्वीकार कर लिया और वे दोनों राज्य छोड़ कर चल दिए। मार्ग में एक बगीचे में ठहर गए।

कुछ देर बाद राजा भोजन का प्रबन्ध करने के लिए निकटवर्ती किसी शहर में चला गया। थोड़ी देर बाद बगीचे में कुए से चरस द्वारा पानी खींचने वाले कुबड़ा, कोढ़ी, कुरुप काद्दी की सुरीली ध्वनि सुनकर उस पर रानी आसक्त हो गयी और उसे अपनी पति बनाने के लिए बार-बार प्रार्थना करने लगी। कोढ़ी ने उसे बार-बार इन्कार किया और कहा कि आप क्या बाते कर रही हैं, आप तो एक बड़े राजा की रानी हो, यदि राजा को इस बात का ज्ञान हो गया तो मेरी और तुम्हारी जान बचनी कठिन हो जायेगी, यह सुनकर रानी ने कहा आप चिन्ता न करे यह तो सब ठीक हो जायेगा। काद्दी ने रानी की बात यह मान कर स्वीकार ली कर कि वह राजा को मार डालेगी।

राजा जब शहर से वापिस आया तो उसने रानी का मन अनमना देखा और उसकी उदासी का कारण पूछा। रानी ने उत्तर दिया-सौभाग्य से आज आप की वर्षगाँठ है किन्तु खेद की बात है कि हम उसे खुशी से मनाने की स्थिति मे नही है। राजा ने पूछा - तुम इसके लिए मेरी क्या मदद करना चाहती हों यह सुन कर रानी ने कहा आप अधिक मात्रा में फूल लाइऐ। मैं बहुत बड़ी माला तैयार करुँगी। राजा ने कहा - हे रानी, अत्यधिक प्रेम के कारण मैंने राजपाट छोड़ दिया फिर तुझे उदास कैसे देख सकता हूँ। राजा ने रानी की फरमाईश सुन कर बहुत से फूल ला दिए। रानी ने कई बड़ी व भारी-मालाएं तैयार की फिर उसने राजा से प्रार्थना की कि आप पर्वत के ऊँची चोटी पर चलिए वहाँ आपका समारोह करुँगी।

राजा और रानी उस उच्च चोटी पर गए, वहाँ रानी ने राजा को मालायें पहना कर उसको रस्सी मे बाध लिया और धक्का देकर नीचे लटका दिया। वह लुढ़कते-लुढ़कते नीचे बहती नदी मे जा गिरा ओर बहता-बहता किसी दूसरे राज्य की सीमा मे बहुत दूर चला गया किसी वस्तु के सहारे नदी के किनारे रुक गया। उस समय उस राज्य के राजा का स्वर्गवास हो चुका था और यह निश्चित किया गया था कि एक हाथी छोड़ा जायेगा वह अपनी सूंड में जिस व्यक्ति को उठा कर और मस्तक पर बैठाकर ले आयेगा उसी को राजा माना जायेगा।

एक हाथी छोड़ दिया गया, वह घूमता-घूमता नदी के किनारे पहुँच वहाँ उसने एक व्यक्ति को अपनी सूंड में उठा लिया और अपने मस्तक पर बैठा कर नगर ले गया, लोगों ने उसे हाथी से उतार कर बडे सम्मान के साथ राजा बना दिया।

दूसरी ओर रानी उस कुबड़े को बड़ी टोकरी में बैठाकर और अपने सिर पर रखकर इधर-उधर डोलने लगी। वह गाना गा-गा कर बाजा-बजा कर लोगों को रिझाने, स्वयं कोढ़ी पति की पतिव्रता का ढ़ोंग रचकर समय व्यतीत करने लगी। एक दिन वह कोढी कुबड़े के साथ उस राज्य मे आ गई। जहाँ उसके द्वारा त्यागा पति राजा देवरतिकुमार राजा बना हुआ था।

लोगो ने उस कोढ़ी पति और रानी वक्ता की सुन्दता की राजा के सामने बड़ी प्रशंसा की। राजा ने दोनो को दरबार में बुलाया। रानी वक्ता ने अपने कोढी का बडा आर्कषक और रोचक कार्यक्रम प्रस्तुत किया। राजा ने बड़ी गम्भीरता से रानी की संगीत कला देखी और उसे तत्काल ही ससार के स्वरुप का ज्ञान हो गया। बस फिर क्या था वह उसी क्षण उस मोह रुपी पिजरे को तोड़कर सीधे-जगल की ओर चला गया और उसने ससार से नाता तोड़ कर अपने आप से ही नाता जोड़ लिया।

हे भव्य जीवो! वस्तु की स्वतन्त्र परिणतियो को समझो इस लोक मे कौन किसका हे? कौन किसका क्या करता है? कौन स्वामी और सेवक है? वास्तव में सभी जीव अपनी-अपनी विषय विभूति के लिए साधन जुटा कर अपनी कषायो को पूर्ण कर रहे है।

आप लोग इस बात को अपने ऊपर लागू करके समझने की चेष्टा करे और सोचे कि हम स्त्री पुरुष और धन से क्यो प्रेम करते है? उन्हे क्यो अपना मानते है? उससे क्यो अपना भला मानते है? और यदि ध्यानपूर्वक सोचेगे तो ज्ञान होगा कि यह सब तो मोह और कषाय का एक तमाशा है। भाईयो! सब लोग अपने सुख के लिए यह सब मानते है और चले जाते है कि यह सब तो भ्रम है जिन्हें आप अपना समझते है वे अपने लिए है और किसी दूसरे के लिए नही। तुमसे तुम्हारी विषय कषाय जैसी प्रवृत्तिया कराती है वैसे ही दूसरे जीव भी तुमसे नाता तोड कर अपने विषय कषाय म व्यवहार को पुष्ट करते रहते है।

सेज का सुख

एक समय की बात है एक दासी राजा की सेज सजाया करती थी। राजा शाम को आता और सो जाया करता था। एक दिन राजा को महल मेआने मे देर हो गयी, बांदी ने सोचा थोड़ी देर के लिए सेज पर आराम करके देखूँ। यह सोचकर वह सेज पर लेट गई। इतने में ही राजा पहुँच जाता है ता देखता है कि सेज पर बादी लेट रही है। वह बहुत क्रोधित हुआ और कोड़ा उतार कर बादी का मारने लगा। बादी पिट रही है और हंस रही है राजा ने पूछा - कि तुम क्यों हस रही हो? बादी ने कहा - मै जरा सी देर के लिए सेज पर लेटी तो मेरे ऊपर इतने कोड़े

पड़े। तुम्हें तो बहुत समय हो गया सेज पर लेटते हुए तो तुम्हारी क्या दशा होगी? सो भैय्या यह विषय भोग दुखदायी है। अतः इन्हे त्यागने चाहिए तभी कल्याण होगा वरना संसार में भटकते आये हो, भटकते रहोगे!

भोग से योग की ओर

आज भोग से योग की ओर प्रवचन करेगे। कवि ने कहा है -

भोगी बन कर भोग भोगना, भव बन्धन का हेतु रहा।
योगी बन कर योग साधना, भव सागर का हेतु रहा।
जैसा तुम पाओगे वैसा बीज फलेगा अहो! सखे।
कटुक निम्ब पर सरस आम्रफल कभी लगे क्या अहो सखे।

अगर भोगो मे लिप्त रहोगे, तो ससार रुपी बन्धन बधता चला जायेगा। भोगों को छोड़कर योग की ओर बढ़ोगे तो ससारबन्धन छूटता चला जायेगा। जैसे तुम आम का फल बोआगे तो आम लगेगा और नीम का बीज बोओगे तो निम्बोली ही आयेगी। आगे कवि कहते है-

जब लग जीव शुद्ध वस्तु को विचारें ध्यावे,
तब लग भोग सी उदासी सर्वग है
भोग से मगन तब ज्ञान जगन नाहि
भोग की अभिलाषा की दशा मिथ्यात्व अंग है।
ताते विषय भोग में मगन ये मिथ्याती जीव
भोग सो उदास हो सम्यग्वती अभंग है।
जैसे भोग सो उदास हो मुक्ति साधे
यही मनचंग तो कटौती मांही गंग है।

जब यह जीव शुद्धतत्व को विचारते है, ध्याते है, तब भोग से उदास हो जाते है। जब भोग में मग्न होते है, तब तत्त्व ज्ञान से दूर हो जाते है। भोग अभिलाषा की दशा ही मिथ्यात्व है। जो तीव्र भोग मे मग्न रहते है वे मिथ्यात्वी जीव है और जो भोग से उदास हो जाते है, वे सम्यग्दृष्टि है इसलिए भोग से उदास होकर योग की ओर बढ़ना ही श्रेयस्कर है।

आचार्य कुन्द-कुन्द समयसार की चौथी गाथा मे भोग व योग की बात दर्शा रहे है -

सुदपरिचिदाणु भूदा सव्वस्स वि कामभोग बंध कही।
एयतस्सुवलंभो णवारिण सुलहो विहत्तस्स॥

यह जीव काम, भोग, बन्ध सम्बन्धी चर्चा अनादिकाल से सुनता चला आ रहा है। अनादि से उसका परिचय प्राप्त कर रहा है अथवा अनादि से उसका अनुभव करता चला आ रहा है। इसलिए उस पर सहसा प्रतीति हो जाती है। परन्तु यह जीव सुख के समस्त पदार्थों से जुदा है और अपने गुण पर्यायों के साथ एकता प्राप्त कर रहा है। यह कथा आज तक नहीं सुनी न ही उसका परिचय प्राप्त किया है और न अनुमान है। इसलिए यह दुर्लभ वस्तु बनी हुई है जहाँ योग हैं वहाँ पर भोग नहीं एक दूसरे के प्रतिपक्षी है जैसे अमृत और जहर एक साथ नहीं ठहर सकते। योग अमृत है और भोग जहर है। परन्तु प्राणी ऐसा कहते है कि अव्रती सम्यक्दृष्टि तो भोग भोगता है भैया हम भी ऐसा कहते है लेकिन वह चारित्रमोहनीय के उदय से भोगने पड़ रहे है चाहता नहीं। भाव यह है कि भोग संसार मे रुलाने वाले है।

भले ही समवशण में जायें और दिव्यध्वनि सुने, किन्तु जिस की रुचि में ही विकार भरा है उसे शुद्ध आत्मा की सुगन्ध (रुचि) नही आती। अपनी अनादिकालीन विकार की रुचि को हटा कर आत्मा की रुचि प्रकट करे तो उसका अपूर्व स्वाद आये।

भारत एक आध्यात्मिक देश है। जहाँ पर अध्यात्म सदैव पुष्पित तथा पल्लवित होता रहता है अर्थात् फलता है। आत्मा का विकास भी वही संभव है जहाँ भोग से हट कर आध्यात्मिकता की बात चलती है भगवान महावीर एवं राम जैसी पावन आत्माओ का जन्म इसी भूमि पर हुआ। यहाँ का कण-कण पवित्र है। पाश्चात्य देशो ने विज्ञान और वैज्ञानिको का जन्म दिया। भारत की वसुन्धरा ने धर्म और धर्मात्माओं को जन्म दिया। पूर्व मे आध्यात्मिक विज्ञान को जन्म दिया। विज्ञान का जन्म और विकास वहाँ पर होता है जहाँ पर भौतिक पदार्थो की खोज होती है। अध्यात्म ज्ञान का विकास वहाँ पर होता है जहाँ पर धर्म की खोज होती है। आज पाश्चात्य देशो ने हमारी सस्कृति को विकृत कर दिया। फिर से हमे पाश्चात्य सस्कृति को छोड़कर भारतीय सस्कृति ही अपनानी होगी। जैसे पहले घरो मे माताएँ और बहिनें धार्मिक कहानियाँ सुनाती थी, आज वह ये बात भूलकर टी. वी., वी. सी. आर. ब्यूटी पार्लर का प्रचार हो रहा है। किन्तु हमे बच्चों को धार्मिक क्षेत्र मे आगे बढ़ाना है। घर-घर में धर्म की चर्चा एवं स्वाध्याय, साधुओ का समागम, मन्दिरो के प्रति श्रद्धा बढ़ानी है। तभी हम भोग से मन हटा कर योग की ओर आ सकते है। जब-जब इस वसुन्धरा पर हिसा का ताण्डव नृत्य हुआ, प्रलय की आधियाँ आयी, सकट के बादल छाये, तब-तब युगपुरुषों ने इस धरती पर जन्म लेकर सस्कृति को सुरक्षित रखा। इस पावन भूमि पर समय-समय पर महान योगी, संतो का जन्म होता रहा हैं जिन्होंने सम्यग् आचरण से अपनी संस्कृति को सुरक्षित रखा। भारत देश तो वह देश है जिसका विदेशों में भी आदर होता है। एक बार रवीन्द्रनाथटैगोर चीन चले गए वहाँ पर सभी लोग भारतीय को देखने के लिए उमड़ पड़े व उनके चरण छूने लगे। रवीन्द्रनाथ टैगोर ने कहा- तुम मेरे चरण क्यों छूते हो? चीन के लोग कहने लगे - "तुम्हारे चरण नहीं बल्कि भारत के प्रत्येक मानव के चरण छूने योग्य है। क्योंकि भारत देश महान देश है।" इसीलिए भोग से हट कर योग की ओर बढ़ना ही उत्कृष्ट है अथवा श्रेयस्कर है। भोग और योग में उतना ही अन्तर है जैसे राम और रावण मे, कस व कृष्ण में, पाडंवों व कौरवो में।

जिस प्रकार कुम्भकार के चक्र पर जो मिट्टी का घड़ा बनाया जाता है तथा वह जिस प्रकार दण्ड् के द्वारा भ्रमण करता है उसी प्रकार संसारचक्र के मध्य में जो जीव लोक है वह भी निरन्तर पंच परावर्तन के रुप में मोह पिशाच के द्वारा निरन्तर भ्रमण कर रहा है। भ्रमण करने से लोक-भ्रान्त हो रहा है तथा नाना प्रकार के तृष्णा रूपी रोगों से नाना प्रकार की चिन्ताओं से आतुर रहता है। इसके शमन करने के लिए पंचेन्द्रिय विषयों का सेवन करता है परन्तु उससे शान्तभाव को नहीं पाता। जैसे-मृगादि मरुमरीचिका में जल बुद्धि कर तृषा की शान्ति के अर्थ दौड़कर जाते है परन्तु वहाँ जल न पाकर फिर आगे दौडते है, वहाँ भी जल न पाकर परिश्रम करते-करते थककर अन्त में प्राण गंवाते है। इसी तरह यह प्राणी-भी अंतरग की कषायों के सामना करने के अर्थ पचेन्द्रियों के विषयों में निरन्तर सेवा करते रहते है और दूसरों को भी यही उपदेश कहते है।

तीन लोक की सम्पदा, चक्रवर्ती के भोग।
काक बीट सम गिनत है, सम्यक दृष्टिलोग॥

सम्यक्दृष्टि को अगर भोग भोगने पड रहे है तो ऐसा नहीं कि सात व्यसन करने लगे। अगर सात व्यसन मे लग जायें तो वह सम्यक्दृष्टि नहीं है, मिथ्यात्वी है। सम्यक्दृष्टि को जब भी निमित्त वैराग्य आ जाता है तभी योग धारण कर लेता है जैसे बज्रदन्त चक्रवर्ती राज्य कर रहे थे। माली एक सहस्त्रदल का कमल लेकर राजदरबार में आया तो बज्रदन्त ने देखा उसमें भौरा मरा पड़ा है उसे तुरन्त वैराग्य आ गया विचार करने लगा कि जब एक इन्द्रिय के भोगों की यह दशा है तो मेरी कैसी दशा होगी मै पांच इन्द्रियों का भोगी हूँ। तभी योग धारण के लिए तैयार हो जाते है। उन्होने अपने एक हजार लड़को को बुलाया और कहा - बेटा राज्य सम्भालों! हम वन को जाते है, तो लड़के कहने लगे - "पिताजी! राज्य अच्छा है या बुरा। अच्छा है तो आप क्यो छोडते है और बुरा है तो हमें क्यो देते हैं?" सारांश क्या हुआ कि एक हजार लडकों ने भी दीक्षा का निश्चय कर लिया। बज्रदन्त ने छह महीने के पोते को राज्य तिलक कर दिया और सब जगल को चले गए। इसे कहते है योग। आदिनाथ भगवान 83 लाख पूर्व घर मे भोग भोगते रहे, लेकिन जब निमित्त आया तो नीलाञ्जना के निधन को देखकर वैराग्य आ गया और जगल को चले गए, तपस्या मे लग गए, छह महीने का योग धारण कर् लिया, ध्यान में बैठे रहे। उनके साथ में चार हजार राजा और भी दीक्षित हुए थे। परन्तु उन्हें भोगों में राग था तथा पालन नही हो सका, आखिर सब मार्गच्युत हो गए। भाई अगर भोग से कल्याण होता तो तीर्थंकर नहीं त्यागते। उनको भी भोगों को जहर के समान सोचकर छोड़ना पड़ा।

सुखमाल जब महलों में रहते है तो सरसों का दाना भी चुभता था। रत्नों की रोशनी में 32 रानियों के बीच में सोता था। जब भोगों से उदास हुआ तो कमंद के द्वारा उतर कर मुनि के पास जाकर दीक्षा ले ली और योग धरण कर लिया वही सुखमाल जंगल को जा रहा है, पैरों में कंकड़ चुभ रहे है, जाकर शिला पर बैठ जाता है उसे गीदड़ी बच्चों सहित भक्षण करती है, तीन दिन में ही सर्वार्थसिद्धि चले जाते है। इसे कहते है योग।

भोगी प्राणी की दशा उस मक्खी जैसी है जो मधु के लोभ में मधुपान करती हुई उसी में चिपक कर रह जाती है। उसी भांति हम अपनी इस स्थिति से मुक्त होने के लिए छटपटा रहे है। किन्तु जितना प्रयास करते है उतना ही उसमे ग्रसित हो जाते हैं। मनुष्य जितना पाता है उससे अधिक भोगने का प्रयन्न करता है। यह कभी नही सोचता कि हम जिन भोगो में अपना विकास समझते है लेकिन भाई वह विकास नहीं विनाश है। विकास तो योग में हैं भोग तो सर्वनाशवान है। योग का सुख सदा रहने वाला है। भोग मे पड़ा रावण सीता का हरण करके ले गया। विमान मे जा रहा था तो कहता है - "सीता, तुम मेरे भोग भोगो। मैं तीन खण्डों का राजा हूँ तथा सोने की लका है, अठ्ठारह हजार रानियाँ है, उनकी पटरानी बनाऊँगा।" तब सीता कहती है कि यह सब मेरे लिए मिट्‌टी के समान है अगर तू मेरे हाथ लगाएगा तो नरक जायेगा, उस रावण ने भोग के लिए बहुरुपिणीविद्या शान्तिनाथ के चैत्यालय मे सिद्ध करी। अखंड ध्यान भोग के लिए लगाया। अगर इतना ध्यान आत्मा मे लगा लेता तो मोक्ष चला जाता लेकिन नरक जाना पड़ा भोगो की वजह से। इसलिए शक्ति रावण ने भोग मे नही पायी। शक्ति राम व सीता के त्याग मे मिली। राम मोक्ष गए और सीता स्वर्ग गयी। भोगो में शान्ति नही, शान्ति तो त्याग मे है।

"सोचा करता हूँ भोगों से बुझ जावेगी इच्छा ज्वाला।
परिणाम निकलता है लेकिन मानों पावक में घी डाला।।

जितना हम भोगो से इच्छा को बुझाना चाहते है वह बुझ नहीं सकती बल्कि वह तो भोगने से और ज्यादा भड़कती है जैसे अग्नि मे घी डालने से अग्नि ज्यादा तेज होती है। साराँश यह है कि भोग मे दुख है तथा योग में सुख है। भोग मे भय है योग निर्भय है। कोठी बगले वाले को और रुपये पैसे वाले का हर समय भय रहता है लेकिन योगी पुरुष को कोई भय नही। जगल में रहते है सिह दहाड़ मारते है, सर्वत्र बिच्छू घूमते है लेकिन वह योगी निर्भय रहते है। इसलिए भोग मे भय है परन्तु योग मे भय नही है। भोगो मे पड़कर प्राणी अपने को भूल जाता है। एक समय कि बात है कि भवदेव और भावदेव दो भाई थे। भवदेव तो निमित्त पाकर देव हो गया और भावदेव घर मे स्त्री में रत रहता था। लेकिन भवदेव को यह भी रहा कि मेरा भाई कल्याण कर ले। उसने नगर मे आकर भाई को उपदेश दिया। वह भावुकता मे आकर मुनि बन गया लेकिन मन भोगो मे रहा। सोचता रहता था कि कब नगर में जाऊँ और अपनी स्त्री से मिलूँ। लेकिन वह स्त्री तो आर्यिका के व्रत ले चुकी थी। वह भावदेव मौका पाकर नगर मे आया। हर प्राणी से पूछता कि भावदेव की स्त्री को देखा है? वह कह देते कि हमको नही मालूम। घूमता-घूमता मन्दिर में पहुँच गया, वही पर वह भी ठहरी थी। उससे भी यही पूछा उसने, वह साध्वी पहिचान कर बोली- योग क्यो लिया था, जब भोग भोगने की इच्छा थी।

साराश यह है कि वह फिर वास्तविक योगी बन गया। अगर साधु बनने के बाद भोग चाहिए, बढ़िया खाने को, कूलर पखे और बाजे अनेक सामग्रियाँ चाहिए तो साधु क्यों बनें?

भोगों को कहां-कहां तक कहा जाये। जब तक भोगों में मन है तब तक साधना अथवा योग नहीं है।

एक बार एक राजा के लड़के कुलभूषण व देशभूषण मुनि हुए। कारण क्या हुआ कि कुमार अवस्था में ही पढ़ने चले गए। चौदह साल तक विद्या प्राप्त की। जब वे कुमार पढ़कर नगर में जा रहे थे तो सारी नगरी खुशी मना रही थी कि आज राजकुमार पढ़ कर आ रहे है। सब द्वारों पर आरती लिए खड़े थे, तो वह कुमार अपने महल के सामने जाते है क्या देखते है कि एक सुन्दर लड़की सामने खड़ी है। वह दोनों उस लड़की पर मोहित हो जाते है और आपस मे युद्ध करने लगे कि हम इससे शादी करेगे। युद्ध हो जाता है एक कहता है कि मै शादी करुंगा, दूसरा कहता है कि मैं करुंगा। तब मंत्री कहता है कि तुम क्यों लड़ रहे हो? क्या तुम जानते हो, यह तुम्हारी सगी बहिन है तुम्हारे जाने के बाद उत्पन्न हुई थी। तभी कुमारों को वैराग्य आ जाता है कि बहिन पर आसक्त हो गए। तब वे कुमार कुन्थलगिरि पर्वत पर जाकर खड्गासन योग धारण कर लेते हैं। वहीं उनके पहले भव के वैरी ने उपसर्ग करना प्रारम्भ कर दिया, लेकिन वे दृढ़ रहे। राम सीता व लक्ष्मण वहाँ आये। मुनियों पर उपसर्ग देखा तो तुरन्त विद्या के द्वारा उपसर्ग दूर किया। तुरन्त केवलज्ञान प्राप्त हो गया। भाई! जब वह भोग में थे तो बहन पर आसक्त हो गए लेकिन योग में आये तो उपसर्ग से भी नहीं घबराये। अगर तुम ससार मे कल्याण करना चाहते हो तो भोगों को छोड़ो तथा योग धारण करो। योग से मोक्ष मिलेगा तथा भोग से दुख मिलेगा। जरा देखे यह दृष्टान्त -

वेशधारी चोर

एक नगर मे एक धार्मिक प्रकृति का राजा न्यायपूर्वक राज्य करता था। उसकी सर्वांग सुन्दरी नाम की एक कन्या थी। एक दिन एक चोर रात्रि के समय राजमहल में चोरी करने गया और राजा के कमरे के पास छिप कर बैठ गया। सोने के कमरे में रानी राजा के पास आयी और बाते करने लगी। चोर भी राजा-रानी की बात कान लगा कर सुनने लगा। रानी ने राजा से वार्तालाप के प्रसंग मे कहा - "राजन्! अपनी पुत्री विवाह योग्य हो गयी है और आप उसके विवाह के योग्य कोई वर नहीं देखते। आखिर राज्य के कार्यो की तरह यह कार्य करना भी तो आवश्यक है।" राजा ने कहा कि -"पुत्री के लिए मुझे धनिक या राजपुत्र नहीं देखना है क्योंकि ऐसे व्यक्ति प्रायः चरित्रहीन और दुर्व्यसनी होते है। मै तो पुत्री के लिए सुन्दर सदाचारी, स्वस्थ साधु पुरुष देखूँगा। पुत्री का विवाह करके उसको अपना आधा राज्य दे दूँगा। धन व राज्य की अपेक्षा मैं सदाचार को विशेषता देता हूँ।" रानी ने कहा - "आपका विचार तो ठीक है परन्तु यह कार्य शीघ्र करना चाहिए।" राजा ने कहा मुझे अगर कल ही ऐसा वर मिल गया तो मैं कल ही पुत्री का विवाह कर दूंगा। रानी सन्तुष्ट होकर सोने चली गयी। चोर ने विचार किया कि अपने भाग्य की परीक्षा करुँ। यदि राज्य व कन्या मुझे मिल जाए तो सब पाप दूर हो जायेंगे। ऐसा विचार कर बिना चोरी किये ही राजमहल से वापिस चला गया और प्रातः होते ही अपना

रुप, धार्मिक साधु का बना कर एक स्वच्छ स्थान पर बैठा, जहाँ पर राजा प्रतिदिन आता जाता था। उसने मार्ग में भेषधारी तरुण चोर को देखा, राजा को रात की बात याद आ गयी। उसने इस भेषधारी तरुण चोर को देखकर विचार किया कि पुत्री के लिए यह वर उपयुक्त होगा। ऐसा विचार करके उसने उसे बडे सम्मान से रथ में बैठा लिया और राजमहल में उसे ले गया। चोर बहुत प्रसन्न हुआ कि मेरा प्रयत्न सफल हो गया। तदनन्तर उसने विचारा, मैं बनावटी रुप से साधु रुप बनाया उसका फल मुझे यह मिला। यदि मैं सचमुच साधु बना तो सदा के लिए परम सुखी/मुक्त हो जाऊँगा। इस कारण अब मेरी परीक्षा का समय है। इसमें मुझे फेल नहीं होना चाहिए। राजा उस साधु को लेकर राजमहल मे पहुँचा। उसे सम्मान के साथ ऊँचे आसन पर बिठाया रानी ने भी उसे पसन्द कर लिया। तब राजा ने उससे निवेदन किया कि आप मेरी पुत्री स्वीकार कीजिए और राज महल में रहकर आनन्द कीजिए। दहेज में आपको आधा राज्य दूँगा। चोर सावधान होकर बोला कि यदि राजन गृहस्थी की कीचड़ में फंसने की इच्छा ही होती तो साधु क्यो बनता? मै तुम्हारी पुत्री का पति नहीं बनना चाहता। मैं योगी रहते हुए मुक्ति रुपी पत्नी का पति बनूगा। यह कर वह वन में चला गया और मुनि दीक्षा लेकर तप करने लगा।

अध्यात्मवादी अपने को सदा नया अनुभव करता है। अन्तर मे उसे कोई चीज पुरानी नहीं मालूम पड़ती है, परन्तु भौतिकवादी चीजों को नई करने के चक्कर में रहता है। दु:खी आदमी मनोरजन के साधन खोजता है। एक आदमी एक शरीर से हजार रुप बनाता है - कभी पुजारी, कभी इन्द्र बनता है आदि। वह मन मे भी अनेक रुप बनाता है, दुकान पर बेईमान बन जाता है, तो कभी दानी बनता है, लड़ने झगड़ने के समय वह क्षत्रिय से कम नहीं होता तो फिर सरलता कहाँ रही? जैसे किसी मंदिर के गुम्बज में काच के हजार टुकड़े लगे हैं तो आपको अपने जार रुप दिखेगे, उसमें एक दिया जलाया तो हजार दिए जलते दिखेंगे। इसी तरह हम संसार में केवल अपने को देखेंगे तो अकेले होकर अपना रुप देख पाएंगे। अन्यथा संसार में देखने पर अपने को हजार रुपों मे विभक्त पाएगे।। हमारी यह रुप बदलने की माया ही है कि रात का सपना सच हो जाता है। दिन में संसार सच हो जाता है। सिनेमा के परदे पर प्रकाश की किरणे सच होती है, पर वास्तिवक्ता कुछ भी नहीं है।

जापान मे एक फकीर नीम के पेड़ के नीचे सोता था। कई लोग उसे प्रणाम करते थे। एक राजा ने निमत्रण दिया तो फकीर उसके महल मे रहने को चला गया, पर राजा हैरान हुआ कि कैसा साधु हैं इस के कार्यकलाप विचित्र हैं। रातभर राजा सो न सका। सुबह होने पर राजा ने फकीर से पूछा - "क्या कारण है आप निश्चिन्त रहते हैं आपको कोई तनाव नहीं है, यह मेरी शका है।" फकीर ने कहा - "चलो एकान्त मे बताऊँगा।" फकीर आगे चलता गया। राजा भी उसके पीछे-पीछे चलता गया। राजा भी पैदल गया। बहुत दूर निकल जाने पर राजा बोला - बताओ, फकीर बोला और आगे चले चलो फिर बताऊँगा। राज बोला - मेरा महल पीछे रह गया है मै अब आगे कैसे चलूँ? अब यही बताओ। फकीर बोला - मेरा कोई महल पीछे नही, तुम्हारा महल है। यही अतर है तुम मरोगे तो कहोगे कि मेरा राज्य चला गया, मेरा

धन-धान्य गया। फकीर ने समझाया इतने में ही सब बता दिया है। स्वप्नों की धूल स्मृति से निकाल दो, दिन भर की घटित घटनाओं को भी भूल जाओ तो सरलता आयेगी, तनाव न होगा।

जैसे बाहरी स्वस्थता उतनी कारगर नहीं, जितनी कि भीतर की स्वस्थता कारगर है। भीतर रोग हो तो अच्छा स्वस्थ दिखने वाला व्यक्ति भी अचानक चल बसता है। उस रोग के न दिखने से इलाज का भी मौका भी नहीं मिलता। बाहरी स्वच्छता भी जरुरी है पर भीतर हृदय की स्वच्छता का ज्यादा महत्त्व है। वर्तमान शिक्षा हमारे चरित्र तथा हृदय को स्पर्श नहीं करती। यह शिक्षा ऐसा भोजन है जिससे भूख तो मिटती है पर तृप्ति नहीं होती, न नया रक्त बनता न अन्य धातुएं शरीर में बढ़ती है। तकनीकी शिक्षा के साथ चारित्र की शिक्षा भी होना चाहिए। मानवीय मूल्यों की स्थापना अनिवार्य हैं।

तकनीकी ज्ञान से उपार्जित वस्तुएं जीवनयापन का साधन तो हो सकती हैं, पर साध्य नहीं है। क्राइस्ट की तटस्थता, बुद्ध की उपेक्षा, महावीर की वीतरागता तथा कृष्ण की अनासक्ति कुछ समान-सी हैं। महावीर का चिन्तन बड़ा वैज्ञानिक हैं। वे कारण बिना कार्य नहीं होता है, ऐसा मानते हैं। महावीर शान्त भी हैं, जन्म हुआ तो मृत्यु की ओर बढ़ने लगे। बुद्ध का एक शिष्य था। वह बड़ा राजकुमार था जो साधु हो गया। लोग आश्चर्यचकित रह गए और आपस में बातें करने लगे बोले-जिसके पास कोई कमी नही थी वह साधु क्यों हुआ? बात कुछ समझ में नही आई। सुंदर शरीर, धन, सम्पत्ति, राजपाट सब कुछ था। बुद्ध बोले जिसके पास सब होता है वे ही छोड़ने को उत्सुक हो जाते हैं जिनके पास कुछ नहीं वे इकटठ्ा करने के लिए बैचेन रहते है। अमीर होने पर समझ में आता है-गरीबी का मजा।

जिन्दगी से भागकर आदमी मर सकता है, शान्त नहीं हो सकता। मरे हुए को जो शान्ति है उसे कोई शान्ति नहीं कहता। पश्चिम में व्यक्ति समाप्त हो गया, पूर्व में समाज समाप्त हो गया। पूर्व में गरीबी के सिवा कुछ नहीं है। पश्चिम मे धन है, पर शान्ति नही। पश्चिम में समाज विकसित होता चला गया हे। पूर्व के लोग कहते थे-शान्ति भीतर है बाहर की समृद्धि व्यर्थ है। व्यक्ति को शान्ति तथा समाज को भ्रान्ति चाहिए। पर जिन के पास धन है साधन है, वे रोटी बाटने मे नही बम बनाने मे उसका उपयोग कर रहे हैं।

एक रात एक होटल में तीन-चार लोगों ने खूब खाना खाया, शराब पी। आधी रात तक जागते रहे, होटल वालों का बड़ा बिल चुकाया। होटल वाले की पत्नी बोली - ऐसे जानदार ग्राहक रोज आवें तो कुछ दिन में हम मालामाल हो जायेगे। वे बोले - भगवान से प्रार्थना करो हमारा धधा खूब चले तो हम रोज आयेंगे। मैंनेजर ने पूछा-आपका धंधा क्या है? वे बोले - मरघट पर मुर्दो की लकड़ी बेचने का काम करता हूँ। मैंनेजर सुनकर अवाक् रह गया। पर क्या यह सत्य नहीं हैं कि हम तुम सभी मुर्दो की लकड़ियाँ एवं कफन बेचने का धंधा करते है। डाक्टर भी चाहते हैं कि लोग बीमार हों, वकील चाहते हैं कि रोज लड़ाई-झगड़े हों तो केस मिले। व्यापारी भी चाहते हैं कि हर साल चुनाव हों, पार्टियां आपस में लड़े, ताकि मंहगाई बढ़े, मुनाफा-खोरी हो। क्या आप जानते हैं, कि जिस दिन अधर्म मिट जायगा, पुरोहित कहाँ रहेगा?

एक बार बहादुरशाह ने शायर गालिब को भोजन में बुलाया तो लोगों ने गालिब से कहा कि अच्छे कपड़े पहनकर चलो। गालिब बोले - निमंत्रण कपड़ों को नहीं, मुझे मिला है। पर द्वारपालों ने उन्हें भिखारी समझ अंदर नहीं घुसने दिया। फिर वे अच्छे कपड़े पहनकर गये तो बादशाह ने उन्हें ससम्मान बगल में बैठाया। जब गालिब को भोजन परोसा गया तो वे भोजन को कपड़ों में चुपड़ने लगे। बादशाह बोले पागलो जैसी हरकत क्यों? गालिब बोला - मैं इन वस्त्रों को भोजन करा रहा हू जि न्हें भीतर आने दिया गया है। आज हम वस्त्र या अच्छे वस्त्र वालो का सम्मान करते है। मुनि को तो हम नमस्कार वैसे ही कर लेते है, किन्तु उस मार्ग पर चलते थोड़े ही हैं।

योग जीवन है, भोग-मरण है। योग सिद्धि का मार्ग प्रशस्त करता है। भोग नरक के लिए निःस्वच्छ पर्याय है। इस जीवन को जो एकबार भी धारण कर लेता हैं उसका मन पवित्र हो जाता हैं।

ज्ञानधारा और कर्मधारा

दुनियां में रहे या दूर रहे, जो खुद में समाये रहते है
सब काम जगत का किया करें, नहीं प्यार किसी से करते है।
यह चक्रवर्ती पद भोग करें, पर भोगों में लीन नहीं रहते हैं
वह जल में कमल की भांति सदा घर बार बसाये रहते है।

दुनिया में रहे या दूर रहे-

वह नरक वेदना सहते हैं, पर मग्न रहे निजआत्म में,
वह स्वर्ग सम्पदा पाकर भी, रुचि हटाये रहते हैं।

दुनिया में रहे या दूर रहे-

नहीं कर्म के कर्ता बनते हैं, स्वामित्व न अपना वे धरते है
नहीं सुख में सुखी, नहीं दुख में दुखी समभाव धराये रहते हैं।

दुनिया में रहे या दूर रहे-

है धन्य-धन्य वे निर्मोही जिन शान्त दशा यह प्रगटाई
शिवराम चरण में उनके सदा शीश झुकाये रहते हैं।

दुनिया में रहे या दूर रहे-

आज ज्ञान धारा व कर्म धारा की बात करनी है। यद्यपि ज्ञान का कार्य जानना है। पर उसके साथ और कुछ भाव सलग्न है। जानना दो प्रकार का होता है। 1. केवल जानना 2. कल्पना विशेष के साथ जानना।

संग्रहालय में रखी वस्तु को जानना केवल जानने का उदाहरण है अथवा राह चलते किसी भी साधारण व्यक्ति को जानना केवल जानने का उदाहरण है। घर में पड़ी वस्तु को, अथवा अपने पुत्र को जानना कल्पना सहित जानने का उदाहरण है घर में कोई भी वस्तु, इष्ट अनिष्ट, कोई तेरी मेरी नहीं है। पर घर की वस्तु में इष्ट अनिष्ट, कोई इष्ट, कोई अनिष्ट, कोई तेरी, कोई मेरी है इसी प्रकार राह में चलता हुआ साधारण व्यक्ति मेरे लिए अच्छा है, मेरा अपना है, मेरी सेवा करने वाला है। अजायब घर की वस्तु न ग्राह्य है न त्याज्य है न बनने योग्य न बिगड़ने योग्य। इसी प्रकार राह चलता हुआ व्यक्ति न प्यार किये जाने योग्य है और न द्वेष, न बाधा पहुँचाने योग्य है तथा न सहायता किये जाने योग्य है। परन्तु अपना पुत्र प्यार किये जाने योग्य है इसी प्रकार अन्यत्र जान लेना।

यहाँ अजायबघर की वस्तु को जानना, चलते व्यक्ति को जानना तो कल्पना, या भोक्तापन है। कल्पनाओं में अतीत केवल जानता है और घर की वस्तु को जानना अथवा अपने पुत्र को जानना भोक्ता कर्ता की कल्पनाओं सहित होने के कारण जानने के साथ कुछ और भी है। ज्ञान की पहली जाति के कार्य को ज्ञान-धारा कहा गया है। ज्ञानधारा ज्ञाता दृष्टा रुप है और कर्मधारा क्रोधादि विकार रुप है, ज्ञानधारा ज्ञान के पारिश्रमिक भाव या स्वभाव के साथ तन्मय है। अर्थात् उसके बिल्कुल अनुरुप है इसलिए यह चैतन्य रुप है और कर्मधारा पर पदार्थों को करने धरने के विकल्पो सहित होने के कारण परभाव है। चैतन्यभाव अन्य है और इसलिए वह अचेतन या जड़ भाव है। इसलिए ज्ञानधारा के सद्भाव में कर्मधारा और कर्मधारा के सद्भाव मे ज्ञानधारा होना असम्भव है क्योंकि ज्ञानधारा चैतन्यमयी और कर्मधारा जड़ है।

ज्ञानधारा में ज्ञेय को जानता हूँ - ऐसा भाव बना होता है परन्तु कर्मधारा में ज्ञान स्वयं ज्ञेय के साथ तन्मय होकर यह भूल जाता है कि मैं जानने वाला भी कोई हूँ। अतः ज्ञानधारा एव पदार्थों के साथ तन्मय होने के कारण स्वभाव है और कर्मधारा पर पदार्थों के साथ तन्मय होने के कारण परभाव है। ज्ञानधारा व ज्ञाता दृष्टा बनाना एकार्थ वाचक है, कर्मधारा व कर्त्ताबुद्धि एकार्थ वाचक है।

आज का दिन गर्म रहा यह ज्ञान धारा है और मुझे बड़ी पीड़ा हुई, गर्मी कम होती तो अच्छा रहता है यह कर्मधारा है। वास्तव में देखा जाए तो ज्ञानधारा रागपूर्वक व उत्पन्न करने रुप नहीं होती क्योंकि ऐसा करने से तो वह सब ही कर्मधारा रुप बन जायेगा।

यद्यपि व्यवहारिक जीवन मे उसकी कर्म धारा चलती रहती हैं परन्तु दार्शनिक अंतरग जीवन में ज्ञानधारा व्यापने लगती है जिसने फलरुप वह सदा ही अपने सर्वग्राह्य रागात्मक कर्म धारा वाले कृत्यों के लिए अपने को धिक्कारता हुआ बराबर अन्दर ही अन्दर उनसे पीछे हटने का तथा ज्ञानधारा में टिकने का प्रयास करता रहता है। ऐसी मिश्रित दशा उसकी उस समय तक चलती रहती है जब तक की कर्मधारा का अभ्यास पूर्णतः न हो जायें यह ही व्यवहार व निश्चित मार्ग में मैत्री है। इसका अर्थ यह नहीं कि वह दोनों को उपादेय मानता है। कर्मधारा

रुप व्यवहार करते हुए वह उसे सर्वथा अपराध ही समझता है और ज्ञानधारा को सत्य समझता है।

ज्ञानधारा का ऐसा ही कोई अचिन्त्य महात्म्य है। भले ही उसे एकान्त कहो, पर साधक को यही सुन्दर लगता है। यह उसकी आन्तरिक साधना है। इसी साधना के आधार पर जल में कमल की तरह संसर में रहता हुआ भी इनसे भिन्न रहता है। जिस प्रकार पुत्र की मृत्यु के एक महीने पश्चात् ही अपनी कन्या का विवाह करने वाला कोई व्यक्ति बाहर है। वह सब कुछ रागरंग करता हुआ भी अन्दर से रोने के सिवाय कुछ नहीं कर पाता, वह हँसता बोलता अवश्य है। मिठाई भी बनवाता है, हस कर अतिथियों का सत्कार का भी अवश्य करता हैं। अन्दर में नही बाहर मे उसका अन्तः करण तो यह सब कुछ करता हुआ भी अपने पुत्र के शोक से केवल अतरग मे रो ही रहा है।

भरत चक्रवर्ती का उदाहरण हमारे समक्ष है। इस शान्तिपथ का साधक भी व्यापार आदि करता अवश्य है, भोगदि भी भोगता अवश्य ही है। पर अन्दर से नहीं केवल बाहर से। यह घर रहते योगी की बात है। यहाँ से ही अध्यात्ममार्ग की साधना प्रारम्भ होती है। यह तो लौकिक दशा की बात कही, धार्मिक दशा मे भी वह पूजा, उपवास, व्रत उपदेश आदि सब कुछ करता है। पर अन्दर से नही केवल बाहर से। इन कार्यों को इसलिए नही करता कि यह सब कार्य उसे अच्छे लगते है। बल्कि इसलिए करता है कि ऐसा करते हुए उस क्षण भर के लिए अधिक पुष्ट कर्मधारा से हट कर हीनाधिक रुप से ज्ञानधारा मे प्रवेश पाने का अवसर मिल जाता है। लेकिन वह सर्वविकल्प धारा रुप ही है इन विकल्पो को सदा त्याज्य मान कर उनसे भी पीछे हटाने का प्रयत्न करता है। पर इसका अर्थ यह भी मत समझ बैठना इन धार्मिक क्रियाओं को समझ अनिष्ट मान कर वह भले ही अन्य लौकिक कार्य तो करे परन्तु इनको न करे। उनको जब छोड़ा जाता है जब ज्ञानधारा मे उतनी तीव्र उत्कण्ठा के कारण वह उनको छोड़कर ध्यान में मग्न होना चाहता है। अगर उनको छोड़कर कर्मधारा मे उतरा तो अनर्थ हो जायेगा, ज्ञानधारा चतुर्थ गुणस्थान से लेकर बारहवे गुणस्थान तक उत्तरोत्तर ज्ञानधारा की ओर झुकता चला जाता है। यहाँ तक की अन्त मे जाकर पूर्णतया ज्ञानधारा मे निश्चित स्थिति पा जाता है। साराश केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष चला जाता है। इसलिए हे भव्य प्राणियो कर्मधारा को छोड़कर ज्ञानधारा प्राप्त करो।

कल्पना करो आप किसी मुकदमे में उलझ गए है अपने बचाव के लिए सामान व रुपये लेकर मजिस्ट्रेट के पास गए। बड़े प्रेम से वह सामान व रुपया रिश्वत के रुप में भेंट किये, बोले बच्चो के लिए है, उसके बच्चो के प्रति भी उसने बहुत प्रेम दिखाया, जो कुछ उन्हें चाहता दे देता। बच्चों की माँ समझती कि उसे बच्चों से बड़ा मोह पड़ गया और पिता कहता है कि उसे हमारे परिवार से प्रेम है। परन्तु आप जानते है उसे कैसा प्रेम व मोह है। मुकद्दमा जीतने की हवा में उड़ा हुआ है। इसी प्रकार ज्ञान को पता है कि उसकी कैसी रुचि है इन धार्मिक क्रियाओं

के प्रति शान्ति मिली कि सब रुचि भागी वर्तमान की यह सब रुचि झूठी दिखावटी है केवल अशुभ बातों में विकल्प न चला जाए इस भय के कारण उससे विपरीत रुचि है उन बच्चों के साथ माता के प्रेमवत् हितबुद्धि रखकर।

और भी एक स्पष्ट उदाहरण है - एक कैदी व एक किसान दोनों खेती करते है दोनों ही तन मन से काम करते दिखाई देते है। क्रिया दोनों की हो रही है। पर क्या अभिप्राय दोनों का समान है? किसान हितबुद्धि से खेती करता है और कैदी दण्ड समझ कर। किसान की तन्मयता हितबुद्धि के कारण ध्रुव है। कैदी को आज क्षणिक छुट्टी मिल जाए तो चाहे खेती सूखे, उसकी बला से। खेती के लिए जेल में रहने की तैयार नही, परन्तु किसान को मृत्युशैय्या पर पड़े हुए भी सम्भवता यही विचार आयेगा कि कहीं खेती को गाय न चर जायें। किसान की प्रसन्नता उसके फल भोगने के लिए है और कैदी की प्रसन्नता अपने फल के कारण है। भोक्तापने से निरपेक्ष किसान की खेती है अभिप्राय के अनुकूल और कैदी की खेती है अभिप्राय के प्रतिकूल।

आज से दो हजार वर्ष पूर्व भारत की राजधनी उज्जैयिनी थी उसे आजकल उज्जैन कहते है, उसी में मालवा प्रान्त है, भृर्तहरि व विक्रमादित्य दो भाई थे। वह राज्य किया करते थे। भृर्तहरि धर्मात्मा होने से प्रजा भी धर्मात्मा थी, उसका भाई बहुत भी धर्मात्मा था। विक्रम संवत भी उसके नाम से चलता है। महात्मा भृर्तहरि के दो विवाह हुए थे। फिर भी किसी रुपवती नारी से सम्बन्ध मिलने पर उसका तीसरा विवाह भी हो गया। इस नई महारानी का नाम पिंछला था। महारानी पिछला ज्यादा रुपवती होने से महाराज उस पर ऐसे मोहित हुए कि अपनी विद्या, बुद्धि, विवेक और विचार को ताक पर रख दिया। अब वह पिंछला की भी कठपुतली बन गए। पिछला जो भी चाहती वह ही राजा से करवाती। हम केवल भृर्तहरि को ही दोषी क्यों ठहराये। बड़े-बड़े महारथी भी कामिनियों के जाल में फंस कर अपनी सारी अक्ल खो बैठते हैं। बड़े-बड़े शूरवीर भी जो संसार में विजय प्राप्त कर सकते हैं वे भी इनके सामने कायर हो जाते है। साधरण मनुष्यों की तो बात ही क्या। ये अबला कहे जाने पर भी सबला है जब कोई इनके वश मे हो जाता है तो उनका ज्ञान काफूर हो जाता है। महाराज भृर्तहरि महान विद्वान और बुद्धिमान थे। परन्तु होनी बलवान होने से उन्होंने महारानी पिंछला को सिर पर चढ़ा लिया। पिछला एक नीच दरोगा को चाहने लगी उसके पापाचार का पता राजा विक्रमादित्य को चला। अपने ऊँचे कुल में दाग लगते देख और भाई की अनिष्ट की आशंका से उसका मन काँप उठा। विक्रम ने यह बात भाई से कहने के लिए कई बार संकल्प किया। पर वह महाराज का रानी पर प्रेम देखकर कहने का साहस नहीं कर सका। आखिर एक दिन मौका पाकर उसने महाराज से कहना प्रारम्भ किया। पूज्य भाई आप सब प्रकार से बुद्धिमान है, लेकिन आप धोखा खा रहे है। कहने से आपको डर लगता है और न कहूँ तो कुल को दाग लगता है। सुनिये मेरे बड़े भ्राता क्या कहूँ, कहा नहीं जाता, पर दुविधा में कहना पड़ रहा है। भाभी के सम्बन्ध में बहुत बुरी बात सुनी है पर मैंने उसे सुनकर ही सत्य नहीं माना। उसकी पूरी तरह से जांच की और फिर विश्वास किया। महाराज आप तो शास्त्रों के जानकार है। स्त्रियों की बातों में मधु और हृदय में हलाहल विष भरा रहता

है, जो उनको सती साध्वी समझते रहते है वह बड़ी भूल करते है। यहाँ भृर्तहरि ने यह सब सुनकर विक्रम से कहा कि तुम्हे भ्रम हो गया, पिछला एक आर्दश नारी है। वह दिन रात मेरा ही जाप करती रहती है, ऐसी पतिव्रता पर कलंक लगा कर आप अच्छा नहीं करते। अब तक जो कह दिया सो कह दिया अब आगे कहने की कोशिश न करना। तुम मेरे भाई हो इसलिए इतना कह रहा हूँ नही तो सूली पर चढ़ा देता। विक्रम चुपचाप बैठा रहा। उधर पिंछला को भी यह पता चला कि उसके पापकर्म का पता विक्रमादित्य को लग चुका है उसने उसके लिए त्रियाचरित्र शुरु कर दिए। वह महाराज के प्रति पहले से भी अधिक प्रेम का प्रदर्शन करने लगी, मौका पाकर पिछला ने विक्रमादित्य के प्रति कान भरने शुरु कर दिये। महाराज आप बुरा तो मानेगे आपके भाई विक्रम का व्यवहार कुछ अच्छा नही है। मै तो उनकी माता के समान हूँ, पर वह अपने नगर के एक धनिक पुत्र की वधु पर आसक्त है। उसने उसके लिए कई दासियां भी लगा रखी है। पर वह अब तक उसके वश मे नही आयी, मै नहीं समझती कि यह बात कितनी सत्य है। इधर तो उसने कहा और उधर उसने नगर सेठ को बुलाकर कह दिया कि जो मै कह रही हूँ वह करना होगा नही तो मै तुम्हारी जान भी ले सकती हूँ और तुम्हारा कुछ भी नहीं बचेगा। मरता क्या नही करता क्योंकि सारा नगर जान चुका था कि महाराज पिंछला के हाथो बिक चुके है। यह जो काम करायेगी उसे ही महाराज करेगे। अतः बहुत सोच विचार करने पर सेठ रानी की बात पर राजी हो गए। दूसरे दिन दरबार लगा, दरबार में एक व्यक्ति दुहाई-दुहाई का शोर मचाता हुआ आया। महाराज ने उसे सामने बुला कर बात पूछी, उसने भरी सभा मे कहना शुरु कर दिया, महाराज आपके छोटे भाई बड़े ही दुराचारी, अत्याचारी, अनाचारी, व्यभिचारी हो गए है सेठ ने अभी इतना ही कहा था कि महाराज के मन में पिछला की बताई हुई बात घूम गई, उन्हे मन ही मन पिछला का घोर विश्वास हो गया। आखिर सेठ ने वही सारी कहानी दोहरा दी जो पिछला ने बताई थी। इतने में महाराज का चेहरा तमतमा उठा। विक्रम भी उस समय राज्य मे ही बैठे थे वे सब कुछ समझ गए कि यह सब षड्यन्त्र पिंछला का है, विक्रम ने सेठ से कहा कि तुम बुढ़ापे मे झूठ बोल कर क्यों पाप सिर चढ़ाते हो, मैं तो तुम्हारी पुत्रवधु को जानता तक नही, वह भली है या बुरी, मेरे लिए वह माता के समान है। यदि मेरे ऊपर दोषारोपण करके अपना मतलब भी सिद्ध करोगे तो इससे क्या होगा। सांसारिक धन दौलत भी आपके साथ नही जायेगी। ये शरीर और धन दौलत भी तो अनित्य है। अतः सेठ जी धर्म को न छोड़ो, आप किसी के डर से यह दोष मुझ पर लगा रहे, जब जाँच करने पर भेद खुलेगा तब आपकी क्या दशा होगी। विक्रम की बातें न सुनकर महाराज भृतहरि ने कहा – रे नीच, रे पापी तू मेरे सामने बातें बना कर सच्चा बनने की कोशिश न कर, अब तेरी मक्कारी, धोखेबाजी नही चलेगी अगर अपने प्राणों की रक्षा चाहता है तो यहाँ से इसी समय भाग जा। विक्रम भाई की बात सुन कर बोला कि मै तो अभी चला जाता हूँ पर आपने यह बात जो बिना जाँच कराये एक तरफ ही फैसला दिया है यह सरासर गलत है एक दिन आपको पछताना पडेगा और आपका दिल मुझे याद कर रोयेगा। लेकिन परमात्मा आपका मंगल करें, सद्बुद्धि दे और यह

कहकर वह वन की ओर चला गया। इस घटना को कई वर्ष बीत गए। भर्तृहरि के राज्य में ही नगर का एक दरिद्र ब्राह्मण अपनी इष्ट सिद्धि के लिए किसी देवता की घोर तपस्या या आराधना कर रहा था। देवता ने प्रसन्न होकर कहा - मैं तुम्हारा तप से बहुत प्रसन्न हूँ, इसलिए वरदान में ये फल देता हूँ। इस फल को साधरण फल नहीं समझना, इस फल का नाम अमर है। इसके खाने वाले की मृत्यु नहीं होती। ब्राह्मण उस फल को देखकर और लेकर घर आया, स्त्री से सारा हाल सुनाया। स्त्री बोली इस फल का क्या करोगे यह राजा भृर्तहरि को दे आइये। बहुत कुछ सोच विचार कर ब्राह्मण उस फल को लेकर राजा के पास आ पहुँचा। महाराज ने उस ब्राह्मण को अपने पास बुला लिया और कहा - हे द्विज, आपको क्या कष्ट है। ब्राह्मण ने उस अमर फल की सारी कहानी राजा को कह सुनाई और वह फल राजा के हाथ पर रख दिया। महाराज ने खुश होकर बहुत धन उस ब्राह्मण को दिया। ब्राह्मण के विदा होते ही भृर्तहरि मन ही मन सोचने लगा कि यह फल बहुत अच्छा है लेकिन समझ मे नहीं आता कि ये फल खुद खाऊँ या पिंछला को खिलाऊँ। विचार कर यह फल पिछला को दे दिया। अब पिछला के मन में यह विचार आया कि इसका क्या करना है। उसने वह फल अपने प्रेमी दरोगा को दिया, मन ही मन दरोगा भी सोचने लगा कि इस फल को मैं खाऊँ तो क्या फायदा, मैं इसे अपनी प्रेमिका वेश्या के दे आऊँ, दरोगा साहब को आया देखकर वेश्या ने उन्हें अपने पास बैठाया और आने का कारण पूछा, दरोगा ने अमर फल की सारी कहानी बता दी और वह फल वेश्या को दे दिया। अब वेश्या सोचने लगी मैंने बहुत पाप किये है। इसे खाने से ज्यादा जीना पड़ेगा, इतना ही दुख भुगतना पड़ेगा। इसलिए यह फल खाने योग्य नहीं है, यह फल महाराज भृर्तहरि को देना चाहिए वह राजा अमर रहेगा तो प्रजा सदासुखी रहेगी और उसने वह फल लाकर राजा को दे दिया। फल देखते ही राजा के होश उड़ गए। वे सारी स्थिति समझ गए कुछ सम्भलते हुए उन्होने वह फल उसी क्षण खा लिया। उन्हे पिछला के विश्वास पर बड़ी ग्लानि हुई उन्हे जबरदस्त सदमा लगा। अब उनकी आँखे खुली तो पता चला कि स्त्रियों की प्रीति मे सार नहीं होता। उन्हे ससार से विरक्ति हो गई और समझ लिया कि ससार में कोई किसी का नहीं होता।

वह राजा संसार विषयभोगों से एकदम विरक्त हो गया। यह सब मिथ्यासंसार है। इसमे फसकर मुनष्य अपना कीमती जीवन गवा देता है। वह बार-बार कामदेव को धिक्कारते है, उन्होने सारा राजपाट त्याग दिया और धनदौलत वैभव को छोड़कर वन को चले गए। चलते समय मन्त्री से कहा कि मैने विक्रम के साथ बड़ा अन्याय किया है मुझे उस समय कुछ भी ज्ञान न था, मेरी अक्ल पर पर्दा पड़ गया था, मेरा भाई तो बहुत धर्मात्मा था वह चारित्र वान भी था। विक्रम की फोटो लगा कर गद्दी पर बैठा देना, महाराज अगर चाहते तो पिंछला को जिन्दा जमीन में गड़वा देते, दरोगा को तोप के मुँह पर रख देते। परन्तु उन्हें तो निर्मल ज्ञान हो गया था। ऐसा ज्ञान भी उन्हें होता है जिसका उदय पलटा खाता है। मनुष्य से तो साधारण सी वस्तु भी नहीं छोड़ी जाती, इच्छाओं को त्याग भी नहीं होता, तब राज्य और सम्पूर्ण वैभव को त्याग देना बहुत बड़ी बात है। भृर्तहरि वन में जाकर तपस्या करने लगे।

योग नहीं गुप्ति

धर्म प्रेमी बन्धुओं आज आपको "योग नही गुप्ति" विषय पर बतायेंगे। कोई व्यापारिक क्षेत्र में, कोई राजनीतिक क्षेत्र में कोई सामाजिक क्षेत्र मे, तो काई आध्यात्मिक क्षेत्र में कार्य करता है। मन-वचन-काय के अवलम्बन के बिना कोई कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता है मन-वचन-काय तो परवस्तु है, जड़ है, अत: जहाँ जड़ का अवलबन लिया जाता है वहाँ संयोग होगा। सयोग नाम योग का है। योग होगा तो वियोग भी होगा। योग-वियोग रुप ही संसार है। इस प्रकार योग आस्रव का कारण है, ससार का कारण है, अत: हेय है, छोड़ने योग्य, त्यागने योग्य है।

ऐसा जानकर जब मनुष्य धीरे-धीरे प्रवृत्ति से निवृत्ति की ओर बढ़ता है तो वह कुछ शान्ति का अनुभव करता है, उसकी आकुलता व्याकुलता घटने लगती है, भाग-दौड़ खत्म होने लगती है। 'पर' का सयोग छूटने लगता है, वह स्वतन्त्र होने लगता है, कुछ हल्का हो जाता है। मनुष्य अपने स्वभाविक रुप में आने लगता है। इस प्रकार जीव की स्वभाव परिणति जीव को शान्ति की ओर ले जाती है। वह शान्त होने लगता है। इस मार्ग पर आगे बढ़ता हुआ जीव मन-वचन-काय की प्रवृत्ति का पूर्ण निरोध करके मात्र ज्ञाता-द्रष्टा भाव से निश्चय समाधि को धारण करता है। इसे गुप्ति कहा जाता है। गुप्ति सवर का कारण है, संवर मोक्ष का कारण है, अतः गुप्ति उपादेय है, ग्रहण करने योग्य है। इसीलिये प. दौलतराम जी है कि -

मुनि सकल व्रती बड़ भागी, भव-भोगन तै वैरागी।
वैराग्य उपावन माई, चिन्तै अनुप्रेक्षा भाई॥

(छहढाला-पाँचवीं ढाल)

पच महाव्रतो के धारक मुनिराज बड़े भाग्यशाली होते है, जो ससार, शरीर, भोगो से विरक्त होते है। अत: वैराग्य को उत्पन्न करने के लिए माता के सामान अनित्यादि बारहभावनाओ का बार-बार चिन्तन करते रहते है।

चारित्र के बल पर ही यह अवस्था जीव की होती है और गुप्ति चारित्र रुप ही है। अतएव इसी योग और गुप्ति के सदर्भ में विस्तृत व्याख्या करते है।

योग: मन-वचन-काय के निमित्त से आत्मा के प्रदेशो के चचल होने को योग कहते हैं। दूसरे शब्दो में कर्मो के सयोग के कारणभूत जीव के प्रदेशो का परिस्पन्दन योग कहलाता है या मन-वचन-काय की प्रवृत्ति के प्रति जीव का उपयोग या प्रयत्न विशेष योग कहलाता है। आचार्य उमास्वामी कहते है कि -

कायवाङ्मनः कर्मयोगः॥१॥ स आस्रवः॥२॥

काय, वचन और मन की क्रिया को योग कहते है। यह आस्रव का कारण है। दूसरे शब्दों में तीन प्रकार का योग ही आस्रव है। यहाँ निमित्त की अपेक्षा से तीन प्रकार का योग कहा गया है, उपादान रुप योग में तीन भेद नहीं हैं, किन्तु एक ही प्रकार का है।

योग के भेद - योग के दो भेद किये जा सकते हैं -

1. भावयोग; और 2. द्रव्ययोग

१. भावयोग - कर्म, नोकर्म के ग्रहण करने में निमित्त रुप आत्मा की शक्ति-विशेष को भावयोग कहते हैं।

२. द्रव्ययोग - आत्मा की उस शक्ति के कारण जो आत्मा के प्रदेशों का कम्पन होता है वह द्रव्य योग कहलाता है।

यद्यपि भावयोग एक ही प्रकार है तो भी निमित्त की अपेक्षा से उसके पंद्रह भेद होते हैं। जब यह योग मन की ओर झुकता है, तब उसमें मन निमित्त होने से, योग और मन का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध दर्शाने के लिए, उस योग को मनोयोग कहा जाता है। इसी प्रकार से जब वचन की ओर झुकाव होता है, तब वचनयोग कहा जाता है, और जब काय की ओर झुकाव होता है तब काययोग कहा जाता है। इसमें मनोयाग के चार, वचनयोग के चार और काययोग के सात भेद होते हैं। इस प्रकार निमित्त की अपेक्षा से भावयोग के कुल पंद्रह भेद होते हैं, जो इस प्रकार हैं -

1. मनोयोग के चार भेद - 1. सत्यमनोयाग, 2. असत्यमनोयोग, 3. उभयमनोयोग, 4. अनुभयमनोयोग।

काययोग के सात भेद - 1. औदारिक काययोग, 2. औदरिकमिश्र काययोग, 3. वैक्रियक काययोग, 4. वैक्रियक मिश्रकाययोग, 5. आहारक काययोग, 6. आहारक मिश्रकाययोग, 7. कार्मण काययोग।

आत्मा तो गुणो का पिण्ड है, इसमे एक योगगुण भी है, यह अनुजीवी गुण है (वस्तु के भाव स्वरुप गुण को अनुजीवी गुण कहते है - जैसे चेतना, सम्यक्त्व, चारित्र आदि)। योगगुण की अशुद्ध पर्याय मे आत्मप्रदेशों में कपन होता है, किन्तु योग गुण की शुद्ध पर्याय मे आत्म प्रदेश निश्चल रहते है।

आगे आचार्य उमास्वामी कहते है कि-

सकषायाकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः॥४॥

(तत्त्वार्थ सूत्र- अं. ६)

योग दो प्रकार का होता है- 1. कषाय योग, और 2. अकषाययोग।

कषाय सहित जीव के ससार के कारणरुप कर्म का आस्त्रव होता है, और कषाय रहित जीव के स्थिति रहित कर्म का आस्त्रव होता है।

साम्परायिक आस्त्रव - यह आस्त्रव संसार का ही कारण है। मिथ्यात्व भाव रुप आस्त्रव अनन्त संसार का कारण है। मिथ्यात्व का अभाव होने के बाद होने वाला आस्त्रव अल्प संसार का

कारण है। दूसरे शब्दों में जो कर्म परमाणु जीव के कषाय भावों के निमित्त से आत्मा में सीमित काल के लिए स्थिति को प्राप्त होते हैं, उनके आस्रव को साम्परायिक आस्रव कहते हैं। इसके स्पर्शन आदि पाँच इन्द्रियाँ, क्रोधादि चार कषाय, हिंसा आदि पाँच अव्रत और सम्यक्त्व आदि 25 प्रकार की क्रियाएं - इस तरह कुल 39 भेद है।

ईर्यापथ आस्रव - यह आस्रव कषाय रहित होता है। यह आस्रव स्थिति और अनुभाग रहित है, और यह अकषायी जीवों के ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थानों में होता है। चौदहवें गणुस्थान में रहने वाले जीव अकषायी और अयोगी दोनों हैं, इसलिये वहाँ आस्रव है ही नहीं।

दूसरे शब्दों में जिन कर्म परमाणुओं का बन्ध, उदय, और निर्जरा तीनों एक ही समय में होती हैं, उसके आस्रव को ईर्यापथ आस्रव कहते है।

आचरण रुप उपयोग की अपेक्षा योग के भेद

शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य॥३॥

(तत्त्वार्थसूत्र, अ. 6)

1. शुभयोग पुण्यकर्म के आस्रव मे कारण है, और 2. अशुभयोग पाप कर्म के आस्रव में कारण है।

योग मे शुभ या अशुभ ऐसा भेद नही होता, किन्तु आचरणरुप उपयोग मे शुभोपयोग और अशुभोपयोग ऐसा भेद होता है। इसलिये शुभोपयोग के साथ योग को उपचार से शुभयोग तथा अशुभोपयोग के साथ योग को उपचार से अशुभयोग कहते है।

यहाँ यह बात समझनी है कि आस्रव शुभ हो या अशुभ दोनो बन्ध के कारण है, हेय है, त्यागने योग्य है। किन्तु जीव भूल यह करता है कि आस्रव तत्व मे जो हिसादिक पापास्रव हैं उसे तो हेय जानता है, किन्तु जो अहिसादिकरुप पुण्यास्रव है उसे उपादेय मानता है, भला मानता है। इसमे उपादेयत्व मानना ही मिथ्यादर्शन है। सर्वजीवों के जीवन-मरण, सुख-दुख, अपने-अपने कर्मोदय के निमित्त से होता है, तथापि जहाँ ऐसा माना कि अन्य जीव अन्य जीव के कार्यो का कर्त्ता होता है, यही मिथ्याध्यवसाय बन्ध का कारण है। अन्य जीवके जितने या सुखी करने के जो अध्यवसाय हो सो तो पुण्य-बन्ध का करण है और जो मारने या दुःखी करने का अध्यवसाय होता है, वह पाप-बन्ध का कारण है। ये सब मिथ्या-अध्यवसाय होता है, वह पाप-बन्ध का कारण है। जो मिथ्या-अध्यवसाय हैं, वे सब त्याज्य हैं। इसलिये हिसादिक की तरह अहिसादिक को भी बन्ध के कारणरुप जानकर हेय समझना चाहिये। हिसा मे जीव के मारने की बुद्धि हो किन्तु उसकी आयु पूर्ण हुए बिना वह नहीं मरता और अपनी द्वेष परिणति से स्वय ही पाप-बन्ध करता है, तथा अहिसा मे पर की रक्षा करने की बुद्धि हो किन्तु उसकी आयु के अवशेष न होने से वह नही जीता, मात्र अपनी शुभराग परिणति से स्वयं ही बंध करता है जहाँ जीव वीतराग होकर दृष्टा-ज्ञातारुप होवे वहाँ ही निर्बन्धता है, इसलिये वह उपादेय है।

जहाँ तक ऐसी दशा प्रकट न हो वहाँ तक शुभराग रुप आचरण करना चहिये किन्तु श्रद्धान तो ऐसा रखना चहिये कि यह भी बन्ध का कारण है - हेय है। यदि श्रद्धान में उसे अबन्ध माने, उपादेय माने तो वह जीव मिथ्यादृष्टि ही है।

शुभयोग- श्रावक के षट् आवश्यक कार्य अर्थात् पंच परमेष्ठी की पूजा-भक्ति, स्वाध्याय आदि, प्राणियों के प्रति उपचार भाव, रक्षा भाव, सत्य बोलने का भाव, परधन हरण न करने भाव इत्यादि शुभ परिणाम से निर्मित्त योग को शुभयोग कहते हैं।

अशुभयोग- असत्य बोलना, ईर्ष्या करना, मायाचारी करना, अन्दर कुछ-बाहर कुछ अर्थात् कथनी-करनी में अन्तर, जीवों की हिंसा करना इत्यादि भाव रुप अशुभ परिणाम से बने हुए योग को अशुभयोग कहते है।

योग से आठो कर्मों का आस्रव होता है- आचार्य उमास्वामी कहते है कि -

तत्प्रदोषनिह्नवमात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयोः॥१०॥

(तत्त्वार्थसूत्र, अ. 6)

ज्ञान और दर्शन के विषय में प्रदोष, निह्नव, मात्सर्य, अन्तराय, आसादन और उपघात - ये ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मो के आस्रव है।

दूसरे शब्दो में ज्ञानावरण-दर्शनावरण कर्म के आस्रव के निम्न छह कारण हैं -

1. **प्रदोष-** मोक्ष का कारण तत्वज्ञान है, उसका कथन करने वाले पुरुष की प्रशसा न करते हुए, अन्तरग मे जो दुष्ट परिणाम होता है, उसे प्रदोष कहते है।

2. **निह्नव** - वस्तु स्वरुप के ज्ञानादि का छुपाना, जानते हुए भी ऐसा कहना कि "मैं नहीं जानता" यह निह्नव है।

3. **मात्सर्य** - ज्ञान का अभ्यास किया है, वह देने योग्य भी है, तो जिस कारण से वह नहीं दिया जाता, वह मात्सर्य है।

4. **अंतराय** - ज्ञान का विच्छेद करना, यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति में विघ्न डालना, अंतराय है।

5. **आसादन** - दूसरा कोई ज्ञान का प्रकाश कर रहा हो, तब शरीर, वचन से उसका निषेध करना , रोकना सो आसादन है।

6. **उपघात** - यथार्थ प्रशस्त ज्ञान में दोष लगाना अथवा प्रशसा योग्य ज्ञान को दूषण लगाना सो उपघात है।

वेदनीय कर्म - इसके दो भेद हैं -

1. असातावेदनीय कर्म के आस्रव के कारण निम्न भेद हैं -

1. दु:ख करना; 2. शोक करना; 3. संसार मे अपनी निंदा आदि होने पर पश्चाताप करना;

4. पश्चाताप से अश्रुपात करके रोना अर्थात् क्रन्दन करना; 5. वध करना; और संक्लेश (अशुभ) परिणामो के कारण से ऐसा रुदन करना कि जिससे सुनने वाले के हृदय में दया उत्पन्न हो जाये। स्वय को या पर को या दोनो को एक साथ दुःख शोक आदि उत्पन्न करना सो असातावेदनीय कर्म के आस्रव का कारण है।

2. सातावेदनीय कर्म के आस्रव के कारण निम्न है-

1. जिन्होने सम्यग्दर्शन पूर्वक अणुव्रत या महाव्रत धारण किये हो ऐसा जीव, तथा चारो गतियो के प्राणी, इन पर भक्ति, दया करना; 2. दुःखित, भूखे आदि जीवो के उपकार के लिए धन, औषधि, आहारदि देना; 3. व्रती सम्यग्दृष्टि सुपात्र जीवो को भक्तिपूर्वक दान देना; 4. सम्यग्दर्शनपूर्वक चारित्र के धारक मुनि के जो महाव्रत रुप शुभभाव है, सयम के साथ वह राग होने से सराग सयम कहा जाता है। 5. शुभ परिणाम की भावना से क्रोधादि कषाय मे होने वाली तीव्रता के अभाव को करने से, सातावेदनीय कर्म का आस्रव होता है।

मोहनीय कर्म - इसके निम्न दो भेद है-

1. दर्शनमोहनीय कर्म के आस्रव के कारण निम्न है-

1 केवली भगवान में दोष निकालना; 2. आगम मे, शास्त्रो मे दोष निकालना; 3. रत्नत्रय के धारक मुनिसघो मे मे दोष निकालना; 4. धर्म मे दोष निकालना; 5 देवो मे दोष निकालना आदि दर्शनमोहनीय कर्म के आस्रव के कारण है।

2 चारित्रमोहनीय कर्म के आस्रव के कारण निम्न है -

क्रोध-मान-माया-लोभ रुप कषायो के उदय से तीव्र परिणाम होना सो चारित्रमोहनीय के आस्रव का कारण है।

आयुकर्म - इसके निम्न चार भेद है -

1 नरकायु के आस्रव के कारण निम्न है -

1 बहुत आरम्भ करना; 2. बहुत परिग्रह का भाव नरकायु का आस्रव है।

2. तिर्यञ्च आयु के आस्रव के कारण निम्न है -

1 मायाचारी करना; 2. धर्मोपदेश मे मिथ्या बातो को मिलाकर उसका प्रचार करना; 3. शील रहित जीवन बिताना; 4. मरण के समय नील व कापोत लेश्या और आर्तध्यान का होना आदि तिर्यञ्च आयु के आस्रव है।

3 मनुष्य आयु के आस्रव के कारण निम्न है -

1 नरकायु के आस्रव के कारणो से विपरीत कार्य करना अर्थात् अल्प आरम्भ; 2. अल्प परिग्रह का भाव करना। इसके अतिरिक्त, 3. स्वभाव का विनम्र होना, 4. भद्र प्रकृति का होना,, 5 सरल व्यवहार करना 6. अल्पकषाय का होना और 7. मरण के समय संक्लेश रुप परिणति का नही होना, स्वभाव की कोमलता भी मनुष्यायु का आस्रव है।

4. देवआयु के आस्रव के कारण निम्न है -

1. सम्यग्दर्शन पूर्वक मुनिव्रत पालना; 2. सम्यग्दर्शन सहित अणुव्रत पालन; 3. मिथ्यात्व सहित भूख प्यास आदि की बाधा सहना; 4. अज्ञानता वश तप तपना, सम्यक्त्व प्राप्त करना आदि।

नाम कर्म - यह दो प्रकार का होता है -

1. अशुभ नामकर्म के आस्रव के कारण निम्न है -

1 मन-वचन-काय की कुटिलता; 2. अन्यथा प्रवृत्ति करना ; 3. मिथ्यादर्शन 4 चुगलखोरी; 5. चित्त का स्थिर न रहना; 6. मापने और बाँट घट-बढ़ रखना, 7. दूसरो की निदा करना अपनी प्रशसा करना आदि से अशुभ नामकर्म का आस्रव होता है।

2. शुभ-नामकर्म के आस्रव के कारण निम्न है -

1. मन-वचन-काय की सरलता, 2. धार्मिक पुरुषो व स्थानो का दर्शन करना; 3. आदर-सत्कार करना ; 4. सद्भाव रखना; 5. ससार से डरना; 6. प्रमाद का त्याग करना आदि ये सब शुभ नाम कर्म के आस्रव के कारण है।

गोत्रकर्म - यह निम्न दो प्रकार का होता है-

1 नीचगोत्र कर्म के आस्रव के कारण निम्न है-

1 दूसरे की निदा करना और अपनी प्रशंसा करना; 2. दूसरे के विद्यमान गुणो को छिपाना और अपने अप्रगट गुणो को प्रकट करने से नीचगोत्र का आस्रव होता है।

2 उच्चगोत्र कर्म के आस्रव के कारण निम्न है-

1 दूसरे की प्रशसा करना, 2. अपनी स्वय की आत्मा निदा करना; 3 नम्रवृत्ति का होना; 4 मद का अभाव होना, इससे उच्चगोत्र का आस्रव होता है।

अंतराय कर्म - आचार्य उमास्वामी कहते है कि

विघ्नकरणमतंरायस्य॥२७॥

(तत्त्वार्थसूत्र, अ. 6)

किसी के दान, लाभ, भोग, उपभोग तथा वीर्य मे विघ्न डालना, अन्तरायकर्म के आस्रव का कारण है। इस प्रकार योग ससार मे प्रवृत्ति रुप है, बन्ध का कारण है, ससार मे रुलाने वाला है। इसीलिये प. दौलत राम जी कहते है कि -

जो योगन की चपलाई, तातैं है आस्रव भाई।
आश्रव दु:खकार घनेरे, बुधिवन्त तिन्हैं निरवेरे॥९॥

(छहढाला-पाँचवी ढाल)

मन-वचन-काय की क्रिया के द्वारा आत्मा मे जो चपलता होती है, उसी से नये कर्मो का

आना होता है, उसे ही आश्रव कहते है। यह आस्रव आत्मा के लिए बहुत ही दुःख देने वाला है। अतः बुद्धिमान लोग इस आस्रवभाव से बचते हैं।

इसी बात को और स्पष्ट करते हुए पं. मंगतराय जी इस प्रकार कहते हैं कि -

ज्यों सर जल आवत मोरी त्यों आस्रव कर्मन को।
दर्वित जीव प्रदेश गहै जब पुद्गल भरमन को॥
भावित आस्रव भावे शुभाशुभ निशदिन चेतन को॥
पाप-पुण्य के दोनों करता कारण बन्धन को॥
पन मिथ्यात योग पन्दह द्वादश अविरत जानों।
पंचरुबीस कषाय मिले सब सत्तावन मानो॥
मोह भाव की ममता टारे पर परिणति खोते।
करे मोख का यतन निराश्रव ज्ञानी जन होते॥

जिस प्रकार मोरी मे जल आता है, उसी प्रकार आत्म प्रदेशों मे पुद्गल रुपी कर्म जल आस्रव की मोरी में आता है। यह कर्मो का आस्रव जीव प्रतिदिन शुभ-अशुभ रुप मे करता रहता है। पाप-पुण्य दोनो शुभ-अशुभ आस्रव के कारण बन्ध को प्राप्त होते हैं। पर मगतराय जी कहते है कि आस्रव के 57 भेद इस प्रकार है - पाँच मिथ्यात्व - 1. एकान्तमिथ्यात्वः 2. विपरीतमिथ्यात्व 3 विनयमिथ्यात्व 4. सशयमिथ्यात्व और 5. अज्ञानमिथ्यात्व।

बारह अविरति - षट्काय जीव की रक्षा नहीं करना; पाँच इन्द्रियो को वश नहीं करना; और मन वश नही करना।

पच्चीस कषाय - अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ,

अप्रत्याख्यानक्रोध - मान-माया-लोभ,

प्रत्याख्यानक्रोध - मान-माया-लोभ,

संज्वलनक्रोध - मान-माया-लोभ, और हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद रुप नोकषाय।

पन्द्रह योग- चार मनोयोग, चार वचनयोग और सातकाय योग।

ये सब आस्रव मिथ्यात्व (मोह), राग-द्वेष के कारण होते हैं। यह आत्मा की विभाव परिणति है। ज्ञानी ज्ञान तो आस्रव का निरोध कर सवरपूर्वक समस्त कर्मों की निर्जरा कर मोक्ष प्राप्त कर लेते है।

अतः सभी को योग का निरोध कर गुप्ति को धारण करना है।

गुप्ति - जिसके बल से संसार के कारणो से आत्मा की रक्षा होती है, उसे गुप्ति कहते हैं। दूसरे शब्दो में निश्चयनय से सहज शुद्धात्म भावना रुप गुप्तस्थान में संसार के कारण भूत

रागादि के भय से अपने आत्मा का जो छिपाना या रक्षण है सो वह गुप्ति है। व्यवहार से आचार्य उमास्वामी कहते हैं कि -

सम्यग्योग निग्रहो गुप्तिः॥४॥

(तत्त्वार्थसूत्र, अ. ९)

अर्थात् मन-वचन-काय-इन तीनो योगों का सम्यक् प्रकार निग्रह करना गुप्ति है।

सम्यक् का अर्थ यहाँ सम्यग्दर्शन पूर्वक है। अतः गुप्ति सम्यग्दर्शनपूर्वक ही होती है, अज्ञानी के गुप्ति नही होती। जिस जीव के गुप्ति होती है। उस जीव के विषय-सुख की अभिलाषा नही होती। यदि जीव के आकुलता रुप परिणाम हो तो उसके गुप्ति नहीं होती।

गुप्ति सवर का कारण है, संवर मोक्ष का कारण है यह संसार से निवृत्ति रुप है। वीतराग भाव होने पर जितने अश में मन-वचन-काय की तरफ नही लगता, उतने अंश में निश्चय गुप्ति है। सवर के सन्दर्भ में आचार्य उमास्वामी कहते हैं कि -

आस्रवनिरोधः संवरः॥१॥

(तत्त्वार्थसूत्र, अ ९)

आस्रव का रोकना ही संवर है। दूसरे शब्दों मे आत्मा में जिन कारणो से कर्मों का आस्रव होता है, उन कारणो को दूर करने से कर्मों का आना रुक जाता है, उसे ही सवर कहते है।

सवर आत्मा का धर्म है, जीव जब सम्यग्दर्शन प्रकट करता है तब सवर का प्रारम्भ होता है, सम्यग्दर्शन के बिना कभी भी यथार्थ संवर नही होता। सम्यग्दर्शन प्रगट होने के बाद जीव के आंशिक वीतरागभाव और आंशिक सरागभाव होता है। वीतरागभाव द्वारा तो सवर होता है, किन्तु सरागभाव द्वार बन्ध होता है।

सवर का कारण बताते हुए आचार्य उमास्वामी कहते है कि -

स गुप्तिसमिति धर्मानुप्रेक्षा परीषहजय चारित्रैः॥२॥

(तत्त्वार्थसूत्र, अ. ९)

तीन गुप्ति, पाँच समिति, दशधर्म, बारह अनुप्रेक्षा, बाईस पीरषहजय और पाँच चारित्र - इन छह कारणों से सवर होता है।

अतः गुप्ति संवर का कारण है, ससार से निवृत्ति रुप है, सो उपादेय है, ग्रहण करने योग्य है।

कुछ लोग मन-वचन-काय की चेष्टा दूर करने, पाप का चिंतन न करने, मौन धारण करने तथा गमनादि न करने को गुप्ति मानते है किन्तु यह गुप्ति नही है, क्योंकि जीव के मन मे भक्ति आदि प्रशस्त रागादिक के अनेक प्रकार के विकल्प होते हैं और वचन काय की चेष्टा रोकने का जो भाव है सो तो शुभप्रवृत्ति है, प्रवृत्ति मे गुप्तिपना नहीं बनता। इसलिये वीतरागभाव होने पर जहाँ मन-वचन-काय की चेष्टा नहीं होती वहाँ यथार्थगुप्ति होती है। यथार्थ गुप्ति का एक ही प्रकार है और यह वीतराग भाव रुप है।

गुप्ति के भेद - अचार्य पूज्यवाद स्वामी कहते हैं कि -

सा त्रयी कायगुप्तिर्वाग्गुप्तिर्मनोगुप्तिरिति।।७९३।।

(सर्वार्थसिद्धि)

वह गुप्ति तीन प्रकार की है- 1. कायगुप्ति; 2. वचनगुप्ति; और 3. मनोगुप्ति।

दूसरे शब्दों में जीव के उपयोग का मन के साथ युक्त होना सो मनोयोग है, वचन के साथ युक्त होना सो वचनयोग है और काय के साथ युक्त होना सो काययोग है तथा उसका अभाव होना अनुक्रम से मनगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति है। इस तरह निमित्त के अभाव की अपेक्षा से गुप्ति के तीन भेद हैं। यह मिथ्या और व्यवहार की अपेक्षा से दो प्रकार की होती है।

निश्चय मन-वचन-काय गुप्ति - आचार्य शुभचन्द्र ज्ञानार्णव के अध्याय 18, श्लोक 15 से 18 मे कहते है कि राग-द्वेष से अवलम्बित समस्त संकल्पों को छोड़कर जो मुनि अपने मन को स्वाधीन करता है और समता भाव में स्थिर करता है, उस बुद्धिमान मुनि के सम्पूर्ण मनोगुप्ति होती है।

भले प्रकार से वचनो की प्रवृत्ति जिसने वश करी है ऐसे मुनि के तथा संज्ञादि का त्याग कर मौन्यारुढ़ होने वाले महामुनि के वचन गुप्ति होती है।

जिसने अपने शरीर को स्थिर कर लिया है, परिषह आ जाने पर भी अपने पर्यंकासन से ही अपने को आत्मा मे स्थिर रखा हो, डिगे नहीं, उस मुनि के कायगुप्ति मानी जाती है। ये तीनों निश्चय मन-वचन-काय गुप्तियाँ है।

व्यवहार मन-वचन-काय गुप्ति - आचार्य कुन्दकुन्द नियमसार की गाथा 66, 67, 68 मे कहते है कि -

कलुषता, मोह, राग, द्वेष आदि अशुभ भावो के परिहार को व्यवहारनय से मनोगुप्ति कहते है। पाप के हेतुभूत ऐसे स्त्रीकथा, राजकथा, चौरकथा, भोजनकथा इत्यादि वचनो का परिहार अथवा असत्यादिक की निवृत्ति वाले वचन, व्यवहार से वचनगुप्ति कहलाती है।

बन्धन, छेदन, मारण, आंकुचन (सकोचना) तथा प्रसारण (फैलना) इत्यादि कार्यक्रियाओ की निवृत्ति को व्यवहार से कायगुप्ति कहा जाता है।

छट्ठे गुणस्थानवर्ती साधु के शुभभावरुप गुप्ति होती है, उसे व्यवहारगुप्ति कहते हैं, किन्तु वह आत्मा का स्वरुप नहीं है, वह शुभ विकल्प है, इसीलिये ज्ञानी उसे हेयरुप समझते हैं, क्योकि इससे बन्ध होता है। इसे दूर कर साधु निर्विकल्पदशा मे स्थिर होता है। इस स्थिरता को निश्चयगुप्ति कहते है। यह निश्चयगुप्ति सवर का सच्चा कारण है।

निमित्त की अपेक्षा से गुप्ति के तीन भेद कहे हैं। मन-वचन-काय ये तो द्रव्य हैं, इनकी क्रिया बन्ध या अबन्ध का कारण नहीं है। वीतरागभाव होने पर जीव जितने अंश में मन-वचन-काय की तरफ नही लगता उतने अंश में निश्चयगुप्ति होती है, जो संवर का कारण

है,जो जीव नयों के राग को छोड़कर निज-स्वरुप में गुप्त होता है, उस जीव के वास्तव में गुप्ति होती है, उसका चित्त विकल्प जाल से रहित शांत होता है, और वह साक्षात् अमृतरस का पान करते है। यह स्वरुपगुप्ति की शुद्ध क्रिया है।

पं. दौलत राम जी इसीलिये कहते हैं कि -

सम्यक् प्रकार निरोध मन, वच, काय, आतम ध्यावते।
तिन सुथिर मुद्रा देखि मृगगण, उपल खाज खुजावते।।४।।

(छहढाला-छठी ढाल)

अपने मन-वचन-काय को एकाग्र करके आत्म-स्वरुप में लीन रहना, उसका चिंतन करना सो आत्मध्यान है। उस ध्यान की अवस्था मे हिरण आदि जगल के पशु पाषाण का खभा समझ कर अपनी खाज खुजाने लगें तो भी विचलित नहीं होना सो त्रिगुप्ति है।

उपर्युक्त प्रकार के गुप्ति धारक मुनि ही स्व-पर कल्याण करते हुए अपने जीवन को, मनुष्य जन्म को सार्थक करते हैं। इसीलिये मेरी भावना में प. जगुल किशोर मुखत्यार कहते हैं कि -

विषयों की आशा नहीं जिनके, साम्य-भाव धन रखते हैं।
निज-पर के हित-साधन में जो, निश-दिन तत्पर रहते है।।
स्वार्थ त्याग की कठिन तपस्या, बिना खेद जो करते हैं।
ऐसे ज्ञानी साधु जगत के, दु:ख समूह को हरते हैं।।

गुप्ति स्वरुप आचरण रुप है, इससे सवर अर्थात् कर्मो का आना रुकता है। संवर का स्वरुप बताते हुए प. मगतराम जी कहते है -

ज्यों मोरी में डांट लगावे, सब जल रुक जाता।
त्यों आस्त्रव को रोके संवर क्यों नहीं मन लाता।।
पंच महाव्रत समिति गुप्तिकर वचन काय मन को।
दश विधि धर्म परीषह बाईस, बारह भावन को।।
यह सब भाव सतावन मिलकर आस्त्रव को खोते।
सुपन दशा से जागो चेतन कहाँ पड़े सोते।
भाव शुभाशुभ रहित शुद्ध भावन संवर पावै।
डाँट लगत यह नाव पड़ी मझधार पार जावै।।

जिस प्रकार मोरी (नाली) में डाँट लगाने से अर्थात् मोरी को बन्द करने से नाली में पानी आना रुक जाता है, ठीक उसी प्रकार आस्त्रव से अर्थात् कर्मों के न आने से बन्ध नही होता। यह संवर पाँच महाव्रत अर्थात् चारित्र, तीन गुप्ति, पाँच समिति, दस धर्म, बारह भावनाएँ और बाईस पीरषह रुप 57 प्रकार के आस्त्रव को नष्ट करने वाला होता है। इसलिये हे भव्य जीवों!

मोहनींद से जागो अर्थात् मिथ्यात्व अवस्था को छोड़ो, शुभ और अशुभ भावों से रहित हो जाओ, पुण्य-पाप में मत उलझो, अपने शुद्ध भाव को भाओ, क्योंकि शुद्ध भाव ही ससार को मेटने में समर्थ है। जैस छिद्रयुक्त नाव मे डाँट लगाने से नाव पार हो जाती है, उसी प्रकार आस्रव को रोकने से सवर होता है, सवर से कर्मों की निर्जरा होती है, निर्जरा से मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। इसीलिये प. दौलत राम जी कहते है -

जिन पुण्य पाप नहिं कीना, आतम अनुभव चित्त दीना।
तिनहीं विधि आवत रोके, संवर लहि सुख अवलोके॥

जो दान, पूजा, आदि पुण्य कर्म और झूठ, असत्य आदि पाप कर्म इन दोनो से दूर रहकर अपने आत्मा के अनुभव करने मे मन लगाता है, उसके नवीन कर्मों का आना रुक जाता है इसी का नाम सवर है जो कि आत्मा के लिए सुख देने वाला है।

इस प्रकार का ज्ञान और आचरण जब जीव का हो जाता है तब वह जीवन से विरक्त हो ध्यानस्थ हो जाता है, जैसा कि निम्न दृष्टान्त मे स्पष्ट किया गया है-

राम-लक्ष्मण आदि लका को जीतकर अयोध्या लौट आते है। यहाँ राम का राज्याभिषेक होता है। तत्पश्चात् अत्यन्त प्रीतिपूर्वक वे अपने लघुभ्राता शत्रुघ्न से कहते है- भाई! तुम्हे जो देश पसन्द हो वह ले-लो। यदि अयोध्या चाहते हो तो आधी अयोध्या नगरी ले लो, अथवा राजगृही, पोदनपुर आदि अनेको राजधानियो मे से जो तुम्हे पसन्द हो, वहाँ राज्य करो। यह सुन और विचार कर शत्रुघ्न कहते है कि - "मुझे मथुरा का राज्य दीजिये।" रामचन्द्र जी कहते है - "हे भ्राता! मथुरा नगरी मे तो राजा मधु का राज्य है, वह रावण का दामाद और अनेक युद्धो मे विजय प्राप्त करने वाला है। चमरेन्द्र उसे त्रिशूलरत्न दे चुका है, और उसका पुत्र लवणसागर भी महाशूरवीर है, उन दोनो पिता-पुत्र को जीतना कठिन है; इसलिये तुम मथुरा को छोड़कर दूसरा जो भी राज्य तुम्हे अच्छा लगे वह ले-लो।" शत्रुघ्न कहते है - "मुझे तो मथुरा ही दीजिये, मै राजा मधु को युद्ध मे मधु के छत्ते की भाँति गिरा दूँगा।" ऐसा कहकर शत्रुघ्न मथुरा जाने को तैयार हो जाते है। तब राम कहते है कि - "भाई, तुम मुझे एक वचन देते जाओ।" शत्रुघ्न कहते है - "मधु के साथ युद्ध करने के अतिरिक्त आप जो भी कहेगें, मैं वह सब करने को तैयार हूँ।"

राम कहते है - हे वत्स! तुम मधु के साथ युद्ध करो तो उस समय करना, जब उसके हाथ में त्रिशूलरत्न न हो। शत्रुघ्न कहते है - "मै वचन देता हूँ मै आपकी आज्ञा का पालन करूँगा।"

अब शुत्रुघ्न जिनदेव की पूजा करके तथा सिद्धों को नमस्कार करके, माता का आशीर्वाद ले मथुरा नगरी की ओर प्रस्थान कर जाते है। शत्रुघ्न सेना सहित मथुरा के निकट आ पहुँचते है और यमुना नदी के किनारे अपना पड़ाव डाल लेते है। यहाँ मंत्री गण चिन्ता करने लगते है कि राजा मधु तो महान योद्धा हे और हमारे राजा शत्रुघ्न अभी बालक हैं, यह शत्रु को किस

प्रकार जीत पायेंगे, यह सुन कृतान्तवक्र सेनापति कहते हैं - "अरे मंत्री! आप साहस छोड़कर ऐसे कायरता के वचन क्यों निकाल रहे हों? जिस प्रकार महाबलवान हाथी, अपनी सूँड़ द्वारा बड़े-बड़े वृक्षों को उखाड़ फेंकता है, तथापि सिंह उसे पराजित कर देता है, उसी प्रकार मधु राजा के महाबलवान होने पर भी हमारे राजा शुत्रघ्न उसे अवश्य जीत लेंगे।" सेनापति की बात सुनकर सबको बहुत प्रसन्नता होती है।

इतने में नगर में गए हुए गुप्तचर आ जाते है और समाचार देते हैं कि - "इस समय राजा मधु वनक्रीड़ा के लिए नगर के बाहर उपवन मे है, उसे खबर तक नहीं है कि आप मथुरा जीतने के लिए आ चुके है; इसलिये इस समय मथुरा पर आसानी से अधिकार किया जा सकता है।" यह सुन शत्रुघ्न अपने योद्धाओ सहित मथुरा नगरी में प्रवेश करते हैं।

जिस प्रकार योगी कर्मनाश करके सिद्धपुरी में प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार शत्रुघ्न द्वारों को तोड़कर मथुरापुरी मे प्रविष्ट हो जाते हैं। तुरन्त आयुधशाला पर अपना अधिकर कर लेते हैं। यह देख परचक्र के आगमन से नगरजन भयभीत हो जाते है, किन्तु शत्रुघ्न उनको धैर्य बँधाते हुए कहते है कि "यहाँ राम का राज्य है, उसमें किसी को दुःख या भय नहीं होता है।"

जैसे ही राजा मधु को यह पता चलता है कि शत्रुघ्न ने युद्ध के लिए प्रवेश किया है, तो वह अति क्रोधपूर्वक उपवन से नगर की ओर आता है, किन्तु शत्रुघ्न के योद्धा उसे नगर में प्रवेश नही होने देते। जिस प्रकार मुनिराज के हृदय में मोह का प्रवेश नहीं होता, उसी प्रकार राजा अनेक उपाय करने पर भी नगर में प्रवेश नहीं कर सका। यद्यपि वह त्रिशूल रहित हो गया था, तथापि महा-अभिमान के कारण वह शत्रुघ्न से युद्ध करता है। युद्ध में राजामधु का पुत्र लवणसागर मारा जाता है। पुत्र की मृत्यु देखकर मधुराजा अत्यन्त शोक एवं क्रोधपूर्वक शत्रुघ्न की सेना से युद्ध करने लगता है। किन्तु जिस प्रकार जिनशासन के स्याद्वादी पण्डित के समक्ष कोई एकान्तवादी नहीं टिक सकता, उसी प्रकार शत्रुघ्न की वीरता के समक्ष मधुराजा के योद्धा न टिक सके।

शत्रुघ्न को दुर्जय समझकर, स्वय को त्रिशूल आयुध से रहित जानकर तथा पुत्र की मृत्यु और अपनी भी अल्पायु देखकर मधुराजा अत्यन्त विवेकपूर्वक विचार करने लगता है - "अहा! संसार का समस्त आरम्भ महाहिसारुप एव दुःखदायी है, इसलिये सर्वथा यह संसार त्यागने योग्य है, मूढ़ जीव इस क्षणभंगुर ससार मे सुख मान रहे है। इस जगत् मे धर्म ही प्रशंसनीय है। यह दुर्लभ मनुष्य देह पाकर भी जो जीव धर्म मे बुद्धि नहीं लगाता, वह मोह द्वारा ठगा हुआ अनन्त भवभ्रमण करता है।" आगे विचार करता है - "अरे! मुझ पापी ने असाररुप संसार को सार समझा, क्षणभंगुर शरीर को ध्रुव माना और अभी तक आत्महित नहीं किया जब मैं स्वाधीन था, तब मुझे सुबुद्धि उत्पन्न नहीं हुई, अब तो मेरा अन्तकाल आ गया है, इसलिये अब मुझे सर्वचिन्ताओं को छोड़कर निराकुलरुप से अपने मन को एकाग्रचित्त कर अपना आत्मध्यान कर, कुछ आत्मकल्याण करना चाहिए।" ऐसा विचार करते हुए राजामधु को ज्ञान हो जाता है और

वैराग्य उत्पन्न हो जाता है। वह मधु युद्ध के मैदान मे हाथी के हौदे पर बैठ हुआ, ऐसी भावना भाने लगता है, और बारम्बार अरहन्त-सिद्ध-आचार्य उपाध्याय एव साधुओं को मन-वचन-काय से नमस्कार करने लगता है, और सोचने लगता है, वही उत्तमरुप है तथा उसी की मुझे शरण है।

आगे वह विचार करने करने लगता है कि, "ढ़ाई द्वीप के भीतर कर्मभूमि में जो अरहन्तदेव है वे मेरे हृदय मे वास करे, मै बारम्बार उन्हे नमस्कार करता हूँ, अब मैं सर्वपापों को जीवन पर्यत छोड़ता हूँ, अनादिकाल से ससार मे उपार्जित मेरे दुष्कृत्य मिथ्या होवें, अब मै तत्त्वज्ञान में स्थिर होकर त्यागने योग्य जो निजभाव-जिनभाव है उसे ग्रहण करता हूँ। ज्ञान-दर्शन मेरा स्वभाव है, वह मुझसे अभेद है और शारीरिक समस्त पदार्थ मुझसे पृथक् है। सन्यासमरण के समय भूमि अथवा तृणदि का त्याग वह सच्चा त्याग नही है, किन्तु दोष रहित, ऐसे शुद्ध आत्मा को अपनाना ही त्याग है। ऐसा विचार करके मधु राजा दोनो प्रकार के परिग्रहों का भावपूर्वक त्याग कर देता है।

जिसका शरीर अनेक घावो से घायल है ऐसा मधुराजा हाथी की पीठ पर बैठा -बैठा केशलुञ्च करने लगता है। वीररस छोडकर वह शातरस को अगीकार कर लेता है, और महा धैर्यपूर्वक अध्यात्मयोग मे आगत होकर देह का ममत्व छोड़ देता है।

मधुराजा की ऐसी परम शातदशा देखकर शत्रुघ्न कहने लगते है कि - "हे महान् आत्मा! मेरा अपराध क्षमा करो। धन्य है आपका वैराग्य।" युद्ध के समय पहले मधुराजा का वीररस और फिर शातरस देखकर देव भी आश्चर्य सहित हो प्रशसा करने लगते है। महाधीर मधुराजा एक क्षण मे समाधिमरण करके तीसरे स्वर्ग मे देव हो जाता है। शत्रुघ्न उसकी स्तुति करके मथुरा नगरी मे राज्य करने लगते है।

इस प्रकार इस दृष्टान्त से यह स्पष्ट हो जाता है कि जीवन मे ज्ञान और आचरण की ही महत्ता है। यदि हम जीवन के अन्त समय मे भी अपनी भूल सुधार कर ले तो भी अनादि काल से भटकते जीव को राह मिल जाती है। स्व-पर भेद विज्ञान के द्वारा ही जीव का कल्याण सभव है जब जीव को यह पता लग जाता है कि मेरी आत्मा के सिवाय इस लोक में तिल-तुष मात्र भी अपना नही है तभी वह अपने आत्मा का ध्यान करता हुआ उसमें स्थिर होता है। इस बात को स्पष्ट करते हुए प. दौलतराम जी कहते है -

जहाँ ध्यान ध्याता ध्येय को, न विकल्प वच भेद न जहाँ।
चिद्भाव कर्म चिदेश करता, चेतना किरिया तहाँ।।
तीनों अभिन्न अखिल लख सुध, उपयोग की निश्चय दशा।
प्रगटी जहाँ दृग-ज्ञान-व्रत, ये तीन धा एकै लसा।।

(छहढाला - छठी ढाल)

महामुनिराज ध्यान करते समय अपनी आत्मा मे ऐसे लीन हो जाते है कि, उनको आत्मध्यान

की अवस्था में ध्यान का, ध्याता का, और ध्येय का कोई भी भेद नहीं रहता , वहाँ वचन से कहने योग्य भी कोई भेद नहीं रहता। जहाँ चैतन्य भाव ही कर्म, चेतना ही कर्त्ता और चेतना ही क्रिया होती है। कर्त्ता, कर्म और क्रिया-ये तीनों भाव अभिन्न तथा एक-दूसरे से निबद्ध हो जाते हैं और शुद्धोपयोग की स्थिर अवस्था प्रकट हो जाती है। जहाँ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र, ये तीनों एकरुप होकर प्रकाशमान हो जाते है। वही शुक्ल ध्यान होता है।

योग प्रवृत्ति रुप है, संसार का कारण है। यह आत्मा का विकारी भाव है। योग निमित्तो की अपेक्षा तीन प्रकार का होता है, जिसे मनयोग, वचनयोग और काययोग कहते हैं। उपादान रुप योग के तीन भेद नहीं है, यह एक ही प्रकार का होता है। योग से जो आस्रव होता है वह दो प्रकार का होता है- पहला साम्परायकआस्रव जो कि कषाययुक्त होता है तथा दूसरा ईर्यापथआस्रव जो कि कषाय रहित होता है। यह अकषायी जीवो के ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवे गुणस्थान में होता है। योग का अभाव चौहदवें गुणस्थान मे होता है।

दूसरी ओर गुप्ति निवृत्ति रुप है, संसार के नाश का कारण है। यह आत्मा का स्वभाव है, धर्म है। गुप्ति से सवर होता है, अर्थात् कर्मो का आना रुक जाता है। संवर से कर्मो की निर्जरा होती है, निर्जरा से मोक्ष की प्राप्ति होती है। अत: वीतराग भाव होने पर जीव जितने अंश मे मन-वचन-काय की ओर से निवृत्त होता है उतने ही अंश मे निश्चय गुप्ति होती है। क्योंकि योग का निग्रह ही गुप्ति कहलाता है। गुप्ति भी दो प्रकार की है - निश्चयगुप्ति और व्यवहारगुप्ति होती है। जैसे खेत की रक्षा के लिए बाड़ होती है, अथवा नगर की रक्षारुप खाई तथा कोट है, उसी तरह पाप के रोकने के लिए संयमी साधु के गुप्तियाँ होती हैं। इस कारण सम्यक् साधु वीतरागी मुनिराज कृत-कारित-अनुमोदना सहित गुप्तियों को धारण करते हैं।

इस प्रकार कुल मिलाकर योग से आस्रव और बन्ध होता है , किन्तु गुप्ति से सवर और निर्जरा होती है। योग संसार का कारण है, मन-वचन-काय का रुकना, अर्थात् गुप्ति मोक्ष का साधन है। योग हेय है, जबकि गुप्ति उपादेय है। अनादिकाल से जीव ने योग के माध्यम से आस्रव अर्थात् कर्मों को ग्रहण किया है, आज तक उसने निश्चयगुप्ति और व्यवहारगुप्ति नही अपनाई। यदि योग को छोड़कर गुप्तियाँ अपना लेता तो यह संसार बन्धन से मुक्त हो जाता। इसलिये सभी को योग नहीं गुप्ति को धारण करना होगा, जिससे कर्मों की श्रृंखलाएँ टूट कर सभी को मोक्ष सुख की प्राप्ति हो। यही लक्ष्य सभी को अपने जीवन मे निर्धारित करना चहिये।

शांति कहाँ है?

शान्ति लगन की खोज में, बीता काल अनादि।
खोज किया सच्चा नहीं, झूठे में भरमाय।।

मैंने इसे ठण्डे गर्म व चिकने रुखे पदार्थों मे खोजा, खट्टे मीठे, व चटपटे पदार्थों में खोजा, सुन्दर वस्त्रों में खोजा, स्वदिष्ट पदार्थो में खोजा, हीरे पन्ने में खोजा, माणिक में खोजा, बर्तन व फर्नीचर मे खोजा और मैंने इसे सुगन्धता मे भी खोजा, स्वादिष्ट पदार्थो में भी खोजा टेलीविजन मे खोजा, कूलर पखे मे खेजा, फिर भी अशान्त बना हुआ है। राजा व चक्रवर्ती बन कर खोजा, दूसरो का दास बना कर खोजा, एटमबम बनाकर खोजा, चन्द्र, सूर्य तक जाकर खोजा और कहाँ-कहाँ नही खोजा। स्वर्ग मे खोजा, पर आज तक अशान्त बना हुआ है। प्रत्यक्ष मे प्रमाण की आवश्यकता नहीं, मेरा अपना इतिहास कौन नहीं जानता।

कस्तूरी कुण्डल बसे, मृग ढूंढे वन माहिं।
ऐसे घट-घट राम है, दुनिया देखे नाहिं।।

शान्ति वहाँ है जहाँ अभिलाषा न रहे, शान्ति वहाँ है जहाँ सबके प्रति साम्यता हो वहाँ शान्ति है। जहाँ दृष्टि में व्यापकता हो, शान्ति वहाँ है, जहाँ लौकिकस्वार्थ न हो, वास्तव में सच्ची शान्ति तो योगीजन बाटँतें है। निःशुल्क मुफ्त, जो चाहो लो, मनुष्यों को ही दे यह बात नहीं, तिर्यञ्चों को भी, राजा हो चाहे रंक हो, सत्ताधारी हो या फकीर, स्त्री हो या पुरुष, बाल हो अथवा वृद्ध, पतित समझें जाने वाले वह व्यक्ति जिनको आज शुद्ध कहा जा रहा है या कोई तिलकधारी ब्राह्मण सब उनकी दृष्टि में एक है, सबको अधिकार है उनको लेने का।

इच्छा ही अशान्ति का कारण है। आज शान्ति का विषय है। शान्ति प्रत्येक प्राणी चाहता है। परन्तु उसका मूलकारण समझ नही पाता।

अतः हे भव्य जीवो। यदि शान्ति चाहते हो तो इच्छाए घटाओ, जितनी इच्छाएं घटाओगे उतनी ही शान्ति प्राप्त होगी।

शान्ति का कारण अपने स्वभाव व परभाव को जानना है। मानव अपने कार्यो से जो क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषाय परिणाम करता है वही अशान्ति का कारण है। इन कषायों मे उपयोग न लगाना ही शान्ति है। जीव को जितना रागद्वेष कम होता जाएगा उतनी ही शान्ति आती जायेगी। सब जीवो के प्रति प्रेमभाव ही शान्ति का देने वाला है। मानव परिग्रह जितना कम करता जायेगा उतनी ही शान्ति आती जायेगी जितना अन्धकार और लोकैषणा कम होगी जीव उतनी ही शान्ति अुनभव करेगा जितना दूसरों की निन्दा का भाव कम होगा उतनी ही शान्ति आयेगी। ससार के परद्रव्यो से उपयोग हटाकर स्व-आत्मा मे रुचि एव अनुभव लगाना ही शान्ति का मार्ग है। धनोपार्जन या विषयभोगो में शान्ति नहीं है। लेकिन आज के युग में इच्छा रुपी ज्वाला इतनी भड़क रही है कि जैसे मधु बिन्दुवत् कुछ सुख सा प्रतीत होता है यद्यपि बाद में दुःख निकलता है लेकिन आज का मानव उस बिन्दुवत् सुख की बार-बार इच्छा करके स्वयं ही दुःखी हो रहा है। अज्ञानतावश वह दुःख को ही सुख मानता सुखाभास कर रहा है।

सोचा करता हूँ भोगों से बुझ जायेगी इच्छा ज्वाला।
परिणाम निकलता है लेकिन मानों पावक में घी डाला।।

ज्यो-ज्यों भोगों की प्राप्ति होती जाती है त्यों-त्यों इच्छा बढ़ती जाती हैं। हितकारी बात भी नहीं सुहाती। इसलिए भोगों की प्राप्ति में सुख नहीं, शान्ति नहीं है। बहुत से प्राणी अनेक प्रकार से शान्ति मानते हैं। कोई तो भोग, भोगने मे, कोई कोठी बंगले बनाने में, कोई कन्या की शादी करने में, कोई दूसरों का उपकार मानने में शान्ति मानता है। संसार की अपेक्षा से उपकार वाली शान्ति कुछ उत्तम है। लेकिन निश्चय की दृष्टि से वह भी शान्ति नहीं है निश्चय से तो शान्ति स्वय को मानकर स्वय मे ही लीन हो जाना सच्ची शान्ति है।

एक बार एक मनुष्य गुरु के पास गया कि महाराज मुझे शान्ति चाहिए। गुरु बोले- कि पास वाले समुद्र मे मगरमच्छ है वह शान्ति दे सकता है। वह भोला मनुष्य समुद्र के किनारे पहुँचा और मगरमच्छ से बोला - मुझे शान्ति चहिए। मगरमच्छ ने कहा - कि पहले मुझे एक लोटा पानी पिला दो, फिर मैं तुम्हें शान्ति देता हूँ। मनुष्य बोला - अरे मगरमच्छ! तुम इतने बडे पानी के समुद्र में रहते हो, और मुझ से एक लोटा पानी के लिए कहते हो। मगरमच्छ बोला - 'तुम्हारे पास शान्ति का अक्षय भण्डार है और तुम मुझ से शान्ति माँगने आये हो। वह शर्मिन्दा होकर सोचने लगा कि वास्तव में यह ठीक कहता है। यदि मैं अपने अंतरग में दृष्टि डालू तो मुझमें ही शान्ति का अक्षय भण्डार भरा पड़ा है। जैसे मृग की नाभि में कस्तूरी होती है लेकिन अज्ञानता के कारण वह कस्तूरी को जगल मे ढूंढ़ता फिरता है उसी प्रकार अज्ञानता के कारण हमारी भी ऐसी ही दशा हो रही है। सुख तो हमारी आत्मा में है लेकिन सोचते है विषयभोगो मे है।

सच्चे शान्ति उपासक श्री अरहन्त भगवान है। दूसरे नम्बर पर वीतरागी मुनि होते है। तीसरे नम्बर पर अणुव्रती श्रावक होते है चौथे नम्बर में सम्यक्‌दृष्टि। इनमे से यदि किसी भी कोटि मे पहुँच जायेगे तो नियम से संसार के दुखो से निकल कर सच्चा सुख मिलेगा, मोक्ष मिल जायेगा। वही सच्चासुख है, अपारशान्ति है।

यो निज में थिर भये, तिन अकथ जो आनन्द लहो।
सो इन्द नाग नरेन्द वा अहमिन्द के ना ही कहो।।

इस स्वरुपाचरणचारित्र के समुद्र मुनिराज जब आत्मा का चिंतन करते है तब उन्हें ऐसा आनन्द आता है जैसा कि इन्द्र, अहमिन्द्र अथवा भरत चक्रवर्ती को भी नहीं होता।

सुखी व्यक्ति के कपड़े

एक समय की बात है एक राजा का बेटा बहुत बीमार था। उसने अनेक डॉक्टर वैद्यों को दिखाया लेकिन आराम नहीं हुआ। राजा ने ज्योतिषों से उपचार पूछा, तो उन्होने बताया कि यदि इसे किसी सुखी व्यक्ति के कपड़े पहना दिए जाए तो यह ठीक हो जायेगा। राजा सोचने लगा कि मेरे बड़े राजा बहुत सुखी है चलूं उससे कपड़े लाकर पहना दूँ। वह राजा के पास जाकर बोला कि सुखी व्यक्ति के कपड़े पहना देने से मेरा लड़का ठीक हो जायेगा। तो वह राजा बोला- मैं तो तुम से भी ज्यादा दु:खी हूँ। इसलिए तुम मुझसे भी बड़े राजा के पास जाओ। वह

और बड़े राजा के पास गया तो उसने भी यही कहा कि मै तो बहुत दुःखी हूँ इस प्रकार जब वह हताश होकर लौट रहा था तो मार्ग में उसे कोई ज्ञानी पुरुष मिला। उसने राजा से हताश होने का कारण पूछा, राजा ने सब वृत्तान्त कह सुनाया और प्रार्थना की कि महाराज किसी सुखी व्यक्ति का पता बता दीजिए। ज्ञानी पुरुष ने कहा - हे राजन! इस सामने वाले जगल में एक दिगम्बर मुनि बैठे ध्यान लगा रहे है। उनके समान अब इस संसार में और कोई सुखी नहीं है। राजा ने जंगल मे जाकर देखा कि एक दिगम्बर निर्ग्रन्थ मुनि ध्यान में लीन है, मुख पर तेज चमक रहा है, परेशानी का कोई भी चिन्ह उनके चेहरे पर नही था। वह राजा भी नमस्कार कह कर बैठ गया एव विनती की, महाराज आप बहुत सुखी है। मुनि बोले - हे राजन! मैं बहुत सुखी हूँ। राजा ने कहा - महाराज मेरा पुत्र बीमार है, किसी ने बताया है कि सुखी व्यक्ति के कपडे पहनने से वह ठीक हो सकता है। महाराज बोले देखो - मै तो कपड़े नही पहनता राजन् सच्चा सुख त्याग मे हैं, इच्छाओं को घटाने में जिसने इच्छाओं को घटाने में जिसने इच्छाओं को जीता वही सुखी बना। महाराज ने उसे आशीर्वाद दिया और वह ठीक हो गया। अतः वीतरागी मुनि के आवागमन से ही सारी दुनिया सुखी हो जाती है। जैसे वीतरागी गुरुओ की शान्त मुद्रा के दर्शन मात्र से ही शेर व गाय अपने बैर भाव भूलकर एक जगह पानी पीने लगते है। यह सब उनके त्याग का कारण है। इसलिए हे भव्यजीवो! तुम भी इच्छाओं को घटाकर शान्ति प्राप्त करो।

इच्छा से अशान्ति

एक बार की बात है कि एक मुनिराज जगल मे बैठे ध्यान लगा रहे थे। एक सेठ के लड़के की शादी थी। उस सेठ ने ज्यौनार की थी। सेठ ने जगल मे जाकर मुनिराज से कहा - कि महाराज आप भी भोजन कर लीजिए। मुनिराज ने मना कर दिया, सेठ ने विशेष आग्रह किया तो मुनिराज ने सामने से आती हुई एक छोटी सी लडकी की ओर इशारा करके कहा उसे ले जाओ। लड़की कहने लगी कि मेरा नाम इच्छा है यदि तुम मेरा पेट भर सको तो मुझे अपने पास ले जाना, वरना मत ले जाना। सेठ कहने लगा कि तुम छोटी सी लडकी हो तुम क्या खाओगी। मै तुम्हारा पेट अवश्य भर दूगा। इच्छा रुपी लड़की बोली - यदि तुम मुझे पेट भर भोजन न करा सको तो मैं अन्त में तुम्हे खा जाऊँगी। सेठ ने कहा अच्छा। ऐसा वादा करके सेठ ने उसे घर लाकर भोजन कराने बैठा दिया। इच्छा नाम की लड़की ने भोजन करना शुरु किया। सेठ के यहाँ पाँच हजार व्यक्ति का बना भोजन खाकर भी वह भूखी रही तो सेठ ने कहा कि घर मे जितनी सामग्री है सब बनाकर इच्छा का पेट भरो नही तो वह मुझे खा जायेगी। इस प्रकार उसने घर की सारी सामग्री बना कर खिला दी तो भी उसकी शान्ति न हुई। इस प्रकार उस सेठ ने काफी सामग्री खिला दी तो भी उस इच्छा नाम की लड़की की भूख शान्त नही हुई। अत मे वह सेठ उस लड़की से बचने के लिए भाग खड़ा हुआ। लेकिन वह लड़की भी उस सेठ के पीछे भागी मै तो तुम्हे अब अवश्य ही खाऊँगी। सेठ ने भागते-भागते सारे गाँव का चक्कर लगा लिया। अन्त मे वह उन्ही मुनिराज के पास पहुँचा कि मुझे बचाओ महाराज, इस लड़की की तो भूख मुझे भी खा जायेगी। महाराज को देखकर वह लड़की दूर से ही रुक गयी।

महाराज कहने लगे - भव्य जीवो! यदि तुम बचना चाहते हो तो अपनी इच्छाओ को घटाओ। देखो तुम इस इच्छा के कारण ही व्यर्थ में परेशान हो रहे हो। तुम सोच रहे थे कि इसे एक व्यक्ति का भोजन कराकर शान्त कर दूँगा। इसी प्रकार प्रत्येक मानव सोचता है कि बस मेरी यह इच्छा पूरी हो जाए तो मुझे शान्ति मिलेगी। लेकिन यह इच्छा कभी शान्त नहीं होती। इसलिए यदि तुम अपना कल्याण करना चाहते हो तो इच्छा को घटाते-घटाते समाप्त कर दो, तो तुम्हे भी धीरे-धीरे शान्ति मिल जायेगी और पूर्ण इच्छाओ के समाप्त होते ही मोक्ष नाम का सच्चा गुरु मिलेगा। इच्छाओ के कारण ही रागद्वेष होता है यदि इच्छाए घटनी शुरु हो गयी तो समझो कि मोक्ष का मार्ग मिल गया। अपना कल्याण पहले करना चाहिए। सुनते-सुनते जन्म बीत गया, अब भी कल्याण नही करोगे तो कब करोगें। यह जीव तो प्रमादी ठहरा बच्चे पाठशाला जाने मे बड़ी कठिनाई दिखाते है तो मां-बाप एक थप्पड़ इधर से मारते है और एक थप्पड़ उधर से मारते है। तब वह मानता है। हमसे तो पूछो जो व्यक्ति कहने से नही माने तो कल्याण मार्ग पर लगाने के लिए एक उपाय यही अच्छा है दो थप्पड़ जमा दें।

राजा और कुंजड़ी

एक राजा अपने मत्री के साथ शहर मे घूमने निकला। मार्ग में एक कुंजड़ी मिली जो शाक भाजी बेच रही थी उस की लड़की बडी सुन्दर थी। दैवयोग से वह उस दुकान पर बैठी थी कि बादशाह का मन उस लडकी से निकाह करने का हो गया। उसने मंत्री से कहा - इस लड़की की शादी हमसे होनी चाहिए। मत्री बोला- 'क्या बड़ी बात है, महाराज हो जाएगी। बादशाह तो अपने महल चला गया।मत्री उस कुजड़ी के पास आया और कहने लगा-तुम अपनी लडकी की शादी बादशाह के साथ कर दो। बहुत तो जेवर माल मिलेगा और वहाँ वह अच्छी तरह रहेगी। अच्छा खाना पहनना मिलेगा। तुम्हारे बड़े भाग्य, जो बादशाह ने ऐसी इच्छा जाहिर की।

वह कुजड़ी बोली - अरे भैया शादी कर दी तो बताओ - यहाँ कौन तो दुकान पर बैठेगा? और कौन शाकभाजी बेचेगा? मुझे नही खिलाना अच्छा खाना, नही पहिनाना अच्छा वस्त्र, बादशाह से नही करनी लड़की की शादी, चला जा।

वह मत्री अपना सा मुँह लेकर चला गया। बहुत से बड़े-बड़े पुरुष उसे समझाने के लिए गए। लेकिन उसने किसी की भी नही सुनी।

अन्त में एक सिपाही ने कहा हुजूर आप आज्ञा दे तो मैं जाकर समझाऊगा। मंत्री ने आज्ञा दे दी। वह सिपाही कुंजडी के पास जाकर बोला - तुम बादशाह से अपनी लड़की की शादी क्यो नहीं करती? क्या बात है? कुजडी कहने लगी - अबे मुएं तू फिर समझाने आया है।

तब उस सिपाही ने उसकी चुटिया पकड कर खीच ली और इधर से उधर चार बार घुमाया। जब ज्यादा वेदना हुई तब बोली - अरे भाई! बता तो सही तू क्या चाहता है, सिपाही ने कहा -

जो चाहता था पहले कह दिया, अब और क्या कहलवाना चाहती है। आखिर हार मानकर बोली अच्छा कह दे बादशाह से शादी मंजूर है अब तो छोड़ दे।

दूसरे दिन बादशाह की उस लड़की के साथ ठाठ से शादी हो गई। सत्य यही है स्ववश त्याग करना कोई नहीं चाहता, परवश त्याग कर देता है। लेकिन बुद्धिमानपुरुष वही है जो स्ववश त्याग करके अपना कल्याण करते है।

पदार्थ कितने ही काल तक रहे पर एक दिन अवश्य जाने वाले है। चाहे हम उनका त्याग कर दें, अथवा हमें वे छोड दें या त्याग दे उनका वियोग अवश्यभावी है। संसारी जीव स्वयं इनका त्याग नहीं करते, यही बडा आश्चर्य है। जब ये पदार्थ स्वतन्त्रता से हमारा त्याग करते है तब हमें बडा सन्तोष होता है परन्तु यदि स्वेच्छा से उनका त्याग कर दिया जाए तो हमें अनन्त सुख की प्राप्ति होती है।

ज्ञानी और अज्ञानी मे यही अन्तर है। ज्ञानी स्वय का कर्ता और अज्ञानी पर का कर्ता बनता है अज्ञानी भी अपने ज्ञान का ही कर्ता है। लेकिन मान्यता को क्या करे।

कि नहूँ न करयो न धरैं का,
पर द्रव्य वृथा न हरै को।
सो लोक मांहि बिन समता,
दुख सहै जीव नित भ्रमता॥

परद्रव्य को किसी ने न तो बनाया और न बनाने वाला है यही अज्ञानी जीव वस्तु स्वरुप को न जानकर व्यर्थ ही भ्रमण किया करता है।

लोक के सर्वपदार्थ स्वतन्त्र है न कोई अच्छा है और न कोई बुरा है। नीम का स्वभाव कटुक है। अब यदि कहे नीम क्यो बना दिया, अरे तुम्हें नही रुचता तो ऊँट को तो अच्छा लगता है। कषाय क्यो होती है अज्ञानियो के लिए होती है। ज्ञानी को तो सर्वत्र ज्ञान का ही आदरभाव है।

कषाय अच्छी न लगे तो न करो। अच्छी लगे तो उसके फल को भुगतने के लिए तैयार रहो, कषाय का स्वभाव अशुचि और दुःख रुप ही है। वर्णीजी की जीवन गाथा मे एक दृष्टान्त है -

सम्यग्ज्ञानी मोक्ष के निकट

एक बार वर्णीजी को पैदल शिखर जी चलना पडा तथा दो मील पैदल चले तो थक गए। आगे नहीं चला गया। उनसे साथ एक रसोईया था, वह बोला - 'साम्हर दूर सिमरिया निपरी' - हमने इसका मतलब पूछा तो कहने लगा साम्हर के एक व्यापारी की बुन्देलखण्ड के सिमरिया गाँव के एक व्यापारी से कुछ उधार लेनी थी तो वह घोड़े पर सवार होकर सिमरिया चल दिया।

थोड़ी दूर चल कर उसने एक राहगीर से पूछा, कि सिमरि कितनी दूर है? उसने उत्तर दिया- "साम्हार दूर सिमरियां निपरी", अर्थात् तुमने अब सिमरिया की तरफ मुँह कर लिया है तो अब 500 मील दूर होकर भी निकट है और चार कदम पास होकर भी साम्हर की ओर से पीठ कर ली तो वह दूर हो गयी। हमने उसका भाव समझ लिया। दूसरे दिन हम सात मील चले और तीसरे दिन कुछ और मील चले, इस तरह धीरे-धीरे शिखर जी पहुँच गए।

यह कहावत बिल्कुल ठीक है। मोक्षमार्ग के सन्मुख हो जाए तो संसार दूर और मोक्ष निकट है। सम्यग्दर्शन में मोक्षमार्ग की पूर्णता अल्प होती है तो धीरे-धीरे शक्ति के अनुसार चलता जाता है, और एक दिन ऐसा समय आता है कि जब वह पूर्ण तथा निष्कलंक होकर मोक्ष में पहुँच जाता है।

कोई कठिन कार्य नहीं भैया, पुरुषार्थी जीव के लिए सब सुलभ है। समय से काम करता रहे, समय चूक गया तो पछताता ही रह जायेगा। समय पर काम करो, खाने के समय खाओ, सोने के समय सोना, काम करने के समय कामकाज और धर्म के समय धर्म की चर्चा करो और पूरे चित्त से स्वाध्याय करो, उस समय धर्मचर्चा के अतिरिक्त कोई कार्य न करो। समय-समय पर कार्यों को करो स्वयं आनन्द में रहो। जीवन को सार्थक बनाओ। यही मानव जीवन का मुख्य कर्त्तव्य है।

इन्द्रिय व अतीन्द्रिय आनन्द में अन्तर

ससार मे प्रत्येक जीव सुख चाहता है, दु:ख से सभी डरते हैं। यदि हम अपने चारो ओर दृष्टिपात करे और उनके कार्यों के प्रयोजन का अवलोकन करे तो ज्ञात होगा कि सभी अपने सुख प्राप्ति के लिए कार्य करते हैं। व्यापार, नौकरी, राजनीति, समाजसेवा, धर्म उपदेश आदि सभी कार्यो के मूल मे सुख प्राप्ति गर्भित है। वैसे तो जीव को विभिन्न प्रकार के दु:ख से चार प्रकार के दु:ख होते हैं - पहला, भूख-प्यास से होने वाला दु:ख जिसे "सहज" दु:ख कहते है। दूसरा, उष्ण-शीत वायु से होने वाला दु:ख जिसे "नैमित्तिक" दु:ख कहते है। तीसरा, रोग आदि से होने वाला दु:ख जिसे "देहज" दुख कहते है। और चौथा, अनिष्ट संयोग से होने वाला दु:ख, जिसे "मानसिक" दु:ख कहते है। इन दु:खों को दूर करने हेतु पूरा विश्व सतत प्रयत्यशील देखा जाता है।

इसी प्रकार जीव संसार में अनेक प्रकार के सुखो का भी अनुभव करता है, किन्तु गहराई से विचार करने पर पता चलता है कि सुख भी मुख्य रुप से चार प्रकार के होते हैं। पहला- इन्द्रियजन्य सुख - जो पाँचों इन्द्रियो के माध्यम से प्राप्त होता है। दूसरा - मानसिकसुख - जो मन मस्तिष्क से संबन्धित होता है। तीसरा प्रशमजन्य सुख जो कि संसारिक कार्यों में अरुचि पूर्वक होता है, और चौथा आत्मा में से उत्पन्न सुख अर्थात् जो स्वपर भेदविज्ञान के पश्चात् आत्मानुभूतिपूर्वक होता है। यहाँ कुछ सुख तो स्थाई होते है तथा कुछ सुख अस्थाई। जितने भी इन्द्रियों और मन द्वारा सुख हैं वे सब कुछ काल उपरान्त नष्ट हो जाते हैं। इसलिये ये सुख नहीं

कहे जो सकते, ये तो सुखभास हैं। किन्तु जो सुख स्थायी हैं, सदा रहने वाले हैं, वे ही वास्तव में सम्यक् सुख कहे जा सकते हैं। ये आत्मानुभूतिपूर्वक सुख परमसुख या आनन्द कहे जाते हैं। इन दोनो सुखो में अर्थात् इन्द्रियजनित व अतिन्द्रियजनित सुख मे क्या अन्तर होता है, इसे ही आज यहाँ स्पष्ट किया जा रहा है।

इन्द्रियाँ कितनी हैं? आचार्य उमास्वामी कहते है कि -

पंचेन्द्रियाणि॥15॥

(तत्त्वार्थसूत्र, अ. 2)

इन्द्रियां पाँच हैं। अधिक नहीं।

आत्मा की अर्थात् संसारी जीव की पहिचान कराने वाला जो चिह्न है, उसे इन्द्रिय कहते है। ये सब स्वतन्त्र हैं तथा एक-दूसरे के आधीन नहीं है, सब इन्द्रियो के विषय अलग होते है।

स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षुः-श्रोत्राणि॥१९॥

(तत्त्वार्थसूत्र, अ. 2)

अर्थात् स्पर्शन, रसना, घ्राण (नाक), चक्षु, और कान - ये पाँच इन्द्रियाँ इसी क्रम में होती हैं। एक इन्द्रिय (केवल स्पर्शन इन्द्रिय) जीव जलकायिक, वायुकायिक आदि है। दो इन्द्रिय जीवों के स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रियाँ होती हैं जैसे लट आदि। तीन इन्द्रिय जीवों के स्पर्शन, रसना और घ्राण- ये तीन इन्द्रियाँ ही होती हैं, जैसे चींटी आदि। चार इन्द्रिय जीवों के स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु-ये चार ही इन्द्रियाँ होती हैं, जैसे भौंरा आदि। पाँच इन्द्रिय जीवों के सभी स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण इन्द्रियाँ होती हैं, जैसे पशु-मनुष्य आदि।

इनके विषय के सदर्भ मे आचार्य उमास्वामी कहते है कि -

स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दास्तदर्था :॥२०॥

(तत्त्वार्थसूत्र, अ. 2)

अर्थात् स्पर्श, रस, गंध, वर्ण (रंग) और शब्द ये पाँच क्रमशः उपरोक्त पाँचइन्द्रियों के विषय है।

1. स्पर्शन इन्द्रिय का विषय आठ प्रकार का है - शीत, उष्ण, रुखा, चिकना, कोमल, कठोर, हल्का और भारी।

2. रसनाइन्द्रिय का विषय पाँच प्रकार का है - खट्टा, मीठा, कडुआ, कषैला और चरपरा।

3. घ्राण इन्द्रिय का विषय दो प्रकार का है - सुगन्ध और दुर्गन्ध।

4. चक्षु इन्द्रिय का विषय पाँच प्रकार का है - काला, पीला, नीला, लाल, और सफेद।

5. कर्ण इन्द्रिय का विषय सात प्रकार का है - षड्ज, ऋषभ, गंधार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद।

इस प्रकार पाँच इन्द्रियों के मुख्य विषय 27 प्रकार के है।

मन के विषय में आचार्य उमास्वामी कहते हैं कि -

श्रुतमनिन्द्रियस्य॥२१॥

(तत्त्वार्थसूत्र, अ. 2)

मन का विषय श्रुतज्ञान पदार्थ है अथवा मन का प्रयोजन श्रुतज्ञान है। द्रव्यमन आठ पाँखुड़ी वाले खिले हुए कमल के आकार का होता है। दूसरे शब्दों में श्रवण किये गए पदार्थ का विचार करने में मन द्वारा जीव की प्रवत्ति होती है। कर्णेन्द्रिय से श्रवण किये गए शब्द का ज्ञान मतिज्ञान है, उस मतिज्ञान पूर्वक किये गए विचार को श्रुतज्ञान कहते है। श्रुतज्ञान जिस विषय को जानता है, उसमें मन निमित्त होता है, किसी इन्द्रिय के आधीन मन कार्य नहीं करता, अर्थात् श्रुतज्ञान में किसी भी इन्द्रिय का निमित्त नहीं है।

इन्द्रिय आनन्द- उपरोक्त पाँच इन्द्रियों से सम्बन्धित तथा मन से संबधित इष्ट विषयों में सुख मानना इन्द्रियसुख कहलाता है। जीव इनके भोगों में फँसा हुआ सुख से अपना काल व्यतीत करता है। ये कुछ समय बाद प्रायः अरुचिपूर्ण हो जाते हैं, इसलिये ये वास्तव में सुख नहीं सुखाभास है। इन्द्रियाँ तो वास्तव में जड़ हैं, और जो जड़ में सुख माने वह मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व का फल सदैव दुःखदाई ही होता है।

बहिरात्मा इन्द्रिय के द्वारा परवस्तु का अनुभव करता है। यह अपने आत्मज्ञान से विमुख रहता है, निज तन को ही अपनी आत्मा समझता है। मेरा जो यह शरीर है सो मै ही हूँ, अतएव देह मे अपनत्व बुद्धि रखने वाला बहिरात्मा होता है। इस प्रकार यह इन्द्रियों के विषय सुखो मे ही रमण करता है, इसे अपने निजसुख का, आत्मसुख का आभास ही नही होता।

जो जीव अपने को इन इन्द्रियों के विषयों से दूर कर लें, अपने ही द्वारा अपने में शाश्वत ज्ञानात्मक में स्थित कर ले, अपने परमानंद अमृत का पान कर ले, वह निश्चयनय से अन्तरात्मा होता है। दूसरे शब्दों में जिसे स्व पर भेद विज्ञान हो जाता है, जो पर को पर जान जाता है, तथा अपनी स्वयं की आत्मा के अलावा कुछ भी मेरा नहीं है, ऐसा जानने वाला ही अन्तरात्मा होता है। इन्द्रिय सुखों में फँस कर जीव कभी शान्तचित होकर नहीं बैठ सकता। यह संसार में सर्व विदित है कि -

1. स्पर्शन इन्द्रिय के भोग में फँस कर हाथी अपने प्राण गँवा देता है;
2. रसना इन्द्रिय के भोग में फँस कर मछली अपने प्राण गँवा देती है;
3. घ्राण इन्द्रिय के भोग मे फँस कर भौरा अपने प्राण गँवा देता है ;

4. चक्षु इन्द्रिय के भोग में फँस कर पतगा अपने प्राण गँवा देता हैं;

5. कर्ण इन्द्रिय के भोग में फँस कर सर्प व हिरण अपने प्राण गँवा देते हैं। ये सब एक-एक इन्द्रिय के भोगी जीव जब अपने-अपने प्राण गँवा गए तो, तुम तो पांचों इन्द्रियों के भोगी हो, तुम्हारी क्या दशा होगी? अर्थात् इन्द्रियो के भोगो में सुख लेशमात्र भी नहीं है, अपितु अज्ञानतावश सुख का आभास होता है। इसी को स्पष्ट करते हुए आचार्य योगीन्दुदेव कहते हैं -

ए पंचिंदिय-करहडा जिय मोक्कला म चारि।
चरिवि असेसु वि विसय-वणु पुणु पाडहिँ संसारि॥१३६॥

(परमात्मप्रकाश)

ये प्रत्यक्ष पाँच इन्द्रिय रुपी ऊँट हैं, इनको अपनी इच्छा से मत चरने दो, विचरण मत करने दो, क्योंकि इन्द्रियों के सम्पूर्ण विषय, वन को चर कर फिर ये संसार मेंही तुम्हें पटक देंगे।

इस प्रकार पंचेन्द्रिय विषयों में सुख नहीं है, अपितु संसार परिभ्रमण करना है। इन्द्रिय सुख संसार परिभ्रमण का कारण है।

अतिन्द्रिय आनन्द - जो सुख एक बार प्राप्त हो जाने के उपरान्त कभी न छूटे वह स्थायी कहलाता है। यह इन्द्रियों से रहित आत्मा के द्वारा उत्पन्न होता है। इस सुख को ही परम् सुख या अतिन्द्रिय आनन्द कहते हैं।

अप्पायत्तउ जं जि सुहु तेण जि करि संतोसु।
पर सुहु वढ चिंतंताहँ हियइ ण फिट्टइ सोसु॥१५४॥

(परमात्म प्रकाश)

जो पर द्रव्य से रहित आत्माधीन सुख है, उसी में जीव को संतोष करना चाहिये। इन्द्रियाधीन सुख को चिन्तन करने वालों के चित्त का ताप (दाह) नहीं मिटता। दूसरे शब्दों में आत्माधीन सुख आत्मा के जानने से उत्पन्न होता है, इसलिऐ हे भव्य! तू आत्मा के अनुभव से सन्तोष कर ले, भोगों की इच्छा करने से चित्त शान्त नहीं होता। जो आत्मा की प्रीति करता है वह स्वाधीन हो जाता है और जो भोगों का अनुरागी है वह पराधीनता को प्राप्त होता है। भोगों के भोगने से कभी भी तृप्ति नहीं होती। अनादिकाल से तू भोगों को भोगता आ रहा है, क्या तू आज तृप्त हो गया? नहीं! बिलकुल नहीं। तब मिथ्यात्व विषय कषाय आदि बाह्य पदार्थो का अवलम्बन छोड़कर अपने आत्मा में तल्लीन होकर देख, कैसा अनुभव होता है?

समयसार में आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि -

सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स॥४॥

संसार में काम, बन्ध और भोग की कथा तो सबही जीवों के सुनने में भी आई है, परिचय में भी आई है तथा अनुभव में भी आई है। किन्तु सबसे अलग होकर केवल एकाकी होने की बात दुर्लभ है। दूसरे शब्दों में जीव ने काम अर्थात् स्पर्शन और रसना इन्द्रियों के विषय तथा घ्राण, चक्षु, कर्ण इन्द्रियों द्वारा भोग किया, इनका अनुभव किया, किन्तु एकत्व, आत्मा की बात न कभी सुनी, न कभी अनुभव ही करी। इसी आत्मा के अनुभव से अतिन्द्रिय आनन्द की प्रीति होती है। स्व-पर भेद विज्ञान किए बिना आत्मा को नहीं जाना जा सकता है। आत्मा को जाने बिना स्थायी सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसको स्पष्ट करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि -

सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धं चेवप्पयं लहदि जीवो।
जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं लहइ॥१८६॥

(समयसार)

शुद्ध आत्मा को जानता हुआ, अनुभव करता हुआ जीव शुद्ध आत्मा को ही प्राप्त करता है और अशुद्ध आत्मा को जानता हुआ, अनुभव करता हुआ जीव अशुद्ध आत्मा को ही प्राप्त करता है दूसरे शब्दो मे क्रोधादि भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म और औदारिक शरीरादि नोकर्म - इस प्रकार तीनो प्रकार के कर्मो से रहित तथा अनन्त ज्ञानादि गुण-स्वरुप शुद्धत्मा को, निर्विकार-सुख की अनुभूति ही जिसका लक्षण है, ऐसे भेदविज्ञान के द्वारा जो आत्मा को जानता है, अनुभव करता है, वही ज्ञानी जीव कहलाता है क्योंकि गुणों से विशिष्ट जैसी आत्मा का अर्थात् शुद्ध आत्मा का ध्यान करता है, अपने उपयोग मे भी उसे वैसा ही लाता है, किन्तु जो स्वय को मिथ्यात्व विकार भावों में परिणत हुआ अशुद्ध जानता है, अनुभव करता है, वह अज्ञानी जीव स्वय को नर-नरकादि पर्याय रुप में उसे अशुद्ध ही पाता है।

अतिन्द्रिय आनन्द का अनुभव तभी होता है जब जीव इन्द्रियों के विषयो से स्वयं को अलग कर लेता है। इस संदर्भ में प्रस्तुत दृष्टान्त है -

दो भंवरे

किसी स्थान पर दो भँवरे रहते थे। एक भँवरा तो फूलों की सुगन्ध लेता था, दूसरा विष्टा पर रहता था। एक दिन फूलों की सुगंध लेने वाले भवरे ने विष्टा पर रहने वाले भवरे से कहा - "भाई! तू मेरी ही जाति का है, गुलाब की सुगंध लेने तू मेरे साथ चल।"

विष्टा का भंवरा विष्टा की दो गोलियाँ अपनी नाक में लेकर गुलाब के फूल पर जा बैठा। गुलाब के भंवरे ने उससे पूछा - "क्यों भाई। कैसी सुगंध आ रही है? विष्टा का भंवरा उत्तर

दता है "मुझे तो कुछ भी सुगंध नहीं आती, वहाँ जैसी ही गंध है। उसका यह उत्तर सुनकर गुलाब के भवरे ने विचार किया कि ऐसा कैसे हो सकता है? उसकी नाक में देखने पर उसे उसकी नाक में विष्टा की दो गोलियाँ दिखाई देती है। अरे! विष्टा की दो गोलियाँ नाक में रखकर आया है, फिर सुगंध कहाँ से आये? ऐसा कहकर उसने वे दो गोलियाँ निकलवा दीं। विष्टा की दो गोलियाँ निकालते ही वह विष्टा का भंवरा कहने लगा - "अहो! ऐसी सुगंध तो मैंने पहले कभी ली ही नहीं।"

इसी प्रकार अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण करते हुए अज्ञानी जीवों से आचार्य कहते हें कि तू अपने अतिन्द्रिय आनन्द का, सुख का अनुभव कर, अपने इन्द्रियसुख को छोड़। जब यह ससारी जीव पुण्य और पाप की पकड़ रुप दो गोलियाँ लेकर गुरु का उपदेश सुनने जाते हैं, तब उसे अनादिकालीन मिथ्यावासना के कारण वैसा ही दिखाई देता है, जैसा उसने पूर्व में मान रखा था, किन्तु यदि एक बार बाह्य दृष्टि का आग्रह छोड़कर अर्थात् पुण्य-पाप की रुचि छोडकर,सरलता रख कर ज्ञानी का उपदेश सुने तो शुद्ध निर्मल दशा को प्राप्त हो जाये, उसे पुण्य पाप की रुचि रुपी सुगध का अनुभव छूटकर अतिन्द्रिय आनन्द का अनुभव हो जाए। तब उसे ज्ञात होगा कि इन्द्रिय सुख तो, सुखभास था, आत्मस्वभाव तो मैंने अभी तक कभी जाना ही नहीं था। मुझे तो अभी तक ऐसा कभी अनुभव ही नहीं हुआ। इसलिये आचार्य कुन्दकुन्द समयसार में कहते हैं -

जो इन्दिये जिणित्ता णाणसहाबाधिअं मुणदि आदं।
तं खलु जिदिंदियं ते भणन्ति जे णिच्छिदा साहू॥३१॥

(समयसार)

जो जीव पचेन्द्रियों के विषयों को जीतकर शुद्ध ज्ञान चेतना गुण से परिपूर्ण अपने शुद्ध आत्मा को मानता है, जानता है, अनुभव करता है अर्थात् शुद्धात्मा में तन्मय होकर रहता है उस पुरुष को ही निश्चयनय के जानने वाले साधु लोग जितेन्द्रिय कहते हैं।

आगे आचार्य कहते है कि -

जह णाम कोवि पुरिसो परदव्वमिणंति जाणिदुं चयदि।
तह सव्वे परभावे णाऊण विमुञ्चदे णाणी॥३५॥

(समयसार)

जैस लाक में कोई पुरुष परवस्तु को "यह परवस्तु है" ऐसा जाने तो ऐसे जानकर पर वस्तु का त्याग करता है, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष समस्त परद्रव्यों के भावों को "यह परभाव है" ऐसा जानकर उनको छोड़ देता है। दूसरे शब्दों में जब तक परवस्तु को भूल से अपनी समझता है तभी तक उससे ममत्व रहता है और जब यथार्थ ज्ञान होने से परवस्तु को दूसरे की जानता है, तब दूसरे की वस्तु में ममत्व कैसे रहेगा? अर्थात् नहीं रहता। इस तथ्य को एक उदाहरण द्वारा भी समझा जा सकता है। जैसे कोई पुरुष धोबी के घर से भ्रमवश दूसरे का वस्त्र लाकर, उसे अपना

समझकर ओढ़कर सो रहा है और स्वयं ही अज्ञानी हो रहा है, किन्तु जब दूसरा व्यक्ति उस वस्त्र का पल्ला, पकड़कर खींचता है और उससे कहता है -"तू शीघ्र जाग, सावधान हो, यह मेरा वस्त्र तेरे पास बदले में आ गया है, सो मुझे दे दे," तब वह बारम्बार कहे गए इस वाक्य को सुनता है और उस वस्त्र के सब चिह्नों को पहिचान कर "यह वस्त्र वास्तव में दूसरे का है" ऐसा जानकर, उस वस्त्र को शीघ्र ही त्याग देता है। "चैतन्य स्वरुपी आत्मा" यह तो मैं हूँ तथा "जड़ शरीर" है, वह मैं नहीं हूँ - इस प्रकार यथार्थ निर्णय करके आत्मज्ञान प्राप्त करने में जो सुखानुभूति होती है वही सम्यक् सुख की प्रारम्भिक अवस्था होती है।

आचार्य योगीन्दु देव कहते हैं कि -

पंचहँ णायकु वसिकरहु जेण होंति वीस अण्ण।
मूल विणट्ठइ तरु-वरहँ अवसइँ सुक्कहिँ पण्ण॥१४०॥

(परमात्मा प्रकाश)

मन को जीतने पर ही इन्द्रियों का जय होता है, जिसने मन को जीत लिया उसने सब इन्द्रियों को जीत लिया। इस प्रकार पाँचों इन्द्रियों के स्वामी मन को वश में करके पाँचों इन्द्रिया वश में हो जाती हैं। जिस प्रकार वृक्ष की जड़ के नाश हो जाने से पत्ते निश्चय से सूख जाते है इसी प्रकार मन को वश करते ही पाँचों इन्द्रियों के विषय सूख जाते है अर्थात् प्रभावहीन हो जाते है। तब वह संसार शरीर और भोगों से उदासीन हो जाता है, आत्मकेन्द्रित हो जाता है। वाह्य परपदार्थो में उसे कहीं कोई रस नहीं दिखता। इस जीव की स्थिति ठीक ऐसी ही हो जाती है जैसे निम्न दृष्टान्त में दिखाई गयी है -

भरत चक्रवर्ती के कितने ही पुत्र जन्म से गूँगें के समान रहते थे, कुछ बोलते नहीं थे। भरत चक्रवर्ती सहित अनेक रानियाँ यह देख बहुत चिन्तित रहती थीं। अनेक वर्ष बीत गए, यही स्थिति बनी रही, एक शब्द भी किसी ने उनके मुख से नहीं सुना। राजकुमारों के बोलने के लिए अनेक उपाय किये गए। परन्तु सब व्यर्थ चले गए।

इसी समय भगवान् ऋषभ का समवशरण अयोध्यापुरी आता है। राजाभरत उनके दर्शन पूजन करने के लिए जाते हैं, साथ में इन गूँगें राजकुमारों को भी ले जाते हैं। सभी राजकुमार भी भक्तिभाव से अपने दादा तीर्थकर ऋषभदेव के दर्शन-पूजन करते हैं। आखिर भरतचक्रवर्ती भगवान् से पूछते हैं कि - "हे प्रभो! महापुण्यशाली ये राजकुमार कुछ भी नहीं बोलते? क्या ये सब गूँगे हैं? यह सुन भगवान् की वाणी में आता है कि - हे भरत! ये तुम्हारे राजकुमार गूँगे नहीं हैं; जन्म से ही ये वैराग्यचित्त के कारण ये कुछ भी नहीं बोलते। लेकिन अब ये बोलेंगे। यह सुन भरत अपने पुत्रों से कहते हैं कि - हे पुत्रों! तुम गूँगें नहीं हो, यह सुन हमें अपार प्रसन्नता हुई है और अब क्या बोलते हो, उसे सुनने के लिए हम बहुत उत्सुक हैं। यह सुन वे वैरागी राजपुत्र एक साथ खड़े हुए और भगवान् के सम्मुख परम विनयपूर्वक हाथ जोड़कर कुछ इस प्रकार बोले, मानो चैतन्य की गुफा में से वैराग्य की मधुर वीणा बज रही हो "हे प्रभो।

हमें मोक्ष के कारणरुप ऐसी मुनिदीक्षा चाहिये। हमारा चित्त इस संसार से उदास है, इस संसार के संयोग में या परभाव में कहीं भी हमें शान्ति नहीं मिलती, हमें अपने निजस्वभाव के मोक्षसुख का अनुभव करवा दीजिये।" सभी गूँगे राजपुत्र आज जीवन में पहली बार ही बोले। वाह! पहली ही बार बोले और वे भी उत्तम वचन बोले।

भरत चक्रवर्ती और सभाजन भी राजकुमारों के ये शब्द सुनकर स्तब्ध रह जाते है, लाखों-करोड़ों देव ओर मनुष्य उनके वैराग्य की प्रशंसा करते हैं। तिर्यञ्चों के समूह भी समवशरण में इन वैरागी राजकुमारों को आश्चर्यचकित होकर देखने लगते हैं।

सभी राजपुत्र तो अपने वैराग्य भाव में मग्न थे। प्रभु के सन्मुख आज्ञा लेकर वे वस्त्र-मुकुट आदि परिग्रह छोड़ मुनि हो जाते है। वचन विकल्प छोड़कर शुद्धोपयोग के द्वारा निजांनद स्वरुप में लीन होकर वचनातीत आनन्द का अनभुव करने लगते हैं।

इन्द्रिय आनन्द और अतिन्द्रिय आनन्द में मुख्य अन्तर स्व पर भेदविज्ञान का हो जाता है। इन्द्रियजनित सुख सुख नहीं होता, वरन् संसार का कारण होता है, इसलिये अतिन्द्रिय सुख को प्राप्त करो।

वस्तुत: प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है। सुख प्राप्ति का पुरुषार्थ भी करता है। किन्तु जो सुख को पंचेन्द्रियों और मन के द्वारा प्राप्त करता है वह विषय भोगों को ही भोगता है। विषय-भोगों का फल सुख नहीं अन्ततः दु:ख ही होता है। अनादि काल से अज्ञानी जीव यही करता आ रहा है, इसलिये जीव का आज तक परिभ्रमण नहीं मिटा। क्षणिक सांसारिक सुख ही इन्द्रिय सुख है यह सुख नहीं, सुखाभास है। जब तक पर वस्तुओं में अपनत्व रहता है, तब तक ही जीव अज्ञानी होता हुआ ऐसा किया करता है। दूसरी ओर जब जीव की परवस्तुओं में अपनत्वपने की मिथ्याधारणा छूटती है तब वह ज्ञानी होता हुआ स्व की पहचान करता है। स्वपर भेद विज्ञान के द्वारा जीव स्व आत्मानुभूतिपूर्वक संसार-शरीर भोगों से उदासीन हो आत्मकेन्द्रित हो जाता है। तब जो आत्मा से उत्पन्न सुख का अनुभव होता है वही सम्यक् और स्थायी सुख या अतिन्द्रिय आनन्द कहलाता है। एक बार जो जीव ऐसे अतिन्द्रिय सुख का अनुभव कर लेता तब वह उत्तरोत्तर वृद्धि करता हुआ अपने चरमोत्कृष्ट अवस्था तक पहुँच जाता है अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर सदा के लिए अनन्त सुख का अनुभव करता है। मिथ्यात्व, विषय-कषाय आदि बाह्य पदार्थों का अवलम्बन छोड़ कर अपनी आत्मा में तल्लीन होकर अतिन्द्रिय आनन्द का अनुभव ही सम्यक् सुख है। इन्द्रिय आनन्द संसार का कारण है यह उस मधु के समान है जिसे चाटते ही क्षणभर बाद दु:ख ही दु:ख प्राप्त होता है, किन्तु आत्मिकसुख स्थायी एवं स्व-आश्रित होने के कारण स्थिर होता है, यह संसार परिभ्रमण को नष्ट करने वाला है। यही सबसे बड़ा इन्द्रिय व अतिन्द्रिय आनन्द में अन्तर है। **अपने आत्मा द्वारा अपने आत्मा को प्राप्त करने का सदा पुरुषार्थ करना चाहिये।**

सप्त व्यसनों का स्वरुप

सम्पूर्ण जैन वाङ्गमय चार अनुयोगों में वर्णित है जिनमें प्रथमानुयोग एवं चरणानुयोग का सीधा सम्बन्ध मनुष्य के आचरण से है। **"चारित्तं खुल धम्मो"** के द्वारा आचार्य ने मानव जीवन को शील, सदाचार एवं संयमयुक्त बनाने पर बल दिया है। चारित्र से नष्ट व्यक्ति को मृत कहा है। चरित्र ही मनुष्य की स्वसम्पत्ति है। चरित्र रक्षा में ही मनुष्य का कल्याण सुरक्षित है। अतः व्यक्ति को प्राणों से भी अधिक अपने चारित्र की रक्षा करनी चाहिए।

व्यसन चारित्र के दुश्मन है। वे व्यक्ति को पतन के मार्ग से ले जाकर विनाश के गंभीर गर्त में धकेल देते है। जहाँ से उसका उद्धार असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। सत्साहित्य ही ऐसे व्यक्ति की मूर्च्छा को भंग कर उसमें विवेक जागृत कर सकता है। सत्साहित्य तो वह अमृत संजीवनी है जिसका सम्यक्‌पान कर मानव मात्र कल्याणपथ का पथिक बन अपने चरम लक्ष्म परमसुख को प्राप्त कर सकता है। इस सन्दर्भ में जब हम जैन वाङ्गमय की ओर दृष्टिपात करते हैं तो हम स्वयं को अमूल्य निधि का स्वामी पाते है। जैन वाङ्गमय एक ओर तो बहुत विशाल है तो दूसरी और सत्वेषु मैत्री की भावना से ओतप्रोत है। अतः वह जग सुहितकर, जग अहितकर, श्रुति सुखद एवं जन्म-जरा मृत्यु के रोग से मुक्ति प्रदाता के रुप में प्रतिष्ठित है। व्यसनमुक्ति के उपदेश तो जैन वाङ्गमय में पदे-पदे पथप्रदर्शक के रुप में स्थापित है।

लाटी सँहिता में व्यसन शब्द की व्युत्पति इस प्रकार की है। "व्यस्यति प्रत्यावर्तयति पुरुषान् रेयसः इति व्यसनम्" अर्थात् जो मनुष्य को आत्मकल्याण से विमुख कर दे उसे व्यसन कहते है। आचार्य ने व्यसन शब्द की व्याख्या करते हुये स्पष्ट किया है कि **"प्रवृत्तिस्तु क्रियामात्र मासक्ति व्यंजनम् मतम्"** अर्थात् किसी गलत क्रिया में मात्र प्रवृत होना नहीं किन्तु अत्यंत अनुरागता के साथ उसमें बार-बार प्रवृत्त होना व्यसन है। अतः प्रवृत्ति की अपेक्षा व्यसन में अधिक पापबन्ध होता है।

आचार्य समन्तभद्र ने स्तुतिविद्या नामक ग्रंथ में व्यसन का अर्थ अतिप्रसंग या अतिसेवन किया है। उन्होंनें भगवान से प्रार्थना की है कि भगवान यदि मुझे कोई व्यसन हो तो मात्र आपकी भक्ति करने का ही हो, इससे यह अर्थ ध्वनित होता है कि अन्यान्य प्रसंगों में व्यसन सर्वथा त्याज्य है।

सरल शब्दों में व्यसन का अर्थ बुरी आदत है। निद्रा-कलह आदि की बुरी आदत को भी नीतिकारों ने व्यसन ही कहा है तथा उनमें अनुरक्त मनुष्यों को मूर्ख की कोटि में परिगणित किया है। कहा है कि -

काव्य शास्त्र विनोदेन, कालो गच्छति धीमताम्।
व्यसनेन तु मूर्खाणां, निद्रया कलहेन वा॥

अर्थशास्त्र में तीव्र इच्छा को आवश्यकता कहा गया है। वह आदत बन जाती है। आदत

बन जाना बुरी बात है, व्यक्ति आदत का दास हो जाता है, इसी दासता का नाम व्यसन है।

दुराचार, कदाचार, खोटी आदत, असंयम, असदाचरण, आसक्ति, लालसा, गृद्धता , लोलुपता, लम्पटता या लत पड़ जाना ये सब व्यसन के ही नामान्तर है।

ये व्यसन व्यक्ति को कहीं का नहीं छोड़ते, उसका सर्वनाश कर देते है। यह लोक तो मनुष्य का नष्ट हो ही जाता है, परलोक में भी उसे नरक आदि के दुख भोगना पड़ते हैं। श्री वादीभसिंह सूरि ने क्षत्रचूडामणि में व्यसन के दुष्प्रभाव का वर्णन इस प्रकार किया है -

विषयाक्तचित्तानां, गुणः को वा न नश्यति।
न वैदुष्यं, न मानुष्यं, नाभिजात्यं, न सत्यवाक्॥

अर्थात् जिस व्यक्ति का मन विषयों में आसक्त हो जाता है, उसके विद्वता, मनुष्यता, कुलीनता अदि सभी गुण नष्ट हो जाते है। अतः इनसे दूर रहने ही उचित है।

जैन धर्म में व्रताचरण की दो श्रेणियाँ मानी गई हैं - एक श्रावक और दूसरी श्रमण। श्रावक व्रतों को आचरण अंश रुप में करते है, जब कि श्रमण पूर्ण रुप में। अतः श्रावकों को अणुव्रती कहते हैं। श्रावक से भी पूर्व की स्थिति को गृहस्थ कहते हैं। प्रत्येक को सप्त व्यसनों के त्याग का उपदेश दिया गया है।

यद्यपि व्यसनों की संख्या सात प्रतिपादित की गई है किन्तु एक्-एक व्यसन में तत्सम अनेक 'आसक्तियां गर्भित है।

ससार मे अनेक प्रकार के लोग अनेक प्रकार के कार्य करते है। अच्छे कार्यो की सभी प्रशसा करते है, किन्तु बुरे कार्य करने वालो की सर्वत्र निदा होती है। कुछ लोग सद्पुरुषों का उपदेश सुन कर चले जाते है, और बुरे कार्यो को छोड़ देते है। कुछ इस प्रकार के मनुष्य होते है कि उनके लिए सदुपदेश कुछ अर्थ नही रखता। वे अपने बुरे कार्यों में ही सलग्न रहते हैं। वे इन्हे बार-बार करते रहते है। बुरे कार्यो को करने की जो आदत हो जाती है, उसे व्यसन कहते है। दूसरे शब्दो मे जिस मनुष्य का बुरे कार्य करने का स्वभाव बन जाता है, वह कार्य चाह कर भी नही छोड़ सकता, उसे व्यसन कहते है।

''व्यस्यति प्रत्यावर्तयति पुरुषान् श्रेयसः इति व्यसनम्''॥

जो मनुष्य को आत्मकल्याण से विमुख कर देवें उसको व्यसन कहते हैं। ये बुरे कार्य मनुष्य का इहलोक और परलोक दोनों को नष्ट करने वाले होते हैं। ये व्यसन या बुरी आदतें मुख्य सात मानी गयी हैं, जिनका वर्णन निम्न प्रकार हैं -

जुआ खेलना, माँस भक्षण, वेश्या विषयना शिकार।
चोरी, मद्य, पर-रमनी, सातों व्यसन निवार।

1. **द्यूत (जुआ खेलना) क्रीड़ा** - इसके अन्तर्गत सट्टा लगाना, फाटका, शर्त लगाना,

हार-जीत पर आधारित कोई कार्य करना आदि आते हैं। जिस कार्य में धन-सम्पत्ति की हार-जीत हो, जिस कार्य में समस्त द्रव्य स्वयं का चला जाए या दूसरे का समस्त द्रव्य आ जाए, वह द्यूत क्रीड़ा कहलाती है। प्राचीन काल में पासा ड़ाल कर चौपड़ खेली जाती थी और इस खेल में हार-जीत में रत्न, सोने के सिक्के, घर, दुकान, ग्राम, खेत आदि धन सम्पत्ति तथा दास-दासी, घोड़ा और यहाँ तक की स्वयं की स्त्री आदि तक को दाँव पर लगा दिय जाता था। किन्तु आज इस प्रकार के जुए का रुप बदल चुका है आज अनेक प्रकार के खेलों मे, व्यापार में, फिल्मों में, घुड़दौड़ में जुआ खेला जाता है।

यह सर्वविदित है कि सप्त व्यसनों में जुआ सिरमौर है। जुआ खेलना सबसे बुरी आदत है। जुआरी के जीवन में शनै-शनैः अन्य सभी व्यसन आ जाते है, क्योंकि जुआरी जब हारता है तो चोरी करने लगता है तथा धीरे-धीरे अन्य व्यसनों में फँस जाता है।

जुए का परिवार बहुत विशाल है। अमितगति श्रावकाचार में विषाद, कलह, लड़ाई, क्रोध-अहंकार, मिलावट, धोखा, चुगलखोरी, ईर्ष्या, शोक इत्यादि को जुआ के सहोदर कहा गया है -

चारित्रसार में **''सप्तव्यसनेसु प्रधानं द्यूतं, तस्मात् परिहर्तव्यम्''** कह कर उसे त्यागने का उपदेश दिया गया है। जुए के कारण पाण्ड्वों की क्या दशा हुई यह किसी से अविदित नहीं है।

मांस खाना, शराब पीना, वेश्या गमन आदि व्यसन, जुआ खेलने वाले को स्वतः लग जाते हैं। जुआ खेलने वाला जुआरी कहलाता है, इसका कोई विश्वास नहीं करता है। यह स्वयं तो विपत्ति में पड़ता ही है, किन्तु अपने साथ ही अपने परिवार आदि को भी विपत्ति में डाल देता है। आचार्य कहते है कि है कि यह जुआ सब अनर्थों की जड़ है, माया का घर है, चोरी तथा झूठ का स्थान है, इसलिये इसे दूर से ही छोड़ देना चाहिए। जुआरी की आर्थिक तथा समाजिक स्थिति नष्ट हो जाती है। इसके पास तन ढ़कने के लिए वस्त्र व पांव में पहनने के लिए जूता तक नहीं रहता। निकृष्ट अन्न का भोजन करने लगता है, सदा चिंता में जलता रहता है। गन्दी बातें करना, परिवारजनों से लड़ना-झगड़ना, दुश्चरित्र व्यक्तियों से मित्रता करना, दूसरों को ठगना आदि कार्य ही इसके जीवन का अंग बन जाते है। यह अपना मान-सम्मान, लज्जा-शर्म सब खो देता है, याचक बन जाता है, और दीनता को प्राप्त हो जाता है।

इस प्रकार जुए के दोष से व्यक्ति सत्यता, पवित्रता, शान्त और सुख-चैन से रहित होकर किस-किस पाप कर्म को नहीं करता? इस प्रकार जुआ सातों व्यसनो मे प्रधान है। इससे मनुष्य विवेक शून्य हो जाता है। धर्म निष्ठ व्यक्ति भी कभी इस जुए मे बह जाते है। पाँच पाड़वों को जगलों की खाक छाननी पड़ी, अनेक दुःख उठाने पड़े, यह सब जुए के ही कारण था। इन्होंने द्रौपदी तक को दाँव पर लगा दिया था।

२. चोरी करना- किसी की धन-सम्पत्ति का उसकी आज्ञा के बिना हरण करना चोरी कहलाता है। परद्रव्यहरण पाप है, हिंसा का ही रुप है। गबन करना, धोखे से धन-सम्पत्ति को प्राप्त करना, चोरी का माल खरीदना, आदि चोरी के अन्तर्गत आता है। चोर दूसरों की पड़ी हुई, एकान्त में

रखी हुई, बिना दी हुई वस्तु को ग्रहण कर लेता है, उठा लेता है। संसार में धन-सम्पत्ति व्यक्तियों के प्राणों के समान होती है। जिसकी धन-सम्पत्ति जाती है, उसके कभी-कभी प्राण ही निकल जाते है। चोर का कृत्य दूसरे की हत्या करने के समान माना जाता है। इस हिंसा की अपेक्षा से ही इसे पाँच पापों में गिनाया जाता है।

चोर हमेशा दु:खी एवं अपमानित होता है- चोरी करने वाला पल भर के लिए भी चैन नही पाता, उसे हमेशा पकड़े जाने का डर सताता रहता है। बार-बार चोरी करना ही व्यसन की कोटि में आंता है, और जो कार्य छुपा कर बार-बार किया जाता है वह अवश्य एक दिन खुल जाता है, जनता मे घोर निन्दा को प्राप्त होता है, और परलोक मे भी दुर्गति को प्राप्त होता है। टैक्सो की चोरी करने वाले बड़े-बड़े धन्ना सेठो की जब चोरी पकड़ी जाती है तब उनको बहुत अपमानित होना पड़ता है, जेल हो जाती है, सब मान-प्रतिष्ठा पल भर मे धूल मे मिल जाती है।

चोरी करने में सत्यघोष का दृष्टान्त सर्वविदित है। नगर मे इसकी कितनी मान प्रतिष्ठा थी, किन्तु चोरी करने के कारण, दूसरे के हीरे हड़पने के कारण सब मान-प्रतिष्ठा धूल मे मिल गयी। राजा ने दण्ड दिया, देश निकाला दे दिया, गधे पर बैठा कर, गजा कर काला मुँह कर शहर से बाहर भगा दिया।

इस प्रकार चोरी को अत्यधिक दु:खदाई जान कर, इस लोक मे निदा और परलोक मे दुर्गति का कारण समझ कर इसे सर्वथा छोड़ देना चाहिए।

३. मद्यपान या शराब पीना - मद्य या शराब मन को मोहित करता है, मोहित चित्त होकर वह व्यक्ति धर्म को भूल जाता है, और धर्म को भूला हुआ वह जीव नि:शंक होकर हिंसा रुप आचरण करने लगता है। व्यसनों में भीषण दुर्व्यसन ''मद्यपान'' है ''मद्य'' संस्कृत भाषा का शब्द है, जिसके पयार्यवायी शब्द-मदिरा, सुरा, वारुणी, अरिष्ट, आसव आदि जो सभी इसी के गुण वाचक है। जिस द्रव को पीने से मादकता पैदा हो उस मादक यानि नशा करने वाले द्रव्य को मद्य या मदिरा कहते है। सभी प्रकार की मदिरा उष्ण प्रकृति की पित्तकारक, वातनाशक, मलभेदक, शीघ्र पचने वाली, रुखी, अत्यन्त कफनाशक, खट्टी, अग्निप्रदीपक, रुधिकारक, शीघ्रता करने वाली, तीखी, विशद् (घाव भरने और सुखाने वाली) व्यावायि (पहले पूरे शरीर पर प्रभाव करके पीछे पचने वाली) तथा विकारी, आदि गुणों वाली होती है।

'बुद्धि लुम्पति यद् द्रव्यं मदकारि तदुच्यते' अर्थात् जितने भी पेय पदार्थ जिनमें मादकता है, विवेक बुद्धि को नष्ट करने वाले है या विवेक बुद्धि पर परदा डाल देते है, वे सभी, मद्य के अन्तर्गत आते है। लाटी सहिता के प्रथम सर्ग श्लोक 67 एवं 70 में कहा गया है कि मद्यपान से न केवल पाप होता है साथ मे इस मद्य के सेवन से सर्वप्रथम तो बुद्धि भ्रष्ट होती है, बुद्धि भ्रष्ट होने से व्यक्ति विवेक शून्य हो जाता है। मद्य कामोत्तेजक होती है, इसे पीने वाला कामासक्त होता है। परिणाम यह होता है कि वह अन्याय-अनीति रुप क्रियाएं करने लगता है।

इससे उसे संसार में सदा संक्लेश और दु:ख ही दु:ख उत्पन्न होता है। मदिरा एक प्रकार से नशा लाती है, नशा, शान से आरम्भ होकर व्यक्ति के नाश का कारण बनता है क्योंकि नशा और नाश में अधिक दूरी नही। नशा जब सीमा से गुजर जाता है, तब प्राणघातक सिद्ध होता हैं। इसलिए भांग, गाँजा, चरस, अफीम, चरस, सिगरेट, बीड़ी, तम्बाकू, ताड़ी, ह्विस्की, ब्रांडी, शेम्पेन, रम, वियर, हेरोइन, ब्राउनशुगर, ड्रग्स, देशी और विदेशी मद्य है, वे सभी मदिरापान में ही आते है। मदिरापान ऐसा तीक्ष्ण तीर है कि जिस किसी को लग जाता है, उसका वह सर्वस्व नष्ट कर देता है। मदिरा की एक-एक बूंद मिलते ही उसकी बोली बन्द होने लगती है। यदि हजार बूंदो में केवल छह बूंद अल्कोहल की हो तो आदमी मर जाता है।

कबीर साहब कहते है कि -

औगुन कहै शराब के, ज्ञानवंत सुन लेय।
मानुष को पशु करै, द्रव्य गाँठ को देय॥

मादक पदार्थों के सेवन का निषेध करते हुए गुरुनानक साहब ने कहा कि -

गांजाभांग, मद्यपान मरी मछली जो प्राणी खावे।
उसका जप तप, नेम विरत, सब विरथा जावे॥

आगे कहा है कि यौवन अवस्था में शराब का रस यदि स्वाद में आ जाता है तो मनुष्य जप-तप-व्रत, छोड़कर बावला हो जाता है। जैसे कि -

बाल विनोद चंद रसलगा, रिवनि रिवनु मोह विआवे।
रस मिसु अमृत चिखुपारवी, तउ पंच प्रकट सतावै॥

मद्यपान के संदर्भ में एक विद्वान ने ठीक ही कहा है -

एक तो गांठ सौ दाम कढ़ै,
अरु दूजे कुटैव पड़े दुखदाई।
भक्ति शरीर की तीजे नसै,
चौथे तेज घटे, अरु बुद्धि नसाई॥
पाचंवे अधर्म की ओर बढ़ै,
पाप अनेक न रहे शुचिताई।
यहिं के ढ़िग जात मनुष्यता जाई॥

मद्यपान, तम्बाकू, भांग, गांजा, स्मैक, नशीली दवाओं आदि मादक पदार्थों के बढ़ते प्रयोग ने शरीर मन और आत्मा तक को इतना कलुषित कर दिया है कि मनुष्य को धर्म कर्तव्य तो

सूझता ही नहीं। वह किसी भी अनैतिक कर्म पर उतारु हो जाता है। जो सदाचार और श्रेष्ठता जीवन का मूल है उसकी अवहेलना करता है, नशे की आदत के कारण वह पैसे के लिए धोखाधड़ी, चोरी, ठगी, बेइमानी आदि भी करने लगता है। भारत में आज तो आतंकवाद, उग्रवाद, हत्या, लूटपाट, बलात्कार एवं विविध हिंसाएं पनप रही है, उन सबके पीछे सबसे बड़ा कारण मद्यपान का दुर्व्यसन है। जो मानवता को तिलांजलि देने वाला अनैतिकता का एक प्रकार है। अत: इसका सेवन करना सभी दृष्टियों से हानिकारक है। वैसे तो धर्म, समाज, अर्थनीति एवं संस्कृति की दृष्टि से कोई भी व्यसन उचित नहीं है। धनार्जन, सामाजिक प्रतिष्ठा, पारिवारिक उन्नयन एवं शारीरिक नीरोगता की दृष्टि से भी व्यसनों का मानव जीवन में कोई औचित्य नहीं है। अत: व्यसनमुक्त व्यक्ति, परिवार, समाज एवं राष्ट्र का निर्माण करना प्रत्येक मानव का संकल्प होना चाहिए जिससे सभी नीरोग, सम्पन्न एवं सुखी होकर अपने चरम लक्ष्य मोक्ष की ओर अग्रसर हो।

गुड़, जौं, आदि अनेक रसों को सड़ा कर शराब बनायी जाती है। अधिक नशा उत्पन्न करने के लिए इसमें जहरीले जीव-जन्तु, कीड़े-मकोड़े पका दिए जाते हैं। शराब स्थावर और त्रस जीवों का योनि रुप स्थान है इसलिये शराब सेवन करने वाले को अनन्त हिंसा होती है। अभिमान, भय, जुगुप्सा, रति, शोक, तथा काम-क्रोधादिक जितने हिंसा के भेद हैं, वे सब मदिरा के सेवन से हो जाते हैं। मद्यपान से पहले तो बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है फिर ज्ञान मिथ्या हो जाता है, अर्थात् माता, बहन आदि को भी स्त्री समझने लगता है। इससे रागादिक उत्पन्न हो जाते हैं तथा अन्यायरुप क्रियाएं होती है, अन्त में अत्यन्त क्लेशरुप जन्म-मरण होता है।

शराब के अर्न्तगत गुटका, पान मसाला, तम्बाकू, अफीम, चरस, गाँजा, जर्दा आदि सभी नशीले पदार्थ आ जाते है। मद्यपान से यादववंशी नष्ट हो गए, द्वारका नगरी भस्म हो गई आदि अनेक ऐसे दृष्टान्त मिलते हैं जो ये सिद्ध करते है कि मद्यपान दु:खों की, दुर्गति की जड़ है, खान है। इसके दुष्परिणाम को जानने के लिए निम्न दृष्टान्त उल्लेखनीय है -

एक उद्यान के चार दरवाजे एक के पीछे एक थे। पहले दरवाजे में गाय, दूसरे दरवाजे मे वेश्या, तीसरे दरवाजे में माँस तथा चौथे दरवाजे मे शराब रखी हुयी थी। एक मनुष्य को उन दरवाजो को पार करके उद्यान में प्रवेश करना था। किन्तु जब उसे विदित हुआ कि पहले दरवाजे से तभी जाया जा सकता है, जबकि गाय को मारा जाए। वह मनुष्य कहता है कि इस दरवाजे को पार करने के लिए, मैं इतना दीर्घ पाप नही कमाऊँगा। इसी प्रकार वह दूसरे से तथा तीसरे दरवाजे से भी पापास्त्रव के कारण नहीं निकलता चूँकि उसमे भी वेश्यारमण और मांस भक्षण करना पड़ता, किन्तु जब उसे विदित हुआ कि चौथे दरवाजे से तभी निकला जा सकता, जबकि शराब का पान किया जाये। वह सोचने लगा शराब पानी ही तो है। इसे पीने में क्या हानि है? वह शराब पी लेता है उस शराब का यह दुष्परिणाम होता है कि वह मनुष्य नशे में गाय को मार देता है, वेश्या का सेवन कर लेता है, और माँस का सेवन भी भरपूर करता है।

शराब इस संसार की सबसे हेय वस्तु है, सबसे हीन पेय पदार्थ है। अतः प्रत्येक प्राणी को शराब का पूर्णया परित्याग कर देना चाहिये।

४. माँस भक्षण - जीवों के मृत शरीर को माँस या कलेवर कहते हैं। माँस भक्षण करना एक प्रवृत्ति कहलाती है, जब अत्यन्त अनुरागता से बारम्बार मांस का भक्षण किया जाता है तब वह व्यसन का रुप ले लेता है। माँस चाहे कच्चा हो या पक्का उसमें अनन्त जीवों का वास होता है, वे सब पैदा होते रहते हैं और मरते रहते हैं।

माँस अत्यन्त घिनौना होता है, प्राणियों के घात से उत्पन्न होता है। यह अत्यधिक अपवित्र और निन्दनीय होता है। महान पुरुष तो उसे हाथ से स्पर्श भी नहीं कर सकते और आँखों से देख नहीं सकते।

माँस खाने का परिणाम - जो जीव माँस का भक्षण करता है वह नियम से नरकगामी होता है। जो जिसको मार कर माँस का भक्षण करता हैं वह उसे इसी लोक में और परलोक में अनेक बार मारता है। भागवत् स्कन्ध 1 प्र. अ. 7 में कहा गया है -

जो नीच दुर्जन दूसरे जीवो के पापो से अर्थात् पशु आदि जीवों को मार कर उनके मांस से अपने प्राणो को अर्थात् अपने शरीर को बलवान बनाना चाहता है तो उसे चाहिए कि वह अपने भले के लिए अपना ही करवा लेवे, क्योंकि अन्य जीवों की हिसा करने से जो नरक में गमन होता है उससे तो वह बच जायेगा। तात्पर्य यह कि मास भक्षण से अपने शरीर का बल बढ़ाना नरक मे ले जाने वाला है। अतः किसी भी जीव की भक्षण आदि के लिए हिसा कभी नहीं करनी चाहिए। मांसभक्षण इन्द्रियो में उत्तेजना देता है इस कारण कामवासना की बुद्धि होती है, उससे व्यक्ति अयोग्य कार्यों मे प्रवृत्ति करने लग जाता है। अतः सज्जन तथा बुद्धिमान पुरुष इस मांसभक्षण को मन-वचन-काय से दूर से ही छोड़ देते है। मास खाने में बक राजा को नरक जाना पड़ा था यह दृष्टान्त अति प्रसिद्ध है।

५. शिकार खेलना - किसी अस्त्र-शस्त्र, तीर, गुलेल, पत्थर आदि से दीन-हीन, मूक निरीह पशु-पक्षियों आदि को मारना, मछली पकड़ना आदि जलजन्तुओं को पकड़ना, शिकार करने के अर्न्तगत आता है। शिकारी जंगलों में मूक पशुओं को अपना शिकार बना लेता है और अपनी रसना इन्द्रियों की पूर्ति के लिए यह नहीं, विचारते कि इनका रक्षक कौन हैं शिकार खेलने में ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती नरक चले गए। इसीलिये शिकार खेलना न्यायोचित नहीं है।

शिकार खेलना, प्राणीवध करना हिंसक कृत्य है। अतः महापाप है। मूक, निरपराध, निरीह, पशुपक्षी हमारी दया के पात्र हैं। दया ही धर्म का मूल हैं वसुनन्दी श्रावकाचार में कहा गया है कि सम्यक्त्व का प्रधान कारण दया है और शिकारी के दया नहीं रहती। अतः शिकारी

का सम्यक्त्व नष्ट हो जाता है। अर्थात् सम्यक्त्व विनाश और पापबंध के कारण उसे दुर्गति में जाकर चिरकाल तक घोर कष्ट भोगना पड़ता है। अत: आचार्यों ने "**जीव हिंसा करं पापं दुख दुर्गति दायकं बधबंधकरं दक्षः आखेटम दूरतः त्यजेत्**" कह कर जीव की हिंसा करने वाले पापरुप दुख एवं दुर्गतिदायक, मारण बंधन कार्य में प्रवीण शिकार कृत्य को दूर से ही छोड़ने का उपदेश दिया है।

शिकार खेलना शूरता का कार्य है कुछ लोगों का ऐसा कुतर्क है किन्तु यह शूरता नहीं, क्रूरता है अतएव निन्दनीय है। शिकार का सम्बंध क्षत्रियों से जोड़ा है किन्तु रघुवंश में **क्षतात किल त्रायत इति क्षत्रियः** अर्थात् जो दुखो: से प्राणियों को बचाये वह क्षत्रिय है। क्रिया कोष में शिकार करने का निषेध करते हुये कहाँ है कि -

त्यागो अहेरा, दुष्ट जुकर्मा, हो दयाल सेवो जिन धर्मा।
करे अहेरा तेजु अहेरी रहें नरक में आपाद ढ़ेरी॥

प्राचीन काल में उज्जयिनी नगरी में ब्रह्मदत्त नाम का चक्रवर्ती राजा राज्य करता था। उसे शिकार खेलने का बहुत शौक था। एक दिन यह राजा शिकार के लिए वन को गया। वहाँ राजा को एक मुनिराज के दर्शन हुए। वे एक शिला पर विराजमान हो तपस्या में, अपने आत्मध्यान में लीन थे। इस तपस्या के प्रभाव से राजा को तीन दिनों तक कोई शिकार नहीं मिलता यह देख राजा बड़ा दु:खी हुआ। विचारने लगा कि इन मुनिराज के कारण ही मुझे कोई शिकार हाथ नहीं लग रहा है। वह राजा उस शिला को जिस पर मुनिराज ध्यानमग्न थे, अग्नि से खूब तपा दिया। मुनिराज नगर में आहारचर्या को गए हुए थे। वापिस वे उसी तप्तशिला पर सामायिक करने लगे। मुनिराज उपसर्ग समझ आत्मध्यान में लीन हो गये। धीरे-धीरे इस शिला से मुनिराज का शरीर जल कर भस्म होने लगा, किन्तु वे अपने आत्मध्यान से च्युत हुए। उन्हें तो केवलज्ञान और मुक्ति प्राप्त हो जाती है, किन्त राजा सातवें दिन ही बीमार हो गया इन्हें कोढ़ हो गया और शरीर से दुर्गंध आने लगी, प्रजा तथा परिवारजन उस दुर्गन्ध को सहन नहीं कर पाते। अत: राजा को महल छोड़कर जंगल में रहना पड़ता है। अन्त में यह राजा मरकर कष्टपूर्वक जीवन व्यतीत करते हुए सातवें नरक में चला गया वहाँ घोर यातना भोगकर आयु की स्थिति पूर्ण होने पर धीवर के यहाँ बहुत दुर्गन्धमय काय शरीर को धारण करने वाली कन्या पर्याय को धारण किया। माता-पिता अति दुर्गन्धमय शरीर होने के कारण, इस कन्या को वन में छुड़वा दिया। वन में जब यह किसी प्रकार बड़ी हुई तब इसे एक आर्यिका ने धर्म का स्वरुप समझा कर श्राविका के व्रत दे दिए। यह कन्या सिंह द्वारा भक्षण की गयी। मरकर कुबेरदत्त सेठ के घर पुत्री हुई, किन्तु शरीर में दुर्गन्ध फिर भी आती है। सेठ किसी मुनिराज से इसके शरीर की दुर्गन्ध आने का कारण पूछते है। मुनिराज बताते हैं कि पूर्वभव में यह राजा था और वह शिकार खेलता था, तथा इसने एक महामुनिराज को शिला गर्म करके भस्म किया था इस पाप से इसके शरीर में दुर्गन्ध आती है।

शिकार खेलने का फल - उपरोक्त दृष्टान्त से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि शिकारी नियम से मरणोपरान्त नरक में ही जाते है, जहाँ ये घोर यातनाएँ सहते हैं। इसके उपरान्त भी अनेक घोर यातनाएं उठानी पड़ती है। अतः शिकार कभी नहीं करना चाहिए।

६. **वेश्या गमन** - जो स्त्री धन आदि के लिए अपना शरीर बेचती है, सभी की पत्नी बन जाती है, इसे वेश्या या नगरवधु कहते हैं इसके यहाँ आना-जाना, इनसे भोग करना वेश्यागमन कहलाता है। भोगविलासिता की चरम परिणति वेश्यागमन है। मानव भोगों में इन्द्रियसुख मानता है किन्तु वह शीघ्र नष्ट होने वाला है। वह सबसे खोटा व्यसन है। शास्त्रों में वेश्या को गणिका लज्जिका, विलासिनी आदि नामों से कहा जाता है। इसका सम्पूर्ण जीवन ही कलंकित रहता है। इसको कुलटा स्त्री के रुप में समाज में तिरस्कार दिए जाने का सबसे बड़ा कारण यह है कि इनके द्वारा जो वेश्यावृत्ति रुप कार्य किया जाता है, वह महानिन्द्य है। जो पुरुष एक बार भी वेश्याओं के जाल में फंस जाता है, वह उससे निकल ही नहीं पाता, क्योंकि ये राक्षसी सदृश होती है कहा भी है -

दर्शनात् हरते चित्रं स्पर्शात् हरते बलम्।
भोगात् हरते वीर्यं, वेश्या साक्षात् राक्षसी॥

इसको देखनेमात्र से चित्त का हरण होता है। इनके स्पर्श से बल का हरण होता है, इससे भोग करने पर वीर्य नष्ट होता है अतः वे साक्षात् राक्षसी ही हैं क्योंकि यह अपने सम्पर्क में आने वाले पुरुषों के धन को चूस कर उन्हें मृत्यु तक की स्थिति में पहुँचा देती है। आत्महित चाहने वाले प्राणी को वेश्या से सदैव दूर ही रहना चाहिए। समाज और परिवार को बचाने के लिए इस व्यसन की प्रवृत्ति का सर्वथा त्याग करना आवश्यक है।

आचार्य पद्मनन्दि वेश्या की निन्दा करते हुए कहते है कि - "उन वेश्याओं के सिवाय दूसरा एक और कोई नहीं है जो माँस खाती है, मदिरा पीती है, झूठ बोलती है, धन के लिए प्रेम करती है, धन और प्रतिष्ठा की हानि करती है, रात-दिन नीच पुरुषों की लार चाटती है। यह धोबी का कपड़े धोने की शिला के समान होती है। इसका आचरण कुत्ते की खोपड़ी के समान होता है।" इन वेश्याओं के संसर्ग से परलोक तो नष्ट होता ही होता है, इस लोक में भी धन, प्रतिष्ठा, स्वास्थ्य सब नष्ट हो जाते हैं।

वेश्यागमन का फल - वसुनन्दि श्रावकाचार में आचार्य वसुनन्दि कहते हैं कि जो कोई भी मनुष्य एक रात भी वेश्या गमन करता है, वह लुहार, चमार, भील, चण्डाल, आदि नीच लोगों की जूठन खाता है, क्योंकि वेश्या इन सभी लोगों के साथ समागम करती है। वेश्या मनुष्य को अपने ऊपर आसक्त जानकर सैकड़ों वचनों से उसका सर्वस्व हर लेती है और पुरुष को अस्थिपिंजर करके छोड़ देती है। वह एक पुरुष के सामने कहती है कि तुम्हें छोड़कर मेरा स्वामी कोई नहीं है इसी प्रकार वह अन्य से भी कहती है। मानी, कुलीन और शूरवीर भी वेश्या

में आसक्त होने से नीच प्राणियों की दासता को स्वीकार करता है। इस प्रकार वह कामान्ध होकर वेश्या के द्वारा किये गए अपमानों को सहता है। जो दोष मद्य-मांस के सेवन में होते हैं वे सब दोष वेश्यागमन में भी होते हैं। इसलिये वह मद्य और मांस के सेवन के पाप को तो प्राप्त होता ही है, किन्तु वेश्यासेवन के विशेष अधर्म को भी नियम से प्राप्त होता है। वेश्या सेवन जनित पाप से यह जीव घोरसंसारसागर में भयानक दुःखों को प्राप्त होता है। इसलिये मन, वचन, काय से वेश्या का सर्वथा त्याग करना चाहिए।

वेश्यागमन मे चारुदत्त सेठ का दृष्टान्त सर्वत्र प्रसिद्ध है, जिसने वेश्यागमन मे सोलह करोड़ दीनारे लुटा दी थी और अन्त मे विष्टा खाने के लिए डाल दिए गए थे।

७. परस्त्री सेवन - सामाजिक, धार्मिक और नैतिक सभी दृष्टियों से परस्त्री सेवन हानिप्रद है परस्त्री से तात्पर्य अपनी धर्मपत्नी के अतिरिक्त अन्य किसी की धर्मपत्नी से शारीरिक सम्बन्ध रखना इस सम्बन्ध में उसके घर आना-जाना, पड़ौसी की स्त्री पर आसक्त हो जाना, उसका सेवन करना, परस्त्रीसेवन कहलाता है। चाहे थोड़े समय के लिए किसी को रखा जाय या उपपत्नी के रुप में, किसी की परित्यक्ता, व्यभिचारिणी, वेश्या, दासी या किसी की पत्नी अथवा कन्या ये सभी परस्त्रियां है। इनके साथ भोग करना अथवा वासना या सम्बन्ध बनाने के लिए उपहार देना ये कार्य स्त्री की इच्छा से करना परस्त्रीसेवन है।

परस्त्री के सेवन से पुरुष घोर संकट में पड़ा जाता है। परपुरुष से सम्बन्ध रखने पर स्त्री पर भी विपत्तियों का पहाड़ टूट पड़ता है। मन में अशान्ति रहती है और बेईमानी होने से दुःखी होना पड़ता है। अतः बाल्मीकि ने लिखा है -

परदारभिमर्शात्तु नान्यत् पापतरं महत्।

परस्त्री से अनुचित सम्बन्ध रखने जैसा कोई पाप नहीं क्योंकि में यह अनार्यो का कार्य है। आचार्य मनु ने कहा है -

न ही दृश्मनायुष्यं लोके किंचित् दृश्यते।
यादृशं पुरुषस्येह परदारोपसेवनम्।।

इस विश्व में पुरुष के आयुष बल को क्षीण करने वाला परस्त्रीसेवन जैसा अन्य कोई निकृष्ट कार्य नहीं है। अतः किसी भी व्यक्ति को इस जघन्य पाप में प्रवृत्ति नहीं करना चाहिए। परस्त्रीसेवन बहुत दुःखदाई होता है। कहते है कि -

पर नारी पैनी छुरी, तीन ठोर से खाय।
धन छीजै, यौवन हरे, मरे नरक ले जाए।।

अर्थात् परस्त्री, बहुत खतरनाक पैनी छुरी के समान होती है। जो व्यक्ति को तीन ओर से नष्ट करती है। धन का हरण करती है, शारीरिकक्षमता का विनाश कर देती है, तथा अन्त में

मरणोपरान्त नरको मे वास कराने वाली होती है। इस ससार मे जो स्त्री धर्मानुकूल धर्मपत्नी बन चुकी है, उसको छोड़ कर अन्य सब स्त्रियों से रमण करना बहुत बड़ा पाप है।

परस्त्री सेवन का फल- परस्त्री सेवन से अनेक रोगों की उत्पत्ति हो जाती है। कीर्ति का विनाश हो जाता है, अपमानपूर्वक द्रव्य का भी विनाश हो जाता है। अन्य व्यक्तियों से छिप कर परस्त्री सेवन करना पड़ता है, यदि कोई देख ले तब संसार में घोर निंदा का सामना करना पड़ता है राज दण्ड प्राप्त होता है। प्रत्यक्ष में इसके बुरे फल भुगतने पड़ते है भविष्य में परलोक में भी दुर्गति की प्राप्ति होती है। जो व्यक्ति एक बार भी इसका सेवन करता है वह सदाचार से भ्रष्ट होकर महान पाप का भागी होता है। जिस समय प्राणी अपने हृदय में परस्त्री सेवन का विचार करने लगता है, उसी समय उसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है। शरीर एवं हृदय व्याकुल होने लगता है, शान्ति भंग हो जाती है, मन किसी भी कार्य में नहीं लगता विक्षिप्त सा हो वह व्यक्ति चारों ओर घूमने लगता है। इस व्यसन के सेवी अनेक व्यक्ति अपने धन, यश, शारीरिक बल को नष्ट कर धन-जन एवं परिवार से रहित होकर भिक्षुक बनकर दर-दर की ठोकरें खाने लगते है।

जिन मनुष्यों ने परस्त्रीसेवन किया है, उन्होंने अपने सुखों का समाप्त कर अपने चारित्र को कुचल कर विपत्ति को गले लगाया है। परस्त्री के कारण रावण जैसा बलिष्ठ राजा भी नरक को चला गया। उसके माथे पर सदा के लिए कलंक का टीका लग गया। इसका न जाने कब से पुतला जलता आया है और न जाने कब तक जलता रहेगा।

महाभारत के समय अनेक युद्ध परस्त्री सेवन पर हुए हैं। अगणित प्राणियों का विनाश पर-स्त्री के ग्रहण करने की इच्छा मात्र पर हो जाता है। सुलोचना जब जयकुमार के गले में वरमाला डाल कर उसकी पत्नी बन चुकी थी तब अर्ककीर्ति का उसके ग्रहण करने की इच्छा मात्र से युक्त होने पर घोर युद्ध होता है। अनेकों प्राणियों का संहार हो जाता है। अन्त में जयकुमार की विजय होती है। अर्ककीर्ति की पराजय और अपकीर्ति होती है। इस प्रकार सर्वदा सदाचारी की विजय होती है। परस्त्रीगामी की विजय होती नहीं देखी जाती।

इस प्रकार कुलीन बुद्धिमान मनुष्य का कर्तव्य है कि वह शील को सदा सुरक्षित रखे, शील की रक्षा करे। स्वयं तो कदाचित् पर-स्त्री की वाँछा करना ही नहीं चाहिये। किन्तु यदि कोई स्त्री भी अपने को शील से डिगावे तो कदापि नहीं डिगना चाहिये।

ये सब व्यसन हिंसारूप महापाप के कारण हैं, इस लोक और परलोक को नष्ट करने वाले हैं, दुर्गति में ले जाने वाले हैं। समझदार बुद्धिमान व्यक्तियों को इन व्यसनों में कभी भी अपनी बुद्धि नहीं लगानी चाहिए।

व्यसन त्याग की महिमा- जो जीव अपने जीवन में कोई व्यसन नहीं लगाता वह पापों से, दुर्गतियों से बच जाता है। आचार्यों ने व्यसन त्याग की बहुत महिमा बताई है। इसको निम्न दृष्टान्त द्वारा भी समझा जा सकता है।

एक समय की बात है कि एक दिगम्बर मुनिराज उपदेश दे रहे थे। यह उपदेश वहीं पर

बैठा हुआ एक भील भी सुन रहा था। वह भील सप्तव्यसनी था। मुख्यकार्य उसका चोरी करने का था। वह मुनिराज के उपदेश से ऐसा प्रभावित हुआ कि वह निम्न पाँच नियम महाराज से लेता है -

1. अनजान फल कभी भी नहीं खाने ।
2. अष्टमी और चतुर्दशी को शराब नही पीना।
3. सोते हुए को कभी नही मारना।
4. परस्त्री को कभी नही भोगना।
5. कौवे का माँस कभी नहीं खाना।

अब यह भील उपर्युक्त पाँच नियम लेकर चोरी करने चल देता है। अपने गिरोह सहित एक जंगल में ठहर जाते हैं। इस दिन इन्हें चोरी का बहुत सारा माल हाथ लगा था। भील को भूख लगती है तो वह अपने साथियों से फल तोड़कर लाने को कहता है। साथी फल तोड़ कर लाते हैं। भील पूछता है कि ये फल कौन से ले आये? क्या नाम है इनका? साथी फलों का नाम नहीं बता पाये, क्योंकि वे सब जंगली फल थे। भील कहता है कि मैं ये फल नहीं खाऊँगा इसके विपरीत वे फल गिरोह के साथी खा लेते है। खाते ही सभी मर जाते है। वे फल सभी जहरीले थे। अनजान फल न खाने से भील की जान बच जाती है। पूरे गिरोह का धन भील को मिल जाता है। वह अपना नया गिरोह बनाता है। पुनः चोरी करने के लिए एक दिन सब योजना बनाते हैं। ये सब चोरी करके एक पहाड़ी पर विश्राम करने लगते हैं। वे बहुत धन चुरा कर लाये थे अतः आपस में बातचीत करते हैं कि आज तो शराब जम कर पीनी चाहिये। गिरोह के सब साथी खुश थे। इनमें से कुछ साथी एक तरफ चले गए। अपने सरदार भील को पीने के लिए शराब देने लगते है। भील पूछता है कि आज क्या तिथि है? वे कहने लगे कि आज तो चतुर्दशी है। यह सुन भील कहता है कि भाइयों मैं आज शराब नहीं पी सकता, क्योंकि मुझे अष्टमी और चतुर्दशी को शराब नहीं पीने का नियम है। मैं आज नहीं पीऊँगा। परिणाम यह निकलता है कि गिरोह के सदस्य आपस में एक-दूसरे को जहर युक्त शराब पिला देते है सभी का प्राणान्त हो जाता है। भील इस बार भी इस नियम के कारण वह पूरे गिरोह का धन लेकर घर आता है। उसकी मुनिराज और उनके दिए नियम पर श्रद्धा बढ़ती है।

एक दिन भील कहीं बाहर जा रहा था, इसकी बहन मर्दाना वेष रखकर घर पर पहरा दे रही थी। उसे प्रातः नींद आ जाने से यह अपनी गर्भवती भाभी के पास ही सो जाती है। उसी समय भील भी बाहर से आ जाता है। देखता है कि उसकी स्त्री के पास कोई पुरुष सो रहा है। वह क्रोध से भर जाता है, और एकदम तलवार निकालकर वार करता है तभी उसे अपना नियम याद आता है कि सोते हुए को कभी नहीं मारना। तब वह उन्हें जगाता है तो क्या देखता है कि अरे! यह तो मेरी बहन है। सोचता है आज यदि यह नियम न होता तो तीन प्राणी मारे

जाते। इस प्रकार उसकी मुनिराज के प्रति श्रद्धा बढ़ जाती है वह सोचता उनके दिए नियमों के कारण ही मेरी जिन्दगी बच रही है और बन रही है।

एक दिन भील राजा के महल में चोरी करने के लिए जाता है। वहाँ रानी चोर पर मोहित हो जाती है। यहाँ फिर उसको अपना नियम याद आ जाता है कि पर-स्त्री सेवन नहीं करना हैं। राजा को यह बात जब पता चलती है तो वह इस चोर को अपना मंत्री बना लेता है।

एक दिन अब यह चोर भील बीमार हो जाता है इलाज भी कराया जाता है किन्तु स्वस्थ नहीं होता है। वैद्य कहते हैं कि यदि तुम कौए का माँस खाओ तो स्वस्थ हो जाओगे। बीमार भील को अब फिर अपना पांचवां नियम स्मरण हो आता है। वह स्पष्ट मना कर देता है। मैं कौए का माँस नहीं खाँऊगा चाहे स्वस्थ होऊँ या नहीं। वह स्वस्थ नहीं होता और मरण को प्राप्त हो जाता है। मरकर यह भील का जीव स्वर्ग में जन्म लेता है और देव बन जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जो अपने जीवन को नियम से, संयम से व्यतीत करते है, तथा जिनका मन व्यसनों के त्याग की ओर लग जाता है, उसकी दुर्गति नहीं होती वरन् वह कई आपत्तियों से भी बच जाता है। इसलिये किसी को भी प्रथम तो व्यसनों को ग्रहण ही नहीं करना चाहिए, कदाचित् यदि लग गए हों तो उसे तुंरत छोड़ने का प्रयास करना चाहिए।

मनुष्य जिस प्रकार का अन्न जल लेता है, उसी प्रकार का उस पर प्रभाव भी पड़ता है। उसके आचार विचार वैसे ही बनने लगते है। अन्न, जल का मुनष्य के मन-मस्तिष्क पर किस प्रकार प्रभाव पड़ता है, यह निम्न दृष्टान्त में दिखाया गया है -

महाभारत के काल में रात्रि के समय आक्रमण नहीं हुआ करते थे। सब दोनों ओर से लडाई से विराम ले लेते थे। यहाँ तक की विरोधी दल के लोग भी आपस में मिलजुल लेते थे।

एक रात्रि को दुर्योधन युधिष्ठिर के पास अपनी कुछ गुत्थियों का हल पूछने आता है। क्योंकि वह जानता था कि इन गुत्थियों का हल केवल युधिष्ठिर के पास ही है। वह युधिष्ठिर से पूछता है - ''हमारे दल में भीष्म पितामह जैसे मूर्घन्य सेनापति है। फिर भी हम हारते जा रहे है और पांडव जीतते जा रहे हैं। लगता है हमारे सारे सेनापति सच्चे मन से नहीं लड़ते हैं। क्या किया जाए, कुछ उपाय बताइये? युधिष्ठिर कहते हैं कि -आप ठीक कहते हो। नीति और अनीति कर विचार किसी का उत्साह बढ़ाता तथा घटाता है। आपके दल के सैनिक यह अनुभव करते है कि वे अनीति के पक्ष में लड़ रहे हैं। इसीलिए सहज ही उनका पराक्रम शिथिल पड़ जाता है। जब कि पाण्ड्व दल के लोग न्याय समर्थन में लड़ रहे है। न्याय की बात ध्यान में रहने से वे सच्चे मन से लड़ते हैं।

यह सुन दुर्योधान निरुत्तर हो जाता है। वह पुन: पूछता है कि - क्या कोई उपाय है। जिससे हमारे सेनापति आत्मा की आवाज न सुने और पूरे जोश से लडने लगें।

युधिष्ठिर कहने लगे, ''हाँ है, तुम अपने लोगों को नियत वेतन के अतिरिक्त ऐसा भोजन

कराओ जो अनीति से कमाया और मुफ्त में खिलाया गया हो।" दुर्योधन को यह बात जम जाती हैं अब वह अधिक पाप से अर्जित धन निकालता और उसके व्यंजन बना-बना कर अपने सैनिकों का और सेनापतियों को खिलाने लगा। दुर्योधन क्या देखता है कि अब सैनिक और सेनापति उत्साह से लड़ रहे हैं।

आत्मा की पुकार अनीति के धन ने शिथिल कर दी। अन्न के साथ-साथ मन का सम्बन्ध कितना प्रगाढ़ है। यह इस घटना से सिद्ध हो जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जिसके पास जीवन है, यौवन है, परम् ऐश्वर्य है, किन्तु त्याग की कोई भावना नहीं है, वे संसार के सबसे दयनीय भिखारी हैं। जो त्याग का निषेध करता है और निषेध करता हुआ भी यह कहता है हमारे मन में तो शुद्धत्याग की परम श्रेष्ठ भावना है, और बाह्य भोगों में लिप्त रहता है, उससे बड़ा कायर और अज्ञानी इस संसार में और कोई नहीं हो सकता।

ऐसा तीन काल में भी सम्भव नहीं कि भीतर से भावों में त्याग हो और बाहर बाह्य वस्तुओं का त्याग न हो। यदि मेघमालाएँ जल से परिपूर्ण होगीं तो नियम से वर्षा होगी। यदि फूलों में सुगन्धि होगी तो वह अवश्य ही सर्वत्र विकीर्ण होगी। अतः हृदय के मूल में त्याग की भावना होगी तो बाह्य के समस्त पदार्थों का त्याग होगा ही। इसमें शंका करने के लिए रंचमात्र भी कहीं कोई स्थान नहीं है। यह तो प्रकृति का एक अत्यन्त प्रिय नियम हैं। कहा गया हैं -

नीच पुरुष तो विघ्नों के भय से कोई कार्य प्रारम्भ ही नहीं करते। मध्यम पुरुष कार्य को प्रारम्भ करके विघ्न आने पर बीच में ही छोड़ देते है, किन्तु उत्तम पुरुष विघ्नों के बारम्बार आने पर भी प्रारम्भ किए हुए कार्य को बीच में नहीं छोड़ते हैं।

अत: हे भव्य जीवो! सत् मार्ग पर लग जाओ, एक बार लगने पर फिर मुड़कर मत देखो, व्यसनो की ओर दृष्टि भी मत डालों, तो एक दिन कर्मों की श्रृखलाए टूट जायेगी, और संसार भ्रमण से छूट जाएगा।

मानसिक व्यसन - वैचारिकता अपंगता दूषित चिन्तन, अपरिपक्व बौद्धिक क्षमता सोच को परिवर्तित कर मन को व्यसनों की ओर जाने को प्रेरित करती है। अतः विकृत विचारधारा के उद्‌भव को समझकर समीचीन चिन्तन के बहाव को दिशा देनी होगी। व्यक्ति के अन्दर अनेक विरीतताएं ऐसी हैं। जो मन को दूषित करती हैं और जब मन दूषित हो जाता है तब व्यक्ति तनाव में आ जाता है। जो मन तन और धन को खराब करता है। अतः हमें सबसे पहले मानसिक व्यसनों से बचना होगा। उन्हें पहचानना होगा। कुछ बिन्दु दे रहा हूँ जो व्यसन से न लगते हुए भी व्यक्ति समाज और देश को विकृत बनाते है।

1. निन्दा मानव मन की वह विकृति है जो व्यसन का रुप लेते ही व्यक्ति को छिद्रान्वेषी, कृतघ्न एव सकुचित विचारधारा वाला बना देती है। निन्दक जीवन को प्रगतिशील नहीं बना

पाता, उसकी दृष्टि निन्तर दूसरों के अवगणों क्री खोज मे रहती है। निन्दा करने वाले को अपने उत्थान के लिए समय नहीं होता उसे निन्दा किये बिना चैन नहीं मिलता। निन्दा व्यक्ति को पतन की ओर ले जाने वाला व्यसन है। अविश्वास की भावना मस्तिष्क को असंमजस में रखती है। जिससे विचारों में स्थिरता नहीं आ पाती, अविश्वास, नफरत, कटुता और मन मुटाव को पैदा करता है। जिससे समाज में दूषित वातावरण निर्मित होता है। द्वेष व्यक्ति के स्वभाव में कटुता लाता है। जिससे शिष्टाचार/सदाचार आदि उसका साथ छोड़ देते है। द्वेषी व्यक्ति निरन्तर दूसरों को घृणा की दृष्टि से देखता है। उपकारों, भलाईयों एवं सहृदयता को भूलकर वह बुराईयों मे फँसता चला जाता है। ऐसी आदत व्यक्ति को कभी ऊँचे नही उठने देती। द्वेष विवेक का घातक होता है। जो व्यक्ति को अंधकार की ओर जाने की प्रेरणा देता है। जिससे उसका अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है।

2. ईर्ष्या/जलन व्यक्ति का वह महाव्यसन है जो उसे अन्दर ही अन्दर जलाकर खोखला कर देता है। ऐसा व्यक्ति दूसरों का विकास सहन नहीं कर पाता। दूसरों के पतन के लिए वह अपने तन-मन-धन को नष्ट करते हुए रहता है ऐसे व्यक्ति को प्राप्त कुछ नहीं होता। अपितु जो पास होता वह भी समाप्त हो जाता है। ईर्ष्यालु व्यक्ति अपनी आँख फोड़कर दूसरो का अपशकुन करना चाहता है। इस मानसिकव्यसन के प्रभाव से वह अपना हित-अहित भूल जाता है ऐसे खतरनाक व्यसनों की ओर यदि हम ध्यान दे और व्यक्ति की सोच समचीन बना सके तो हम व्यसनमुक्त समाज बनाने में सफल होगे।

3. जल्दी का व्यसन हमे विचार करने का मौका ही नहीं देता और बिना विचारे किया गया कोई भी कार्य सफल नहीं होता। जल्दबाज लोगों की झोली में असफलताओं का ढेर लग जाता है वह सफलता के अभाव मे अपनी बची-खुची सोच/समझ को भी गवा देता है। जल्दबाजी में व्यक्ति उद्देश्यहीन कार्य भी करता चला जाता है। जिसके दुष्परिणाम को भोगता हुआ कुण्ठित हो जाता है। जल्दबाजी में व्यसनी व्यक्ति तम्बाखू गुटखा आदि न खाने की प्रतिज्ञा ले लेता है और उसका अन्त वही होता है जिसके आगे हारकर पुनः इन्हे ग्रहण करना पड़ते है। जल्दबाजी के व्यसन से एक सकारात्मक सोच वाले को बचना चाहिए।

4. स्वार्थपरता आज मनुष्य की पर्याय बन गई है। स्वार्थी व्यक्ति निरन्तर अपनी सोच को अपने निहित स्वार्थो के चारो ओर ही केन्द्रित रखता है। उसका चिन्तन विस्तृत एव गम्भीर नही बना पाता है। वह निरन्तर सकीर्ण मानसिकता का ही अनुसरण करता है जब व्यक्ति स्वकेन्द्रित होकर कार्य करता है तो वह अपनी और समाज की उज्ज्वल छवि को समाप्त कर अनेक विषमताओं को बढ़ावा देते हैं। जो हमे घातक होती है स्वार्थी व्यक्ति को अधिक संचय की प्रवृत्ति की ओर ले जाकर अपने को दूसरो से महान दिखने का दिखावा करने वाला बना देता है। स्वार्थ मनुष्य को मनुष्य नही रहने देता उसमे अनेक विकृतिया

प्रकट दिखाई देने लगती है। जिससे वह समाज मे अलग-थलग पड़ जाता है, लेकिन क्या करे यह सब कुछ जानते हुए भी हम स्वार्थ के व्यसन में अंधे है। इससे बचने के लिए हमे सर्वोदयी चिन्तन को बढ़ावा देना होगा।

"**हम बड़े है**" यह विकृत सोच का प्रतीक है। सैद्धान्तिक दृष्टि से हम सब समान है। गुणो की अपेक्षा कोई भी मनुष्य कम नही है। अपने को बड़ा मानकर यह अपना सामाजिक कद बौना कर गौरव नष्ट कर लेता है। बड़ेपन का एहसास जीवन के वास्तविक स्वरुप से अपरिचित रहकर अस्तित्वहीन जीवन जीता है और अपने को छोटा मानने वाला भी इसी तरह का व्यसनी है। जो अपने को हीन/छोटा/असहाय मानकर निराश के गर्त मे चला जाता है। वह विकृत चिन्तन करने की स्थिति मे ही रहता है। इस विचारधारा की आदत से उबर नही पाता और जीवन भर हीनता/कुण्ठा/दीनता जैसी मानसिक बुराईयो को भोगता रहता है। यह छोटे/बड़ेपन की क्षुद्र मानसिकताओं से उबरने के लिए हमे अपने आप का निष्पक्ष मूल्याकन करना होगा। अपने वास्तविक स्वरुप के ज्ञान से यह व्यसन हमारे ऊपर असर नही कर पाता। प्रमाद/लापरवाही/असावधानी व्यक्ति के जीवन को नीरस और असफल बना देता है। शारीरिक सुस्ती दवा से और मानसिक सुस्ती स्वपुरुषार्थ से ठीक होती है। वह प्रमाद/सुस्तपन जीवन का बोझ है। इससे व्यक्ति कभी उत्थान नही कर पाता। उसे हर समय हर कार्य मे उलझन ही लगती है और अन्त मे पछतावा ही हाथ लगता है ऐसे व्यसन से हमें सदा बचना चाहिए। सजगता/सतर्कता जीवनोत्थान के प्रमुख आधार है।

5. लोभ समस्त सामाजिक/मानसिक एव वैयक्तिक बुराईयो का भडार होता है। लोभ का व्यसनी सद्‌गुणो से बहुत दूर रहता है। हमे सारे ससार के वैभव को पाने की भावना से एव भोजनादि की अतिलिप्सा से अपने को दूर रखकर जीवन के उत्थान की दिशा मे सोचना है। लोभ ऐसा व्यसन है जिसके अनेक वीभत्स रुप है। इस बुराई को अपने मस्तिष्क मे न आने दे।

6. अपेक्षाए हमारे जीवन को तनाव, निराश, झूठे दम्भ एव नीरसता से दूषित कर हमारा सामाजिक स्तर नीचे गिरा देती है। प्रत्येक व्यक्ति अपेक्षाओ के मकड़जाल मे जीता है। यदि उसकी अपेक्षाए पूरी नही होती तो वह अपने को अपाहिज/अपग/ या अधूरा मानकर निराशा के गर्त मे चला जाता है। दान, पूजा, स्तवन आदि महान कार्य भी अपेक्षाओं के चलते दूषित हो जाते है।

7. तनाव हमारी जीवन शक्ति को नष्ट कर देता है। मानवीय रिश्तो को असतुलित कर देता है। तनाव हमारे जीवन मे घुन की तरह लग जाता है। जो हमारे तन-मन को क्षीण करता है। वस्तुस्थिति की समीक्षा करे तो पता चलता है कि तनाव गलत सोच है जो बिना आधार के जीवन को खोखला बनाता है। तनाव से ही गम्भीर रोग हो जाते है। जिससे हमारा अन्त हो जाता है। अतः हम वस्तु के स्वभाव को समझ कर अपनी सोच को सकारात्मक बनावें जिससे हमे और समाज को नई दिशा मिल सके।

यह ऐसे व्यसन है जिस तरफ हमारा ध्यान ही नहीं जाता। ये ही हमारे पतन के कारण है। इन्हें अपने अन्दर न पनपने दें और आने वाली पीढ़ी को भी यही मार्ग दर्शन दें कि मानसिक व्यसन ही हमारी दिशा और दशा के जिम्मेदार हैं, ये जीवन को निराशा एवं पतन की ओर ले जाते है। इनसे बचने के लिए सकारात्मक सोच के साथ समता, संयम और साधना की त्रिवेणी में गोते लगाने पड़ेगें।

मूर्तिपूजन क्यों?

श्रद्धा का भक्ति के साथ अटूट सम्बन्ध है। जिस व्यक्ति मे गुण होते है, मानवीय विवेक होता है। वह श्रद्धापूर्वक स्वभाव से भक्त बन जाता है। फिर जिसे हम पवित्र समझते हो और अपना सन्मार्ग प्रदर्शक के रुप मे महान उपकारी भी मानते हो एव उसी जैसा सुखपूर्वक व निर्दोष बनने की उत्कण्ठा भी हमारे अन्तःकरण में हो तथा जो विश्व के श्रेष्ठ से श्रेष्ठजनो में भी आदर्श व सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति हो उसके प्रति हृदय में श्रृद्धा हो जाने पर भक्ति का स्रोत उमड़ना तो स्वाभाविक भी है। उस भक्ति स्त्रोत उमड़ पड़ने पर उसको प्रकट करने के लिए अपने प्रिय (इष्ट देव) को उत्तम उत्तम पदार्थ चुन कर भेंट चढ़ाना, उसका गुणगान, नमस्कार और वन्दना आदि उसके प्रेम के दिव्यप्रवाह में प्रवाहित हो जाना , कुछ भी आश्चर्यजनक नहीं। अतः परमात्मा को आदर्श मानना और उस पर श्रद्धा रखना भक्ति करना भी धर्म का एक साधन है।

यदि परमात्मा सृष्टि का निर्माता और सुख दुख का विधाता नहीं है तो परमात्मा की भक्ति और स्तुति करने की क्या आवश्यकता? इस प्रश्न के उक्त कथन में स्वयमेव ही समाधान हो जाता है।

परमात्मा यदि वीतराग है और पूजक से प्रेम व निन्दक से द्वेष नहीं करता और प्रसन्न या अप्रसन्न नहीं होता तो उसकी पूजन दर्शन, भजन आदि से क्या लाभ? इस का संक्षेप में उत्तर देते हुए आचार्य कहते है - भगवान यदि आप वीतराग है और आप हमारी पूजा से खुश व निंदा से रुष्ट नहीं होते तो भी आपके पवित्र गुणों की स्तुति हमारे मलिन हृदय के दोषों और पापों से रहित कर पवित्र कर देती है। जिस प्रकार सूर्य के दूर और वीतराग रहते हुए भी हजारों मील दूर रहने वाला कमल उसकी प्रभा मात्र से प्रफुल्लित हो जाते है एवं रात्रि का भयानक अन्धकार देखते-देखते विलीन हो जाता है। उसी प्रकार भव्य पुरुषों के भक्ति भाव से पूर्ण कमल भगवान के दर्शन तो दूर, नाम मात्र से ही प्रफुल्लित हो जाते हैं। इससे उन्हें उस समय जो अनुपम आनन्द, अपूर्व शन्ति एवं सन्तोष प्राप्त होता है, वह कथन नहीं, अनुभव करने की चीज है। उस आनन्दामृत का पान तार्किक नहीं भक्त जन कर सकते है। अपने आदर्शों के गुणों एवं प्रेम में मग्न हो जाने पर पवित्रता एवं वीतरागता का संचार होने पर पाप कर्म की श्रृंखलाएं ढीली पड़

जाती हैं और परमात्मा के गुणों का चिन्तन और स्तवन करने से आत्मा का परमात्मा बनने के लिए उन गुणों की प्राप्ति की ओर बढ़ना तथा किन्हीं अंश में प्राप्त कर लेना भी बहुत सुगम हो जाता है। उनके गुणों का बारम्बार विचार करने से आत्म दर्शन जैसा दुर्लभ कार्य भी सरलता से सम्पन्न हो जाता हैं। जब परमात्मा की भक्ति में मग्न पुरुष उसके गुणों का चिन्तवन करते-करते यदि अपनी ओर भी सरसरी नजर डालता है तो उसे उसी समय अपनी वास्तविकता का ज्ञान हुए बिना नहीं रहता। वह तुरन्त समझ जाता है जिस महान पुरुष की मैं उपासना कर रहा हूँ, उसमें और मुझमें चेतनतत्व जो कि अनन्त: आनन्द, ज्ञान, दर्शन और शक्ति का भण्डार है एक सत्य है अन्तर केवल यह है कि उनकी आत्मा ने श्रृद्धा ज्ञान व चारित्र के द्वारा उन्होंने अपनी छिपी हुई शक्ति को प्रकट कर लिया है एवं मेरी वे शक्तियाँ मोह व पुण्य पापादि कर्मों के आवरण से ढकी हुई हैं। कर्मों का आवरण दूर होने पर मैं भी उन्हीं जैसा हो सकता हूँ, भक्त से भगवान हो सकता हूँ। आत्मदर्शन के लिए परमात्मा दर्शन सचमुच दर्पण का कार्य करता है। जो वीतराग और उनकी वीतरागता का एकाग्र से अध्ययन करते है उन्हें आत्मदर्शन हो जाना कोई कठिन कार्य नहीं। यह आत्म दर्शन की जड़ है। किन्तु जिस प्रकार समुद्र के अन्तःस्थल में भरे हुए बहुमूल्य रत्न ऊपर-ऊपर डुबकियाँ लगाने वाले व्यक्ति के हाथ नहीं लगते उसी प्रकार तन्मय भावमय होकर भगवद् भक्ति में हुए बिना वीतरागता का अध्ययन किये बिना उस परम वीतरागी तत्त्व की प्राप्ति नहीं हो सकती।

गुणों को चिन्तवन करने से, गुणों व दोषों का विचार करने से दोषों की शुद्धि होना स्वभाविक हैं परमात्मा के गुणों का जो कि मोहादि आत्म शत्रुओं पर वीरता पूर्वक विजय प्राप्त कर आदर्श बन चुके हैं, चिन्तवन करके हम भी आत्म शत्रु पर वीरता पूर्ण विजय प्राप्त करने की आलौकिक शक्ति को सीख ले एवं जागृति को प्राप्त कर, दु:ख सागर के भंवर के चक्कर से निकलने का उपाय जान ले तो इसमें आश्चर्य ही क्या?

इस भाँति संक्षेप में प्रकट हो गया है कि जैन धर्म में परमात्मा की शक्ति, उपासना व पूजा एक आदर्श पूजा या वीर पूजा है जो कि काम, क्रोध, मान, माया लोभ, मोहादिकर्म शत्रुओं पर पूर्ण विजय प्राप्त करके वीरों की श्रद्धा व आदर से प्राप्त हो जाता है। ऐसे परमात्मा के दर्शन या साक्षात दर्शन न होने पर उसकी उपासना व पूजा किस भाँति की जाए। इसका संक्षेप में उत्तर यही है कि साकार परमात्मा की जीवन मुक्तावस्था जैसी वीतराग नींव को प्रतिष्ठित कर उसके द्वारा मूर्तिमान की उपासना करनी चाहिए। क्योंकि मूर्ति का अवलम्ब लिए बिना आत्मा व परमात्मा के ध्यान करने का अभ्यास प्रारम्भिक दशा में किसी प्रकार भी सम्भव नहीं हो सकता। मन मूर्तिक पदार्थ है इसलिए उसके द्वारा किसी प्रकार प्रकार की कल्पना करके किसी वस्तु का ध्यान किया जा सकता है। मूर्ति का सहारा लिए बिना परमात्मा का ध्यान करने की क्षमता गृह त्यागी सांसारिक झंझटों व वासनाओं से मुक्त जितेन्द्रिय योगीजनों में ही आ सकती है। जिन्होंने अपने चंचल मन को वश में कर निरन्तर आत्मा व परमात्मा के गुणों के चिन्तन में लगायें बिना

किसी सहारे का ध्यान करने का ठीक-ठीक अभ्यास कर लिया हो, उन्हें भी कभी-कभी चंचल मन को वश में करने के लिए मूर्ति का सहारा लेना अनिवार्य हो जाता है। रात-दिन विषय कषाय में फंसे रहने वाले गृहस्थों की तो बात ही क्या, जिन का मन मूर्तियों के सामने बैठे रहकर व प्रयत्न करने वर भी प्राय: घर गृहस्थी में बार-बार दौड़कर चला जाता है।

किन्तु यह याद रखना कि मूर्ति पूजा का उद्देश्य केवल धातु पाषाण आदि की बनी मूर्ति की पूजा न होकर मूर्ति के द्वारा मूर्तिमान की पूजा करना है। चंचल मन को वश में करने व परोक्ष वस्तु का ज्ञान कराने के लिए प्रारम्भिक अवस्था में मूर्ति कितनी कीमती वस्तु है। इस बात का पता प्रारम्भिक कक्षाओं में पढ़ने वाले विद्यार्थी व उनमें से भूगोल के विद्यार्थियों से लगता है।

यह कहानी नहीं है एक सत्य घटना है। अमेरिका जाने से पहले स्वामी विवेकानन्द परिव्राजक के रुप में भारत वर्ष के अनेकों तीर्थो और दूसरे स्थान पर घूमते रहे। उन्हीं दिनों वह एक बार दिल्ली से अलवर राज्य गए। स्वामीजी जहाँ जाते वहाँ के लोग उनका अद्‌भुत व्यक्तित्व व प्रतिभा देखकर मुग्ध हो जाते और अनेक दर्शन करने दूर-दूर से स्त्री पुरुष आते। कुछ ही दिनों में स्वामीजी का नाम सारे अलवर में फैल गया। हर शिक्षित व्यक्ति के मुख पर उन्हीं की चर्चा थी।

एक दिन राजा का दीवान स्वयं उनसे मिलने गया। स्वामीजी से मिलकर व उनसे वार्तालाप कर इतना प्रभावित हो गया कि स्वामीजी को अपने घर ले जाकर उनकी सम्मान किया। राजा उन दिनों अलवर में ही थे और निकट के ही एक महल में एकान्तवास कर रहे थे। दीवान ने राजा के पास एक पत्र भेजा कि आजकल एक महात्मा यहाँ आये हुए हैं। वह अंग्रेजी भाषा के महान पंडित है। उनसे मिलकर आपको बडी प्रसन्नता होगी।

दीवान की चिट्ठी मिलने के अगले ही दिन राजा अलवर लौट गए और स्वामीजी से मिलने की उन्हें इतनी उत्सुकता थी कि तुरन्त ही दीवान के घर जो पहुंचे। राजा बड़े ही शिक्षित व स्पष्टवादी थे। उन्होंने बड़ी श्रद्धा के साथ स्वामी जी को प्रणाम किया एवं निकट बैठकर बडे आदर से वार्तालाप किया। राजा ने बात प्रारम्भ की, "अच्छा स्वामीजी मैंने सुना है। आप बडे विद्वान हैं आप चाहें तो सहज ही में अत्यधिक धन उपार्जन कर सकते है। फिर आप भिक्षा पर निर्वाह क्यों करते हैं?"

स्वामीजी में मनुष्य के परखने की अद्‌भुत शक्ति थी वे समझ गए कि राजा पाश्चात्य रंग में रंगे हुए है। उन्हें ऐसा उत्तर दिया जाना चाहिए कि राजा के अंग्रेजी अभिमान को ठेस लगे। स्वामी जी ने उत्तर दिया कि राजा मुझे बताइये कि आप राजकाज का परित्याग कर दिन रात अंग्रेजी साहबों में क्यों व्यस्त रहते हो, वो भी आमोद प्रमोद के साथ। किसी दिन कोई भारतीय उनसे ऐसा प्रश्न करने का दुस्साहस करेगा राजा को इसकी सम्भावना कदापि न थी। वह स्वामी जी के व्यवहार को देखकर बड़े आकृष्ट हो गए। राजा के साथ इस प्रकार बात करना सचमुच बडे साहस का काम था। ऐसे निडर साधु को क्या परिणाम भुगतने पड़े, इस चिन्ता से लोग

भड़क उठे। राजा ने उत्तर दिया मैं ऐसा क्यों करता हूँ यह मैं नहीं जानता, पर हां मुझे ऐसा काम करना अच्छा लगता है। स्वामीजी ने कहा मेरा उत्तर भी यही हैं। मुझे भी भीख माँग कर घूमना अच्छा लगता है।

स्वामी जी के प्रश्न से राजा रुष्ट नहीं हुए। यह देखकर लोगों ने निश्चिन्तता की सांस ली। राजा ने फिर स्वामीजी से पूछा- लोग मूर्ति पूजा क्यों करते है? पर मुझे इसमें जरा विश्वास नहीं है। बताईये मेरी क्या गति होगी? यह प्रश्न करके राजा हंस पडे। उनकी हंसी में हिन्दू की मूर्ति पूजा के प्रति एक कटाक्ष था। आप मजाक कर रहे है। स्वामी जी ने यह बात इस ढ़ंग से कही कि उन्हें राजा की बात पर विश्वास न हुआ था। राजा बोले नहीं स्वामीजी ऐसी बता नहीं है। मैं वास्तव में अन्य लोगों की तरह मिट्टी, लकडी, पत्थर, धातु की पूजा नहीं कर सकता। इससे मेरा क्या कोई अमंगल होगा?

यह तो अपने-अपने विश्वास की बात है स्वामीजी ने उत्तर दिया। उनके छोटे से उत्तर को सुन कोई भी उपस्थित सज्जन प्रसन्न न हुआ। अलवर की जनता अधिकतर कृष्ण भक्त थी और मूर्ति पूजा में उनका दृढ़ विश्वास था, उन्हें आशा थी कि शायद स्वामीजी कि बातों से राजा के विचार बदल जायेगें। परन्तु यह क्या स्वामीजी के उत्तर से राजा को और भी प्रोत्साहन मिल गया।

किन्तु स्वामीजी ने एक ऐसा काम किया, सब स्तब्ध हो गए। सामने की दीवार पर राजा का एक सुन्दर चित्र टंगा था। स्वामीजी ने चित्र देखने की इच्छा की। एक पुरुष चित्र तो ले आया। स्वामीजी ने पूछा - "यह किसका चित्र है। " दीवान ने कहा - "हमारे महाराजा का है दीवान जी इस चित्र पर थूक दीजिए", बड़े गम्भीर स्वर में स्वामी जी ने कहा।

स्वामीजी के कहने पर सब डर गए। सामने ही समस्त राज्य के कर्ता धर्ता राजा बहादुर बैठे थे उसके चित्र पर थूकने का प्रस्ताव स्वामी जी के मन में कैसे विचार आया। बड़ी आश्चर्य की बात है। स्वामी जी फिर बोले- दीवान जी! आप थूक दें। किसी के मुख से कोई शब्द नहीं निकला। स्वामी जी फिर अनुरोध करने लगे आप लोगों मेंसे कोई और आये और इस चित्र पर थूक दें। दीवान जी तो ऐसा नहीं कर सके। आप में से कोई आगे आये। आने का साहस किसी ने किया।

स्वामीजी ने कहा आप क्यों नहीं आते, यह तो एक कागज है इस पर थूकने से आप को क्या आपत्ति है? सब भय से जड़वत् खडे थे। केवल दीवान जी कभी राजा के मुख की ओर कभी स्वामी की ओर देखते। किसी के मुख से एक शब्द न निकला। दीवान जी बोले आप आदेश दे रहे है हमारे महाराजा का चित्र है इसका अनादर कैसे कर सकते है। स्वामीजी बोले - 'यह तो महाराज का चित्र है स्वयं महाराज तो नहीं है। इसमें न तो मांस रक्त है, न उनका व्यवहार है, यह तो एक कागज का टुकडा है भला इस पर थूकने में संकोच क्यों? स्वामी जी स्वयं कहने लगे- 'मैं तुम्हें बताता हूँ आप भय क्यों कर रहे है। इस चित्र में महाराज का चित्र है इस पर थूकते समय हमें प्रतीत होता है कि हम महाराज पर थूकने जा रहे है, क्यों यही बात है ना?

अब जाकर कहीं प्राणों में प्राण आये। सब बोल उठे - 'हां यहीं बात है। ' राजा को लक्ष्य करके स्वामी बोले देखिये ये आपका चित्र है स्वयं आप नहीं है। एक काले कागज का टुकड़ा है सब लोग इसका ऐसा सम्मान करते है, जैसे आपका।

राजा चुपचाप सुन रहे थे। सब देखकर उनके मन मे एक विचार आया कि स्वामीजी कह रहे है - राजा चित्र देखते ही आपकी स्मृति आ जाती है। इस चित्र से आपका आभास मिलता है। इस लिए इस कागज में इतना आदर है या नहीं। राजा ने उत्तर दिया कि स्वामी जी यह स्पष्ट है। स्वामी जी बोले- भक्त भी मूर्ति की तरफ इस तरह देखते है मूर्ति के भीतर वह काठ की, मिट्टी, पत्थर, धातु की पूजा नहीं करते, वह तो यह देखते है कि ईश्वर का कोई-कोई रुप लीलामय रूप है। मूर्ति तो केवल भक्तों के ह्रदय मे आराध्य या उपास्य देवता है, याद दिलाने के लिए है। उनका गुण या भावस्मरण करने के लिए है। यही मूर्तिपूजा का मूल धर्म है।

आपके विचारों पर मैं जड़ चित्रों का प्रभाव नित्य देखता हूँ एक कागज पर खींचे दु:शासन द्वारा द्रौपदी चीर हरण देखकर कुछ रोना आता है। रानी झांसी का, महाराणा प्रताप का चित्र देखकर मानो मेरी भुजाएं फडकने लगती हैं। अपनी प्रेमिका को देख कर विकार हो जाता है। सिनेमा के परदे पर चलने फिरने वाली उन रेखाओं को एक क्षण में देखने से क्या होता है वह छिपा नहीं है। यदि कुछ न होता तो धन खर्च करके नींद न खोता। अभी किसी चित्र को देखकर रोना आ जाता है वह भी तो एक चित्र है। जड़ चित्र तो एक क्षण भी सामने नहीं टिक सकता। किसी के प्रति द्वेष होने पर उस चित्र की अविनय करने का भाव क्यों आता है? स्वयंवर में संयोगिता ने माला क्या समझ कर डाली थी? अपने उपास्य देव या अपने चित्र को जूतों में पड़ा देखकर दुखी क्यों होता है? अपने कमरे को क्यों सजाता है? एक जड़ चित्र का मेरे ऊपर कितना प्रभाव पडता है।

एक समय की बात है एक लड़का स्कूल पढ़ने जाया करता था। अध्यापक डोग- कुत्ता पढ़ाता था। वह प्रतिदिन यही बोलता चला जाता था। घर पर पिताजी खुश होते कि मेरा बेटा अग्रेंजी पढ़ रहा है वह लडका एक दिन खेल खेलने लगा। वह डोग की बजाये गौड माने कुत्ता कहने लगा। घर पर पहुँचता है, पिता जी कहने लगे गोड का अर्थ तो ईश्वर अर्थात् भगवान होता है तुम कुत्ता क्यों बोल रहे हो? लड़का कहने लगा, भगवान कैसे होते है उन्हें मुझे भी दिखाओं। तभी पिता जी मन्दिर ले जाते है वहाँ वीतराग भगवान के दर्शन कराते हैं। लड़का वीतराग मुद्रा को देखकर कहने लगा -पिता जी यह तो बहुत अच्छे लगते है मैं रोजाना आया करुगां। सारांश क्या होता है वह रोज मन्दिर आने लगा। अब लडके पर मूर्ति का इतना प्रभाव पड़ा वह वीतरागी साधु बन गया। सो भैय्या मूर्ति के माध्यम से ही हम अपने भावों को सुधार सकते है। हमें कभी भी मूर्ति पूजा का खण्डन नहीं करना चाहिए।

मानव जन्म से मुक्ति

गतियाँ चार होती है - तिर्यञ्चगति, नरकगति, देवगति और मुनष्यगति। सबसे कम जीव मनुष्यगति मे है। उससे ज्यादा नरको मे है, नरको से ज्यादा देवो में है, देवो से ज्यादा तिर्यञ्चो में है, तिर्यञ्चो से ज्यादा सिद्धो मे है और सिद्धो से भी ज्यादा जीव निगोद मे है। इन चारो गतियो में जीव अनादिकाल से भ्रमण करता हुआ चला आया है।

सबसे पहले यह जीव नित्यनिगोद में रहा है। कुछ कषायों का क्षयोपशम हुआ तो व्यवहारराशि में आया, तब यहाँ सबसे पहले पृथ्वीकायिक, अग्निकायिक, जलकायिक, वायुकायिक बना। प्रत्येक वनस्पति रुप स्थावर में चीरा-भेदा गया, कुँजड़े के यहाँ जाकर दस पैसे में बिक गया। अब कुछ विशेष पुण्य का उदय आया तो दो हजार सागर से कुछ अधिक काल तक त्रस पर्याय में चला गया। वहाँ भी विकलत्रय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय बन कर अधिक समय तक अपना काल व्यतीत किया। यहाँ कोई कल्याण का मार्ग प्रशस्त नहीं हुआ। पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च भी बना तो भी मोक्षमार्ग का पूर्ण रुप से प्रारम्भ नहीं हुआ। यहाँ से नरक में पहुँचा तो यहाँ भी कोई निमित्त ऐसा नहीं है जो मुक्तिमार्ग पर आरुढ़ हो सके। दिन-रात मारकाट चलती रहती है न कोई मन्दिर है, न गुरुओं का उपदेश और न ही कोई वहाँ जिनवाणी है। हर समय वहाँ पर जीवन अशान्ति से व्यतीत होता है। नरको मे यदि कोई कुछ सुखी है तो केवल सम्यग्दृष्टि सुखी हैं। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि नरकों में भी मुक्ति नहीं है।

यह जीव स्वर्गो में भी गया, संयम के बिना वहाँ पर भी मोक्षमार्ग पूर्णरुप से नहीं बना। चौथी गति मनुष्य पर्याय की है। जिसमें केवल अड़तालीस भव मिलते हैं। उसमें भी सोलहभव स्त्री के, सोलहभव नंपुसक के और सोलहभव पुरुष के मिलते है। अब मनुष्य के भी दो भेद हो जाते है - 1 आर्य मनुष्य और 2 मलेच्छ मनुष्य। भरतक्षेत्र मे मलेच्छों के पाँच खण्ड हैं। ऐरावतक्षेत्र और विदेहक्षेत्र में भी मलेच्छ मनुष्य रहते हैं, किन्तु मुक्ति आर्यखण्ड में ही मानव जन्म से हो सकती है। किसी ने कहा भी है -

जानता हूँ बाग में दो दिन रहेगें फूल,
जब तक उन्हें हवा मिलती रहेगी अनुकूल।
सोने तक ही आँखो में रहेंगे सपने,
जागने पर सामने पड़ी मिलेगी धूल॥

अत: बन्धुओ मानवजीवन अल्पसमय का है, थोड़ा सा समय मिला है, पता नहीं कब किस वक्त यहाँ से विदा हो जाना पड़े। यदि सुबह हो गई तो शाम भी होगी और शाम के बाद रात्रि भी अधकार के साथ अवश्य आयेगी। तब नीद भी आयेगी, सपने भी आयेगें ओर फिर हम उन सपनो मे खो जायेगे उन्हे ही अपना सब कुछ मान लेगे। मगर नीद खुलते ही वे मधुर सपने टूट जायेगे। जन्म और मृत्यु के बीच अधिक अन्तर नहीं है। इसलिये उठो, सपनो मे ही मत

खोओ। सोते-सोते ही जीवन मत गँवाओ, क्योंकि जो सोते-सोते जीवन गँवा देते है, वे जीवन के वास्तविक सौदर्य से परिचित नही हो पाते, वे जीवन के वास्तविक रहस्यो को जानने से वंचित रह जाते है।

जागा हुआ मानव ही कुछ पा सकता है। जीवन बहुत ही छोटा है, इसलिये अपनी चिन्मय आत्मा को शुद्ध आत्मा बनाने का पुरुषार्थ करो। जो सासारिक ज्ञान तुम्हें प्राप्त हुआ है, वह ज्ञान नही केवल अहकार की खुराक है। सुज्ञान तो आत्मा, निरहकार, परमात्मा और धर्म की ओर ले जाता है। सन्मार्ग पर आरुढ़ करवा देता है। जितना आप भटकने को स्वतन्त्र है, उतना ही सम्भालने को स्वतन्त्र है। यदि अज्ञान भटका सकता है तो सुज्ञान मार्ग भी दिखा सकता है। यदि हम बिगड़ सकते है तो सुधर भी सकते है।

अन्धकार ही हमे भटकाता है, ऐसी बात नही है, हम लोग प्रकाश में भी भटक गए है। उजाले मे गुमराह हुए है। केवल अन्धकार भटकाता है यह हमारी मिथ्या मान्यता है। प्रकाश भी हमे भटका देता है। जब हमे यौवन मिला, अच्छा कुल मिला, सम्यग्धर्म मिला, सम्यग्गुरु मिले, सब कुछ हमें मिला, उजाला मिला, ब्राह्मण हुए, जैन हुए, क्षत्रिय हुए ,उसके बाद भी हम भटक गए। इसका क्या कारण है? हमने क्षणिक प्राप्ति को ही सब कुछ मान लिया, समझ लिया है मात्र पुण्य के वैभव मे भटक गए है। स्वय के कारण से हम भटके है। स्वय के कारण से अटके है, किसी ने हमे भटकाया नही है।

ससार मे मानव पुरुषार्थ करता है, सृजन करता है, लेकिन उसके देखते ही देखते सब कुछ मिट जाता है। अनेक-अनेक जन्मो से यह कार्य निरन्तर चला आ रहा है। जिसे हम बनाते हैं वही मिट जाता है। जिससे दुःख पैदा हो जाता है, विषाद उत्पन्न हो जाता है, और रोते-रोते जीवन गुजर जाता है। उसके बचाने का कोई भी उपाय का पता नही चल पाता है, सारा जीवन यूँ ही नष्ट हो जाता है।

जब तक हम जागेगे नही तब तक हमे पता भी नही चलेगा। वृक्ष से एक पत्ता तोड़ते है तो फिर नयी पत्तियाँ उग आती है। यदि वृक्ष की जड़ का ध्यान हो जाए और उसे उखाड़ कर फैक दे तो वृक्ष फिर न उगे। इसी प्रकार ससार परिभ्रमण के कारण को जड़ से विच्छेदन करना आवश्यक हो जाता है। किन्तु जड़ का पता कोई भी नही करता और कहते है कि भाग्य दौड़ा रहा है प्रकृति दौड़ा रही है, भगवान दौड़ा रहा है, सयोग दौड़ा रहा है, इस प्रकार नाना प्रकार की कल्पना करते हैं। भगवान् महावीर की अनेकान्तमय वाणी कहती है कि यह संयोग मात्र नही है, इसके पीछे किसी अन्य सत्ता का भी हाथ नही है। इसमें स्वय के उपार्जित कर्मो का अर्थात् स्वय का ही हाथ है। जीवन मे जो कुछ भी घट रहा है, वह स्वय के कारण ही घट रहा है। कर्म के सयोग से ही घट रहा है और कर्म भी स्वय ने ही उपार्जित किये है सुख: दुःख, जीवन-मरण सब कर्माश्रित है। मृत्यु भी स्वय के कारण से है और जीवन स्वय के ही पुरुषार्थ से।

मुक्ति के भेद - व्यवहार पद्धति से मुक्ति के निम्न पाँच भेद है-

1.शक्तिमुक्ति 2. दृष्टिमुक्ति 3. मोहमुक्ति 4. जीवनमुक्ति 5. विदेहमुक्ति।

मुक्ति प्राप्त करने की शक्ति तो प्राणी मात्र में है। पर्याय दृष्टि में संसारी जीवो में द्रव्य दृष्टि से ही अन्तर पड़ा हुआ है। अगर हम शक्ति को प्रगटाए तो दृष्टिमुक्ति अर्थात् सम्यक्‌दर्शन प्रगट तो चारों गतियों मे कर सकते है। लेकिन मानव पर्याय एक ऐसी है, जिसमें मुनि धर्म अगीकार करके क्षपक श्रेणी लगाकर, बारहवे गुणस्थान में मोह से विमुक्त हो जाते है। वहाँ तुरन्त ही अन्तर्मुहूर्त मे केवलज्ञान प्रगट करके, तेरहवें गुणस्थान मे पहुँच जाते है, अर्थात् अर्हन्त बन जाते है। इसी का नाम जीवन मुक्ति है। कुछ समय के बाद योग का निरोध करके विदेह मुक्ति अर्थात् सिद्ध भगवान बन जाते है।

संयम की अपेक्षा चार प्रकार के मानव - सयम की अपेक्षा निम्न चार प्रकार के मानव पाये जाते है -

1. **सामान्यमानव**- जो अपना जीवन बिना सयम के बिताते है, उन्हे सामान्य मानव कहते है। इसके अन्तर्गत मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि मानव आते है।
2. **विशेषमानव**- वे मानव जो अणुव्रती श्रावक होते है, उन्हे विशेष मानव कहते हैं। ये संयम को देशरुप पालते है।
3. **महामानव**- जो मनुष्य सयम को सकल रुप, सर्वदेश रुप पालता हो उसे महामानव कहते है। जैसे-दिगम्बर मुनिराज। निग्रन्थ दिगम्बरवेश से ही मुक्ति होती है।
4. **महाविशेषमानव**- यथाख्यात चारित्र को पालते हुए, जिनके चार घातिया कर्मों का नाश हो गया हो, उनहें महाविशेष मानव कहते है। जैसे - अरहत भगवान्।

जब हम इस सोई हुई दुनिया को देखते हैं तब किसी प्रसिद्ध कवि की निम्न पक्तिया याद आ जाती है -

जितनी भी देखी दुनिया हमने,
सबकी खुशियाँ तालों में कैद देखी।
कोई झूम रहा मयखानों में,
कोई रो रहा श्मशानों में॥
किसको अपना मीत समझ लूँ?
किसको अपना हाथ थमा दूँ?
कोई बिक रहा वीरानों में।
कोई लुट रहा गुलिस्तानों में॥

विभिन्न क्षेत्रों में मनुष्य किस क्षेत्र से मुक्ति प्राप्त कर सकता है - यह बताते हैं - पैंतालीस लाख योजन के निम्न पाँच क्षेत्र होते है -

1. सिद्ध शिला 45 लाख योजन की है।
2. ढ़ाई द्वीप 45 लाख योजन का है।
3. प्रथम स्वर्ग का ऋजु विमान 45 लाख योजन का है।
4. नरक का सीमान्तक इन्द्रक बिल 45 लाख योजन का है।
5. सिद्धक्षेत्र 45 लोख योजन का है।

निम्न चार क्षेत्र एक लाख योजन विस्तार वाले हैं -

1. जम्बूद्वीप का क्षेत्र एक लाख योजन का है।
2. सर्वार्थसिद्धि विमान का क्षेत्र एक लाख योजन का है।
3. सुमेरुपर्वत का विस्तार एक लाख योजन का है।
4. सातवेनरक मे अन्तिम इन्द्रकबिल का विस्तार एक लाख योजन है।

कल्याण के लिए ढ़ाई द्वीप में ही मानव मुक्ति प्राप्त कर सकता हैं। किसी ने कहा है-

किसे भोग रहा है पगले, यह तेरा परिवार नहीं।
कोई तेरा दर्द बँटा दे, ऐसा यह संसार नहीं।।
चेतन तुम तो चतुर हो, कहाँ भये मतिहीन।
ऐसा नरभव पाय कर, विषयन में मतिलीन।।

आज तुम्हें आर्य खण्ड अर्थात् उत्तम देश, उत्तम कुल, उत्तम धर्म, इन्द्रियों की परिपूर्णता, मन्दिर, गुरु और शास्त्र सबका समागम मिला हुआ है। फिर भी आप अपने आत्मा को नहीं प्राप्त करना चाहते, आप भगवान बनना नही चाहते आखिर क्यों?

कह गए यहाँ अनेकों यति, मुनि और ज्ञानी।
साथ कोई गया नहीं, दुनिया की रीति पुरानी।।
कोई मिला शहरों में, कोई मिला बियाबानों में।
कोई कहीं छूट गया, राह की थकानों में।।
दुनिया में दिख रहा कामनाओं का एक तमाशा है।
पता नहीं कौन किसकी प्यास लिए घूम रहा प्यासा है। ।

पत्नी चाहती है कि पति, पुत्र के लिए जिए, पति चाहता है कि पत्नी, पुत्र के लिए जिए। पिता चाहता है कि बेटा मेरे लिए जिए, बेटा चाहता है पिता मेरे लिए जिए। इस प्रकार जीवन मे बड़ा ही विचित्र और गहन संघर्ष है। प्रत्येक प्राणी एक-दूसरे पर अपना अधिकार जमाना चाहता है। पता ही नहीं चलता कि किसके मन में किसको पाने की प्यास है? माँ अपनी ओर खीचना चाहती है, पत्नी अपनी ओर खींचना चाहता है भाई अपनी ओर खीचता है, दोस्त अपनी ओर आकर्षित करना चाहते है। इसीलिये कवि मंगतराय जी कहते हैं कि -

जन्मे मरे अकेला चेतन, सुख दुःख का भोगी।
और किसी का क्या इक दिन, यह देह जुदी होगी॥
कमला चलत न पैंड़ जाय, मरघट तक परिवारा।
अपने-अपने सुख को रोवें, पिता पुत्र दारा॥
ज्यों मेले मे पंथी जन मिले नेह धरें फिरते।
ज्यों तरुवर पै रैन बसेरा पंछी आ करते॥
कोस कोई दो कोस उड़ फिर थक-थक हारे।
जाय अकेला हंस संग में, कोई न पर मारे॥

यह जीव अकेला खुद ही जन्म-मरण करता हुआ सुख-दुःख को भोगता है। किसी का कुछ भी हर्ज नहीं, यह शरीर एक दिन जुदा हो जायेगा, अलग हो जायेगा। धन-स्त्री तो एक कदम भी नहीं चलते, और परिवार श्मशान तक ही जाता है। स्त्री, पुत्र-पिता सभी अपने-अपने सुख को रोते हैं। जिस प्रकार मेले में मुसाफिर आते हैं, मिलते हैं, चले जाते हैं एवं रात्रि में वृक्ष पर पंछी आकर विश्राम करतें हैं। उसी प्रकार जब यह व्यक्ति मरता है तो उसके मृत शरीर के साथ कोई एक कोस, कोई दो कोस चलकर थक कर रुक जाता है। इसी प्रकार यह आत्मा अकेला ही जाता है, कोई भी उसके साथ नहीं जाता है। जैसे राम-लक्ष्मण, सीता एक-साथ कष्ट उठाते हैं, किन्तु राम तो मोक्ष चले गए, सीता स्वर्ग में प्रतीन्द्र बन गई और लक्ष्मण नरक।

बुद्ध के जीवन की एक बहुत सुन्दर घटना है एक बार बुद्ध अपने शिष्यों से कहते हैं कि ''मेरी ज्योति बुझने वाली है, मेरे शरीर का अन्त अब निकट है इसीलिये तुम लोगों को जो कुछ पूछना हो पूछ लो। बुद्ध के सारे के सारे शिष्य विलाप करने लगे। बुद्ध बोले-मैंने तुम्हें जीवन भर दिया है, माँगा कुछ भी नहीं, मांगा तो भी मैंने तुम्हें दिया, और नहीं माँगा तो भी मैंने दिया है। कोई भी कमी हो, कोई भी बात हो, कोई भी जिज्ञासा हो तो पूछ लो। ले लो जो चाहिये। गाँव में खबर कर दो कि बुद्ध जा रहें हैं, कह दो उनकी ज्योति अनन्त में विलीन होने जा रही है। यह बात एक व्यक्ति ने भी सुनी और बुद्ध से मिलने की अपनी इच्छा प्रकट की और बोला - तीस वर्षों तक बुद्ध मेरे गाँव में रहे पर मैं बुद्ध से एक दिन भी नहीं मिल सका, लेकिन आज जब सुना कि बुद्ध अपनी अन्तिम साँसों में है, तब दृढ़ निश्चय करके तथा समस्त कार्यों को छोड़कर बुद्ध के दर्शन करने आया हूँ। यह सुन बुद्ध का एक शिष्य कहता है कि आपने बहुत देर कर दी। वह व्यक्ति कहता है - मैं अपनी घर-गृहस्थी में फँसा रहा, इसीलिये नहीं आ सका। आज जब मुझे पता चला कि बुद्ध की ज्योति बुझने वाली है तब मैं दौड़ा आया हूँ। यह सब वार्ता बुद्ध सुन रहे थे। अब बुद्ध कहते हैं - आ जाओ अभी अभी भी कुछ साँसे शेष हैं। तुम्हारी जिज्ञासा मैं शान्त कर दूँगा। यह सुन वह व्यक्ति अपनी भूल पर रोने लगता है। बुद्ध आश्वासन देते हैं, कहते हैं, जिसे अपनी भूल का पता चल गया, समझो वह संभल गया, वह अपना बचा हुआ जीवन भविष्य को संवारने में लगाए। वर्तमान में सम्यक्‌आचरण

करो, अतीत के बारे में न सोचो। जीवन में देर कितनी हो गई हो, यदि इतनी समझ शेष है कि "मैंने अपना अतीत व्यर्थ गवाँया है" तो समझना तुम्हारे में काफी समझ है क्योंकि एक किरण भी शेष है तो सूई को खोजा जा सकता है, एक बीज भी शेष है तो पूरा उपवन निर्मित किया जा सकता है। तुमने अपने जीवन को पहचान लिया है, तुम्हारे जीवन की साँसो में एक साँस ऐसी भी है जो इस बात की गवाही दे रही है कि तुम्हारे अन्दर भी परमात्मा से मिलने की अभिलाषा है। इसलिये तुम्हें अभी देर नहीं हुई है, क्योंकि एक दिया भी शेष है तो समस्त चिरागों को रोशन किया जा सकता है। उस एक दीपक के प्रकाश में अब अपने परमात्मा को पहचानने की कोशिश करो। जीवन ज्योति का कभी भी नाश नहीं होता। आत्मा अविनश्वर है, उसका कभी भी नाश नहीं होता। अब बुद्ध कहते हैं उस व्यक्ति से - बोलो क्या चाहते हो? वह व्यक्ति कहता है - मुझे कुछ नहीं चाहिये। मुझे सब कुछ मिल गया है। वस्तुतः सम्यक् आचरण एक मार्ग है जो सिद्धालय में जाकर ही समाप्त होता है। सम्यक् आचरण के उपरान्त भौतिक सम्पदा की माँग कभी मत करना। केवल स्वयं को खोजना, स्वयं को जानने का सतत प्रयास करना। जब तक स्वयं परमात्मा न बन जाओ, तब तक प्रयास करते रहना, जिसे भगवान महावीर ने खोजा है, राम ने खोजा है और पाया है, उसे जरा भी खोजोगे तो तुम्हारा जीवन पावन हो जायेगा।

धर्म की शुरुआत आत्मा की आलोचना से होती है। आत्म विश्लेषण करना आवश्यक है। जो अपनी आत्मा की आलोचना करना प्रारम्भ कर देता है, आत्मा पर पैनी दृष्टि रखना शुरु कर देता है, वह संसार से मुक्त होने लगता है। जो दूसरों की आलोचना करता है, निन्दा करता है, उसमे कमियाँ देखता है, वह अपने संसार भ्रमण को बढ़ाता है। धर्मात्मा होने का अर्थ ही इतना है कि जो आत्मान्वेषण करने को तैयार है या आत्मा का अन्वेषण कर रहा है वह व्यक्ति धर्मात्मा है।

एक भिखारी सुबह-सुबह अपने व्यापार हेतु एक वैज्ञानिक के दरवाजे को खटखटा रहा था। काफी ख्यातिप्राप्त वैज्ञानिक था वह। उसने सोचा आज कोई मेरा मित्र आया है तो दौड़कर दरवाजा खोलने चला आता है और दरवाजा खोल देता है। बाहर देखता है, तो सामने एक भिखारी भिक्षा पात्र लेकर खड़ा हुआ है देखते ही क्रोध आ जाता हे और आवेश में आकर कहता है कि - तुम कुछ समझते भी हो या नहीं? अभी सुबह के छह बजे हैं-सुबह से ही दरवाजे पर आ गए हो, ये भी कोई भीख माँगने का समय है। कम से कम समय देखकर भीख माँगा करो। भिखारी यह सुन कहता है - "याद रखो, आपकी प्रयोगशाला में मैं जाकर कभी भी ऐसा नहीं कहता कि ऐसा प्रयोग करो, इतने समय करो। जब मैं आपके दैनिक कार्यों मे बाधक नहीं बनता तब आप मेरे व्यापार में हस्तक्षेप कर सलाह देने वाले कौन होते हो?"

विचित्र भिखारी था वह। कह रहा था कि मेरे धन्धे में मुझे सलाह देने वाले कौन हो तुम? मैं भिखारी हूँ जब चाहूँगा तब आऊँगा, तब तुम्हें देना पड़ेगा। नहीं देना है तो मना कर दो, लेकिन मेरे व्यापार में तुम्हें सलाह देने का अधिकार नहीं हैं। उस वैज्ञानिक ने उसी क्षण

भिखारी के चरणस्पर्श कर लिए। वैज्ञानिक आश्चर्यचकित हो कहता है – इतना अद्भुत भिखारी मैंने जीवन में प्रथम बार देखा है, जो कहता है कि, मेरे धन्धे में तुम्हें हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है।

मेरा भी कहने का यही अर्थ है कि धर्मात्मा पुरुष दूसरों के जीवन में कभी भी हस्तक्षेप नहीं करता है। जो धर्मात्मा बनकर दूसरों के जीवन में हस्तक्षेप करता है, उसने मात्र ऊपर से धर्म का चोला पहन रखा है। उसके भीतर धर्म नाम की कोई भी चीज नहीं है। उसने धर्म के मर्म को सही ढ़ंग से पहचाना ही नहीं है।

कौन किसको कब शिक्षा दे दे, पता नहीं। भिखारी ने वैज्ञानिक को शिक्षा दी तथा वैज्ञानिक ने भी ग्रहण कर ली। यदि थोड़ा भी धर्म का अवतरण आत्मा में हो जाए तो धर्मात्मा पुरुष संसार की प्रत्येक वस्तु से शिक्षा ग्रहण कर लेता है। धर्म का थोड़ा सा भी स्पर्श सम्पूर्ण जीवन को परिवर्तित कर देता है।

इस प्रकार धर्म का अर्थ हुआ सम्पूर्ण जीवन का रूपान्तरण, समग्र जीवन का परिवर्तन। जैसे-आकाश में सूर्य उदित होता है, भूमितल पर अन्धकार में जन्म लेने वाली ओस किरण की विदाई शीघ्र ही हो जाती है। समग्र ओस वाष्प बन कर उड़ जाती है क्योंकि ओस की बूँदे सूर्य के आतप को सहन करने में अपने आपको असमर्थ पाती है। वर्षा का पानी भूमि पर जैसे ही गिरता है, वैसे ही मिट्टी हरी घास में बदल जाती है। इसी प्रकार जिस किसी के जीवन में धर्म की किरण अवतरित होती है, उसके समग्र जीवन से अनाचार, दुराचार, अत्याचार भाग जाते है और उसके स्थान पर एक शुद्धआत्मा का विकास होना आरम्भ हो जाता है। विषय-वासना को वहाँ पर रुकने को स्थान नहीं मिलता। सूर्य के उगने पर ओस स्थिर नहीं रहती तब धर्म के अवतरित होने पर विषय-वासना भी कैसे रहेगी?

जो अपने को धर्मात्मा मानते है, साधु समझते है तथा विषय भोगों में आपाद-कण्ठ डूबे हैं वे संसार के सबसे ज्यादा खतरनाक लोग है। साधु और विषय भोग कभी भी साथ नहीं रह सकते हैं। जो अपने आप को धर्मात्मा मानते है, उन पर जरा सा पानी का छींटा डाल दो तब आपको पता चल जायेगा कि वे धर्मात्मा है या अधर्मात्मा। जिसके अन्दर जरा भी सहन करने की क्षमता नहीं आई है भोगों से मुक्त नहीं हुए है, उन्हें मैं धर्मात्मा कैसे कहूँ? भगवान महावीर ने वास्तव में धर्मात्मा उसे ही कहा है जो नग्न दिगम्बर रहते है तथा बाईस परीषह बुद्धिपूर्वक निर्मल भावों से सहते हैं बाहरी संकटों को सहज ही अपने स्वोपार्जित कर्म समझकर स्वीकार कर लेते हैं। निन्दा और स्तुति में सदैव ही समता को धारण करते हैं, वे ही धर्मात्मा व्यक्ति हैं।

सच्चे धर्म की सर्वप्रथम शिक्षा यही है कि जो भी संकट आये, उसे वह स्वयं का पूर्वोपार्जित कर्म कहकर स्वीकार करके अपने आत्मा की आलोचना करे। एक दिन अपने चौबीस घण्टों के कार्यों का विश्लेषण कर डायरी में लिखे तथा लिखने के उपरान्त उस डायरी को ध्यान से पढ़े और विश्लेषण करें कि आपने कौन-कौन से और कैसे-कैसे परिणामों को जन्म दिया

है। कितनों का अहित किया है, एवं न जाने कितनों के बारे में बुरा सोचा है तथा हिंसा की है। तब आप पायेंगे कि उनमें आत्मा का हित करने वाले परिणाम तो एक भी नहीं हैं। आत्मा के बारे में आपने एक मिनट नहीं सोचा। दूसरों का ही भला-बुरा करते रहें जब तक आप पर के बारे में सोचते रहेगें, तब तक समझना कि हमने अभी धर्म को समझा ही नहीं है। डायरी लिखने की एवं आत्मविश्लेषण की यह प्रक्रिया आपके जीवन को परिष्कृत कर देगी एवं निर्मल बना देगी।

''जीओ और जीने दो'' भगवान महावीर की यह दिव्य घोषणा है कि जो स्वयं में जी लेगा वह अन्य को जिला सकेगा। जो स्वयं में नहीं जी सकेगा, वह दूसरों को भी नहीं जिला सकेगा। धार्मिकता से परिपूर्ण आचरण जीवन का ऐसा आयाम है जो आपके समग्र जीवन को परिष्कृत एवं व्यवस्थित बना देता है। अनेक से हटाकर एक में केन्द्रित कर देता है। जो स्वयं चल सकेगा, वह दूसरों को भी चला सकेगा। जो स्वयं चलने में समर्थ नहीं है तथा अन्य को चलाने का यत्न करते है, तब वे स्वयं तो गिरेगें ही वरन् अन्यों को भी गिराएगें। स्वावलम्बन एंव कर्त्तव्य के प्रति समर्पण भाव दूसरों के लिए स्वतः ही प्रेरणा स्रोत एवं लाभकारी हो जाते हैं। सूर्य पृथ्वी की परिक्रमा लगाता है तो दिवस का आलोक स्वयमेव फैल जाता है। सूर्य आपको प्रकाशित करने धरा का चक्कर नहीं लगाता बल्कि पृथ्वी की परिक्रमा करना उसकी नैसर्गिक क्रिया है। फूल कभी भी आपको सुरभित करने के लिए नहीं खिलता है। फूल के खिलने से स्वतः ही वातावरण सुरभित हो जाता है। आचरण रुपी फूल भी जिसमें विकसित होगा, वह अपने आप महक जायेगा। दूसरे भी उसकी सुरभि से लाभान्वित हुए बिना न रहेगें।

धर्म का अर्थ है स्वयं को देखना। सम्यक्आचरण करने वाला स्वयं की प्रवृत्तियों को देखना प्रारम्भ कर देता है। जीवन में क्या-क्या उपादेय है, उन्हें ग्रहण करता है तथा हेय को त्याग कर उसे छोड़ता है। ऐसे व्यक्ति के जीवन मे शान्ति का संचार अनायास ही हो जाता है।

एक व्यक्ति ने प्रश्न किया कि स्वाध्याय एवं चिन्तन के समय मन एकाग्र नहीं होता, कुछ उपाय सुझाएँ। मैंने उससे कहा - ''जिन कारणों से मन में अशान्ति उत्पन्न होती है, उसका त्याग कर दो। मन मे परिग्रह को ग्रहण करने का, ग्रहण लगा लिया है, इसीलिये परिग्रह का विमोचन कर दो तो मन शान्त हो जायेगा। मन चाहता है विराट को परम पावन को और हम लगाते है उसे क्षुद्र बातों में। एक बार अन्तरग भावो से परिग्रह का त्याग कर दो, फिर देखो तुम्हारा मन कैसे नहीं रुकता''। एक व्यक्ति कहता है कि जंगल से गुजरने मे मुझे ड़र लगता है कि कोई मेरा सम्पत्ति न लूट लें। डर जगल के कारण से नहीं, डर है सम्पत्ति के कारण, परिग्रह के कारण। साधु-सन्तो को कभी भी डर नहीं लगता, क्योंकि उन्होंने अशान्ति के समस्त कारणों का पूर्णतया त्याग कर दिया है।

मानव पर्याय की पर्याप्ति अत्यन्त दुर्लभ है, इसका उपयोग शरीर पोषण में अथवा संसार के निर्माण में न करके भव बन्धनों से मुक्ति प्राप्त करने हेतु होना चाहिए। जब तक शरीर को

साध्य समझा जाता रहेगा, तब तक अन्तात्मा में आना असम्भव है लेकिन जब यही शरीर साधन बन जाता है तो अन्तात्मा मे प्रवेश के द्वार सहज ही खुल जाते हैं। शरीर को पुष्टि करने की भावना, वासना एव विकार को जन्म देती है, जो सदैव बाहर की ओर भटकती है, आत्मा के गुणो का नाश करती है। वासनाओं को जन्म देना अपनी आत्मा का घात करना है, ये मुक्ति का नहीं बल्कि ससार का मार्ग प्रशस्त करती है। जिनागम का कथन है कि त्रिरत्न-सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यग्चारित्र की प्राप्ति बिना जन्म-मरण से मुक्ति पाना असभव है। इसमें भी सम्यग्चारित्र का अपना महत्व है, इसके बिना आत्मा का अनुभव कदापि सम्भव नही।

जब हम सन्तो के पास जाते है तब हमारा एक ही लक्ष्य होना चाहिए कि उनके सद्गुणो का ग्रहण करे, तथा अवगुणो का त्याग करे। सदाचारण का पालन करना, मानव की नियति है। जो भव्य जीव जितनी गहराई से मानव जीवन का अध्ययन करता है और उसमे उतना ही गहरा उतरता जाता है उसका आचरण परिष्कृत होने लगता है।

मानव मे ही मुक्त हो पाने की शक्ति छिपी है। उसको खोजना आपका काम है। कोई भगवान आकर आपके भगवान को नही निकालेगा। हर आत्मा मे भगवान बनने की शक्ति छिपी है। भगवान महावीर ने उस शक्ति को अपनी सतत साधना से पाया है। आप भी स्वय की सत् साधना से उसे प्राप्त कर सकते है। उस शक्ति को जाग्रत करने का पूर्ण अधिकार आपके हाथो मे है। भगवान महावीर ने खोजा तो उन्होने इसे पाया, राम ने खोजा तो राम ने इसे पाया, आप भी खोजेंगे तो आप भी पायेगे। जो चला है वही तो मंजिल तक पहुँचा है। चर्या स्वय मे होती है, स्वय को ही अपनानी होगी। आप कभी भी अपनाये किन्तु अपनाना तो स्वय को ही होगा। मुक्ति का वरण भगवान् महावीर द्वारा बताई हुई साधनापद्धति से ही सम्भव है। यद्यपि इस काल मे मुक्ति की प्राप्ति तो सम्भव नही किन्तु महावीर की साधनापद्धति का अनुसरण कर आत्मा में मुक्ति के सस्कार तो डाले ही जा सकते है, जो कि हमारी चिर स्थायी निधि होगी। आगे चल कर यही सस्कार हमे सम्यक्आचरण तक ले जायेगे और सम्यक्आचरण जब होगा तो चारघातिया कर्मो का नाश होकर केवलज्ञान की उत्पत्ति भी होगी जैसा कि आचार्य उमास्वामी कहते है कि -

मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्॥१॥

(तत्वार्थसूत्र- अ०- 10)

(मोह का क्षय होने से और ज्ञानावरण, दर्शनावरण, तथा अन्तराय इन तीनों कर्मों का एक साथ क्षय होने से केवलज्ञान उत्पन्न होता है।)

दूसरे शब्दो में केवलज्ञान आत्मस्वरुप से उत्पन्न होता है, सो वह स्वतन्त्र तथा क्रम-रहित होता है। यह केवलज्ञान जब प्रगट हो तब ज्ञानावरण कर्म का सदा के लिए क्षय हो जाता है, इसलिय इस ज्ञान को क्षायिकज्ञान कहते है। जब केवलज्ञान प्रगट होता है, उसी समय

केवलदर्शन और सम्पूर्ण वीर्य भी प्रकट होता है, और दर्शनावरण तथा अन्तरायकर्म का सर्वथा अभाव या नाश हो जाता है।

केवलज्ञान होने पर भावमोक्ष हुआ कहलाता है। इसे ही अरहंत अवस्था कहते है और आयु, गोत्र आदि कर्मो की स्थिति पूरी होने पर चार अघातिया कर्मो का अभाव होकर द्रव्यमोक्ष होता है, यही सिद्धदशा कहलाती है। इस प्रकार मोक्ष केवलज्ञानपूर्वक ही होता है।

आगे आचार्य उमास्वामी कहते है कि, इस मोक्ष का कारण जान कर उसे अगीकार करना चाहिये। आचार्य कहते है कि -

बंधहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः॥२॥

(तत्त्वार्थसूत्र- अ0-10)

बन्ध के कारणों का अभाव तथा निर्जरा के द्वारा समस्त कर्मों का अत्यन्त नाश हो जाना सो मोक्ष है बन्ध के कारण मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग है। इनको क्रमपूर्वक हटाना होगा। मुक्तियत्न साध्य है। जीवन अपने यत्न स पुरुषार्थ से प्रथम मिथ्यात्व का दूर करके सम्यग्दर्शन प्रकट करता है और फिर विशेष पुरुषार्थ से क्रम-क्रम से विकार को दूर करके मुक्त हो जाता है।

मोक्ष का प्रथम कारण सम्यग्दर्शन है और वह पुरुषार्थ से ही प्रगट होता है। यही बात आचार्य अमृतचन्द्र सूरि ने समयसार के कलश 34 में भी कही है -

हे भव्य! तुझे व्यर्थ ही कोलाहल करने से क्या लाभ? इस कोलाहल से तू विरक्त हो और एक चैतन्यमात्र वस्तु मे स्वय निश्चल होकर देख, इस प्रकार छह महीना अभ्यास कर और देख कि ऐसा करने से अपने हृदय सरोवर मे आत्मा की प्राप्ति होती है या नही? अर्थात् ऐसा करने से अवश्य आत्मा की प्राप्ति होती है।

मुक्त जीवों में व्यवहार नय की अपेक्षा भेद- मुक्त जीवो मेनिश्चय नय से कोई भेद नही होता, किन्तु व्यवहार नय से भेद होते है। जैसा कि आचार्य उमास्वामी कहते है कि-

क्षेत्र-काल-गति-लिंग-तीर्थ-चारित्रप्रत्येकबुद्धबोधित-ज्ञानावगाहनान्तर-संख्याल्पबहुत्वतः साध्याः॥९॥ (तत्वार्थसूत्र, अ०-१०)

क्षेत्र, काल, गति, लिंग, तीर्थ, चारित्र, प्रत्येक बुद्धबोधित ज्ञान, अवगाहना, अन्तर, संख्या और अल्पबहुत्व - इन बारह अनुयोगों से मुक्त जीवों में भी भेद सिद्ध किये जा सकते है अर्थात् ये सब व्यवहार से भेद किये जा सकते है। जैसे-तीर्थ के सन्दर्भ में कोई जीव तीर्थंकर होकर मोक्ष प्राप्त करते हैं और कोई सामान्य केवली होकर मोक्ष पाते है। सामान्य केवली में भी कोई तो तीर्थंकर की मौजूदगी में मोक्ष प्राप्त करते है और कोई तीर्थंकर के बाद उनके तीर्थ में मोक्ष प्राप्त करते है। इस प्रकार से व्यवहार से भेद अन्य अनुयोगों में भी पाये जाते है।

सत्यत: जीव अनादिकाल से भव-भ्रमण करता रहा है। इसने अपना सबसे अधिक काल निगोद मे बिताया है, तथा सबसे कम काल मुनष्य पर्याय मे व्यतीत किया है। जीवन के अन्दर मुक्त होने की शक्ति स्वभाव से विद्यमान होती है, किन्तु यह शक्ति पूर्णरुपेण मनुष्यपर्याय में ही प्रकट हो सकती है। अत: मनुष्य पर्याय प्राप्त करना प्रथम तो सबसे दुर्लभ होती है, फिर यदि प्राप्त भी हो जाए तो उच्चकुल, जैन धर्म की प्राप्ति अर्थात् सच्चे देव, शास्त्र, गुरु का संयोग मिलना बहुत ही कठिन है। ऐसे संयोग मिलने पर ही मानव पुरुषार्थपूर्वक संयम धारण करता हुआ आचरण के द्वारा अपने को परिष्कृत करता हुआ मोक्षमार्ग पर चलकर अपने को कर्मों से मुक्त कर सकता है। मनुष्य पर्याय का समय बहुत ही थोड़ा प्राप्त होता है, इसको जो जीव भोग-विलास, इन्द्रियों के विषय में तथा राग-द्वेष मे गँवा देता है, वे बड़े ही दुर्भाग्यशाली और महामूढ़ होते है, क्योंकि यह पर्याय, मनुष्य पर्याय वास्तव में स्वकल्याण करने के लिए प्राप्त होती है। प्रथम कर्तव्य मनुष्य का यही होना चाहिये कि वह आत्मा को प्राप्त करने का पुरुषार्थ करे।

हमे अनादिकाल की मोहनिद्रा से जागना होगा और मोह को जड़ से काटना होगा। जड़ से काटने का पुरुषार्थ करना होगा, कुछ भी भाग्य पर छोड़ना मूर्खता है, अमूल्य जीवन को बरबाद करना है। प्रतिकूलताओ और अनुकूलताओ को समान दृष्टि से देखना होगा तभी हम शान्त भाव से अपने आत्मतत्व की खोज कर सकते है और उसको प्राप्त कर उसमे समा सकते है इस प्रकार इस लक्ष्यपूर्ति के लिए, हमें अपने जीवन मे सच्चे देव, शास्त्र और गुरु पर श्रद्धान करके आगे बढ़ना चाहिये। षट् आवश्यकों का पालन करना चाहिये, फिर सम्यक्आचरण का पालन करना चाहिये जीवन में जो भी अमूल्य अवसर मिले उसका उपयोग जन्म-मरण से मुक्ति पाने मे करना चाहिये। वर्तमान पर्याय ही हमे मुक्ति दिला सकती है।

वित्तरागी नहीं, वीतरागी बनो

इस संसार में अनादि काल में मनुष्य दो ही प्रकार के कार्य करता आ रहा है। एक तो संसार को बढ़ाने वाले कार्य, जैसे-पंचेन्द्रिय विषयों में लिप्त होना, इन विषयों की आपूर्ति के साधन जुटाना, राग-द्वेष करना आदि। दूसरे संसार को घटाने वाले कार्य अर्थात् जिन कार्यों के द्वारा अनादि ससार का अन्त हो जाये, जैसे-तप, संयम, त्याग करना आदि। संसार-शरीर भोगों से विरक्त हो कुछ मनुष्य अपनी आत्मा की खोज में व्यस्त रहते हैं। उन्हें ही साधु, सन्त या त्यागी के कार्य कहते हैं।

प्रात: से संध्या और संध्या से प्रात: मनुष्य सुखों की चाह में वस्तुओं का परिग्रह अपने चारो ओर एकत्रित करने में जुटा रहता है। इन पर वस्तुओं में अपने सुखों की तलाश करता है तथा इन्ही में लिप्त रहता है, किन्तु कुछ ही समय बाद वे फीके नजर आने लगते है, क्योंकि वहाँ सुख होता ही नही। धन की चाह में आज सारी दुनिया अँधी हो, बेतहाशा भाग रही है। कुछ को सफलता मिलती है तो कुछ को निराशा। हित-अहित का सब विवेक इनका नष्ट हो चुका है। ऐसे भौतिकवादियो की दृष्टि में अपने स्वार्थ के अलावा किसी भी वस्तु का मोल नहीं होता। ये तो येन-केन-प्रकारेण अपने धन के लक्ष्य को प्राप्त करना चाहते हैं। सभी इस प्रकार के भौतिकवादी मनुष्य इस तथ्य से अनभिज्ञ रहते हैं कि यह वित्तराग अर्थात् धन के प्रति आसक्ति उनके लिए शहद लिपटी तलवार से कम नहीं सिद्ध होगी। बड़े-बड़े मिल मालिक, बड़े-बड़े उद्योगपति धन के राग के कारण ही अपना सम्पूर्ण जीवन इसे प्राप्त करने की उधेड़बुन मे निकाल देते है। किन्तु जब कभी इन्हीं भौतिकवादियों की मुठभेड़ ऐसे व्यक्तियो के साथ हो जाती है, जो इनकी समस्त उपार्जित सम्पदा को तृण के समान समझते हुए अपने आत्मतत्त्व को ही तीनो लोको की समस्त सम्पदा से भी अधिक समझते है, और स्वय सुखी रहते हुए अपने इस सच्चे सुख की सुगन्धि से औरो को भी महकाते है, तब इन भौतिकवादियो को अहसास होने लगता है कि हमारी जीवन में कही न कहीं भूल अवश्य है, इसीलिये हमे इतनी धन-सम्पदा प्राप्त होते हुए भी आकुलता-व्याकुलता बनी हुई है। धन का रागी सदैव दु:ख उठाता है और धन का त्यागी सदैव सुखी रहता है, यह बात कुछ-कुछ इनको समझ में आने लगती है।

धन की पूर्ति की चाह की कोई सीमा नहीं होती है। इसीलिए किसी प्रसिद्ध कवि ने कहा है कि-

जो दस, बीस, पचास भये सत्।
होत हजार तो लाख चहेगी॥
कोटी अरब, खरब, असंख्य।
पृथ्वीपती होने की चाह जगेगी॥
स्वर्ग, पाताल का राज्य करो।
तृष्णा जग की आग लगेगी॥
सुन्दर एक संतोष बिना।
तेरी तो भूख कभी न मिटेगी॥

इस प्रकार धन की तृष्णा तो आग में घी के समान है इसको बुझाने के लिए तो केवल परम आत्म संतोष को धारण करना होगा, तभी चिर-स्थायी सुख की प्राप्ति हो सकती है।

वित्तरागी कौन - जो अनादि काल से मोह से आच्छादित है, पर वस्तुओं मे ममत्व बुद्धि रखते हैं, स्व-पर भेद विज्ञान से रहित है, वे ही जीव धन-सम्पदा मे अति आसक्ति रखते है। इनका वित्त अर्थात् धन के प्रति राग इतना तीव्र होता है कि ये न केवल स्वयं के लिए, अपितु दूसरों के लिए भी अनेको प्रकार की बाधाएँ खड़ी करने मे नहीं हिचकते। ऐसा राग अन्तत: इनको बड़ा ही दु:ख दाई सिद्ध होता है।

वास्तव मे वित्त तो एक दुर्गन्ध है, जबकि वीतरागता एक सुगन्ध है , वित्त अर्थात् धन तो अनेक बार इस मनुष्य ने अपने पूर्व जन्मो में प्राप्त किया है, किन्तु वीतराग भाव एक बार भी इसने नहीं प्राप्त किया है। इसी कारण आज तक इसका दु:ख नहीं मिटा। यदि धन-सम्पदा मे सुख होता तो आज इस मानव की ऐसी शोचनीय स्थिति क्यो होती? इन्हे तो दुर्गन्ध मे रहते-रहते दुर्गन्ध ही अच्छी लगने लगती है, सुगन्ध से, वीतरागता से तो इनका स्वास्थ्य ही खराब होने लगता है। बहुत ही हीन प्रकृति का स्वभाव इस प्रकार के मनुष्यों का हो जाता है। यह बात निम्न दृष्टान्त से भी स्पष्ट हो जाती है -

मालिन और मछुआरिन

किसी नगर मे एक मालिन की और एक मछुआरिन दो कन्याएँ रहती थी। दोनों की आपस मे घनिष्ठ मित्रता थी। दोनों कन्याएँ जब युवा हो गयीं तो इनका विवाह इनके घरो के अनुसार कर दिया गया। मछेरन की कन्या का विवाह मछली पकड़ने वाले एक मछेरे के साथ कर दिया गया, तथा मालिन की कन्या का विवाह एक माली के साथ कर दिया गया। अब कुछ समय के बाद, मछुआरिन की लड़की को अपनी सहेली मालिन की याद आती है, वह उससे मिलने एक दिन उसके घर पहुँच जाती है। अपने साथ मे यह मछुआरिन मछलियां, टोकरा तथा मछलियाँ पकड़ने का जाल भी ले जाती है। यह सब सामान मालिन के घर में प्रवेश करने से पहले मछुआरिन वही कही बाहर रख देती है।

मालिन की लड़की जब अपने घर अपनी घनिष्ट मित्र को आया हुआ देखती है तो बहुत प्रसन्न होती है। विचार करने लगती है कि मै अपनी सहेली के लिए फूलों की शैय्या बनाऊगीं, गुलाब, केतकी, बेला, चमेली आदि के सुगन्धित फूलों से उसे सजाऊँगी, और इस प्रकार इसकी सेवा-सम्मान करके वह अपनी सहेली से कहती है कि - "बहिन तुम तो यहाँ आराम करो, मै तुम्हारे लिए भोजन तैयार करके लाती हूँ मछुआरिन की लड़की फूलों की शैय्या पर आराम करने लगती है, किन्तु कुछ समय बाद ही, उसके सिर मे भयकर पीड़ा होने लगती है। चिल्लाने लगती है - "बहिन जल्दी आओ, मेरा सिर फटा जा रहा है, कुछ करो"। मालिन की लड़की यह सुन दौड़ी आती है, कहती है - "बहिन घबराओ मत, मैं अभी वैद्य को बुलाती हूँ, यही पड़ौस मे रहता है"। किन्तु महुआरिन की लड़की वैद्य का नाम सुनते ही कहती है - "मेरा

वैद्य के पास कोई इलाज नहीं है, तुम मेरा मछली का टोकरा और जाल बाहर रखा है, वह लाकर दे दो। मुझे तुम्हारे फूलो की सुगन्ध नहीं भा रही है।''

मालिन की लडकी मछली का टोकरा, जाल आदि बाहर से लाकर उसे दे देती है। यह प्राप्त होते ही मछुआरिन का सिर का दर्द भाग जाता है, भंयकर पीड़ा खत्म हो जाती है। यह देख सहेली को बड़ा आश्चर्य होता है।

जिसको दुर्गन्ध मे रहने की आदत पड़ जाती है वह सुगन्ध में रहना पसन्द नही करता है। ठीक इसी प्रकार ससारी प्राणियो की स्थिति है जो वित्त की दुर्गन्ध मे रहने के आदि हो गए है, उन्हे इस दुर्गन्ध के अतिरिक्त कुछ भाता ही नही। इन्हे अध्यात्म की बात, आत्म तत्व की बात, वीतरागता की सुगन्ध अच्छी ही नही लगती।

धन का अनुरागी सदा दु:खी रहता है चाहे उसके पास धन हो या नहीं। यह तो राग का स्वभाव है कि जो मुझे चाहेगा उसी का चैन-सुख-शान्ति का हरण मै करुँगा। जो जितना परिग्रह एकत्रित करता है उसे इसीलिये नरक जाना पड़ता है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए आचार्य उमास्वामी कहते है कि -

बह्वारम्भपरीग्रहत्वं नरकस्यायुष:॥१५॥

(तत्वार्थ सूत्र- अ. 6)

अर्थात् बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह होना सो नरकायु के आस्रव का कारण है।

दूसरे शब्दो मे जो परिग्रह एकत्रित करेगा, तो उसे आरम्भ करना ही पड़ेगा। आरम्भ करना हिसा करना है, क्योकि आरम्भ मे स्थावर व त्रस जीवो का नियम से घात होता है। दूसरी ओर जो परवस्तु को अपना मानता है कि मै इसका स्वामी हूँ, यह अभिमान करता हुआ कषायों का पोषण करता है। इस प्रकार धन-दौलत का रागी अपना समय व्यतीत करता हुआ अन्त मे नरक को चला जाता है।

आचार्य उमास्वामी कहते है कि जो मनुष्य अपने पर वस्तु मे राग के परिणाम को घटाता है और बहुत कम आरम्भ करता है, वह मनुष्य पर्याय को प्राप्त कर अपने मुक्ति के मार्ग को प्रशस्त कर सकता है। आचार्य कहते है कि -

अल्पारम्भपरिग्रहत्वं मानुषस्य॥१७॥

(तत्वार्थ सूत्र- अ 6)

थोड़ा आरम्भ और थोड़ा परिग्रह मनुष्य आयु के आस्रव का कारण है। दूसरे शब्दो मे जिसकी परपदार्थो मेंआसक्ति घट गयी है, जो अल्प आरम्भ करता है, वह दु:खो से बच जाता है, नरको की वेदना को नही झेलता। इसलिये धन-दौलत का तीव्र राग मनुष्य को दु:खो के अतिरिक्त और कुछ नही दे सकता। धन को एकत्रित करने से दूसरो के हितों का हनन होता है दूसरों की आवश्यकताओ की पूर्ति में बाधा पड़ती है। समाज में वित्त व्यवस्था चरमरा जाती

है, सामाजिक सन्तुलन बिगड़ जाता है। इसीलिये किसी ने कहा है कि-

भूमंडल के रोम-रोम में हो, समानता का व्यवहार।
ऐसी सुखद रचना में, पनपेगा मानव संसार॥
हर विरोध से लोहा लेगें, रक्षित रहे आत्मसम्मान।
पथ में जो संकट आएंगें, उनको समझेगें वरदान॥

इहलोक और परलोक दोनों की अपेक्षा से धन-सम्पत्ति का संग्रह करना, मानव के हित में नहीं है। सभी धन सम्पत्ति, ऐश्वर्य आदि तो पूर्वोपार्जित पुण्यकर्मों के कारण प्राप्त होती है। इन भौतिक पदार्थों में राग करना, इनमें आसक्ति करना, अपने भविष्य को नष्ट करना है। साधारण मानव की धन-दौलत की तो बात ही क्या, बड़े-बड़े चक्रवर्तियों की सम्पदा भी समय के साथ नष्ट हो जाती है। जिन-जिन चक्रवर्तियों ने अपने ऐश्वर्य से, अपने धन-दौलत से राग किया है, वे सब नरक को प्राप्त हो गए है। सुभौम और ब्रह्मदत्त जैसे चक्रवर्ती आज धन-सम्पदा में राग करने के कारण नरकों में दु:खों को भोग रहे हैं। जबकि आठ चक्रवर्ती अपने ऐश्वर्य से, सम्पत्ति से निर्लिप्त रहे उन्हें परपदार्थों से कोई राग नहीं था, वे सब मोक्ष को प्राप्त हुए। इस प्रकार धन-दौलत सब क्षणिक है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए पं. मंगतराम जी बारहभावना के शुरु में ही कहते हैं -

कहाँ गए चक्री जिन जीता, भरतखंड सारा।
कहाँ गए वह राम-अरु-लक्ष्मण, जिन रावण मारा॥
कहाँ कृष्ण रुक्मिणि सतभामा, अरु संपत्ति सगरी।
कहाँ गए वह रंगमहल अरु, सुवरन की नगरी॥
नहीं रहे वह लोभी कौरव, जूझ मरे रन में।
गए राज, तज पांडव वन को, अग्नि लगी तन में॥
मोह-नींद से उठ रे चेतन, तुझे जगावन को।
हो उपदेश करे गुरु नित ही, बारह भावन को॥

षट्खण्ड के अधिपति चक्रवर्ती राजाओ का, राम, लक्ष्मण, रावण जैसे प्रतापी राजाओं का सब राज्य आज विनिष्ट हो चुका है। कृष्ण, सतभाभा, कौरवों आदि की सम्पूर्ण सम्पत्ति एव भोग सामग्री सब काल के ग्रास बन गए है। ये सब लौकिक सम्पदाएं क्षणभंगुर है, अत: इनसे राग करने का, इनमें लिप्त होने का कोई औचित्य नही है। इन सम्पदाओं के साथ-साथ एक दिन इन सुख-सुविधाओं का भोग करने वाला भोगी, रागी भी काल का ग्रास बन जाता है। इसीलिये कवि भूधरदास जी कहते है -

राजा राणा छत्रपति, हाथिन के असवार।
मरना सबको एक दिन, अपनी-अपनी बार॥
दल-बल देवी देवता, मात पिता परिवार।
मरती बिरिया जीव को कोई न राखन हार॥
मोह-नींद के जोर, जगवासी घूमें सदा।
कर्म चोर चहुँ ओर, सर्वस्व लूटें सुध नहीं॥

यदि मनुष्य को यह ज्ञान हो जाए कि पर वस्तुओं में मेरा सुख नहीं हैं, मेरी सुख तो मेरे आत्मा मे ही है तो अनादिकाल से इस जीव की मोहरुपी निद्रा टूट जाये, और फिर इसे अपने सम्यक् सुख का रसास्वादन आने लगता है। परवस्तुओ में राग का कारण तो अज्ञानता ही है और इस प्रकार जहाँ राग होगा तो वहाँ द्वेष भी अवश्य पाया जाता है। इस बात को और स्पष्ट करते-हुए किसी कवि ने कहा है -

अक्षय है, शाश्वत है, आत्मा निर्मल ज्ञान स्वभावी है।
जो कुछ बाहर है सब पर है, कर्माधीन विनाशी है। ।

जो अपनी दृष्टि रखता है, बाह्य पर-पदार्थों में राग करता है वह सदा दुःखी रहता है। यह बात निम्न दृष्टान्त से भी स्पष्ट हो जाती है -

भाव का परिणाम

एक समय की बात है कि किसी नगर का राजा अपने मंत्री के साथ कहीं बाहर जंगलों में घूमने के लिए जाता है। वहाँ राजा को प्यास लगती है, अपने मंत्री से वह राजा कहता है कि, मुझे प्यास लगी है, कहीं से भी पानी की खोज कर लाओ। पानी जंगल में कहीं नहीं मिलता है। मंत्री आकर राजा से कहता है कि - राजन् पानी तो कहीं नहीं मिला। एक अनार का बाग तो अवश्य मिला है, जिसमें एक बुढ़िया माँ बैठी है। वह अनार का रस आपका पिला सकती है। यदि आप आज्ञा दें तो मैं उससे बात करुँ। राजा कहते है - "ठीक है उससे बात करके देख लो।" मंत्री बुढ़िया मां के पास जाता है, कहता है कि "बुढ़िया माँ राजा को प्यास लगी है, थोड़ा पानी मिलेगा क्या?" वह कहती है - बेटा! मेरे पास पानी तो नहीं हैं किन्तु अनार का रस मैं तुम्हें दे सकती हूँ। वह बुढ़िया माँ दो अनार तौड़ती है और उनका एक लोटा भर कर रस निकाल लेती है। मंत्री राजा को लाकर एक लोटा अनार का रस पिला देता है। राजा प्रसन्न हो जाते है। जंगल घूम कर राजा और उसके मंत्री वापिस अपने महल आ जाते है।

दरबार में पहुंच कर राजा आदेश देते है कि, जिस अनार के बाग का मैंने रस पिया था,

उस पर कर (टैक्स) लगा दिया जाए।। अनार के बाग पर टैक्स लग जाता है। अब जब एक वर्ष पूर्ण हो गया, तो, राजा और उसके मंत्री पुनः जंगल को भ्रमण करने के लिए निकलते हैं। वे फिर उस बाग के पास पहुँचते हैं, और उस बूढ़ी माँ से मंत्री कहते हैं - "रे बूढ़ी माँ। प्यास लगी है, अनार का रस निकाल कर हमारे राजा को शीघ्र पिलाओ।" यह सुन बूढ़ी माँ उठती है, और आठ-दस अनार तौड़ती है और उसका एक गिलास रस निकाल कर दे देती है। यह देख मंत्री कहता है - हे बूढ़ी माँ। उस दिन तो तुमने दो अनारों का जूस निकाला था, और उसी से लोटा भर गया था, किन्तु आज तुमने आठ-दस अनार में से एक गिलास रस निकाला। क्या बात है? यह सुन बुढ़िया माँ कहने लगती है "बेटा राजा ने बाग पर कर (टैक्स) लगा दिया है, इसलिये अनारों में पहले वाला रस नहीं रह गया, अनार कुछ सूख गए हैं।" सत्य है जब मनुष्य धन-दौलत के प्रति राग करता है तो उसके सुख में भी कमी आ जाती है। वित्त का राग बहुत दुःखप्रद होता है।

वीतरागी कौन है - पं. दौलत राम जी कहते हैं -

धन समाज गज बाज, राज तो काज न आवै।
ज्ञान आपको रुप, भये फिर अचल रहावै।।
तिस ज्ञान को कारण, स्वपर विवेक बखानो।
कोटि उपाय बनाय, भव्य ताकों उर आनो।।६।।

(छहढाला - चतुर्थ ढाल)

धन, समाज, हाथी, घोड़ा और राज्य आदि कुछ भी बाह्य पदार्थ आत्मा के हित में काम नही आते, किन्तु आत्मज्ञान जिसको हो जाता है, वह स्थिर हो जाता हैं दूसरे शब्दो में केवलज्ञान रुप होकर एकरुप रहता है। इस आत्मज्ञान का कारण आत्मा और परपदार्थों का भेद विज्ञान ही है। इसलिये हे भव्य जीवो! करोड़ो उपाय करके उस भेद विज्ञान को प्राप्त करो।

जो मनुष्य आत्मज्ञान प्राप्त कर लेता है। वह ससार, शरीर, भोगों से उदासीन हो जाता है, उसका समस्त राग बाह्य पदार्थों से विनिष्ट जाता है, वह आत्मकेन्द्रित होकर अपना समय व्यतीत करने लगता है। आजतक जितने भी तीर्थंकर, केवली आदि वीतरागी हुए, या भविष्य में होगे, वे सब इसी आत्मज्ञान और भेद-विज्ञान के बल पर हुऐ हैं। जब जीव का सम्बन्ध अपने स्वय की आत्मा से हो जाता है, तब वह बाह्य जगत् की समस्त सम्पदा को इस प्रकार छोड़ता है जैसे कोई तृण को छोड़ देता है।

वीतरागी की सोच, उसके विचाररागी मनुष्य से एकदम विपरीत हो जाती है। वीतरागी कहता है कि -

बाह्य जगत् में कुछ भी नहिं मेरा,
और न बाह्य जगत् का मैं।
यह निश्चय कर छोड़ बाह्य को,
मुक्ति हेतु नित स्वस्थ रमें।।
अपनी निधि तो अपने में हैं,
बाह्य वस्तु में व्यर्थ प्रयास।
जग का सुख तो मृग तृष्णा है,
झूठे हैं, उनके पुरुषार्थ।।

इस प्रकार अपनी आत्मा में स्थिर होता हुआ वीतरागी दिनों-दिन आगे आगे बढ़ता जाता है। वास्तव में वीतरागता तो चौथे गुणस्थान से शुरु हो जाती है जब मनुष्य को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। यहाँ आंशिक वीतरागता होती है फिर आगे पाँचवाँ गुणस्थान में अर्थात् अणुव्रती में विशेष, तथा छट्टे, सातवें गुणस्थान में अर्थात् महाव्रती में और विशेष वीतरागता प्रकट हो जाती है। इससे आगे आठवें गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक श्रेणी लगाने वालों को तारतम्यता से वीतरागता उत्तरोतर बढ़ती ही चली जाती है। तेरहवें गुणस्थान में पूर्ण वीतरागी अर्थात् अरिहंत भगवान हो जाते है। इससे आगे चौहदवें गुणस्थान में, पहले समय में 13 प्रकृतियों का तथा दूसरे समय में 72 प्रकृतियों का नाश कर मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं।

इसीलिये इन अरिहत भगवानो की स्तुतियो मे यह कहा जाता है कि-

मोहक महल मणिभाल मण्डित सम्पदा षट्खण्ड की।
है शान्ति जिन तृण-समझ ली शरण एक अखण्ड की।।
पायों अखण्डानन्द दर्शन ज्ञान बीरज आपने।
संसार पार उतारनी दी देशना प्रभु आपने।।
मनहर मदन तन वरन सुवरन सुमन सुमन समान ही।
धन-धान्य पूरित सम्पदा अगणित कुबेर समान थीं।।
थी उरवशी सी अंगनाएँ संगिनी संसार की।
श्री कुन्थु जिन तृण-सम तजी, ली राह भवदधि पार की।।
हे चक्रधर जग जीतकर षट्खण्ड को निज वश किया।
पर आतमा निज नित्य एक अखण्ड तुम अपना लिया।।
हे ज्ञानधन अरनाथ जिन धन-धान्य को ठुकरा दिया।
विज्ञानधन आनन्दधन निज आतमा को पा लिया।।

वीतरागी को यह अवस्था बहुत ऊँची होती है, इससे पूर्व की अवस्था में तो वीतरागी साधक को नाना प्रकार के उपसर्ग आदि आने पर भी वह अपने आप को आत्मध्यान से नहीं डिगने देता। हमारे सामने सुखमाल मुनि का दृष्टान्त जब वे आत्मज्ञान से रहित थे तब उन्हें गृहस्थावस्था में सोते हुए मखमल के गद्दों पर एक सरसो का दाना भी त्रिशूल की भांति चुभता था, रत्नों के प्रकाश मे भी आँखो मे पानी आ जाता था, किन्तु जब पर से दृष्टि हटी, स्व-पर भेद विज्ञान हुआ तो वीतरागता बढ़ती ही चली गई। सियारनी और इसके बच्चे ध्यान मग्न मुनि सुखमाल को पूरा का पूरा खा भी गए तो भी मुनि सुखमाल का आत्मध्यान नहीं टूटा, वीतरागता नहीं छूटी। इसी प्रकार सुकौशल मुनि को ध्यानमग्न अवस्था में व्याघ्री ने खा डाला तो भी सुकौशल मुनि अपने आत्मध्यान से नही च्युत हुए, पाँडवो को दुर्योधन के भाँजे ने ध्यान मग्न अवस्था मे लोहे के तपा-तपा कर गहने पहना दिए, किन्तु पाँडव अपने आत्मा में स्थिर रहे, गजकुमार मुनि के सिर पर जलती हुई अँगठी रखी तो भी गज-कुमार मुनि अपने आत्मध्यान से नही डिगे। भरत चक्रवर्ती आदि राजाओ ने मात्र अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान प्राप्त कर लिया। इस प्रकार अनेक ऐसे दृष्टान्त है जो हमे यह बताते है कि वीतरागता मे चिरस्थायी सुख है, यह सुख अपने आत्मा से बाहर कहीं भी नहीं है।

वीतरागता के अभाव मे दु:ख ही दु:ख है। इस ससार में मनुष्य स्त्री आदि विषयों को पहले तो रुचि से भोगते हैं, फिर तत्काल ही उनसे अरुचि हो जाती है, लेकिन फिर उन्हीं से रुचि करते है। ऐसा करते हुए वे वाञ्छा रुपी व्याधि से सदा व्याकुल रहते है। वे रुचि-अरुचि से रहित वीतराग भाव को प्राप्त न करते हुए खेद-खिन्न होते रहते है। इसलिये राग-द्वेष को तजकर समताभाव को भजकर सुखी होना चाहिए। मुनिराज की ध्यानस्थ अवस्था कैसी होती है, यह हमे निम्न दृष्टान्त से समझना चाहिये -

एक समय की बात है कि किसी जगल मे एक दिगम्बर साधु आत्म ध्यान में खड़े हुए थे। वहीं एह ग्वाला उनके पास आता है और कहता है - "आप जरा मेरे पशुओं को देखते रहना, मैं थोड़ी देर के लिए अपने घर जा रहा हूँ। साधु महाराज तो अपने ध्यान में मग्न थे, सो उन्होनें कुछ भी नहीं कहा। ग्वाला समझा कि मौन ही उनकी स्वीकृति है सो वह निश्चिंत हो थोड़ी देर के लिए अपने घर चला जाता है। अज्ञानी ग्वाले को नहीं मालूम था कि वीतरागी साधु कैसे होते है। उसने तो प्रथम बार दिगम्बर मुद्रा को देखा था। सो वह यह कह कर अपने घर चला गया कि - "ठीक है आप चुप है, कोई बात नहीं, मैं समझ गया हूँ तुम मेरे पशुओं की मेरे पीछे से देखभाल करोगे। सो मैं जा रहा हूँ।"

ग्वाला जब लौट कर आता है तब उसे वहाँ एक भी गाय नही मिलती, सब गायब है, इधर-उधर कहीं जंगल में चली गयी है। यह देख ग्वाला मौनी बाबा पर बहुत क्रोध करता है। कहने लगा- "तुम मुख से कुछ भी क्यों नहीं बोलते? मेरे सब पशु कहाँ गए है? तुम यहाँ पर

खड़े हो और अब भी कुछ नहीं बोले, ग्वाला पुनः झुझंलाता है "क्या तुम बहरे हो? गूँगें हो? मुनिराज का ध्यान अब भी नहीं टूटता। ग्वाला सोचने लगता है कि इनके पास समय खराब करना ही है। दिन निकला जा रहा है,। पता नहीं यह पागल है या बहरा है, गूँगा है, कुछ समझ नही आता है। मुझे अपने पशुओ की खोज दिन रहते कर लेनी चाहिये। ऐसा निर्णय कर ग्वाला अपने पशुओं को ढूढने चला जाता है। शाम तक यह ग्वाला अपने पशुओं को खोजता है, किन्तु इसे कोई भी पशु नहीं मिलते। वह लौटने लगता है तो देखता है कि सभी पशु मुनराज के इर्द-गिर्द खड़े हैं, और इन्हीं को देख रहे हैं। यह दृश्य देखते ही वह ग्वाला कहता है कि -"अरे! यह साधु तो बड़ा ही चालबाज है, धोखेबाज है, बहुत होशियार है यह। इसने मेरे पशु कही छिपा रखे थे, अब यह भागने की तैयारी कर रहा था, मुझे दूर से देखकर पुनः मौनपूर्वक खड़ा हो गया है। रात होते ही यह उन्हे लेकर जरुर भाग जाऐगा।" ऐसा सोच ग्वाला पुनः क्रोधित हो जाता है। वह चिल्लाकर कहने लगता है कि - मै देखता हूँ तुम्हारा बहरा, गूँगापन और यह चालबाजी। यह कहता हुआ वह उन मुनिराज को आत्मध्यान की अवस्था मे ही लकड़ी से मारना शुरु कर देता है। यह देख जगल के देवता घबरा जाते है, अरे यह मूर्ख ग्वाला इन वीतरागी सत को मार रहा है। देव ध्यानस्थ मुनिराज के पास आकर कहने लगते है कि 'प्रभु' हमे आज्ञा दीजिये, हम अभी इस ग्वाले को सबक सिखा देते है। ऐसी अप्रिय घटना अब पुनः नही होगी। लेकिन आत्मध्यान मे मग्न साधु तो अपनी आत्मा मे डूबे थे, उन्हें बाहर का कुछ भी पता नही था। ऐसा होता है आत्मध्यान, ऐसी होती है वीतरागता किसी दिगम्बर मुनिराज की। जहाँ बाहर मे अनुकूलता हो या प्रतिकूलता उससे उनका सम्बन्ध छूट जाता है, वे अपने अन्तर मे, अपने स्व-आत्मतत्व मे लीन रहते है। इसी कारण निराकुल एवं शान्त स्वभाव से सभी उपसर्गो आदि को समता भाव से सह जाते हैं।

ससार मे दो प्रकार के मनुष्य पाये जाते है - एक तो रागी-द्वेषी व्यक्ति जो अपने ससार परिभ्रमण को बढ़ाने वाले है, और दूसरे प्रकार के वे व्यक्ति है जो अपने ससार परिभ्रमण को नष्ट करने मे लगे है, उन्हे वीतरागी मनुष्य कहते है। धनलोलुप व्यक्ति वित्तरागी होती है। और वित्तराग एक दुर्गन्ध के समान है, यह इस तथ्य से अनभिज्ञ रहते है। वित्तराग तो वास्तव में अज्ञानता का लक्षण है, जो परपदार्थ मे सुख की वाञ्छा करे उसे स्थायी सुख कदापि नहीं मिल सकता धनवान के सभी सुख सुख नहीं, अपितु सुखाभास होते है, इसीलिये धनवानों की दुनिया मे आकुलता व व्याकुलता का समूल विनाश नहीं हो पाता है।

अपने और पराये की भावना तुच्छ हृदय वाले मनुष्यो की होती है, विशाल हृदय वाले सत्पुरुष तो समस्त ससार को अपने कुटुम्ब की भाँति मानते हैं। आज मनुष्य का हृदय इस भावना के विपरीत हो गया है। भारत के मनीषी समस्त संसार को अपना मानते थे, पर आज मनुष्य अपने कुटुम्ब को ही अपना ससार मानने लगा है। केवल कुटुम्ब के प्रति आत्मीयता की भावना के

कारण ही नैतिकता का इतना ह्रास हुआ है कि लोग अपने कर्तव्य को कर्तव्य पालन की भावना से नहीं करते हैं। अधिक से अधिक पाकर कम-से-कम काम करने की प्रवृत्ति होती जा रही है। बाहरी संसार बिजली के प्रकाश से प्रकाशमान है। परन्तु भीतर का अन्धकार सघन होता जा रहा है। आज लोग ध्यान, संध्या, पूजा-पाठ भूलते जा रहे हैं। केवल-सिनेमा, क्लब, ताश और जुआ मनोरजन के साधन बन गये है। आज हम घर के कोने में बैठे ट्री. वी., रेडियो से संसार की खबरे सुनते नहीं थकते। किस देश मे चुनावो में किस की हार-जीत हुई। किसने किस पर आक्रमण किया, यह लगन से सुनते हैं और उस पर चर्चा करते हैं परन्तु अपने पड़ौसी की कराह हम नही सुन सकते या फिर सुनकर भी अनसुनी कर देते है। हमारे हृदय में सद्भावनाओ और असद्भावनाओं का जो द्वन्द्व होता है, उसकी ओर हमारा ध्यान नहीं है। हमारे मन की सद्भावनाओं की पराजय होती है और असद् भावनाएँ जीतती हैं। हमने अपने मित्रों से मिलने के लिए अलग ड्राईंगरुम बनवा लिए है। परन्तु अपने आप से मिलने के लिए हमारे यहाँ कोई स्थान नही है। हमने अपनी दिनचर्या ऐसी बना ली है कि आत्म-चिन्तन के लिए समय नही है। अनेक मनोरंजन के साधन ईजाद किए हैं जिससे समय बीत जाय। पर हम बीतते हुए समय से बेखबर रहते है। वास्तव में हम समय को नहीं काटते है, बल्कि समय हमें ही काटता चला जा रहा है। समय को इस प्रकार बिताते हुए हम सोचते है कि हम दिन-दिन बड़े होते जा रहे है, परन्तु यथार्थ बात यह है कि जितना समय हम बिताते जा रहे हैं, उतने ही हम छोटे होते जा रहे है। जिसकी आयु 20 वर्ष हो गई हैं, वह बीस वर्ष छोटा कम आयु वाला हो गया है। जीवन के अन्त में हम पाते है कि हमने मनुष्य जीवन यो ही बिता दिया, परन्तु हमने कोई महनीय या गणनीय आदर्श कार्य नहीं किया है। हम एक-एक पैसे का हिसाब रखते है और अपनी पूँजी और सकलित सम्पति की गणना करके बहुत खुश होते है परन्तु हमने कितने अच्छे कार्य किए हैं, हमने कितने सद्गुणो का लाभ प्राप्त किया है और कितनी बुराईयां हमने त्यागी हें इस प्रगति, अवनति का हिसाब हम नही रख पाते है। मानव चिन्तनशील बने, दूसरे प्राणियो को अपने व्यवहार से सुखी बना सके तो बहुत अच्छी बात है। यदि ऐसा न कर सॅ तो कम-से-कम दूसरे प्राणियो को दुःखी न करे तो यह उसके जीवन की बहुत बड़ी पूजी होगी। इस पूजी के सॅचित करने वाले को जीवन के अन्त समय में किसी प्रकार का पश्चाताप नहीं होगा। सभी प्राणियो मे मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जो चिन्तन और मनन कर सकता है, जिसे हेय उपादेय और सद्गुण, अवगुण की पहचान है। इसलिए मनुष्य जीवन की सार्थकता इसी में है कि अच्छे-बुरे को पहचाने। अच्छे कार्य के लिए आस्थावान् बने और उस अच्छाई को जीवन में उतारने का प्रयास करना चाहिए।

,मोह के कारण जिनमे सुख का अश भासित होता है- ऐसे धन की अभिलाषा से पिता पुत्र को और पुत्र पिता तक को ठगते देखे जाते हैं। धन के लोभ में अन्धा हुआ मनुष्य क्या-क्या

नहीं कर बैठता? ऐसे वित्तरागी व्यक्ति का चित्त विषयासक्ति के कारण किसी भी वस्तु से निवृत्त नही हो पाता। इस प्रकार के व्यक्ति इतने विषायासक्त और तृष्णातुर हो जाते हैं कि इन्हें सर्व जगत का वैभव और तीन लोक के विषय प्राप्त हो जाएँ तो भी इनकी तृष्णा न मिटे। इनकी यह स्थिति स्वपर भेद विज्ञान न होने के कारण होती है।

दूसरी ओर हम देखते है कि जिस व्यक्ति को स्व पर का ज्ञान हो जाता है, वह आत्म ज्ञानी होता है, उसका सुख चिरस्थायी होता है। ऐसी व्यक्ति स्वयं को आत्मा की ओर केन्द्रित कर लेते हैं, ये संसार-शरीर-भोगो से उदासीन हो जाते हैं। इनकी वीतरागता, दिनों-दिन बढ़ती चली जाती है और एक दिन ये अपने ससार परिभ्रमण को नष्ट कर देते हैं। सदा सर्वदा के लिए स्व आत्मा में स्थिर हो जाते है। मनुष्य पर्याय वित्तरागी नहीं, अपितु वीतरागी बनने के लिए प्राप्त हुई है, कहा भी है -

जो महान् आत्माएँ होती है, युग परिवर्तन कर देती हैं।
उनकी गाथाएँ जन-जन में, नित जीवन भर देती है। ।
है वर्तमान गौरवशाली, जो ऐसे ज्ञान दिवाकर हों।
प्रिय शान्तिमूर्ति ज्ञान ज्योति, आप रत्नत्रयाकर हों।।

अरहंते सुहभत्ती सम्मत्तं दंसणेण सुविसुद्धं।
सीलं विसय विरागो णाणं पुण केरिसं भणियं।।

अरहंत भगवान में शुभभक्ति का होना सम्यक्त्व है। वह सम्यक्त्व जो सम्यक्दर्शन के आठ अंगों से विशुद्ध होता है तथा विषयों से विरक्ति का होना ही शील है। अतएव ये दोनों ही ज्ञान हैं इनसे अतिरिक्त ज्ञान और क्या हो सकता है?

दिगम्बर का निंदक बना दिगम्बर

धर्मप्रेमी बन्धुओं आज आपको "दिगम्बर का निंदक कैसे बना दिगम्बर" इस विषय पर बताते है।

> **अन्तर विषय वासना बरतैं बाहर लोक लाज भय भारी।**
> **या तैं परम दिगम्बर मुद्रा धर नहिं सकै दीन संसारी॥**
> **ऐसी दुर्द्धर नगन परिषह जीतैं साधु शीलव्रत धारी।**
> **निर्विकार बालक व्रत निर्भय तिनके चरणों धोक हमारी॥**

प्राय: संसार में जो सद्मार्ग पर चला करते है उनके जीवन में पग पग पर कठिनाइयाँ आया करती है। सद्पुरुषों की आलोचना करने वाले अनेक मनुष्य पाये जाते हैं, किन्तु सद्मार्ग पर चलाने वाले, उन्नति के मार्ग पर स्थिर करने वाले मनुष्य बिरले ही होते हैं। जो जीव आत्म विश्वास से भर जाता है, जो अपने आप अपना मार्ग स्वयं निर्माण करता है, वह किसी की आलोचना, निंदा-प्रशंसा आदि पर ध्यान नहीं देता हुआ अपने सन्मार्ग पर निरन्तर बढ़ता ही जाता है। वैसे तो संसार में प्राय: अनेकों ऐसे स्वच्छ कार्य हैं, जिन्हें करने से समूल सामाजिक, राजनैतिक, औद्योगिक आदि व्यवस्था सुचारु रुप से चला करती है। किन्तु ये सभी मार्ग "सम्यक्" सद्मार्ग नहीं हो सकते हैं क्योंकि इन सद्मार्ग पर चलने वाले मनुष्य अपने संसार भ्रमण का नाश नहीं कर सकते। इसलिये "सम्यक्" सद्मार्ग तो केवल वही हो सकता है जो मनुष्य के संसार परिभ्रमण का अन्त कर दे। ऐसा सम्यक् सद्मार्ग केवल मोक्षमार्ग कहलाता है, जिस पर चलने वाले मनुष्य दिगम्बर मुनि-सन्त कहलाते हैं। ये सम्यग्दर्शन-ज्ञान से परिपूर्ण होते हैं, तब वे इस मार्ग पर चलते हुए सम्यक् आचरण को भी अंगीकार करते हुए अपने कल्याण का मार्ग पूर्ण कर लेते है।

ऐसे दिगम्बर मुनिराज की, जो समस्त 24 परिग्रहों (14 अन्तरंग परिग्रह और 10 बाह्य परिग्रह) के त्यागी होते है, उनकी आलोचना, निंदा आदि करना, उनसे द्वेष रखना मात्र उसी व्यक्ति का कार्य हो सकता है, जो विचारशून्य हो, विवेकहीन हो, जिसे न केवल अन्यों के हितों का अपितु स्वयं के भी हित-अहित का ज्ञान न हों। ऐसे पात्र वास्तव में दया के, करुणा के पात्र होते है। यद्यपि कुछ समय उपरान्त इस प्रकार के व्यक्ति भी स्वयं अपनी भूल को सुधार कर इन दिगम्बर मुनिजनों के भक्त बन जाते है, स्वयं इन्हीं के पथ पर चलते हुए अपना कल्याण भी कर लेते है।

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी कहते है कि जो आहार शुद्धि, वचनशुद्धि और मन की शुद्धि करते हुए सदा ही चारित्र का पालन करता है, उसे जैनशासन मे दिगम्बरमुनि कहते हैं।

दिगम्बर मुनि की दिनचर्या- आचार्य कुन्दकुन्द कहते है कि -

चारित्तं खलु धम्मो, धम्मो जो सो समोत्ति ठिदि्दट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हि समो।।७।।

(प्रवचन सार)

चारित्र ही धर्म है, समता रुप परिणाम ही धर्म है, अर्थात् जो राग-द्वेष मोह रहित आत्मा की जो परिणति है वही धर्म है, ऐसे वीतराग धर्म की प्राप्ति होना ही सच्चा चारित्र है।

दिगम्बर मुनि की दिनचर्या इस प्रकार होती है -

प्रतिदिन 28 मूलगुणो का पालन करना। इसके अन्तर्गत निम्न मूलगुण आते है -

पाँच महाव्रत - अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य ओर अपरिग्रह इन पाँच महाव्रतो का सर्वदेश पालन करना, मुनियो के पाँच मूलगुण कहे जाते हैं। इनका सक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है -

1. **अहिंसामहाव्रत** - प्रमादयोग से प्राणियो के दस प्राणो का वियोग करना हिसा है। पृथ्वीकायिक आदि पाँच स्थावर और त्रस जीव-इन छह काय के जीवो मे से किसी का भी घात करना द्रव्यहिसा है और राग-द्वेष रुप आत्मा के भाव हो जाना भावहिसा है। मुनिराज इन दोनो प्रकार की हिंसा से दूर रहते है। इस प्रकार प्राणी मात्र पर दयाभाव का होना अहिसामहाव्रत है। यह अहिसामहाव्रत सभी व्रतो की जड़ है। मुनियो के अन्य समस्त मूलगुण इसी महाव्रत के आधार से पाले जाते है।

2. **सत्यमहाव्रत** - मुनिराज स्थूल या सूक्ष्म किसी भी प्रकार का झूठ कभी भी नही बोलते है। प्रमादवश राग-द्वेष, पैशुन्य चुगली करना कलह, ईर्ष्या, आदि रुप वचनो को नही कहना सत्य महाव्रत है। जिन वचनो से वैराग्य मे स्थिरता हो, सज्जनो के गुणो मे वृद्धि हो, राग-द्वेष नष्ट हो जाएँ तथा जो वचन इष्ट-मिष्ट एव प्रिय हो, तत्त्वो का उपदेश देने वाले हो, ऐसे शुभ वचन ही मुनिराज बोलते है।

3. **अचौर्यमहाव्रत** - किसी की कोई भी वस्तु यहाँ तक कि पानी व मिट्टी भी बिना दिए नही ग्रहण करते, ऐसे मुनि अचौर्यमहाव्रत का पालन करते है। दूसरे शब्दो मे प्रमादवश किसी की गिरी हुई, भूली हुई, रखी हुयी, वस्तु, पुस्तक, उपकरण आदि परद्रव्यो को बिना दिए नही ग्रहण करना अचौर्यमहाव्रत है।

4. **ब्रह्मचर्यमहाव्रत** - मनुष्यिनी, तिर्यञ्चनी, देवागना, और अचेतन स्त्री (पाषाण की, काष्ठ की और चित्राम की) मे स्त्रीजन्य राग परिणामो का त्याग करना, शील के अठारह हजार भेदो को पालना, अपने आत्मस्वरुप मे रमण करना, ऐसे ब्रह्मचर्यमहाव्रत का पालन दिगम्बर मुनिराज करते है।

5. **अपरिग्रहमहाव्रत-** बाह्य और अन्तरग परिग्रह का त्याग करना, मुनि के अयोग्य सर्ववस्तु का त्याग करना, संयम-ज्ञान व शौच के साधनभूत पीछी, कमण्डलु शास्त्र मे भी ममत्व

नहीं रखना परिग्रहत्याग या अपरिग्रहमहाव्रत है। 1. मिथ्यात्व, 2. क्रोध, 3. मान, 4. माया, 5. लोभ, 6. हास्य, 7. रति, 8. अरति, 9. भय, 10. शोक, 11. जुगुप्सा, 12. स्त्रीवेद, 13. पुंवेद, 14. नंपुसक वेद - ये 14 अन्तरंग परिग्रह होते है, तथा 1. क्षेत्र 2. वास्तु 3. हिरण्य 4. स्वर्ण, 5. धन, 6. धान्य 7. दासी, 8. दास, 9. कुप्य (कपड़ा) 10. भाण्ड (बर्तन) ये 10 बाह्य परिग्रह होते है। इन 24 प्रकार के परिग्रहों में से कोई भी परिग्रह मुनिराज के पास नही होता।

पाँच समिति - प्रवृति में प्रमाद के अभाव, यत्नाचार को समिति कहते है। प्रतिदिन कैसे चले, कैसे बैठे, कैसे सोएँ, कैसे खाएँ आदि पाँच प्रकार की प्रवृतियाँ होती है। ये मुनियों के पाँच मूलगुण माने जाते है। इनका संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है -

6. **ईर्यासमिति** - धार्मिक प्रयोजन के निमित्त चार हाथ आगे जमीन देखकर दिन में प्रासुक मार्ग से जीवो की रक्षा करते हुए गमन करना, दिगम्बर साधु की ईर्यासमिति कहलाती है। ये साधु इसे यथायोग्य पालते है।
7. **भाषासमिति** - चुगली, हँसी, कटुवचन, पर निदा, आत्मप्रशंसा और विकथा आदि को त्याग कर स्व पर हितार्थ हित-मित-प्रिय वचन बोलना भाषासमिति के अन्तर्गत आता है। मुनि के वचन किसी भी प्रकार का संदेह उत्पन्न करने, सुनने में प्रिय लगते है। उनके वचन ऐसे प्रतीत होते हैं, जैसे - मुखरुपी चन्द्रमा से अमृत ही बरस रहा हो।
8. **एषणासमिति** - 46 दोषों से रहित शुद्ध उत्तम कुल वाले श्रावक के यहाँ भक्तिपूर्वक दिया हुआ आहार लेना, शरीर को हष्ट-पुष्ट करने के लिए नहीं, अपितु तपोवृद्धि के लिए सरसता व नीरसता की ओर ध्यान न देकर आहार ग्रहण करना एषणा समिति कहलाती है।
9. **आदाननिक्षेपणसमिति** - पवित्रता का उपकरण कमण्डलु, ज्ञान का उपकरण शास्त्र और सयम का उपकरण पीछी इन तीनों को जीव-जन्तु रहति जमीन देखकर रखना व उठाना आदान-निक्षेपण समिति कहलाती है।
10. **प्रतिष्ठापनसमिति** - अपने शरीर के मल-मूत्र और कफ आदि को भी जीव-जन्तु रहित धरा देखकर छोड़ना, क्षेपण करना सो प्रतिष्ठापन समिति है। जहाँ पर असंयतजनों का आवागमन नहीं है, ऐसे निर्जन एकान्त, जीवजन्तु रहित, दूरस्थित, मर्यादित, विस्तीर्ण और विरोध रहित स्थान में मल-मूत्र आदि का त्याग करते हैं। इस प्रतिष्ठापन समिति को साधु यथायोग्य पालते हैं।

पंचेन्द्रिय निरोध - स्पर्शन आदि पाँचों इन्द्रियों के विषयों में राग-द्वेष नहीं करना, पंचेन्द्रियनिरोध नाम के पाँच मूलगुण होते है। इनका संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है -

11. **स्पर्शेन्द्रिय निरोध** - जीव या अजीव से उत्पन्न हुए, कक्रश-कोमल शीत, उष्ण, स्निग्ध-रुक्ष, हल्का-भारी आदि भेदों से युक्त,सुख अथवा दुःख में निमित्त भूत स्पर्शेन्द्रिय के विषय में राग-द्वेष का त्याग, करना स्पर्शेन्द्रिय निरोध कहलाता है।

12. **रसना इन्द्रियनिरोध** - अन्न, खाद्य, लेह और पेय से भोजन के चार भेद हैं रोटी-भात आदि अन्न है। दूध-पानी आदि पेय, रबड़ी, चटनी आदि लेह तथा लड्डू, फल आदि खाद्य पदार्थ है। इनमें सरस या नीरस, स्वादिष्ट या अस्वाद, ठंडा या गर्म, कैसा भी भोजन मिले, इनमें राग-द्वेष नहीं करना, क्षुधा की अग्नि को शान्त करने हेतु पेट को मात्र गडढ़ा समझ कर भोजन से भर लेना। रसना इन्द्रिय निरोध कहलाता है। इसे मुनिराज यथायोग्य पालते है।

13. **घ्राणेन्द्रिय निरोध** - सुगंधित और दुर्गन्धित पदार्थों में राग-द्वेष नहीं करना मुनिराजों का घ्राणेन्द्रिय निरोध कहलाता है।

14. **चक्षुरिन्द्रिय निरोध** - सचेतन और अचेतन पदार्थो के क्रिया, आकार और वर्ण के भेदों मे मुनि राग-द्वेष नहीं करते। इसे ही चक्षुरिन्द्रिय निरोध कहते हैं।

15. **कर्णेन्द्रिय निरोध** - चेतन-अचेतन के शुभ-अशुभ वचन, ध्वनि में राग-द्वेष आदि नहीं करना कर्णेन्द्रिय निरोध कहलाता है। इसे मुनिराज यथायोग्य पालते हैं।

षड् आवश्यक - अवश्य करने योग्य क्रिया को आवश्यक कहते है। जो इन्द्रियों के आधीन नहीं है उसे अवश कहते है। अवश के कार्य आवश्यक है। पं. दौलतराम जी कहते हैं -

समता सम्हारें, थुति उचारें, वन्दना जिन देव को।
नित करैं, श्रुतिरति, करैं प्रतिक्रम, तजैं तन अहमेव को॥

(छहढाला - छठी ढाल)

सामायिक, स्तुति, वन्दना, स्वाध्याय, प्रतिक्रमण और कायोत्सर्ग ये मुनियो के षड् आवश्यक कहलाते है। इनका संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है -

16. **सामायिक (समता)** - किसी को भला और किसी को बुरा आदि न मान कर सबके ऊपर समान दृष्टि रखना सायायिक है। दूसरे शब्दों में समभाव को समता कहते हैं अथवा जीवन-मरण में लाभ-अलाभ में, संयोग-वियोग में, शत्रु-मित्र में समभाव रखना ही सामायिक व्रत है। इसे मुनिराज यथायोग्य पालते है।

17. **स्तुति** - चौबीसों तीर्थंकरों के गुणों को कहना, स्तवन करना, स्तुति करना कहलाता है।

18. **वन्दना** - किसी एक तीर्थंकर से सम्बन्धित भगवान को नमस्कार करना, वन्दना कहलाता है।

19. **स्वाध्याय** - वैराग्यवर्द्धक शास्त्रों का पठन-पाठन करना स्वाध्याय कहलाता है। इसे साधु यथायोग्य पालन करते हैं।

20. **प्रतिक्रमण** - अपने सदाचार में आये हुए दोषों का संशोधन करना, अशुभ योग से छूटना, प्रतिक्रमण कहलाता है।

21. **कायोत्सर्ग**- शरीर से ममत्व का त्याग करना, और जिनेन्द्र देव के गुणों का चिन्तन करना कायोत्सर्ग कहलाता है। इसे सभी मुनिराज यथायोग्य पालन करते हैं।

मुनियों के शेष सात गुण- उपर्युक्त मुनियों के 21 मूलगुणों के अतिरिक्त सात और मूलगुण होते है। इनको बताते हुए पं. दौलतराम जी कहते है -

जिनके न न्हौन व दन्त धावन, लेश अंबर आवरन।
भूमांहि पिछली रयन में, कुछ शयन एकासन करन।।५।।
इकबार दिन में लें आहार, खड़े अलप निज पान में।
कचलोंच करत न डरत परिषह सौं, लगे निज ध्यान में।।

22. **अस्नान** - मुनिराज कभी भी स्नान नही करते। शरीर को स्वच्छ बनाने के लिए स्नान, उबटन, सुगधित पदार्थ लगाना आदि का त्याग करना, अस्नान नामक मूलगुण है।

23. **अदन्त धावन** - मुनिराज अँगुली, नख, दाँतुन और तृण विशेष के द्वारा पत्थर या छाल आदि के द्वारा दाँत के मल का शोधन नही करते, यह सयम की रक्षार्थ अदन्तधवन नामक मूलगुण है। इसे साधु यथायोग्य पालते हैं।

24 **आचेलक्य या नग्नत्व** - शरीर को किसी भी प्रकार के कपड़े से ढ़ककर नही रखना आचेलक्य या नग्नत्व नामक मूलगुण कहलाता है, इसे साधु यथायोग्य पालते है।

25 **भूमिशयन** - पिछली रात में एक करवट से जीव-जन्तु रहित जमीन पर या काष्ठ के पाटे पर, या शिला पर या तृण (सूखी घास-फूस) पर थोड़ी सी नीद लेना, भूमिशयन नामक मूलगुण कहलाता है।

26. **एक बार भोजन करना** - सूर्योदय से तीन घड़ी बाद व सूर्यास्त से तीन घड़ी पूर्व के मध्य काल मे एक बार भोजन ग्रहण करना एकभुक्त नामक मूलगुण कहलाता है।

27 **स्थितिभोजन** - दीवार आदि का सहारा न लेकर, जीव-जन्तु से रहित रथान पर, खडे-खड़े दोनो हाथ की अजुली बनाकर, भोजन ग्रहण करना स्थिति भोजन नामक मूलगुण है। साधु न बैठकर और न लेटकर और न तिरछे होकर भोजन ले सकते है, किन्तु दोनो पैरो म चार अँगुल अन्तर रखकर ही आहार ले सकते है।

२८. **केशलुञ्चन** - अपने सिर, दाढ़ी तथा मूछों के बालों को अपने हाथों से उखाड़ना, कशलुञ्चन नाम का मूलगुण कहलाता है। यह दो माह, मध्यम तीन माह और जघन्य चार माह मे उपवासपूर्वक दिन में, एकान्त में किया जाता है।

इस प्रकार उपरोक्त 28 मूलगुण प्रतिदिन दिगम्बर मुनिराज पालते हैं। ये साधु जीवन की आधार शिला है। जैसे जड़ के बिना वृक्ष हरा-भरा नहीं रह सकता, वैसे ही उन 28 मूलगुणों की रक्षा के बिना साधु का रत्नत्रय वृक्ष कभी भी फलित नहीं रह सकता। यह साधु की प्रतिदिन की दिनचर्या कहलाती हैं।

दिगम्बर वीतारागी सन्त किसी से राग-द्वेष भी नहीं करते हैं। इसी सन्दर्भ में पं. दौलतराम जी कहते है -

अरि मित्र महल मसान कंचन, काँच निंदन थुति करन।
अर्घवतारन, असि-प्रहारन, में सदा समता धरन॥६॥

(छहढाला- छठी ढाल)

ऐसे मुनिराज शत्रु और मित्र, महल और श्मशान, सोना और काँच, निन्दा और स्तुति तथा पूजक और प्रहारक को सदैव समान मानते हैं। दिगम्बर मुनिराज के उत्तर गुणो का वर्णन करते हुए प. दौलत राम जी कहते है कि -

मुनि सकल व्रती बड़भागी, भव-भोगनतैं वैरागी।
वैराग्य उपावन माई, चिन्तै अनुप्रेक्षा भाई॥१॥

(छहढाला - पाँचवी ढाल)

अर्थात् पंच महाव्रतों के धारक मुनिराज बड़े भाग्यशाली होते है, जो संसार, शरीर और भोगों से विरक्त और वैराग्य को उत्पन्न करने के लिए माता के समान जो अनित्यादि बारह भावनाएँ हैं उनका बार-बार चिन्तवन करते रहते है।

जिस प्रकार हवा के लगने से अग्नि प्रज्वलित हो जाती है उसी प्रकार इन बारह भावानाओं के अनुचिन्तन से समता रुपी सुख प्रकट हो जाता है। इसी समय यह जीव अपने आत्मस्वरुप को जान सकता है और आत्मस्वरुप को जानकर उसमें लीन होता हुआ, आत्म स्वरुप मे स्थिर होता हुआ मोक्षसुख को प्राप्त कर लेता है।

बारह भावनाएँ - दिगम्बर मुनिराज निम्न बारह भावनाओं का बार-बार चिंतन करते हैं -

1. **अनित्य भावना** - संसार की समस्त वस्तुए नष्ट हो जाने वाली हैं, कोई भी नित्य नही है।
2. **अशरण भावना** - जगत् में कोई शरण नहीं है और मरण से कोई बचाने वाला नहीं है।
3. **संसार भावना** - यह संसार असार है, इसमें जरा भी सुख नहीं हैं
4. **एकत्व भावना** - यह जीव अकेला ही समस्त दु:ख सुख भोगता है, कोई सगा-साथी इन्हें बँटा सकता।
5. **अन्यत्व भावना** - पुत्र-स्त्री वगैरह संसार की कोई भी वस्तु अपनी नहीं है।
6. **अशुचि भावना** - यह देह अपवित्र और घिनौनी है, इससे प्रीति क्यों की जाए।
7. **आस्रव भावना** - मन-वचन काय के हलन-चलन से कर्मो का आस्रव होता है। बहुत दुखदाई है, इससे बचना चाहिए।
8. **संवर भावना** - संवर से यह जीव ससार-समुद्र से पार हो जाता है, इसीलिये संवर के कारणों को ग्रहण करना चाहिए।
9. **निर्जरा भावना** - कर्मों का कुछ दूर होना निर्जरा है, इसलिये इसके कारणों को जानकर कर्म को दूर करना चाहिये।

10. **लोक भावना** - लोक के स्वरुप को विचार करना कि यह कितना बड़ा है, उसमें कौन-कौन से स्थान है, और किस-किस स्थान पर क्या-क्या रचना है, इससे संसार परिभ्रमण की स्थिति का ज्ञान होता है।

11. **बोधिदुर्लभभावना** - ऐसा विचार करना कि मनुष्य देह बड़ी कठिनाइयों से प्राप्त हुई है, इसको पाकर व्यर्थ न खोना, अपितु सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रुप रत्नत्रय को धारण करना चाहिए।

12. **धर्म-भावना** - धर्म के स्वरुप का चिंतवन करना कि इसी से इहलोक और परलोक के सब तरह के सुख प्राप्त हो सकते है। ये बारह भावनाएँ वैराग्य वर्द्धक है इन्हें दिगम्बर मुनिराज बार-बार भाते है, चिंतन करते-करते अपने आत्मा मे स्थिर होते है, और समता धारण किए रहते है, समाताधारी मुनिराज उपरोक्त बारहभावनाओं के अतिरिक्त बाईसपरीषहो को भी जीत लेते है।

बाईस परीषह - मुनि कर्मों की निर्जरा और कायक्लेश, के लिए समता भावों से जो दु:ख स्वयं सहन करते है, उन्हें परीषह कहते हैं। ये बाईस होते है। जिनका संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है-

1. **क्षुधा परीषह** - भूख की बाधा को सहन करना।
2. **तृषा परीषह** - प्यास को धैर्यरुपी जल से शान्त करना।
3. **शीत परीषह** - ठंड़ को शान्तभाव से सहन करना।
4. **उष्ण परीषह** - गर्मी को शान्तभाव से सहन करना।
5. **वंशमशक परीषह** - डांस मच्छर, चींटी, बिच्छू आदि के डंक को सहन करना।
6. **नाग्न्य परीषह** - नग्न रहने में लज्जा, ग्लानि, और विकार नहीं करने को नाग्न्य परिषह कहते है।
7. **अरति परीषह** - अनिष्ट वस्तु पर भी द्वेष नहीं करना।
8. **स्त्री परीषह** - स्त्रियों के हाव-भाव प्रदर्शन आदि चेष्टा को शान्तभाव से सहन करना।
9. **चर्या परीषह** - गमन करते हुए खेद-खिन्न न होना।
10. **निषद्या परीषह** - नियमित काल तक ध्यान के लिए आसन से च्युत न होना।
11. **शय्या परीषह** - कंकरीली जमीन अथवा पत्थर पर एक ही करवट से सोने का दु:ख सहन करना।
12. **आक्रोश परीषह** - दुष्ट जीवों द्वारा कहे गए कठोर शब्दों को शान्त भाव से सह लेना।

13. **वध परीषह** - किसी दुष्ट द्वारा मारे-पीटे जाने पर भी क्रोध न करना।

14. **याचना परीषह** - अपने प्राणों का वियोग होना भी सम्भव हो तथापि आहारादि की याचना न करना।

१५. **अलाभ परीषह** -

एक बार भोजन की बेला में मौन साध बस्ती में आवै।
जो न बनै योग्य भिक्षा विधि तो महन्त मन खेदन लावै॥
ऐसे भ्रमत बहुत दिन बीतें तब तप वृद्धि भावना भावै।
यों अलाभ की परम परीषह सहैं, साधु सो ही शिव पावे॥

आहारादि प्राप्त न होने पर भी अपने ज्ञानानन्द के अनुभव द्वारा विशेष सन्तोष धारण करना।

16. **रोग परीषह** - शरीर में अनेक रोग है, तथापि शांतभाव से उन्हें सह जाना।

17. **तृणस्पर्श परीषह** - चलते समय पैरा में काँटा, कंकर आदि लगने व स्पर्श होने पर आकुलता न करना।

18. **मल परीषह** - शरीर में पसीना आ जाने, धूल-मिट्टी लग जाने का दुःख सहन करना।

19. **सत्कार पुरस्कार परीषह** - किसी के आदर-सत्कार अथवा विनय प्रणाम वगैरह न करने पर बुरा न मानना।

20. **प्रज्ञा परीषह** - अधिक विद्वान हो जाने पर भी मान न करना।

21. **अज्ञान परीषह** - अधिक तपश्चरण करने पर भी ज्ञान की प्राप्ति न होना, लोगों द्वारा तिरस्कार को शान्तभाव से सहन कर लेना।

22. **अदर्शन परीषह** - बहुत काल तक तपश्चरण करने पर भी कुछ फल की प्राप्ति न होने से सम्यग्दर्शन को दूषित न करना।

इस प्रकार उपरोक्त बाईस परीषहों को आकुलता रहित जीतने से संवर पूर्वक निर्जरा होती है। ऐसे दिगम्बर मुनिराज उपरोक्त 22 परीषहों को जीतते हैं। इसके अतिरिक्त दसधर्मों को भी पालते है।

दसधर्म - दसधर्म आत्मा के गुण है, जो दिगम्बर मुनि के आत्म-साधना से प्रकट हो जाते है। ये निम्न हैं -

छिमा मार्दव आरजव सत्यवचन चितपाग।
संजम तप त्यागी सरव, आकिंचन तियत्याग॥

1. उत्तम क्षमा (क्रोध न करना), 2. उत्तम मार्दव (मान न करना), उत्तम आर्जव (कपट न करना), 4. उत्तम सत्य (सत्य बोलना), 5. उत्तम शौच (लोभ न करना), 6. उत्तम संयम (छह काय के जीवो की दया पालना और पाँचों इन्द्रियो व मन को वश में रखना), 7. उत्तम तप, 8. उत्तम त्याग (दान करना), 9. उत्तम आकिंचन (परिग्रह त्याग करना), और 10. उत्तम ब्रह्मचर्य (स्त्री मात्र का त्याग करना)।

इस प्रकार ये दिगम्बर मुनिराज उपरोक्त 10 धर्मो का पालन करते हुए बारह प्रकार का तप भी तपते है।

बारह तप -

अनशन ऊनोदर करे, व्रतसंख्या रस छोर।
विविक्त शयनासन धरै, काय कलेश सुठोर॥
प्रायश्चित्त धर विनयंजुत,वैयाव्रत स्वाध्याय।
पुनि उत्सर्ग विचारके, धरै ध्यान मन लाय॥

1. अनशन (भोजन का त्याग करना), 2. ऊनोदर (भूख से कम खाना), 3. व्रतपरिसंख्यान (भोजन के लिए जाते समय घर वगैरह का नियम करना, प्रतिज्ञा लेकर जाना), 4. रस परित्याग (छहो रस या एक-दो रसो को छोड़ना), 5. विविक्तशय्यासन (एकात स्थान मे सोना-बैठना), 6. काय-क्लेश (शरीर को कष्ट देना), 7. प्रायश्चित (अपने दोषों का दण्ड लेना), 8. रत्नत्रय व उनके धारको का विनय करना 9. वैयाव्रत (रोगी, वृद्ध मुनि को सेवा करना), 10. स्वाध्याय करना (शास्त्र पढ़ना-पढ़ाना), 11. व्युत्सर्ग (शरीर से ममत्व त्यागना, परिग्रह त्याग), 12. स्व-आत्मा का ध्यान करना। उपर इन 12 तपों मे शुरु के छह तप बाह्य तप माने जाते हैं, क्योकि ये दूसरे व्यक्ति को प्रत्यक्ष दिखते है, किन्तु अन्तिम छह तप दूसरे व्यक्ति को नहीं दिखते अत: इन्हे अन्तरग तप कहते है।

ऐसे दिगम्बर मुनिराज समता के धारी सन्त स्व-और पर के कल्याण मे ही अपना सम्पूर्ण जीवन लगा देते हैं। ऐसे वीतरागी सन्तो मे अटूट समता होती है। जैसे-अकपनाचार्य आदि सात सौ मुनियों पर हस्तिनापुरनगर में बलि नामक राजा ने उपसर्ग किया था, सबको चारों ओर से घेर कर अग्नि जला दी थी, तब भी इन 700 मुनियो ने अटूट समता को धारण किया था और अपने आत्मध्यान मे लीन हो गए थे, उपसर्ग, विष्णु कुमार मुनि द्वारा जब दूर हुआ तब ही इन मुनियों का ध्यान भग हुआ था। इसी प्रकार जब दण्डक राजा ने अभिनन्दन आदि 500 मुनियों को घानी मे पिरवा दिया था तो इन सभी मुनियों ने अटूट समता धारण की थी। सभी ने अपनी आत्मा में ध्यान लगाते हुए अपने-अपने शरीर को छोड़ दिया था।

वर्तमान मे भी कुछ अज्ञानी प्राणी ऐसे दिगम्बर मुनियो पर उपसर्ग करते हैं, लेकिन ये दिगम्बर मुनि समता धारण किये रहते हैं। किन्तु जब इन रागी-द्वेषी व्यक्तियों को इन दिगम्बर

संतों के तप-त्याग का ज्ञान होता है तब ये दिगम्बर मुनियों की महिमा को बखनाने लगते है। इनके भक्त बन जाते हैं. यहाँ तक कि इन्हीं के मार्ग पर चलने लगते है ऐसे बहुत से उदाहरण शास्त्रो मे यत्र-तत्र पाये जाते है जो दिगम्बर मुनिराजो की निंदा करते थे वे ही दिगम्बर मुनिराज बन गए और अन्ततः कल्याण को प्राप्त कर गए। इस सन्दर्भ में निम्न दृष्टान्त दृष्टव्य है -

भरत क्षेत्र मे सौराष्ट्र नाम का देश था, जो जिनमन्दिर, उद्यान आदि से परिपूर्ण, हरे-भरे वृक्षो से बहुत ही सुन्दर दिखाता था, इसी देश में एक गिरि नाम का एक नगर था। इस नगर मे महामडलीक नाम का राजा राज्य करता था। इसी के राज्य मे निर्मल सम्यग्दर्शन का धारी, कुबेर के समान धनिक दयामित्र नाम का एक सेठ रहता था। यह सेठ सदा जिनेन्द्र भगवान की भक्ति, शास्त्र स्वाध्याय, साधुओं को आहारदान आदि देना तथा आत्म चिन्तन में लीन रहता था।

एक दिन सेठ के मन में विचार आया कि मनुष्य के पास सम्पत्ति होना ही पर्याप्त नहीं है,उसे कुछ पुरुषार्थ करते रहना चाहिये और पुरुषार्थ करते हुए धन में वृद्धि करनी चाहिये। ऐसा विचार कर उसने भी व्यापार करने की सोची। इसलिए वह अपने सभी व्यापारियों को बुलाता है और विचार विमर्श कर विदेश मे धन उपार्जन करने के लिए चल देता है।

इसी नगर मे एक वसुभूति नाम का ब्राह्मण, वैदिक धर्मावालम्बी पुरोहित भी रहता था। यह हर समय दिगम्बर मुनियों की निदा किया करता था। एक दिन यह गंगा मे स्नान करने हेतु उत्तर दिशा की ओर चल देता है। बीच रास्ते में इसे सेठ दयामित्र और उसके साथी मिलते हैं। यह उनसे कहता है कि - "मेरे सामने मार्ग सम्बन्धी अनेक कठिनाइयाँ है, रास्ते मे भयकर जगली जानवर रहते है, जो राहगीरों को मार कर खा जाते है। चोर और लुटेरो का भी भय है। मुझे ज्ञात हुआ है कि आप भी उत्तर की ओर व्यापार के निमित्त अनेक साथियो के साथ जा रहे हो। मै सोचता हूँ आपके साथ गमन करने से मै सकुशल गगा जी तक पहुँच जाऊँगा। अतः मै आपकी शरण में हूँ।"

सेठ दयामित्र इस पुरोहित को अपने साथ चलने की सहमति दे देते हैं। रास्ते मे दयामित्र और पुरोहित वसुभूति की धर्म से सबधित चर्चा होती है। पुरोहित दिगम्बर मुनियो की निदा ही करता रहा। किन्तु दयामित्र सेठ बहुत ही समझदार थे उसने पुरोहित पर क्रोध नहीं किया। कुछ दिनो के बाद सेठ जी उदास होकर बैठ जाते है। तब पुरोहित वसुभूति कहने लगता है कि - सेठ जी आपको क्या चिंता है? कृपा कर आप मुझे बताइये, हो सकता है मै कुछ कर सकूँ।" सेठ जी कहते है - "पुरोहित जी। मुझे आठ दिन का अष्टाह्निका का व्रत पालन करना है। इस व्रत मे मै दिगम्बर मुनि को आहारदान देकर ही भोजन करता हूँ। लेकिन रास्ते मे यहाँ तो कोई दिगम्बर मुनि है नहीं, यदि तुम आठ दिन के लिए दिगम्बर मुनि बन जाओ तो मैं तुम्हे बहुत-सा धन आदि दक्षिणा के रुप मे दूँगा।

तब वह वसुभूति विचार करने लगता है कि मुझे बाद में बहुत सा धन भी मिलेगा और इन आठ दिनो मे खाने-पीने को भी अच्छा मिलेगा, इससे अच्छी बात और क्या हो सकती है।

यह सोच तब वह कहता है कि - "सेठ जी मै आठ दिन के लिए मुनि बन जाऊँगा, उसकी विधि मुझको बताओ, मुझे क्या करना है?" सेठ जी कहते है कि तुम्हें 28 मूलगुण पालने होगें, बारह प्रकार का तप करना होगा, बाईस परीषहों को सहना होगा, और सबसे पहले केशलुञ्च करना होगा। वसुभूति सब भली-भांति समझ लेता है और लोभ मे सब स्वीकार कर लेता है। जब दीक्षा होने लगी तो केशलुञ्च में रोने लगता है, किन्तु फिर भी किसी तरह अपने सिर के बालो को उखाड़ लेता है। कहता है यह व्रत बड़ा कठोर है, मै कैसे पालन करुँगा? अब वह नग्न हो दिगम्बर मुनि बन जाता है।

सेठ दयामित्र अब छत्तीस प्रकार के भोजन बनाते है। मुनि आहार को उठते हैं। इस दिन सभी नमकीन, मिठाई सबका ही स्वाद बनाकर वह वसुभूति आहार करता है। गर्मी का महीना था सो दिन में खुश्की आ गयी, बना हुआ पुरोहित मुनि सेठ जी से कहने लगता है, कि पानी पीने को तो मिलेगा, इसमें क्या हर्ज है? सेठ जी कहते है कि दिगम्बर मुनि चौबीस घण्टे में सिर्फ एक बार भोजन करते है। बीच मे पानी तक नहीं लेते है। वसुदेव यह सुन घबरा जाता है, सोचता है यदि बीच में ही छोड़ा तो धन गया, नहीं तो तो प्यास के मारे जान जा रही है। क्या करुँ? पूरी रात तारे गिन-गिन कर निकाल देता है। प्रातः होते ही आहार को जाता है, आहार में नमक आदि का त्याग कर वह आहार लेता है, इस प्रकार वह धीरे-धीरे मुनिचर्या पालने लगा और आठ दिन निकल जाते हैं।

अब सेठ जी देखते है कि इसकी चर्या तो ठीक-ठीक चली, इसे तो सम्यग्दर्शन हो गया है, सो पुरोहित वसुभूति से कहते है कि अब हमारा विधान पूरा हो गया, अब तुम अपना धन ले लो, और जो चाहिये सो ले लो। अब तुम अपने कपड़े भी पहन सकते हो। यह सुन पुरोहित वसुभूति कहता है कि - इस क्षणिक सम्पदा को लेकर अब मै क्या करुँ? इसके लिए मैं अपने महाव्रतों को नहीं छोडूँगा। अब मुझे कुछ नहीं चाहिए मेरी बड़ी भूल थी जो मैं दिगम्बर साधुओ के सयम की निन्दा किया करता था। इस व्रत को तो कोई महान् प्राणी ही पालन कर सकता है।

इस प्रकार वह पुरोहित वसुभूति जैन धर्म का निदक, दिगम्बर साधुओ का निंदक, स्वय दिगम्बर मुनि बन जाता है। घोर तपस्या करते-करते उसे किसी शिकारी का बाण लग जाता है, जिस से मरकर वह स्वर्ग में देव हो जाता है।

सत्य ही है, इस संसार में जो सद्मार्ग पर चलने का प्रयत्न करता है उसके जीवन में अनेक कठिनाईयाँ आती है। जो जीव आत्मविश्वास से भरा हुआ होता है वह अपनी मंजिल पा जाता है- किन्तु जो दूसरों के द्वारा की गयी आलोचना या प्रशंसा आदि पर ध्यान देता है वह संसार में उलझ जाता हैं। जो मार्ग संसार परिभ्रमण का अन्त करादे उसे सम्यक् सद्मार्ग कहते हैं। इस मार्ग पर चलने वाले जीव दिगम्बर मुनि कहलाते हैं। ये सदा संसार-शरीर और भोगों से विरक्त रहते हैं तथा 28 मूलगूणों को पालते हैं। ये मुनिराज बारह भावनाओं का चिन्तन करते

हैं, 22 परीषहों को सहते हैं, दस धर्मो को प्रकट करते हैं तथा 12 प्रकार का तप करते हैं ऐसे वीतरागी दिगम्बर मुनिराज़ संसार के समस्त जीवों का कल्याण चाहते हैं। इनसे द्वेष रखना, इनको भला-बुरा कहना अज्ञानता की चरमोत्कृष्ट स्थिति होती है। ऐसे निदंक जब ज्ञानी के साधुओं के सम्पर्क में आते है तब इनकी अज्ञानता दूर होती है, और स्वयं इनके तप-त्याग से प्रभावित होकर इन्हीं के पथिक बन जाते है।

अच्छे संस्कारों से मानव का विकास

वासनाएं जहाँ पर है वहाँ पर बन्धन है। अज्ञान जहाँ पर है वहीं काराग्रह है। इनका निर्माण मानव स्वय के परिश्रम से करता है और इनसे मुक्त भी वह स्वयं के परिश्रम से होता है। स्वर्ग, नरक और मुक्ति तीनों आप के हाथों में है। मानव पशु बन कर नीचे गिर सकता है तो भगवान बन कर ऊपर भी उठ सकता है। यदि हत्याएं कर सकते है अपराध कर सकते हैं, आत्मघात कर सकते है तो सदाचरण से परिपूर्ण जीवन को भी प्राप्त कर सकते हैं। जो काँटा बन-बन कर जी सकते है वही फूल बन कर भी जी सकते है। मानवभव सर्वश्रेष्ठ भव है। मनुष्य अन्य प्राणियो की तुलना मे गुणों का भंडार है। जैसे लोहा यदि मिट्टी मे पड़ा रहे तो उसमें जंग लग जायेगा। यदि उसकी सुई बना दे तो वह कीमती हो जाएगा, ताला बना दे तो और भी कीमत बढ़ जायेगी। जैसे-जैसे संस्कार डालेगे तो कीमत बढ़ जायेगी। कमियाँ या दोष तो सभी प्राणियों मे है मात्र व्यक्त और अव्यक्त का अन्तर है। जिनके दोष व्यक्त हो गए वे कानून की अन्तर्गत मे आ गए, उन पर मुकदमे आदि चलने लगे।

संस्कार जड़ व चेतन दोनो के किये जाते है। जड़ के भी सस्कार कम कीमत की वस्तु की अमूल्य बना देता है। कागज का मूल्य नहीं, किन्तु जब-जब उस पर अक की छाप और मोहर लग जाती है तो उस कागज के टुकड़े का भी मूल्य हो जाता है। इसी प्रकार इस शरीर का कोई मूल्य नहीं। किन्तु जब अन्तरंग और बहिरग के परिग्रह के भार को उतारने की मोहर लग जाती है। तब ये शरीर भी पूज्य बन जाता है।

पाषाण पूज्य नहीं है उसका कोई विशेष मूल्य भी नहीं है किन्तु जब उसमें भगवान वीतराग की मोहर लग जाए और मन्त्रों की अंक छाप लग जाए। तो वह पत्थर भी पूज्य बन जाता है। किसी जमीन क्षेत्र या वृक्ष का कोई विशेष मूल्य नहीं, कोई विशेषता भी नहीं किन्तु जहाँ जिस क्षेत्र पर या वृक्ष के नीचे तीर्थंकर भगवान का जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान या निर्वाण हो जाता है वह भूमिखण्ड, क्षेत्र और वृक्ष पूज्य बन जाता है। ऐसे ही जीव जिनके मन में वीतराग परिणत हो और वैसे ही उसकी वृत्ति महान हो वही महान है।

जीव के संस्कार आत्मा को भगवान बना देते हैं। विशेष कर माता के संस्कार व्यक्ति पर पड़ते हैं शिवाजी में शौर्य उनकी मा जीजाबाई ने भरा, अभिमन्यु को वीर उनकी माँ सुभद्रा ने बनाया ध्रुव को उनकी माँ ने भक्त ही बनाया, माता ही नही नारी भी जैसे विद्योत्तमा ने कालिदास को महान बनाया।

आत्मा मे अच्छे सस्कार उत्पन्न करने के लिए मन्दिर बनाये जाते है और उनमें वीतराग मूर्तियाँ स्थापित की जाती है और हम वीतराग मूर्तियो को इसलिए नमस्कार करते हैं कि उनके गुण हमारी आत्मा मे भी प्रकट हो जाए। आत्मा के सस्कार ही मानव के लिए उपादेय है यदि सुख चाहते ही तो धन से पहले अपनी आत्मा की रक्षा करो। आत्मा की रक्षा के लिए मन्दिर निर्माण कराये जाते है, मन्दिर धर्म ध्यान का स्थल है। यदि मन्दिर में सादगी न रहकर आडम्बर और वैभव अपनाया जाता है तो उसके कारण ध्यान न रहकर आर्त और रौद्र का कारण बन जाता है। मन्दिर जाने का अर्थ है कुसंस्कारो और वैभाविक सस्कारों को छोड़ना और आत्मा मे वीतराग मूर्ति के सस्कारो को धारण करना बहुत आवश्यक है। मानव जीवन में सस्कारो की बहुत बड़ी कीमत है। सस्कारित वस्तु का मूल्य अनमोल होता है। मानव जीवन मे माता पिता बचपन से ही सस्कार डालने शुरु कर देते है जैसे पशु पक्षियो में धीरे-धीरे सस्कार डालकर सर्कस मे उनसे बहुत काम लिया जाता है। उसी प्रकार बालक मे सस्कार डालने से वह भी सर्कस के आज्ञाकारी पशुओ की तरह अपने माता-पिता का आज्ञाकारी रहता है और बड़े होकर उनका जीवन विशेषताओ से सम्पन्न होता है।

एक नगर की बात है कि एक राजा के घर में धाय बच्चो को पालती थी, वह बड़ी धार्मिक विचारो की थी वह राजा के बच्चो को पालते समय कहा करती थी कि बड़े होकर तुम मुनि बनना। धीरे-धीरे राजा के छह लड़के बड़े हुए और वे मुनि बन गए। राजा को बड़ी चिन्ता हुई कि राज्य को कौन सम्भालेगा। उसने धाय को बुला कर अपनी चिन्ता व्यक्त कर दी। आया ने कहा कि महाराज आप चिन्ता न करो यह जो आपका सातवा पुत्र है यह आपके राज्यभार को सम्भाल लेगा, राजा ने कहा कि यदि वह भी मुनि बन गया तो? धाय ने कहा- ऐस कभी नही हो सकता। आया ने उसी दिन से छोटे को राजकुमार कहना शुरु कर दिया कि तू तो बडा होकर राजा बनेगा, तू बड़ा होकर राजा बनेगा। आखिर उस राजकुमार मे राजा बनने के सस्कार बन गए और वह बड़ा होकर महान पराक्रमी राजा बना। देखो ससार से कैसा परिवर्तन होता है। इसलिए हे भव्य जीवो तुम्हारा धन तुम्हारे बालक ही है तुम अपने बालको मे अच्छे सस्कार डालोगे तो तुम्हारा वश अच्छा होगा और तुम्हारे बालक बड़े होकर तुम्हे स्मरण करेगे। इस सन्दर्भ मे एक दृष्टान्त दृष्टव्य है -

संस्कारी तोता

एक राजा था उसने दो तोते खरीदे और उनके लिए सोने का पिजंरा बनाकर एक को अन्त:पुर मे टगवा दिया और दूसरे को अस्तबल में टंगवा दिया। अन्त:पुर में आने जाने वाले को

अन्त:पुर वाला तोता कहता कि आपका स्वागत है और घुडसाल में घोड़े की मालिश करने वाला घोड़ा कहता है कि हट पीछे तू गधा है। एक बार राजा अपने घुड़साल का निरीक्षण करने गया तो तोता बोला हट पीछे तू गधा है। राजा को बहुत बुरा लगा। निरीक्षण करते-करते जब राजा अन्त:पुर पहुँचे तो तोता बोला-आइये आपका स्वागत है। राजा बड़ा प्रसन्न हुआ। देखो यह सब संगति और सस्कारों का अन्तर है।

सस्कारों से ही हर वस्तु की कीमत बढ़ जाती है। प्रत्येक माता पिता चाहते है कि हमारा बालक शूरवीर हो लेकिन बिना सस्कार डाले कैसे कहोगे और आज के मा बाप के पास समय नहीं है तो बालक शूरवीर कैसे बनेगें। आज के माता पिता पिक्चर देखने जाते है तो बच्चे संग मे होते है अब सोचिए उस अश्लील चित्र को युवा पुत्री और पुत्र और माता पिता एक साथ बैठकर देखते हैं तो क्या उस प्रकार के संस्कार उनमे नही आयेगें, अवश्य आयेगें। समाज के पतन का यही करण है। महात्मागाधी और रविन्द्रनाथटैगोर पर माता पिता के सुसंस्कार ही तो थे जो वे भारत का मार्गदर्शन करा गए। बच्चो के संस्कार पिता की अपेक्षा माँ ही अधिक डाल सकती है। इसलिये मै आज माताओं से विशेष रुप से कहूगाँ कि अपने बच्चों को प्रात: साथ मे मन्दिर लाये तथा उन्हें णमोकार मन्त्र सिखलाये, उन्हें गन्दी कहानियों के बदले महावीर भगवान का चारित्र सुनाएं, नैतिक तथा आध्यात्मिक शिक्षाएं दें। लेकिन आज देखने में आता है माताए टेलीविजन, वीड़ियो, कम्प्यूटर भौतिक पदार्थों को ही बच्चों के मनोरंजन का साधन बना रही है फिर धर्म की बात घर में कैसे हो, प्राचीन भारत की सस्कृति भारत मे नहीं विदेशो तक मे सम्मान के साथ देखी जाती थी लेकिन आज हमने अपनी कीमती संस्कृति देकर विदेशो के सस्ते एव नीचे सस्कार ग्रहण कर लिए। बच्चो को पैन्ट पहनाना, हिप्पीकट बाल रखवाना आदि करते है इसलिए बच्चों पर बुरा असर पडता है।

एक समय की बात है कि एक ठाकुर पर किसी व्यक्ति के कुछ रुपये उधार चाहते थे वह व्यक्ति जब भी पैसे मांगने आता ठाकुर उसे दो तीन दिन का वादा कर टाल देता। एक दिन वह व्यक्ति आने वाला था तो ठाकुर साहब ने अपने छहवर्षीय बालक को दरवाजे पर बैठा दिया कि जब वह व्यक्ति आकर पूछे कि तुम्हारे पिताजी कहाँ है तो उसे कह देना कि घर पर नही है और स्वयं घर मे बैठ गया। जब वह व्यक्ति आया तो बालक से पूछने लगा तो बालक ने फौरन मना कर दिया कि पिताजी घर पर नहीं है। एक दो दिन बाद बालक ने पिताजी की जेब से चार रुपये निकाल कर खर्च कर लिए, पिताजी के पूछने पर उसने मना कर दिया अनेक प्रलोभन देने तथा न मारने का वादा लेने के बाद बालक ने कहा कि आप अब घर में थे तो आपने क्यों कहलवाया था कि पिताजी घर में नहीं हैं।

देखो बालकों को स्वभाव कोमल होता हैं उनसे तुम जिस प्रकार का व्यवहार करोगे

वैसा ही उनके स्वभाव में रमता जाता है और उसे ही संस्कार कहते हैं। देखिये – चारुदत्त वेश्या के यहाँ जाते थे लेकिन उनके संस्कार बदलने पर सर्वार्थसिद्धि के देव हुए। रानी चेलना ने अपने अच्छे सस्कारो के कारण ही राजा श्रेणिक को सम्यग्दृष्टि बना दिया और रानी चेलना के कारण ही वे तीर्थंकर होगे। कहने का तात्पर्य यह है कि जीव अपना भी कल्याण कर लेता है और दूसरो को कल्याण का मार्ग भी बता देता है। कुसंस्कार के कारण ही जीव स्वयं भी डूब जाता है और साथ में अन्य को कुसस्कारी बना कर उन्हें भी डुबो देता है। यदि माताएं अपने बच्चो को अच्छी शिक्षाएं देगीं तो माताओ की वृद्धावस्था अच्छी तरह बीतेगी और बालक भी भारत का सुधार एव अपना भी कल्याण कर सकते है।

एक नगर मे एक सेठ जी निवास करते थे। वे सेठ जी बड़े दयालु थे, प्रात:काल उठकर शारीरिक क्रियाओ से निवृत्त होकर जिनमन्दिर जाने के लिए शुद्ध वस्त्र धारण करके पूजा की सामग्री लेकर तथा शुद्ध मन से तैयार होकर चार हाथ जमीन देखकर जिन मन्दिर जाते थे। मन्दिर पहुँच कर भक्तिभाव सहित जिनेन्द्र भगवान के दर्शन करते थे, दर्शन के बाद जिनेन्द्र भगवान की पूजा कम से कम चार घण्टे तक करते थे। पूजा करने के बाद शास्त्र का स्वध्याय भी करते थे तथा सामायिक वगैरह सभी दैनिक श्रावको की क्रियाए करके अपने घर जाते थे। घर पर आकर भोजन करके कुछ समय आराम करते और फिर व्यापार हेतु दुकान पर जाते थे। सेठजी के यहाँ विशाल धन सम्पत्ति थी, सभी प्रकार की सुख सुविधाएं प्राप्त थी, सेठजी की पत्नी समस्त गुणो से सम्पन्न थी, शीलवती, गुणवती थी। इतने सब कुछ होने पर सेठ जी को एक पुत्ररत्न का अभाव था। सेठजी पुत्ररत्न के अभाव मे चिन्ता मे घुले जा रहे थे। सोचते थे कि इतनी विशाल सम्पत्ति किसके काम आयेगी। सेठानीजी को भी पुत्र के अभाव मे चिन्ता लगी रहती थी।

एक दिन उसी नगरी मे नग्न दिगम्बर मुनिराज का समागम हुआ। मुनिराज की नगरी मे आने की सूचना जब नगरवालो को पता चली तो सब नगर वाले अपने परिवार सहित मुनिराज की वन्दना के लिए गए। सेठ जी ने भी अष्टद्रव्य से मुनिराज की स्तुति, वन्दना और पूजा की, और मुनिराज के प्रवचन सुनने की इच्छा से बैठ गए। मुनिराज ने जिनवाणी के अनुसार सात तत्वो की चर्चा सुनाई। मुनिराज का उपदेश बड़ी तन्मयता से सुना। जब मुनिराज उपदेश दे रहे थे तो उनका उपदेश सुनने के लिए जंगल मे रहने वाले सिंह, हाथी, व्याघ्र, चीता, बिल्ली, चूहा तथा नाना प्रकार के पक्षी अपने, अपने स्वभाव का वैरभाव छोड़ कर महाराज की अमृतवाणी का शान्तभाव के साथ पान कर रहे थे। सभी जीव ऐसे मुग्ध हो गए कि स्वयं को भी भूल गए। जब मुनिराज ने प्रवचन समाप्त कर दिए तब सभी जीव मुनिराज के दर्शन कर चले गए। सेठ जी अपनी पत्नी सहित मुनिराज के पास बैठे रहे। सेठ जी बड़ी विनम्रतापूर्वक हाथ जोड़कर मुनिराज से पुत्रोत्पत्ति न होने का कारण पूछने लगे तब मुनिराज ने कहा सेठजी तुम्हारे दुष्कर्म का चक्र तो गया और शुभकर्म आ गया आज से एक वर्ष बाद तुम्हारी पत्नी के पुत्र रत्न की

प्राप्ति होगी। वह पुत्र बड़ा ही पुण्यवान होगा, धार्मिक प्रवृति का जीव तथा महान विद्वान पुत्र होगा, जो अपने गुणों के द्वारा सम्पूर्ण नगर में यश फैला देगा ऐसा जीव आपकी पत्नी के गर्भ मे आने वाला है आप किसी भी प्रकार की चिन्ता न करें।

मुनिराज से जब ऐसा शुभ तथा सुखदायक पुत्ररत्न की प्राप्ति का समाचार सुना तो पति और पत्नी बड़े प्रसन्न हुए तथा उनकी हर्ष की सीमा न रही। पति और पत्नी मुनिराज को नमस्कार करके घर लौट आए।

मुनिराज के वचनानुसार सेठजी के पुत्ररत्न का जन्म हुआ। सेठजी के हर्ष की सीमा न रही। अब तो सेठजी ने याचको को दान देना शुरु कर दिया। कोई भी याचक खाली हाथ नही जाने पाता था। सेठजी ने पुत्र का जन्मोत्सव बड़े धूमधाम के साथ मनाया तथा जिनमन्दिर में पूजा विधान कराया तथा चार प्रकार के संघ में अपार धन दान दिया। तीर्थक्षेत्रों को अपार धन राशि भेज दी। पुत्र प्राप्ति का हर्ष जितना सेठजी को हुआ उससे दुगना चौगुना हर्ष सेठानी को भी हुआ। पुत्र द्वितीया के चन्द्रमा की तरह बढ़ने लगा। उसके शरीर की कान्ति दिन प्रतिदिन बढ़ने लगी सेठ जी ने पुत्र के पढ़ने लिखने की उचित व्यवस्था की। सत्संगति में रह कर पुत्र अध्ययन करने लगा। कुछ ही समय में बालक समस्त विद्याओं में निपुण हो गया। जब बालक ने समस्त शास्त्रो का अध्ययन कर लिया तो इतना विद्वान हो गया कि उसकी बराबरी करने वाला और कोई विद्वान नहीं हुआ। सेठजी ने पुत्र के गुणवान लड़की के साथ शादी कर दी। अब वह गृहस्थ का पालन करने लगा कुछ समय पश्चात् सेठ जी को वैराग्य हो गया और वे ससार से विरक्त हो गए। सम्पूर्ण भार इस नवयुवक पर आ गया। लोग उसको विद्वान होने के कारण पण्डितजी कह कर पुकारने लगे थे।

जिस समय पण्डितजी की पत्नी को मासिक चक्र चल रहा था उससे पहले पण्डितजी की माता पण्डितजी की पत्नी को समझा देती है - ''बहू जब तुम्हारे मासिकचक्र चलता हो तो उसके एक दिन पहले से मकान में बन्द रहना यानि मकान से बाहर न निकलना। हम तुम्हारे खाने पीने का इन्तजाम मकान मे ही करा देगे। ऐसे बहू को नाना नाना प्रकार से समझा दिया।

समय आने पर वह पत्नी एक मकान में ही रहती रही तथा वही पर सभी प्रकार की व्यवस्था कर दी। जब मासिकचक्र पूर्ण हो जाता तब वह अपने पति का मुख देखा करती थी तथा सासजी के बतलाये अनुसार आचरण किया करती थी। जब गर्भ के नौ माह पूर्ण हुए तो उसने पुत्र रत्न को जन्म दिया। वह पुत्र अपने माता पिता की आकृति के समान सद्गुण सम्पन्न पैदा हुआ। कुछ दिन पश्चात् पण्डितजी की माता का देहान्त हो गया। जब पण्डितजी की पत्नी के मासिकचक्र चलता था तो वह अपनी सासू जी के द्वारा बताई बात को भूल गई और सोचती है कि अरे बैठे-बैठे क्या करे हमारी चप्पल टूटी पडी है चलो इसे चलकर ठीक करा लावे ऐसा विचार कर वह अपनी सासू के द्वारा बताया तरीका भूल गयी और मासिकचक्र तो चल ही रहा था वह पण्डितजी सवेरे शाम यही कहते रहते कि हमारे तो एक ही लडका है। ऐसा सुनते-सुनते

पत्नी को बहुत दिन हो गए। एक दिन पत्नी से न सुना गया वह क्रोधित होकर बोली – कुछ दिनों से सुनती आ रही हूँ कुछ कहने की भी सीमा होती है। हमें तो पतिदेव ने पागल समझ लिया इन्हे जरा भी शर्म नही आती ये शेष तीन बच्चे मै कहाँ से लायी। इस प्रकार वह पण्डितजी से कहने लगती है। तब पण्डितजी उसे समझाते हुए कहते है कि ज्यादा वाद-विवाद से कोई लाभ नहीं। यदि ऐसा ही है तो बालको की एक दिन परीक्षा ले ली जाए। तब तो तुम्हें मालूम हो जायेगा कि पतिदेव सही कहते है।

जब बच्चे पढ़ लिख कर शाम को पाठशाला से आए और खाना माँगे तब आप उन्हे उत्तर देना कि बेटा तुम्हारे पिताजी ने तो हमे इतना पीटा है कि हमसे तो उठा भी नहीं जा रहा है तुम्ही देखो हमारे पैर मार के कारण सूज रहे है। हमसे तो कोई काम नही होता। जो भी तुम उचित समझो वही करो। बस ऐसा उत्तर देना तो अपने आप मालूम हो जाएगा कि हम सही कहते है या झूठ।

जब शाम हो गयी और बच्चो के पाठशाला से आने का समय हो गया तब पण्डितजी किसी वस्तु के सहारे छिप गए और पत्नी बहाना बनाकर उदास मन से बैठ गयी जैसे किसी ने बडे जोर से पीटा हो। जब छोटा बच्चा शाम को विद्यालय से आता है तो माँ से कहता है कि बड़ी जोर से भूख लग रही है जल्दी खाना दे। मा बालक को खाना नही देती और कहती है – हे पुत्र तुम्हारे पिताजी ने हमें आज हतना पीटा है कि हमारे हाथ पाँव भी सूज गए और शरीर मे बड़ी वेदना हो रही है। अतः हमने आज खाना तो बनाया ही नही और अब जैसा तुम उचित समझो वैसा करो।

जब बालक मा की ऐसी दयनीय स्थिति को देखता है तो कहता है कि मा पिता जी कहाँ है? मा कहती है – कि बेटा बाहर निकल गए होगे। तब बालक कहता है कि यदि मा पिताजी घर पर होते तो उन्हे ऐसी मार लगाई जाती है जैसे तिलों से तेल बाहर आ जाता है। इस प्रकार पिताजी की हड्डिया तोड़ दी जाती। ऐसा गुस्सा होकर तथा पैसे लेकर वह बाजार चला गया।

कुछ समय के पश्चात् उससे बड़ा लड़का पाठशाला से आता है और खाना मागँता है, उत्तर सुनकर बालक मा को कहता है कि पिताजी कहाँ गए, मा कहती है कि वह बाजार निकल गए होगे।

उत्तर सुनकर बालक कहता है कि यदि पिताजी इस समय मुझे यहाँ मिल जाते तो उनकी वह दशा की जाती जो कसाई मूक पशुओ की करता है तथा गुस्से मे खराब शब्द कहता हुआ रुपये लेकर बाजार की ओर चल दिया।

कुछ समय पश्चात् उससे बडा लड़का विद्या अध्ययन करके आता है और माता जी से खाना मागता है। माँ ठीक वही उत्तर देती है जो छोटो को दिया था। बालक माँ का उत्तर सुनकर आगबबूला हो जाता है उसके सारे शरीर मे आग लग जाती है और लाल नेत्र करके कहता है

कि यदि पिताजी यहाँ होते तो इतनी मार लगायी जाती एवं चप्पलों के द्वारा उनकी पीठ लाल कर दी जाती। इस प्रकार वह भी खराब शब्द कहता हुआ बाजार की तरफ चल दिया।

कुछ समय पश्चात् सबसे बड़ा लडका विद्यालय से विद्या अध्ययन करके आता है जब वह मकान के अन्दर प्रवेश करता है तो उसकी निगाहें माता जी पर पडती है तो माँ का चित्त उदास देकर वह बोलता है कि माताजी आज क्या है? आज आपका मुख मलिन क्यो दिखाई दे रहा है? क्या आपको कोई बीमारी हो गयी? क्या किसी भाई ने आपकी आज्ञा का उल्लंघन किया है या मुझ दास से कोई अपराध हो गया है। किसलिए आपका मुख उदास है माताजी बालक की ऐसी मधुर वाणी सुन कर ठीक पहले वाला ही उत्तर देती है जो शेष तीनों बच्चों को दिया था। माँ की बात सुन कर बालक कहता है माता जी आपने कोई गलती की होगी उनकी आज्ञा के विपरीत कार्य किया होगा तभी पिताजी ने आपके ऊपर हाथ उठाया होगा, नहीं तो पिता जी कोई मूर्ख नहीं जो व्यर्थ मे ही आपको पीट देते। माताजी कोई बात नहीं, साहस रक्खो तथा भोजन बनाने की सामग्री लाओ मै शीघ्र भोजन तैयार करता हूँ, कारण कि छोटे भाई भी आते होगे तथा वह भी भूखे होगें तथा आप भी भूखी होगी और जो शेष भोजन बचेगा वह मैं पाऊँगा।

जब ऐसा उत्तर पण्डितजी ने सुना तो वह जल्दी ही सामने आ गए और कहने लगे हो गई परीक्षा। हम इसलिए कहते थे कि हमारा सिर्फ एक लड़का है। पत्नी को अपनी गलती मालूम पड़ी तो वह पश्चाताप करने लगी।

इस दृष्टान्त से यह शिक्षा मिलती है कि सन्तान के ऊपर गर्भावस्था में अच्छे या बुरे जैसे भी सस्कार पड़ जाते है वैसे ही जिन्दगी भर उसके साथ रहते है। अत: शिक्षा लेनी चाहिए कि अपनी सन्तान पर ऐसे सस्कार गर्भावस्था में न पडने पाएं जिससे कि होने वाली सन्तान वंश में कंलक न लगाए। आज वर्तमान युग में यही कारण है कि सन्तान के आचरण बिल्कुल ही परिवर्तित हो गए। कहा भी है -

जैसे जाके बाप भाई ताके वैसा लड़का।
जाके जैसे नदियां नाले, ताके वैसे वर्षा।।

अत: माता-पिता को ध्यान देना चाहिए कि आने वाली सन्तान सुयोग्य चरित्रवान हो।

विद्या एवं विद्यार्थी जीवन कैसा हो

विद्यालय आपका ज्ञान का मन्दिर है। यहाँ ज्ञान की ज्योति जलती है, उस ज्योति से आप भी अपने मनमन्दिर को प्रकाशित करते हैं। गुरुदेव के चरणों में बैठ कर आप ज्ञान प्राप्त करते है। विद्यालय आपके जीवन की निर्माणस्थली है। वहाँ आप अपने जीवन का उत्कृष्ट निर्माण चाहे तो कर सकते है आपका अभीष्ट निर्माण तभी सम्भव है जब आप वहाँ पर अपने कर्त्तव्यों का पूर्ण मनोयोग से पालन करें यदि आपने अधमने होकर यह काम किया तो आपका निर्माण भी अधूरा रह जायेगा। यदि आप अपना कर्त्तव्यपालन न कर सकें, किसी कुसंगति मे पड़कर भ्रष्ट हो गए तो आपका जीवन नष्ट हो जायेगा। एक उदाहरण है -

नकली इन्सपैक्टर

एक बार एक इन्सपैक्टर महोदय अचनाक स्कूल का निरीक्षण करने पहुँच गए। क्लासटीचर ने अचानक निरीक्षक महोदय को देखा और अपने स्थान पर पहुँच गए। उन्होंने जाकर क्लासटीचर से कहा कि मै आपके क्लास के छात्रो की परीक्षा लेना चाहता हूँ, जो पिछली कक्षा मे मेरिट पर आये थे। जो सर्वाधिक कुशल, बुद्धिमान हो, वे तीन छात्र क्रमशः मेरे पास आये और मै जो प्रश्न करूँ उसे बोर्ड पर हल करें एक छात्र चुपचाप उठकर आगे आया उसे जो प्रश्न दिया गया उसने बोर्ड पर हल कर दिया और अपनी जगह वापिस जा कर बैठ गया। फिर दूसरा छात्र आया उसने भी बोर्ड पर प्रश्न हल किया और अपने स्थान पर चुपचार जाकर बैठ गया। लेकिन तीसरे छात्र के आने में जरा देर लगी। वह आया भी तो झिझकते हुए और बोर्ड के पास आकर खड़ा हो गया, उसे सवाल दिया गया और वह हल करने लगा। लेकिन तभी निरीक्षक महोदय को ख्याल आया कि यह तो पहला ही विद्यार्थी है अपना चश्मा उतारकर उन्होंने ठीक तरह से उसे देखा निरीक्षक महोदय ने कहा मुझे ऐसा लग रहा है कि तुम वही पहले नम्बर वाले विद्यार्थी हो। फिर क्यों आ गए? उस विद्यार्थी ने कहा कि - 'सर! माफ कीजिए हमारी कक्षा का तीसरे.नम्बर का विद्यार्थी पिक्चर देखने गया है, मै उसके स्थान पर आया हूँ, वह मुझ से कहकर गया है कि मेरा कोई भी काम हो तो तुम कर देना।'

निरीक्षक महोदय यह सुनते ही आग बबूला हो गए और बहुत जोर से चिल्लाकर नाराज होने लगे। क्या मैं मूर्ख हूँ? क्या मैं अन्धा हूँ? क्या मुझे पागल समझ रखा है? आज जीवन में प्रथम बार देखा है कि एक विद्यार्थी दूसरे विद्यार्थी के प्रश्न हल कर रहा है इससे पहले मैंने सुना भी नही था। इससे बड़ा भ्रष्टाचार और क्या हो सकता है? इससे बढ़कर अनैतिक बात और क्या हो सकती है? उसने विद्यार्थी को समझाया कि आज मैं तुम्हे माफ कर रहा हूँ, अब ऐसी गलती पुन: मत करना इससे बाद उसने शिक्षक की ओर मुड़ कर कहा कि आप भी खड़े-खड़े देख रहे है और फिर भी आपने विद्यार्थी को मना नहीं किया। मुझे मूर्ख बनाया जा रहा है और आप देख रहे है। शिक्षक उस समय मौन होकर निरीक्षक महोदय की बातों को सुनता रहा।

अन्त में निरीक्षक महोदय ने कहा अब तो मुझे ऐसा लगता है कि आप भी इस क्लास में नये-नये आये है और इन विद्यार्थियों को पहिचानते ही नहीं है। उस शिक्षक ने कहा कि आप बहुत अनुभवी है आपने बिल्कुल ठीक पहिचाना। मुझे इस क्लास को देखने के लिए कहा गया था। इस पर निरीक्षक ने शिक्षक को खूब जोर से डाँटा और अचानक ही नम्र हो गया, कहा-आप लोग सौभाग्यशाली है, क्योंकि आज असली इन्सपैक्टर नहीं आया। वह तो हनीमून मनाने गया है, मै उस इन्सपैक्टर का मित्र हूँ यदि आज असली इन्सपैक्टर होता तो आपकी खैर नहीं थी।

हम दूसरों की कमिया जल्दी देख लेते हैं, उनकी भूलें उनका अन्धकार हमें जल्दी दिखाई पड़ता है। हमारे जीवन की खुशी, हमारा सुख, दूसरों की कमियाँ ढूढ़ने में ही अभ्यस्त है। उसका कारण यह है कि दूसरों का अन्धकार देखने में स्वयं का अन्धकार सामान्य हो जाता है उस समय ऐसा लगता है कि सभी लोग ऐसे ही है। मुझमें कोई विशेष खराबी नहीं है।

जब तक मानव स्वयं के जीवनतथ्यों का निरीक्षण नहीं करता, तब तक वह संसार, राष्ट्र, समाज के सृजन में अपना वास्तविक योगदान नहीं दे सकता।

यदि नयी पौध को उत्थान की ओर ले जाना है तो स्वयं को, स्वयं के जीवन को सयमित बनाना पड़ेगा एवं अपना आदर्श जीवन प्रस्तुत करना होगा। हम अपने इन मिट्टी के लौंदो को साकार तभी कर सकेगें जब हमारा जीवन आर्दश होगा। ये सब कच्चे है, हम इन्हें अपनी योग्यता और बुद्धि की शक्ति से किसी भी दिशा में मोड़ सकते है।

शिक्षको को चरित्र उज्ज्वल होना चाहिए। सर्व प्रथम उन्हें सात व्यसनों- जुआ, शिकार, वेश्यागमन, परस्त्री सेवन, मदिरा, मास और चोरी इत्यादि का सेवन नहीं करना चाहिए। बच्चों के साथ अभद्र हंसी-मजाक तो शिक्षकों को करना ही नहीं चाहिए। एक उदाहरण है -

गुरु का आदर

एक बार एक गुरु और एक शिष्य एक गाँव से दूसरे गाँव की ओर जा रहे थे कि मार्ग मे उनके पुण्योदय से ऐसा अद्‌भुत गाँव मिला जहाँ पर प्रत्येक वस्तु दो पैसे में मिलती थी। शिष्य दो-दो पैसे देकर गाँव से अनेक प्रकार की वस्तुएँ ले आया। दोनों ने मिलकर भोजन किया। भोजनोपरांत गुरु दूसरे गाँव चलने को तैयार हुए तो शिष्य बोला - आप इसी गाँव में रुकिये। यहाँ अच्छा अच्छा भोजन मिलता है, अन्यत्र जाने की आवश्यकता नहीं है। व्यर्थ क्यों परेशान होते हो? शिष्य लोभी था। रसनेन्द्रिय का दास था। उसने अनेक प्रकार से गुरु को रोकने का प्रयास किया किन्तु गुरु रुके नहीं और जंगल की ओर चले गए और शिष्य वहीं रह गया।

एक दिन ग्राम पुरोहित ने बताया कि गाँव की देवी अचानक नाराज हो गयी एवं देवी को खुश करने के लिए शहर के सबसे मोटे व्यक्ति की बलि चढ़ानी होगी। शिष्य इन्हीं दिनों

काफी मोटा हो गया था। आखिर पड़े-पड़े खाने वाला मोटा नहीं होगा तो और क्या होगा? इसलिए तो सेठ लोग ज्यादा मोटे होते है। भीतर से तो खाली ही रहते है। राजा के आदमी मोटे आदमी की तलाश में निकले तो गाँव में फालतू और सबसे ज्यादा मोटा शिष्य उन्हें मिल गया। वे उसे तुरन्त ही राजा के पास ले गया। बलि का दिन भी निश्चित हो गया। बेचारा शिष्य अपने आप में बैचेन हो गया। उसे कोई भी सहायता करने वाला नही दिखा। अब शिष्य को पैसे सेर की मिठाई अखरने लगी। सस्ता माल तो ऐसा ही होता है। अन्त मे प्राण लेकर ही जाता है। शिष्य को अपने गुरु की याद आ रही थी। बेचारा पछताता रहा था कि देखो मैंने यदि गुरु की आज्ञा का पालन किया होता तो ऐसी नौबत न आती।

जो अपने से बड़ो की माने ना सीख, ले लठिया हाथ मे वो मांगे भीख। शिष्य के मन मे विचार आया कि गुरु तो परमोपकारक होते है, उनके पास समाचार देना चाहिए। वे ही मेरी जान बचा सकते है। अपने ऊपर आई हुई विपत्ति का समाचार विनयपूर्वक क्षमायाचना करते हुए, गुरु के पास पहुँचा दिया। वात्सल्य रस में पगे, दयारस में डूबे गुरु महाराज तुरन्त ही शिष्य की रक्षा हेतु नगर मे पहुँच गए शिष्य को समझाया कि जिस प्रकार कहूँ वैसा ही करना। जब बलि-चढ़ाने का दिन आया, शिष्य को नहलाधुलाकर मन्दिर मे ले जाया गया। जैसे ही शिष्य की गर्दन पर छुरा चलाने को उठाया गया कि अचानक गुरु जी सामने आकर कहने लगे कि आज इसके स्थान पर मैं मरुगा। ऐसा सुअवसर बार-बार नहीं आता। मैं बहुत सौभाग्यशाली हूँ। धन्य भाग्य है मेरे, जो मुझे ऐसा पावन अवसर मिला है, यह स्वर्ण अवसर मैं अपने हाथो से हरगिज नही जाने दूगा। मैं आज ही मरुंगा।

राजा यह सब दृश्य देखकर आश्चर्य में पड़ गया। आखिर बात क्या है? उसने गुरुजी को बुला कर पूछा कि आप मरना क्यो चाहते है? फिर कभी मर जाना। ऐसी क्या बात है? क्या कोई विशेष घटना-घटने वाली है? क्या कोई विशेष लाभ होने वाला है? गुरु जी ने कहा- आज का दिन सबसे शुभ है। साथ ही इतना शुभ और शुभ मुहूर्त युगपत् कभी नही आते। इसलिए मेरी आप से प्रार्थना है कि यह स्वर्ण अवसर मुझे ही दिया जाये। वैसे भी मैने जीवन में बहुत तपस्या की है, साधना की है उसका फल तो मुझे मिलना ही चाहिए। साथ ही मेरी उम्र भी काफी हो चुकी है इसलिए इस परमपावन अवसर का शुभ लाभ मुझे मिलना ही चाहिए। ऐसे मौके जीवन मे बार-बार नहीं आते है। आज के दिन तो अधम से अधम भी तिर जायेगा।

राजा ने गुरु जी की बातो को बहुत ध्यानपूर्वक सुना और मन ही मन सोचने लगा कि मुझसे बड़ा पापी कौन होगा? राज्य करने मे बहुत पाप होता है वैसे भी मेरा बुढ़ापा आ गया है। मैं इस नगर का राजा हूँ। राजा को ही श्रेष्ठ वस्तु का भोग करना चाहिए मुझे कौन रोक सकता है, ये तो साधु हैं, पुण्यात्मा हैं इन्हें तो वैसे भी स्वर्ग मिल जायेगा वैसे कौन राजा कब स्वर्ग जाता है। शायद ही भूल से कोई राजा स्वर्ग चला जाए तो चला जाये, नहीं तो नरक ही उसके भाग्य में लिखा होता है। राजा ने सब लोगों के सामने आकर कहा कि बन्धुओं, इस

स्वर्ण-अवसर का लाभ मैं लेना चाहता हूँ इसलिए इनके स्थान पर बलि का बकरा मुझे ही बनाया जाये।

छात्रों! आप लोग इस घटना का आशय समझ गए होगें। गुरु के बिना जीवन में उन्नति नहीं है। गुरु के अभाव में जीवन उसी प्रकार का है जिस प्रकार रस्सी के अभाव में बाल्टी का होता है। गुरु कभी अपने शिष्यों का बुरा नहीं चाहते। जिस प्रकार माली अपने वृक्षों का बुरा नहीं चाहता उसी प्रकार गुरु करुणा के सागर होते हैं। गुरु के द्वार से कभी कोई निराश नहीं लौटता। गुरु राह बताकर आपको उबारते हैं अब आप ही सोचिए कि गुरु कितने दयापूर्ण होते हैं। शिष्य की खबर सुनते ही आ गए और मौत के कगार से शिष्य को लौटा लाए उनका स्वप्न मे भी अपमान नहीं करना चाहिए। यदि जीवन में उन्नति करना चाहते हो तो गुरुओं के चरण में अपने माथे को लगा कर चले ताकि आपका जीवन सफल हो जाये।

स्कूल ही एक आदर्श नागरिकों तैयार करने की निर्माणशाला है। जहाँ पर बच्चों को स्वावलम्बन व सादगी की शिक्षा के साथ आध्यात्मिकशिक्षा भी प्राप्त करवानी चाहिए। कौवे की भाति चचल मन रखने वाले विद्यार्थी कभी बुद्धिमान नहीं बन सकते हैं। आज भारत में संविधान लागू किए तीस वर्ष हो गए। भारतीय संविधान मे स्वीकार किये गए सिद्धान्त वस्तुतः मौलिक है। विश्व मे अनेक देशो मे सत्ता के लिए संघर्ष चल रहा है। उन्होने हिंसा का मार्ग अपनाया और नेताओ को जेल मे रखा या उन्हें गोली से भून दिया गया। इस भारतदेश मे तीस वर्ष तक अनेक संघर्ष चलने पर सब अहिंसात्मक चले। सघर्ष तो चलता रहा, पर उसका मार्ग व उद्देश्य पवित्र होना चाहिए। भारत की यह विचारधारा आज भी सुरक्षित है। वर्तमान में इस देश में सत्ता का परिवर्तन हुआ। पदप्राप्ति भी अहिसा व हृदय परिवर्तन के द्वारा ही की जा सकती है। उन्होंने हिंसा को नही अपनाया। भारत का यह प्राचीन सिद्धान्त रहा है। इसलिए भारत जैसा देश है वैसे ही विद्यार्थी बनने चाहिए। हिंसा से या हड़तालो से कोई भी मसला हल नहीं हो सकता। इन क्रियाओ से शिक्षा में बाधा पड़ती है।

विद्यालयों में झांकियों के माध्यम से गरीबो की सेवा, चिकित्सापद्धति से रोगियों की सेवा, परोपकार व सेवा भाव का पाठ पढ़ना चाहिए। ऐसी झांकियों का बच्चों पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। ऐसी झांकियों से उन्हे माता-पिता की सेवा, गरीबों की सेवा, दुखियों के प्रति दया की प्रेरणा मिलती है। मनुष्य के साथ-साथ घायल पशु-पक्षियो की सेवा व उसके प्रति दया-भाव दिखाना चाहिए। बच्चों को सीखना चाहिए कि वे किसी पशु पक्षियों को न घायल करें अथवा न जान से मारे। विद्यालयो में कभी भी हिंसात्मक व दुराचार की झाँकियाँ जैसे चाकू दिखाकर महिलाओं के गहनों व पुरुषों से धन लूटना नहीं दिखाना चाहिए। इसमें बच्चों पर गलत प्रभाव पड़ता है इससे वे गलत शिक्षाएं ग्रहण कर लेते हैं। इन्हीं के परिणामस्वरुप अराजकता फैलती है। बालक राष्ट्र की सेवा पर ध्यान दें। वे कर्त्तव्यनिष्ठ, कर्त्तव्यपरायण व आदर्श नागरिक बनें।

पहले समय विद्यार्थियों को व्यवहारिक शिक्षा के साथ-साथ धार्मिक शिक्षा भी दी जाती था। सभी धर्मदर्शनों का ज्ञान कराया जाता था। अपने धर्म दर्शन के प्रति निष्ठावान रहने के लिए प्रेरणा दी जाती है। सभी भाषाओ के प्रति प्रेम व वात्सल्य रखना सबको सिखाया जाता था।

लड़को को महान पुरुषों के इतिहास पढ़ने चाहिए। उनके चारित्र की बात बतानी चाहिए। विद्यार्थी को किसी भी राजनैतिक गतिविधियों मे भाग नहीं लेना चाहिए। एकनिष्ठ होकर विद्या प्राप्त करनी चाहिए। पहले जब युवावस्था मे अध्ययन समाप्त कर चुकते थे। तब देश के निर्माण मे अध्यापकों का बहुत उत्तदायित्व होता था। यद्यपि आज अध्यापकों के सामने अनेक समस्याये है। फिर भी उन्हे देश के लिए अच्छे नागरिकों को तैयार करने के लिए तत्पर रहना चाहिए। उनके त्याग व आदर्श का बच्चों पर बहुत अच्छा असर पड़ेगा। स्कूल ही आर्दश नागरिक तैयार करने की निर्माणशाला है सब विद्यार्थियों को अपने कर्तव्य का पालन करते हुए देश, समाज व परिवार का नाम रोशन करना चहिए। तभी शिक्षा की सफलता है। विद्यार्थियो को सादे कपड़े पहनने चाहिए। फिल्म भी नहीं देखनी चाहिए क्योंकि चारित्र पर बुरा असर पड़ता है। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर से सादगी की शिक्षा लेनी चाहिए। महात्मागाँधी ने अपना जीवन सादगी से निभाया।

एक समय की बात है कि एक बहुत गरीब लड़का था। लेकिन उसे पढ़ने की बहुत इच्छा थी। माता-पिता से कहता कि मै बहुत पढ़ूँगा। लेकिन पिता जी कहते है कि बेटा हमारे पास पैसे का साधन नहीं है। वह कहता - पिता जी मुझे पैसे का क्या करना है। दो गाढ़े के पायजामे और दो कमीज बनवा देना। जो मुझे तुम घर पर भी तो पहिनाओगे। कुछ दिन के लिए जो मित्र पहली शिक्षा पढ़ चुके हैं उन से पुस्तकें ले लूँगा। कभी मुझे फिल्म नहीं देखनी, किसी से झगड़ा फिसाद नहीं करना, स्कूल जाना और घर आना। जब ये बातें माता-पिता को कही, तब वह कहने लगे बेटा- तुम्हारी इच्छा जैसी भी हो करो। वह लड़का सादे जीवन से पढ़ने लगा। पढ़ते-पढ़ते वजीफा प्राप्त किया और पढ़कर बहुत ऊँचे पद पर अधिकारी हुआ। ऐसा होता है सादा जीवन है। विद्यार्थियो, तुम भी अपना सादा जीवन अपनाओ, कभी हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील परिग्रह जो पाँच पाप है इन से दूर रहो। तो तुम्हारी व्यवहारिक जीवन मेंसुधार आयेगा। आत्मा भी पवित्र हो जायेगी व ऊँची शिक्षा भी प्राप्त होगी।

आधुनिक एंव प्राचीन विद्यार्थी

मनु महाराज ने मनुष्य की आयु सौ वर्ष मान कर उसे चार भागो में विभाजित किया है- ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास। ब्रह्मचर्य ही विद्यार्थी काल है यह वह काल है जिस पर जीव के अन्य सभी भाग निर्भर करते है। मनुष्य जो कुछ करना चाहता है वह इसी काल में कर सकता है यह समय मनुष्य के लिए विद्या और शान्ति संचय करने का होता है। यदि दुर्भाग्य से किसी मनुष्य का यह व्यर्थ बीत जाए तो उसके भविष्य का निर्माण कभी नहीं हो सकता।

प्राचीन विद्यार्थी उपनयन और वेदारम्भ संस्कार के पश्चात् गुरुकुलों और तपोवनों में चले जाते थे। वे वनों में रहते थे। प्राय: 24 वर्षों तक उनका नगरों से कोई सम्बन्ध नहीं होता था। वे गुरुकुल में गुरु की सम्पत्ति बन जाते थे। आदर्श गुरु उनके प्रत्येक पहलू को सुधारने में रत रहते थे। विद्यार्थी अपने गुरु की सेवा करते थे और अपने ज्ञान को बढ़ाते थे। ब्रह्मचर्य उनका प्रमुख धर्म था। उच्च चरित्रवान होने के कारण उनका मुख तेज और कान्ति से दीप्यमान रहता था।

किन्तु आधुनिक विद्यार्थी इसके सर्वथा प्रतिकूल है। आज का विद्यार्थी माता-पिता के साथ रहता हुआ, नगरो के प्रदूषित वातावरण में शिक्षा प्राप्त करता है। सिनेमा उसके नित्यकर्म मे है। सादगी उसे अनावश्यक प्रतीत होती है, मित्रों मे बैठकर सिगरेट पीना उसका फैशन है, माँस के बिना भोजन नीरस होता है। सयम उसने कभी सुना ही नहीं। परिणामस्वरुप आज का विद्यार्थी दुबला-पतला निस्तेज हो रहा है। विद्यार्थी जीवन का एक भी आदर्श उसके सन्मुख नहीं है। गुरु उसकी दृष्टि में वैतनिक कर्मचारी है जिसे पढ़ाने के ही पैसे मिलते हैं। वह विद्यार्थी पर कोई अधिकार नही रखता। यही कारण है कि आज रोज स्कूलों में व कॉलेजो में हड़ताल होती रहती है। इन बातो को सन्मुख रखते हुए कहना पड़ता है कि आधुनिक और प्राचीन में बहुत अन्तर है।

विद्यार्थी के दो परम धर्म - प्रत्यके विद्यार्थी को आत्म संयम और इन्द्रिय निग्रह को परम धर्म समझना चाहिए। इच्छा को दमन करने का नाम इन्द्रियनिग्रह हैं। हर एक विद्यार्थी को केवल यहीं इच्छा होनी चाहिए कि उसे इस काल में अधिक से अधिक विद्या प्राप्त करनी हैं और शरीर को अधिक बलवान बनाना है। प्रत्येक विद्यार्थी आज ये व्रत ले लें तो उसके जीवन की काया पलट सकती है।

विद्यार्थी के महान शत्रु - आलस्य विद्याथी का महान शत्रु है। आलस्य उन्नति के मार्ग में रुकावट है। यह सौ बुराईयों की एक बुराई है। विद्यार्थी को इससे बचकर समयानुसार सभी काम करने चाहिए।

विद्यार्थी का कर्त्तव्य - श्रृंगार से बचें आजकल विद्यार्थी का अधिक समय बनने ठनने में लग जाता है। वे जब घर से बाहर निकलते है तो ऐसा प्रतीत होता है कि वे किसी फिल्म में काम करने वाले ऐक्टर है।

मिताहार - बहुत खाने से आलस्य और पाचन शक्ति खराब हो जाती है।

जीभ को वश में करना - चटपटे-खट्टे और तले पदार्थों का सेवन न करें उससे ब्रह्मचर्य खण्डित हो जाता है।

नशीले पदार्थों से बचाव- शराब, सिगरेट, माँस आदि का प्रयोग न करें।

कुसंगति से बचे- संगती का मनुष्य पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। कहा भी है **जैसी संगत**

वैसी रंगत बुरे मित्र ऐसी बुराई या गन्दी आदत में फंसा देते हैं कि उससे जीवन भर निकलना असम्भव हो जाता है।

गुरुजनों का आदर - विद्यार्थी को गुरुजनों का आदर मान करना चाहिए। शास्त्रों में गुरु को पिता के समान कहा है। उसे अत्यन्त नम्रतापूर्वक शिक्षा ग्रहण करना चाहिए।

स्वास्थ्य की ओर ध्यान - विद्यार्थी को स्वास्थ्य की ओर भी वैसे ही ध्यान देना चाहिए जैसे कि शिक्षा की ओर दिया जाता है। अंग्रजी में कहा है कि - "Health is Wealth" अर्थात् स्वास्थ्य अमूल्य धन है। किताबीकीड़ा बनने से कोई लाभ नहीं।

तीर्थंकरों की धर्मसभा : समवशरण

समवशरण अर्थात् भगवान की धर्म सभा। भरतेशवैभव में समवशरण के अन्य नाम दर्शाते हुए कहा है - जिनसभा, जिनपुर और जिनावास ये एक ही अर्थ के वाचक है। जिनेन्द्र भगवान् जिस स्थान पर विराजते है, वह इसी नाम से जाना जाता है।

समवशरण का अर्थ एक ऐसा सभा भवन है, जिसमे विराजकर तीर्थंकर परमात्मा मोक्षमार्ग का उपदेश देते है। यह एक ऐसी धर्मसभा है, जिसकी तुलना लोक की किसी अन्य सभा से नही की जा सकती। देव-दानव, मानव, पशु-पक्षी सभी इसमें बराबरी से बैठकर धर्मश्रवण के अधिकरी बनते है। यही इसकी सर्वोपरि विशेषता है इसमें प्रत्येक को समानतापूर्वक शरण मिलती है। इसलिए समवशरण यह इसकी सार्थक संज्ञा है।

अरिहन्त भगवान के उपदेश देने की सभा का नाम समवशरण है। जहाँ बैठकर तिर्यञ्च, मनुष्य व देव, पुरुष व स्त्रिया सब उनकी अमृतवाणी से कर्ण तृप्त करते हैं। इसकी रचना विशेष प्रकार से देवलोग करते है। इसकी प्रथम सात भूमियो में बहुत आकर्षक रचनाएं, नाट्यशालाएँ, वाटिकाएँ, वापियाँ, चैत्यवृक्ष आदि होते हैं। मिथ्यादृष्टि अभव्यजन प्राय: इसी के देखने में उलझ जाते है। अत्यन्त भावुक व श्रद्धालु व्यक्ति ही अष्टमभूमि में प्रवेश कर साक्षात् भगवान के दर्शनों से तथा उनकी अमृतवाणी से नेत्र, कान व जीवन सफल करते हैं।

इसमें समस्त सुर और असुर आकर दिव्यध्वनि के अवसर की प्रतीक्षा करते हुए बैठते है इसलिए ज्ञानी गणधर आदि देवों ने इसका समवशरण ऐसा सार्थक नाम कहा है।

समवशरण की संरचना - समवशरण की रचना सौधर्म इन्द्र को आज्ञा से कुबेर के निर्देशन मे देवगण करते हैं। यह समवशरण भूतल से पाँच हजार धनुष ऊपर आकाश में स्थित होता है। इसकी रचना वृत्ताकार होती है। उसकी चारों दिशाओं में बीस-बीस हजार सीढ़ियों की

रचना रहती है। इन सीढ़ियों पर सभी जन पादलेपऔषधि युक्त व्यक्ति की तरह बिना परिश्रम के चढ़ जाते है। प्रत्येक दिशा में सीढ़ियों से लगी एक-एक वीथि/सड़क बनी होती है, जो समवशरण के केन्द्र मे स्थित गन्धकुटी के प्रथम पीठ तक जाती है। इसका आँगन इन्द्रनील मणिमय होता है। समवशरण अत्यन्त आकर्षक और अनुपम शोभा सहित होता है। उसमें 1. चैत्य-प्रसाद भूमि 2. जल-खातिका भूमि, 3. लता वनभूमि 4. उपवनभूमि 5. ध्वजभूमि 6. कल्पवृक्ष भूमि, 7. भवनभूमि, 8. श्रीमण्डप भूमि, 9. प्रथम पीठ, 10. द्वितीय तथा 11 तृतीयपीठ भूमि इस प्रकार कुल ग्यारह भूमियाँ होती है।

समवशरण के बाह्य भाग में सबसे पहले धूलिसाल कोट बना रहता है। यह रत्नों के चूर्णो से निर्मित बहुरगी और वलयाकार होता है। इसके चारों ओर स्वर्णमयी खम्भोंवाले चार तोरणद्वार होते है। इन द्वारो के बाहर मंगलद्रव्य, नवनिधि, धूप-घट आदि युक्त पुतलियाँ स्थित रहती है। प्रत्येक द्वार के मध्य दोनो बाजुओ में एक-एक नाट्यशाला होती है। इनमें बत्तीस -बत्तीस देवागनाए नृत्य करती रहती हैं। ज्योतिषीदेव इन द्वारो की रक्षा करते हैं।

इन द्वारो के भीतर प्रविष्ट होने पर कुछ आगे की ओर चारो दिशाओ में चार मानस्तम्भ होते हैं। प्रत्येक मानस्तम्भ चारो ओर चार दरवाजों वाले तीन-तीन परकोटो से परिवेष्टित रहता हैं। मानस्तम्भो का निर्माण तीन पीठीकायुक्त समुन्नत वेदी पर होता है। वह घण्टा, ध्वजा और चामर आदि से सुशाभित अत्यधिक कलात्मक होता है। मानस्तम्भों के मूल और ऊपरी भाग मे अष्ट महाप्रातिहार्यो से युक्त अर्हन्तभगवान् की स्वर्णमय प्रतिमाएँ विराजमान रहती है। इन्द्रगण क्षीरसागर के जल से इनका अभिषेक किया करते है। मानस्तम्भों के निकट चारों ओर चार-चार वापिकाएँ बनी होती है। एक-एक वापिका के प्रति बयालीस-बयालीस कुण्ड होते है। सभी जन इन कुण्डो के जल से पैर धोकर ही अन्दर प्रवेश करते है। मानस्तम्भों को देखने मात्र से दुरभिमानीजनो का मान गलित हो जाता है। इसलिए मानस्तम्भ यह इसकी सार्थक सज्ञा है।

उसके बाद चैत्यप्रसाद-भूमि आती है। वहाँ पर एक चैत्य प्रसाद होता है, जो कि वापिका, कूप, सरोवर, और वन-खण्डों से मण्डित पाँच-पाँच प्रासादों से युक्त होता है। चैत्यप्रसाद भूमि के आगे रजतमय वेदी बनी रहती है। वह धूलिसालकोट की तरह आगे गोपुर द्वारों से मण्डित रहती है। ज्योतिषी देव, द्वारो पर द्वारपाल का काम करते है। उस वेदी के भीतर की ओर कुछ आगे जाने पर कमलों से व्याप्त-अत्यन्त गहरी परिखा होती है, जो कि वीथियो/सड़को को छोड़कर समवशरण को चारो ओर से घेरे रहती है। परिखा के दोनो तटों पर लतामण्डप बने होते हैं। लतामण्डपों के मध्य चन्द्रकान्तमणिमय शिलाए होती है, जिन पर देवगण विश्राम करते है। इसे खातिका-भूमि कहते है।

खातिका भूमि के आगे रजतमय एक वेदी होती है। यह वेदी पूर्ववत् गोपुर द्वारों आदि से युक्त होती है। उस द्वितीय वेदी से कुछ आगे बढ़ने पर लताभूमि आती है, जिसमें पुन्नाग, तिलक, बकुल, माधवी इत्यादि नाना प्रकार की लताएँ सुशोभित होती हैं। लताभूमि में लता-मण्डप बने होते है, जिसमें सुर-मिथुन क्रीड़ारत रहते हैं।

लताभूमि से कुछ आगे बढ़ने पर एक स्वर्णमय कोट रहता है। यह कोट भी धूलिसाल कोट की तरह गोपुर द्वारो मंगलद्रव्यो नवनिधियाँ और धूपघटों आदि से सुशोभित रहता है, उसके कुछ आगे जाने पर पूर्वादिक चारों दिशाओं मे क्रमशः अशोक, सप्तपर्ण, चम्पक और आम्र नामक चार उद्यान होते है। इन उद्यानो मे इन्ही नामोवाला एक-एक चैत्यवृक्ष भी होता है। यह वृक्ष तीन कटनीवाले एक वेदी पर प्रतिष्ठापित रहता है। उसके चारों ओर चार दरवाजों वाले तीन परकोटे होते हैं । उसके निकट मंगल द्रव्य रखे होते हैं। ध्वजाएं फहराती रहती है तथा वृक्ष के शीर्ष पर मोतियो की माला से युक्त तीन छत्र होते है। इस वृक्ष के मूल भाग मे अष्टप्रातिहार्य युक्त अर्हंत भगवान् की चार प्रतिमाएँ विराजमान रहती है। इसे उपवन-भूमि कहते है इस भूमि में रहनेवाली वापिकाओ में स्नान करने मात्र से जीवों की एक भव दिखाई पड़ता है तथा वापिकाओ के जल मे देखने से सात भव दिखाई पड़ते हैं। उसके आगे पुनः एक वेदिका होती है। वेदिका के आगे ध्वज-भूमि होती है। ध्वज-भूमि में माला, वस्त्र, मयूर, कमल, हस, गरुड़, सिंह, बैल, हाथी और चक्र से चिह्नित दश प्रकार की निर्मल ध्वजाएँ होती हैं। इनके ध्वजंदड स्वर्णमय होते है। जिसकी प्रत्येक दिशा में, सिह, गज आदि दस चिन्हों से चिन्हित ध्वजाएँ है प्रत्येक चिन्ह वाली ध्वजाए 108 है और प्रत्येक ध्वजा अन्य 108 क्षुद्र ध्वजाओ से युक्त हैं। कुल ध्वजाएं 427 = (10 X 108 X 4) + (10 X 108 X 108 X 4) = 470880। ध्वजभूमि के कुछ आगे बढ़ने पर एक स्वर्णमय कोट आता है। इस परकोटे के चारो ओर पहले के समान चार दरवाजे होते हैं, नाटकशालाएँ होती हैं। तथा धूप घटों से सुगन्धित धुआ निकलता रहता है। इसके द्वार पर नागेन्द्र द्वारपाल के रुप मे खड़े रहते है।

उसके आगे कल्पभूमि होती है। कल्पभूमि में कल्पवृक्षों का वन रहता है। इन वनों मे कल्पनातीत शोभावाले दश प्रकार के कल्पवृक्ष होते है, जो कि नाना प्रकार की लता-वल्लरियों एव वापिकाओ से वेष्टित रहते हैं। यहाँ देव विद्याधर और मनुष्य क्रीड़ारत रहते है। कल्पभूमि के पूर्वादिक चारों दिशाओ में क्रमशः नमेरु, मन्दार, सन्तानक और पारिजात नामक चार सिद्धार्थ वृक्ष होते है। सिद्धार्थ वृक्षों की शोभा चैत्यवृक्षो के सदृश होती है, किन्तु इनमें अर्हंत की जगह सिद्ध प्रतिमाएँ होती है।

कल्पभूमि के आगे पुनः एक स्वर्णमय वेदी बनी रहती है। इस वेदी के द्वार पर भवनवासी देव द्वारपाल के रुप में खड़े रहते है। इस वेदी के आगे भवन-भूमि होती है, भवनभूमि में एक से एक सुन्दर कलात्मक और आकर्षक बहुमंजिलें भवनों की पंक्ति रहती हैं। देव निर्मित इन भवनों से सुर-मिथुन गीत, सगीत, नृत्य, जिनाभिषेक, जिनस्तवन आदि करते हुए सुखपूर्वक रहते है। भवनो की पंक्तियों के मध्य वीथियां-गलिया बनी होती हैं। वीथियों के दोनों पार्श्व में नव-नव स्तूप (कुल 72) बने होते हैं। पद्मराग मणिमय इन स्तूपों में अर्हन्त और सिद्धों की प्रतिमाएँ विराजमान रहती है। इन स्तूपों पर वन्दन-मालाएँ लटकी होती हैं। मकराकार तोरणद्वार होते हैं। छत्र लगे होते है, मंगल द्रव्य रखे होते हैं और ध्वजाएँ फहराती रहती हैं। यहाँ विराजमान जिन-प्रतिमाओ की देवगण पूजन और अभिषेक करते है।

भवनभूमि के आगे स्फटिक मणिमय चतुर्थ कोट आता है। इस कोट के गोपुर द्वारों पर कल्पवासी देव खड़े रहते हैं।

द्वादश-गण

चतुर्थ कोट के आगे रत्न-स्तम्भों पर आधारित अन्तिम श्रीमण्डप भूमि होती है। उस भूमि मे स्फटिक मणिमय सोलह दीवारों से विभाजित बारह कोठे होते हैं। इन बारह कोठों में ही बारहगण अथवा बारह सभाएँ होती है। इनमें सर्वप्रथम अर्हत भगवान के दाँये ओर के कोठे मे गणधर देवादिक मुनि विराजते है। द्वितीय कोठे मे कल्पवासिनी देवियाँ होती है। तीसरे कक्ष मे आर्यिका व श्राविका समूह होता है। इसके आगे वीथि रहती है। वीथि के आगे चौथे, पाँचवें और छठवें कोठे में क्रमशः ज्योतिषी, व्यन्तर और भवनवासी देवों की देवियाँ रहती है। उसके आगे पुनः वीथि आ जाती है। उसके आगे के तीन कोठों में क्रमशः कल्पवासी देव, चक्रवर्ती आदि मनुष्य एव सिहादिक पशु-पक्षी जन्म-जात बैर को छोड़कर उपशान्त भाव से बैठकर भगवान् के उपदेशामृत का लाभ लेते हैं।

इन कोठो में मिथ्यादृष्टि, अभव्य और असंज्ञी जीव कदापि नहीं होते। ऐसे जीव बाहर के ही रागरग मे उलझकर रह जाते है।

उसके आगे स्फटिक मणिमय पाँचवी वेदी आती है। इस वेदी के आगे एक के ऊपर एक क्रमशः तीन पीठ होती है। प्रथम पीठ पर बारह कोठो और चारवीथियों के सम्मुख सोलह-सोलह सीढ़ियाँ होती हैं। इस पीठ पर चारों दिशाओं मे अपने मस्तक पर धर्मचक्र धारण किये चार यक्षेन्द्र खड़े रहते है। इसी पीठ के ऊपर द्वितीय पीठ होता है। इस पीठ पर सिह, बैल, आदि चिन्हो वाली ध्वजाओ की पंक्ति, अष्ट मगल द्रव्य, नव-निधि व धूपघट आदि शोभायमान रहते है। द्वितीय पीठ के ऊपर तीसरी पीठ होती है। तीसरी पीठ के ऊपर अनेक ध्वजाओं से युक्त गधकुटी होती है। गन्धकुटी के मध्य मे पाद-पीठ सहित सिंहासन होता है। भगवान् सिंहासन से चार अगुल ऊपर अष्टमहाप्रातिहार्यों के साथ आकाश मे विराजमान रहते हैं।

समवशरण का माहात्म्य - समवशरण मे जिनेन्द्रदेव के माहात्म्य से आतंक, रोग, मरण, उत्पत्ति, बैर, काम-बाधा, एवं क्षुधा-तृषा की पीड़ाएँ कदापि नही होती। साथ ही श्रीमण्डपभूमि के थोड़े से ही क्षेत्र में असंख्य जीव एक दूसरे से अस्पृष्ट रहते हुए सुखपूर्वक विराजते हैं। योजनो विस्तारवाले इस समवशरण में प्रवेश और निकलने में बाल-वृद्ध सभी को अन्तमुर्हूत से अधिक समय नहीं लगता है।

अष्ट प्रातिहार्य

तीर्थंकर परमात्मा को जब केवलज्ञान हो जाता है, तब से चारों निकाय के देव उनकी सेवा में निरन्तर आते रहते हैं। देशना के समय सुवर्ण रजत एवं मणिरत्न से युक्त तीन पीठिकावाले

समवशरण में अष्ट महाप्रातिहार्य होते हैं, जो केवल्योत्पत्ति के बाद सतत साथ रहते हैं, प्रातिहार्य तीर्थंकर भगवान के पहिचान के विशेष चिन्ह हैं। तीर्थंकर परमात्मा के अतिरिक्त अन्य किसी प्राणी के ये नहीं होते। प्रातिहार्यों की सख्या आठ ही होती है। इन प्रातिहार्यों को धारण करने की अर्हता जिनमें होती है, वे ही अरहन्त कहलाते है। अरिहन्त शब्द की व्याख्या इसी आधार पर की जाती है। प्रत्येक तीर्थंकर इन आठ प्रातिहार्यो से समलकृत होते हैं। ये प्रातिहार्य तीर्थंकर परमात्मा के महिमाबोधक चिह्न के रुप में माने जाते हैं।

प्रातिहार्य की शाब्दिक संरचना से भी यह तथ्य स्पष्ट होता है - "प्रतिहारा इव प्रतहारा सुरपति नियुक्ताः देवास्तेषां कतर्माणि कृत्याणि प्रातिहार्याणि। " प्रातिहार्य की इस व्याख्या के अनुसार देवेन्द्रो द्वारा नियुक्त प्रतिहार, सेवक का कार्य करनेवाले देवता को अरिहन्त के प्रतिहार कहते हैं और उनके द्वारा भक्ति हेतु रचित अशोकवृक्षादि को प्रातिहार्य कहते है।

प्रातिहार्य आठ कहे गये हैं। ये प्रातिहारो की तरह तीर्थकर के साथ सदैव रहने के कारण प्रातिहार्य कहलाते है। अष्टमहाप्रातिहार्य इस प्रकार है - 1. अशोकवृक्ष, 2. सिहासन 3. भामडल 4. तीन छत्र 5. चमर 6. सुरपुष्पवृष्टि 7. दुन्दुभि 8. दिव्यध्वनि।

अशोक वृक्ष- समवशरण मे विराजित तीर्थकर परमात्मा के सिहासन पर अशोकवृक्ष शोभायमान होता है। यह वृक्ष, वनस्पतिकायिक न होकर पार्थिव और देवरचित होता है। शोकरहित, तीर्थंकर के मस्तक पर रहने के कारण यह अशोकवृक्ष कहलाता है। तीर्थकरो का सान्निध्य पानेवाले सभी जीव शोकरहित हो जाते है। अशोकवृक्ष का यही सदेश है।

तीर्थंकर भगवन्त जिन-जिन वृक्षो के नीचे दीक्षा धारण करते है, वही उनका अशोकवृक्ष होता है। चौबीस तीर्थकरो के अशोक वृक्ष अलग-अलग है। उनके नाम इस प्रकार हैं- न्यग्रो/वट, सप्तपूर्ण, शाल/ साल, सरल/चीड़, प्रियगु, प्रियगु, शिरीष, नागवृक्ष/ नागकेशर, अक्ष/बहेड़ा, धूलीपलाश/पलाश, तेदू, पाटल/कदम, पीपल, दीर्घपर्ण/ कैंथ, नन्दी, तिलक, आम्र, अशोक, चंपक/चम्पा, वकुल/मौलश्री, मेषग/ गुड़मार, धव/धौ और शाल ये चौबीस वृक्ष क्रमशः चौबीस तीर्थकरो के अशोक वृक्ष है। इनकी ऊंचाई अपने-अपने तीर्थकरों की ऊँचाई से बारहगुनी होती है।

वृक्ष सहिष्णुता का प्रतीक है। वह सर्दी, गर्मी, बरसात तथा प्राकृतिक प्रकोपों को प्रतीकार रहित होकर सहता है, तभी उसमें फूल और फल लगते है। मनुष्य भी जब वृक्ष की तरह सब प्रकार की बाधाओ को प्रतीकार रहित सहन करता है, तभी उसमें कैवल्य का फल लगता है। भगवान् के मस्तक पर अवस्थित अशोकवृक्ष सभवतः यही संदेश देता है।

सिंहासन- समवशरण के मध्य स्थित रत्नमयी तीन पीठिकाओं के ऊपर चार सिंहासन होते है। इनमे एक पर तीर्थकर भगवन्त स्वयं विराजते हैं और शेष तीन पर परमात्मा के तीन प्रतिरुप रहते हे। यह सिंहासन उत्तम रत्नों से रचित होता है तथा विकट दाढ़ों से युक्त विकराल

सिह-जैसी आकृति पर प्रतिष्ठित होता है। सिंहासन के ऊपर एक सहस्रदल कमल होता है। भगवान् उससे चार अंगुल ऊपर अधर में विराजमान रहते हैं।

भामंडल- घातियाकर्मों के क्षय के बाद भगवान् के मस्तक के चारों ओर परमात्मा के शरीर को उल्लसित/उद्योतित करने वाला अति सुन्दर, अनेक सूर्यों से भी अत्यधिक तेजस्वी और मनोहर भामंडल होता है। इसकी तेजस्विता तीनो जगत् के द्युतिमान् पदार्थों की द्युति का तिरस्कार करती हैं।

भामण्डल महान् व्यक्तियों के सिर के पीछे गोलाकार में पीले रग के चक्र-जैसा होता है। तीर्थकरों का प्रभावलय उनकी परम औदरिक अनुपम देह से निकलती हुई, कैवल्यरश्मियों का वर्तुलाकार मडल है। उनकी दिव्यप्रभा के आगे कोटि-कोटि सूर्यों का प्रभाव भी हतप्रभ हो जाता है। यह सबल और निर्बल दो प्रकार का होता है। जिनका चरित्र अच्छा है, आत्मबल अधिक हो, उनका आभामण्डल सबल और जिनकी भावधारा ही न हो, उनका आभामण्डल निर्बल होता है। यह व्यक्ति की भावधारा का प्रतीक है।

सामान्य व्यक्तियों का आभामंडल परिवर्तनशील होता है। बाह्य तत्त्वों के प्रभाव से उनकी भावधारावाले व्यक्तियो पर अशुद्ध वायुमडल का प्रभाव नहीं पड़ता। यह अपने-आप में इतना सशक्त होता है कि, अन्य भावधारा से प्रवाहित नहीं, होता, अपितु यह अधिक बलवान् होकर अन्यो को अपने से प्रभावित भी करता है। यही कारण है कि महापुरुषों का सान्निध्य हमें अपनी तरगो से प्रभावित कर प्रसन्नता प्रदान करता है। इससे निकलनेवाली तेजस रश्मियाँ अलौकिक और शान्त होती है।

तीर्थकरों के भामण्डल की प्रतिच्छाया मे भव्यात्मा अपने अतीत के तीन भव, एक वर्तमान और आगामी तीन भव इस प्रकार सातभवो को देख सकता है।

तीन छत्र - भगवान् के मस्तक पर रत्नमय तीन छत्र शोभायमान रहते हैं। ये तीनों छत्र तीनों लोकों के साम्राज्य को सूचित करते हैं। ये छत्र शरद ऋतु के चन्द्र के समान श्वेत, कुन्द और कुमुद-जैसे अत्यन्त शुभ ओर लटकती हुई मालाओं की पंक्तियों के समान अत्यन्त धवल एवं मनोरम होते है। तीनों छत्र ऊपर से नीचे की ओर विस्तारयुक्त होते है।

चमर - भगवान के दोनों ओर सुन्दर सुसज्जित देवों द्वारा चौसठचमर ढ़ोरे जाते है। ये चमर कमलनालों के सुन्दर तंतु जैसे स्वच्छ, उज्ज्वल और सुन्दर आकारवाले होते हैं। चमर के रेशे इतने श्वेत एवं तेजस्वी होते हैं कि उनमें से चारों ओर किरणें निकलती हैं। दण्ड उत्तम रत्नों से रचित एवं स्वर्णमय होते हैं। ढोरे जाते हुए ये चमर ऐसे प्रतीत होते है मानों इन्द्र धनुष नृत्य कर रहे हों। ये नमन और उन्नमन द्वारा सूचित करते हैं कि प्रभु को नमस्कार करने से सज्जन उच्चगति को प्राप्त होते है।

चमर ढोरने के सम्बन्ध में आचार्य मानतुंग कहते है - " हे परमात्मा! आपका स्वर्णिम देह

ढुरते हुए चमरो से उसी भाँति शोभा दे रहा है, जैसे स्वर्णमय सुमेरु पर्वत पर दो निर्मल जल के झरने झर रहे हो।''

पुष्प-वृष्टि - भगवान् के मस्तक पर आकाश से सुगन्धित जल की बूँदों से युक्त एवं सुखद, मन्दार, सुन्दर, नमेरु, पारिजात तथा सन्तानक आदि उत्तम वृक्षों के ऊर्ध्वमुखी दिव्यफूलों की वर्षा होती रहती है। पुष्पवर्षा की सुरम्यता का चित्रण करते हुए आचार्य मानतुंग कहते है - ''भगवान! ये पुष्पों की पंक्ति ऐसी प्रतीत होती है, मानों आपके वचनों की पंक्ति ही फैल रही हो।''

देव-दुन्दुभि - तीर्थंकर के सान्निध्य में ऊपर आकाश में भुवन-व्यापी दुन्दुभि ध्वनि होती है। दुन्दुभिनाद सुनते ही आबाल वृद्धजनों को अपार आनंद का अनुभव होता है और देवाधिदेव अरिहन्त प्रभु के आगमन की सूचना भी सर्वजनों को एक साथ मिलती है। जगत् के सर्वप्राणियों को उत्तम पदार्थ प्रदान करने में यह दुन्दुभि समर्थ है। यह सद्धर्मराज अर्थात् परम उद्धारक तीर्थंकर भगवान की समस्त संसार में जयघोष कर सुयश प्रकट करती है।

यह दिव्य देव-दुन्दुभि देवो के हस्ततल से ताड़ित अथवा स्वयं शब्द करनेवाली होती हैं। यह स्वय के गम्भीर नाद से समस्त अन्तराल को प्रतिध्वनित करती है।

दुन्दुभि जयगान का प्रतीक है। यह तीर्थंकर भगवन्त के धर्मराज्य की घोषणा प्रकट करती है और आकाश मे भगवान् के सुयश को सूचित करती हैं। यह विजय का भी प्रतीक है। सपूर्ण विश्व को जीतनेवाले महान योद्धा मोह राजा को अरिहन्त भगवान ने शीघ्र ही जीत लिया है, ऐसा सूचित करता हुआ दुन्दुभिनाद सर्व जीवो के सर्वभयो को एक साथ दूर करता है।

दिव्य-ध्वनि - दिव्य-ध्वनि मृदु, मधुर, मनोहर, अतिगभीर और एकयोजन प्रमाण समवशरण मे विद्यमान देव, मनुष्य और तिर्यञ्च आदि सभी सञ्ज्ञी पचेन्द्रिय जीवों को एक साथ प्रतिबोधित करने वाली होती है। जैसे मेघ का जल एकरुप होते हुए भी नाना वनस्पतियों मे जाकर नानरुप परिणत हो जाता है, उसी तरह दन्त, तालु, ओष्ठ आदि के स्पन्दन से रहित भगवान की वाणी अट्ठारह महाभाषा और सातसौ लघुभाषा रुप परिणत होकर एक साथ-समस्त भव्य जीवो को आनन्द प्रदान करती है। इसलिए भगवान् की वाणी को सर्वभाषा स्वभावी कहते है।

भगवान की दिव्य ध्वनि एकबार मे 6 घड़ी अर्थात् 2 घटा 24 मिनट तक खिरती है तथा 24 घटे में चार बार खिरती है। यदि गणधर का प्रश्न हो जाए अर्थात् उनके मन में कोई शंका हो जाये, इन्द्र आ जाए या चक्रवर्ती आ जाए तो दिव्यध्वनि असमय भी खिर जाती है।

तीर्थंकरों की दिव्यध्वनि मागध जाति के व्यतर देवों के निमित्त से सर्वजीवों को भले प्रकार से सुनाई पड़ती है। जैसे आजकल ध्वनि विस्तारक यंत्रों द्वारा ध्वनि को दूर तक पहुँचाया जाता है, वही काम मागध देवो का है। वे भगवान् की वाणी को एक योजन तक फैलाकर उसे

सर्वभाषात्मकरुप परिणमा देते हैं। जैसे आजकल राष्ट्रपति भवन एवं संसद भवन आदि में एक ही भाषा में बोले गये शब्द अनेक भाषारुप में सुने जा सकते है, वैसे ही मागध जाति के देवों के निमित्त से संज्ञी जीव भगवान् की वाणी को अपनी-अपनी भाषा में समझ लेते हैं।

इस प्रकार अष्टमहाप्रातिहार्यो से संयुक्त तीर्थंकर परमात्मा अद्‌भुत महिमावाले होते है।

अनन्तचतुष्टय

अष्ट प्रातिहायो से युक्त तीर्थंकर अनन्त चतुष्टयो से मण्डित होते हैं। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य-अर्हन्त भगवान् के अनन्त चतुष्टय हैं।

अनन्तज्ञान - अनन्त अर्थात् कभी भी अन्त न होने वाला सीमातीत ज्ञान-अनन्तज्ञान है। यह समस्त ज्ञानावरण कर्म के क्षय से उत्पन्न होता है।

अनन्तदर्शन - जिस दर्शन का कभी भी अन्त या विनाश न हो यह अनन्तदर्शन है। यह दर्शनावरण कर्म के क्षय से उत्पन्न होता है।

अनन्तसुख - अन्त और विच्छेद से रहित इन्द्रियातीत सुख-अनन्तसुख है। यह मोहनीय कर्म के क्षय से प्राप्त होता है।

अनन्तवीर्य- जिस वीर्य का कभी भी अन्त न हो वह अनन्तवीर्य है। यह अन्तराय कर्म के क्षय से प्रकट होता है।

समस्त तीर्थंकर उपर्युक्त अनन्तचतुष्टयों से युक्त रहते हैं तथा जीवन के अंत में शेष अघातिया कर्मों को नष्ट कर सिद्ध अवस्था प्राप्त करते हैं।

समवशरण में अन्य केवली आदि के उपदेश देने का स्थान - भवनभूमि नाम की सप्तम भूमि में स्तूपों से आगे एक पताका लगी हुई है उस के आगे 1000 खम्भों पर खड़ा हुआ महोदय नाम का मण्डप है, जिसमें मूर्तिमती श्रुतदेवता विद्यमान रहते है। उस श्रुतदेवता के दाहिने भाग में बहुश्रुत के धारक अनेक धीर वीर मुनियों से घिरे श्रुतकेवली कल्याणकारी श्रुतका व्याख्यान करते हैं। महोदय मण्डप से आधे विस्तार वाले चार परिवार मण्डप और है, जिसमें कथा कहने वाले पुरुष आक्षेपिणी आदि कथायें करते रहते हैं। इन मण्डपों के समीप में नाना प्रकार के फुटकर स्थान भी बने रहते हैं, जिनमें बैठकर केवलज्ञान आदि महाऋद्धियों के धारक ऋषि इच्छुकजनों के लिए उनकी इष्ट वस्तुओं का निरुपण करते हैं।

मिथ्यादृष्टि अभव्यजन श्रीमण्डप के भीतर नहीं जाते। इन बारह कोठों में मिथ्यादृष्टि, अभव्य और असंज्ञी जीव कदापि नहीं होते तथा अन्ध्यवसाय से युक्त संदेह से संयुक्त और विविध प्रकार की विपरीतताओं से सहित जीव भी नहीं होते हैं। सप्त भूमि में अनेक स्तूप हैं। उनमें सर्वार्थसिद्धिनाम के अनेकों स्तूप हैं। उनके आगे दैदीप्यमान शिखरों से युक्त भव्यकूट नाम

के स्तूप हैं। जिन्हें अभव्य जीव नहीं देख पाते, क्योंकि उनके प्रभाव से उनके नेत्र अन्धे हो जाते है।

४. समवशरण का महात्म्य - एक -एक समवशरण में पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण विविध प्रकार के जीव जिनदेव की वन्दना में प्रवृत्त होते हुए स्थित रहते हैं। कोठों के क्षेत्र से यद्यपि जीवों का क्षेत्रफल असंख्यात गुणा है, तथापि वे सब जीव जिनदेव के महात्म्य से एक दूसरे से अस्पृष्ट रहते हैं। जिनभगवान के महात्म्य से बालक प्रभृति जीव प्रवेश करने अथवा निकलने में अन्तर्मूहर्त काल के भीतर संख्यात योजन चले जाते है। इसके अतिरिक्त वहाँ पर जिन भगवान के महात्म्य से आतंक, रोग मरण, उत्पत्ति, वैर, कामबाधा, तथा तृष्णा (पिपासा) और क्षुधा की पीडाएं नहीं होतीं।

केवलज्ञान होने के पश्चात् दस अतिशय प्रकट होते है। चारो तरफ सौ-सौ योजन सुभिक्षता, आकाश का गमन, भूमि का स्पर्श नहीं होना, उनसे किसी भी प्राणी का घात नही होना , उपसर्ग का अभाव, चार मुख दिखना, समस्त विद्याओ का ईश्वरत्व, छाया रहित होना, नेत्रो के पलक नही झपकना, नख केश नही बढ़ना। ये दस अतिशय घातियाकर्मो का नाश होने से स्वयं प्रकट हो जाते है।

तीर्थंकर प्रकृति के प्रभाव से देवो द्वारा किये चौदह अतिशय होते हैं - अर्द्धमागधी भाषा, समस्त जनसमूह मे मैत्री भाव, सभी ऋतुओं के फल, फूल पत्तोसहित वृक्षो का हो जाना, पृथ्वी का तृण तृण रज रहित दर्पण समान रत्नमयी हो जाना, शीतल मद सुगन्ध पवन का चलना, सभी जीवो के आनन्द प्रकट हो जाना, अनुकूल पवन चलना, सुगन्धितजल की वृष्टि से भूमि का धूल रहित हो जाना, जहाँ-जहाँ चरण रखते जाते है वहाँ-वहाँ सात आगे, सात पीछे, सात दाये, सात बाये तथा एक बीच मे, ऐसे पन्द्रह-पन्द्रह कमलो की पन्द्रह पक्तियो मे कुल दो सौ पच्चीस कमलो की देव रचना करते जाते है, आकाश ऊपर निर्मल हो जाता है, चारो निकाय के देव जय-जयकार शब्द बोलते हैं। धर्मचक्र एक हजार किरणो की आरा सहित अपने प्रकाश से सूर्यमडल का भी तिरस्कार करता हुआ आगे आगे चलता है।

तीन लोक मे वैसी सुगन्ध और कहीं नही होती। ऐसी महासुगन्ध सहित गंधकुटी के ऊपर देवो द्वारा बनाये गए, अशोक वृक्ष को देखते ही सभी-लोगो का शोक नष्ट हो जाता है, आकाश से कल्पवृक्षो के पुष्पो की वर्षा होती है। आकाश मे साढे बारह करोड़ जाति के वाद्यों की ऐसी मधुर ध्वनि होती है, जिसे सुनने मात्र से क्षुधा, तृषा आदि सभी रोग वेदना नष्ट हो जाते है। रत्न जडित सिहासन सूर्य की काति को जीतता-सा लगता है।

सामान्य भूमि का यह प्रमाण बतलाया है वह अवसर्पिणी काल का है। उत्सर्पिणीकाल में इसके विपरीत है। विदेहक्षेत्र के सम्पूर्ण तीर्थंकरों के समवशरण की भूमि बारह योजन प्रमाण ही रहती है। अवसर्पिणी काल में जिस प्रकार प्रथम तीर्थकर से अन्तिम तीर्थंकर तक समवशरण भूमि आदि के विस्तार उत्तरोत्तर कम होते गए है। उसी प्रकार उत्सार्पिणी काल में वे उत्तरोत्तर बढ़ते होगे। विदेहक्षेत्र के सभी समवशरणो में ये विस्तार प्रथम तीर्थंकर के समान जानने चाहिए।

तिलोयपण्णति भाग-2 गाथा 724, 725 के उल्लेखानुसार अवसर्पिणीकाल में होने वाले 24 तीर्थंकरों के समवशरणों का प्रमाण क्रमशः बारह योजन से प्रारम्भ होता है। घटता हुआ अन्तिम तीर्थंकर का समवशरण एक योजन का रह जाता है। गाथा 726 के अनुसार उत्सर्पिणी काल के तीर्थंकरो के समवशरणों का प्रमाण उल्टे क्रम से चलता है। अर्थात् प्रथम तीर्थंकर का एक योजन से प्रारम्भ होता है और बढ़ता हुआ अन्तिम तीर्थंकर का बारह योजन प्रमाण होता है।

जिस प्रकार सूर्य के सम्मुख खिला हुआ कमलों का समूह सुशोभित होता है, उसी प्रकार जिनेन्द्र भगवान् रुपी सूर्य के सम्मुख वह गणरुपी-द्वादश सभा रुपी कमलों का समूह सुशोभित हो रहा था। जिस प्रकार नदी समुद्र को भरने में समर्थ नही है, उसी प्रकार सब ओर से समवशरण में प्रवेश करती हुई वह सेना उसे भरने में समर्थ नही थी। यहाँ बाहर निकलता, आता, प्रवेश करता, दर्शन करता, प्रदक्षिण देता, सन्तुष्ट होता, भगवान् को प्रणाम करता और उनकी स्तुति करता हुआ सज्जनों का समूह सदा विद्यमान रहता है।

समवशरण के भीतर भगवान् के प्रभाव से न मोह रहता है, न रागद्वेष उत्पन्न होते है, न उत्कण्ठा, रति एव मात्सर्यभाव रहते हैं, न अगड़ाई और जमुहाई आती हैं, न नीद आती है, न तन्द्रा सताती है, न क्लेश होता है, न भूख लगती है, न प्यास का दुःख होता है और न कभी अन्य समस्त प्रकार का अमंगल ही होता है।

बाह्य विभूति के अद्वितीय स्थान समवशण भूमि में जब अन्तंरग आत्मा की पवित्रता से युक्त भगवन् विराजमान होते है, तब बारह सभाओं का समूह अपने तृषित नेत्रों से उनके अमृत रुप सौन्दर्य सागर का पान करता है।

इस प्रकार समवशरण का रचनाक्रम है। जब तीर्थंकर प्रभु की आयु अल्प रह जाती है, तब अर्हत भगवान् योगनिरोध करते है, समवशरण का विघटन हो जाता है। ये तीर्थंकर अरहन्त भगवन् चौदहवें गुणस्थान में प्रवेश करते हैं।

लोक व संसार

धर्म प्रेमी बन्धुओं आज आपको "लोक व संसार में अन्तर" विषय पर बताते हैं। सभी श्रोतागण अपने मन को एकाग्र चित्त करके सुने।

अनन्त आकाश के मध्य का वह भाग जो अनादि व अकृत्रिम है, जिसमें जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल - ये छह द्रव्य पाये जाते हैं और इन छह द्रव्यों के समूह को चारों ओर से तीन प्रकार की वायुओं से घेरे हुए मनुष्याकार (जिसके दोनों हाथ कटिप्रदेश पर है तथा नीचे दोनों टाँगे दाँये-बाँये फैली हुयी हो) का अनन्त आकाश का यह खण्ड 343 घन राजू प्रमाण का लोक कहलाता है। यह मुख्य रुप से तीन भागों में बँटा हुआ है। पहला, नीचे का भाग जिसे अधोलोक, द्वितीय मध्य का भाग जिसे मध्य लोक और तृतीय, ऊपर का भाग जिसे उर्ध्वलोक कहते है इसीलिए इसे त्रिलोक भी कहते है। लोक के भीतर के आकाश को लोकाकाश और लोक के बाहर के आकाश को अलोकाकाश कहा जाता है। इसका आकाश द्रव्य ही एक ऐसी द्रव्य है जो लोक से बाहर अनन्त आकाश के रुप में हैं।

इस लोक मे ही संसारी और सिद्ध जीव निवास करते है। सिद्ध जीव लोक के ऊपरी भाग मे, सबसे ऊपर अन्तिम भाग में स्थिर हो जाते हैं, किन्तु ससारी जीव समस्त लोक के आकाश में परिभ्रमण करते हुए, अपना काल व्यतीत करने आ रहे है। जीव के इस परिभ्रमण को "संसार"कहा जाता है। इस प्रकार "ससार" परिभ्रमणशील है, जीव के विकारी पर्यायों का नाम ही संसार है। इन विकार के कारण जीव नरक, तिर्यञ्च मनुष्य और देव-इन चारो गतियो में अनादि काल से भ्रमण करता हुआ आ रहा है। यह परिभ्रमण या परिवर्तन पाच प्रकार से होता है- 1. द्रव्य परिवर्तन, 2. क्षेत्र परिवर्तन, 3. काल परिवर्तन 4. भाव परिवर्तन और 5. भव परिवर्तन। इसे ही पंच परिवर्तन रुप जीव का ससार भ्रमण कहते है। जब जीव का लक्ष्य पर पदार्थो पर होता है, जब वह ऐसा मानता है कि "पर" से मुझे लाभ-हानि होती है, तब वह राग-द्वेष करता हुआ परवस्तु रुप द्रव्यकर्म और शरीरादि रुप नोकर्म के साथ निमित्त-नैमित्तिक रुप सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। इस प्रकार लोक तो स्थिर है, किन्तु इस लोक के भीतर विकारीभावो से युक्त जीव घूमता है, यह लोक के भीतर जगह-जगह भ्रमण करता है। जिस-जिस स्थानों पर जीव पाया जाता है उसे ठाणा कहते है। जीवों की खोज 24 ठाणा (स्थान) के अर्न्तगत की जाती है। इन्हें चौबीस दण्डक भी कहते हैं। इन्हीं सब बातों की विस्तृत व्याख्या निम्न प्रकार हैं।

लोक किसे कहते है? जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल- इन छह द्रव्यों के समूह को लोक कहते है। यह कैसा है? इसका चिंतन हम इस प्रकार करते है।

नित्य सर्व व्यापक तथा, एक रुप आकाश।
सब द्रव्यों को दे रहा , वही सदा अवकाश।
जहाँ द्रव्य छह रह रहे, है वह लोकाकाश।
महाशून्य आकाश को, समझ अलोकाकाश।।१।।

लोक अनादि अनन्त है, नर्तक पुरुषाकार।
ऊँचा चौदह राजू है, चेतन-कारागार।।
जनम जनम मरते यहीं, मर मर पैदा होत।
फिर पैदा हों फिर मरें, जन्म मृत्यु का स्रोत।।२।।

हैं इस लोकाकाश के, संख्यातीत प्रदेश।
जन्म मरण कर जीव ने छुआ, न कौन प्रदेश।।
एक जगह पर जीव है, जन्मा बार अनन्त।
मरा अनन्तों बार है, कहते ज्ञानी सन्त।।३।।

धन्य धन्य है लोक का ऊँचा भाग अनूप।
निर्विकार निर्लेप हो, शोभित जिनवर भूप।।
उर्ध्व मध्य अरु है अधः, भेद लोक के तीन।
उर्ध्व लोक में देवता, रहते कहत प्रवीण।।४।।

असंख्यात सागर तथा द्वीप मध्य के माहिं।
नर तिर्यञ्च रहें सदा, जिनकी गणना नाहिं।।
अधोलोक में नारकी, प्रायः रहते दीन।
दारुण दुःख से व्याप्त हैं, करुणापात्र मलीन।।५।।

अरे भव्य! कर चित्त में थोड़ा बहुत विचार।
तीन लोक में जन्म कर, मरा अनन्तों बार।।
विषयों से कर विमुख मन, करो सदा शुभ ध्यान।
सोचो लोक स्वरुप को, पाओ पद निर्वाण।।६।।

लोक का आकार - यह निम्न भाग में सात राजू लम्बा-चौडा, उत्तर-दक्षिण में चौदह राजू ऊँचा लंबाकार, पूर्व-पश्चिम में बराबर झुका हुआ, सात राजू ऊपर जाकर चौड़ाई एक राजू लम्बाई सात राजू, फिर उपर को बढ़ता हुआ बराबर ही झुकाव के साथ साढ़े तीन राजू और ऊपर जाकर पांच राजू चौड़ा तथा सात राजू लंबा है।

स्थूलतः यों समझना चाहिये कि 7 आदमी समान साइज के आगे-पीछे पैरों को चौड़ाकर अपने-अपने कटि-प्रदेश पर हाथ रखे उत्तर की ओर मुँह करके खड़े है, सो ऐसा आकार लोक है। पैरों में चौड़ाई 7 राजू, कटि-प्रदेश पर 1 राजू, कोहनी पर 5 राजू तथा प्रत्येक आदमी की ऊँचाई 14 राजू और मोटाई 1 राजू प्रमाण है। इसके आकार का चित्र पूर्व प्रवचनो में स्पष्ट किया जा चुका है।

यह लोक सब ओर तीन प्रकार की हवा के घेरो से - 1. वाष्प मिली हवा का घना घेरा, 2. घनी हवा का घेरा और 3. पतली हवा का घेरा। इन तीन हवाओ के घेरों से घिरा है। सबसे बाहरी ओर पतली हवा का घेरा है। इन्हीं हवा के घेरों के सहारे यह लोक टिका है। यह वायु के घेरे इतने दृढ़ हैं कि यह सारे लोक को एक स्थान पर ही स्थिर हैं न हिलने-डुलने देते है और न दबने-उठने देते हैं।

वातवलयो समेत कुल क्षेत्र को "लोक" कहते है, क्योंकि इतने स्थान में ही छह द्रव्य पाये जाते हैं। यह सारा लोक ठोस घन रुप है। ऊपर दिखाये गए आकार के धारक लोक के यदि एक-एक राजू लंबे-चौड़े-ऊँचे भाग की कल्पना करे तो कुल 343 भाग होंगे। तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण लोक का घनफल 343 घनराजू है। यह इतने बड़े विस्तार का सारा लोक कुल आकाश मे एक सूई के अग्र भाग के ही बराबर है।

राजू का विस्तार- जम्बूद्वीप जो मध्यलोक मे चित्रा पृथ्वी पर बीचोंबीच सबसे छोटाद्वीप है, उसका व्यास एक लाख योजन अर्थात् 60 करोड़ कि. मी. के लगभग है। इस द्वीप को घेरे हुए एक से दूसरा द्वीप दूने-दूने व्यास के असख्यात समुद्र और द्वीप अन्तिम स्वयभूरमण समुद्र तक है। इस समुद्र के अन्त मे जाकर एक राजू की लम्बाई पूर्ण होती है।

लोक का वर्णन- समस्त लोक मुख्य रुप से तीन भागो मे बँटा है।

1. नीचे का भाग अधोलोक;
2. मध्य का भाग मध्यलोक : और
3. उपर का भाग ऊर्ध्व लोक।

उपरोक्त तीन भागो के ऊर्ध्वलोक के अग्रभाग को सिद्धक्षेत्र या सिद्धलोक भी कहते है। यह मुक्त जीवों का निवास स्थान है।

1. अधोलोक - आचार्य उमास्वामी कहते हैं -

रत्नशर्कराबालुकापंकधूमतमोमहातमः प्रभाभूमयो घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः सप्ताधोऽधः॥१॥

(तत्वार्थसूत्र. अ. 3)

अधोलोक मे 1. रत्नप्रभा, 2 शर्कराप्रभा, 3. बालुकाप्रभा 4. पंकप्रभा 5. धूमप्रभा 6. तमप्रभा 7. महातमप्रभा - ये सात भृमियाँ है, जो क्रम से एकदूसरे के नीचे-नीचे स्थित हैं और घनोदधिवातवलय (वाष्पयुक्त हवा), घनवातवलय और तनुवातवलय, इन तीन वातवलयों से

वेष्टित हैं। इन वातवलयों का आधार आकाश है। रत्नप्रभा पृथ्वी 1 लाख 80 हजार योजन मोटी है, इसके तीन भाग हैं- 1. खर भाग 2. पंकभाग 3. अब्बहुल भाग। सबसे ऊपर का खरभाग 16 हजार योजन मोटा है, इसमे चित्रा, वज्रा आदि एक-एक हजार योजन मोटी 16 पृथ्वियाँ हैं। इन पृथ्वियों में से सबसे ऊपर की चित्रा पृथ्वी तो जिस पर हम रहते हैं मध्यलोक में है और शेष अधोलेक में। खरभाग के नीचे 84 हजार योजन मोटाई का पंक भाग है। खर और पंक भाग में भवनवासी देवों के भवनों में 7,72,00,000 और व्यन्तर देवों के आवासों में असख्यांत अकृत्रिम चैत्यालय है। पक भाग के नीचे 80 हजार मोटा अब्बहुल भाग है, यही पहला नरक है।

रत्नप्रभा के नीचे एक राजू से एक लाख 80 हजार योजन कम का अन्तराल छोड़कर 32 हजार योजन मोटी शर्कराप्रभा पृथ्वी अर्थात् दूसरा नरक है। शर्करा के नीचे एक राजू से 32 हजार योजन कम का अंतराल छोड़कर 28 हजार योजन की मोटी बालुकाप्रभा पृथ्वी अर्थात् तीसरे नरक है। इससे नीचे एक राजू से 28 हजार योजन कम का अन्तराल छोड़कर 24 हजार योजन की पकप्रभा पृथ्वी अर्थात् चौथा नरक है। इसके नीचे एक राजू से 24 हजार योजन कम का अन्तराल छोड़कर 20 हजार योजन मोटी धूमप्रभापृथ्वी अर्थात् पाँचवा नरक है। उसके नीचे एक राजू से 20 हजार योजन कम का अन्तराल छोड़कर 16 हजार योजन की तमप्रभा पृथ्वी अर्थात् छठा नरक है। तमप्रभा से नीचे एक राजू से 16 हजार योजन का अन्तराल छोड़कर 8 हजार योजन की महातमप्रभा भूमि अर्थात् सातवां नरक है। इससे नीचे एक राजू से 68 हजार योजन कम का नित्यनिगोद है, क्योंकि नित्यनिगाद के नीचे बीस-बीस हजार योजन के तीन वातवलय (हवा के घेरे) है। ऊपर के सब अन्तरालों में बीस-बीस हजार योजन के तीनो वातवलय है।

वज्रा पृथ्वी से लेकर निगोद के नीचे तीनों वातवलयों के अंत तक का भाग "अधोलोक" कहलाता है। आचार्य उमास्वामी कहते है -

तासु त्रिंशत्पञ्चविंशति पञ्चदशत्रिपञ्चोनैकनरकशत सहस्राणि पञ्च चैव यथाक्रमम्।।२।।

(तत्वार्थसूत्र, अ. ३)

प्रथम भूमि (नरक) से लेकर सातवी भूमि (नरक) तक क्रमशः तीस लाख, पचीस, लाख, पन्द्रह लाख, दस लाख, तीन लाख, पांच कम एक लाख और केवल पांच बिल अर्थात् नारकियों के रहने के स्थान होते हैं। सातों नरकों में कुल 84 लाख नरक बिल है। कुल 49 पाथड़े हैं।

नारकी जीव सदा ही अशुभतर लेश्या, परिणाम, देह, वेदना और विक्रिया वाले होते हैं। उनके कृष्ण, नील और कापेत ये तीन अशुभ लेश्याएं होती हैं। प्रथम और द्वितीय नरक में कापोत लेश्या होती है। तृतीय नरक के उपरिभाग में कापोत और अधोभाग में नील लेश्या है। चतुर्थ नरक मे नील लेश्या है। पञ्चम नरक में ऊपर नील अधोभाग में नील लेश्या है। छठवें और सावतें नरक में कृष्ण और परमकृष्ण लेश्या है। उक्त वर्णन द्रव्य लेश्याओं का है, जो आयुपर्यन्त रहती हैं। भाव-लेश्याएं अन्तमुर्हूत में बदलती रहती है, अतः उनका वर्णन नहीं किया गया।

स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द को परिणाम कहते हैं। शरीर को देह कहते हैं। अशुभ नाम कर्म के उदय से नारकियों के परिणाम और शरीर अशुभतर होते है।

प्रथम नरक में नारकियों के शरीर की ऊँचाई सात धनुष, तीन धनुष, तीन हाथ और छह अंगुल हैं। आगे के नरकों में क्रम से दुगनी-दुगनी ऊँचाई होती गई है, जो सातवें नरक में 500 धनुष जाती है। शीत और उष्णता से होने वाले दुःख का नाम वेदना है। नारकियों को शीत और उष्णता-जन्य तीव्र दुःख होता है। प्रथम नरक से चतुर्थ नरक तक उष्ण वेदना होती है। पञ्चम नरक के ऊपर के दो लाख बिलों में उष्ण वेदना है, और नीचे के एक लाख बिलों में शीत वेदना है। मतान्तर से पांचवे नरक के ऊपर के दो लाख पच्चीस बिलों में उष्ण वेदना तथा 24 कम एक लाख बिलों में शीत वेदना है। छठे और सातवें नरक मे उष्ण वेदना है। शरीर की विकृति को विक्रिया कहते हैं। अशुभ कर्म के उदय से उनकी विक्रिया भी अशुभ ही होती है। शुभ करना चाहते हैं, पर अशुभ होती हैं।

2. मध्यलोक - सुमेरु पर्वत जितना अर्थात् एक लाख, चालीस योजन ऊँचा, पूर्व-पश्चिम से एक राजू चौड़ा और उत्तर-दक्षिण में सातराजू लम्बा मध्यलोक माना जाता है। चित्रापृथ्वी पर बीचो बीच थाली के समान आकार का एक लाख योजन व्यास का जम्बूद्वीप है। धरातल का वह भाग जो सब और पानी से घिरा हो 'द्वीप' कहलाता है। जंबूद्वीप के सब ओर लवणसमुद्र, लवणसमुद्र के सब ओर दूसरा धातकीद्वीप, उसके सब ओर कालोदधि समुद्र, उसके सब ओर तीसरा पुष्करवरद्वीप है। पुष्करवर द्वीप के आधे भाग से आगे मानुषोत्तर पर्वत है। इस पर्वत के पहले का क्षेत्र ''अढ़ाईद्वीप'' के नाम से प्रसिद्ध है। अढ़ाई द्वीप का व्यास रुप विस्तार 45 लाख योजन है। मनुष्य यहीं तक आ-जा सकते है आगे नहीं।

तीसरा पुष्करवर द्वीप को घेरे हुए पुष्करवर समुद्र , इस समुद्र को घेरे हुए चौथा वारुणी द्वीप तथा वारुणी द्वीप को घेरे हुए वारुणी समुद्र, इस को घेरे हुए पांचवें क्षीरवर द्वीप, इसको घेरे हुए क्षीरवर समुद्र। इसी समुद्र के जल से इद्रादि देव तीर्थंकरों का अभिषेक करते हैं और इसी मे तप कल्याणक में उखाड़े हुए भगवान के केशों का विसर्जन करते हैं।

फिर छठा घृतवरद्वीप तथा घृतवर समुद्र, फिर सातवाँ इक्षुवर द्वीप तथा इक्षुवर समुद्र, फिर आठवां नंदीश्वर द्वीप है। इस द्वीप की चारों दिशाओं मे 13, 13 अकृत्रिम जिन चैत्यालय हैं, जिसमें कार्तिक, फागुन, आषाढ़ की अष्टाह्निका (अठाइयों) में देव जिन-पूजन करने जाते हैं एवं अपनी देवगति को सफल बनाते है। इस नंदीश्वर द्वीप को घेरे हुए नदीश्वर समुद्र है इसको घेरे हुए नवम अरुणवर द्वीप, फिर अरुणवर समुद्र, फिर दसवां कुंडलवर द्वीप है। इस द्वीप की चारों दिशाओ मे एक-एक अकृत्रिम जिनभवन है, इस द्वीप के आगे कुंडलवर समुद्र है। इसी प्रकार एक-दूसरे को घेरे हुए अंत के स्वयंभूरमण समुद्र तक असख्यात द्वीप-समुद्र हैं।

जंबूद्वीप का संक्षिप्त वर्णन- आचार्य उमास्वामी तत्वार्थ सूत्र के अध्याय तीन में सूत्र 9 से 23 तक जंबूद्वीप का वर्णन करते हुए कहते हैं कि - सब द्वीप-समुद्रों के बीच में गोल और एक लाख योजन व्यास वाला जम्बूद्वीप है।

(नोट- किसी भी गोलक्षेत्र की परिधि उसके व्यास से तिगुने से कुछ अधिक होती है (22/7)। इस प्रकार जम्बूद्वीप की परिधि 316227 योजन, 3 कोस, 128 धनुष और साढ़े 13 अंगुल से कुछ अधिक बैठती है।) इसके मध्य में सुदर्शनमेरु की ऊँचाई एक लाख चालीस योजन है। इसमे भरत, हेमवत, हरि, विदेह, रम्यक्, हैरण्यवत और ऐरावत ये सात क्षेत्र हैं। इन क्षेत्रों को विभाजित करने वाले ओर पूर्व-पश्चिम लम्बे ऐसे हिमवान् महाहिमवान्, निषध, नील, रुक्मी, और शिखरि ये छह कुलाचल पर्वत हैं। ये छहों पर्वत क्रम से सोना, चांदी, तपाया हुआ सोना, वैडूर्यमणि, चांदी और सोना के समान रंगवाले है। इनके पार्श्वभाग मणियों से चित्र विचित्र हैं। तथा ये ऊपर मध्य और मूल में समान विस्तार वाले है। इन कुलाचल पर्वतों के ऊपर क्रम से पद्म, महापद्म, तिगिछ, केसरी, महापुण्डरीक और पुण्डरीक ये छह तालाब या सरोवर हैं। पहला जो ब्रह्म नाम का तालाब है उसके मध्य में एक योजन के विस्तार वाला कमल है, इसके चारों तरफ अन्य भी अनेकों कमल हैं। इसके आगे के सरोवरों में भी कमल हैं। ये सरोवर व कमल आगे-आगे पहले वाले सरोवर व कमल से दूने-दूने विस्तार वाले हैं। पद्म सरोवर को आदि लेकर इन कमलों पर क्रम से श्री, ह्रीं धृति, कीर्ति, बुद्धि लक्ष्मी-ये देवियां अपने-अपने सामानिक, परिषद् आदि परिवार देवों के साथ रहती हैं। उपरोक्त पद्मादि सरोवरों से निकट भरत आदि क्षेत्रों से प्रत्येक मे दो-दो करके क्रम से गंगा-सिन्धु रोहित-रोहितास्या, हरित-हारिकान्ता, सीता-सीतोदा, नारी नरकान्ता, सुवर्णकूला-रुप्यकूल रक्ता-रक्तोदा - ये चौदह नदियां बहती है। इनमें गंगा, सिन्धु व रोहितास्या ये तीन नदियां पद्म सरोवर से तथा सुवर्णकूला, रक्ता, व रक्तोदा ये तीन नदिया पुण्ड्रीक सरोवर से निकलती है, बाकी चार सरोवरों से दो-दो नदियां निकलती हैं।

उपरोक्त जोड़े रुप दो-दो नदियों में से पहली पहली नदी पूर्व समुद्र में गिरती है, और पिछली-पिछली नदी पश्चिम समुद्र में गिरती है। गंगा-सिन्धु आदि सभी नदियों की अलग से चौदह-चौदह हजार, रोहित और रोहितास्या नदियों की परिवार नदियां अट्ठाईस-अट्ठईस हजार, हरित और हरिकान्ता नदियों की परिवार नदियां छप्पन-छप्पन हजार, सीता और सीतादा नदियों में प्रत्येक की परिवार नदियां एक लाख बारह हजार है। नारी और नरकान्ता, सुवर्णकूला और रूप्यकूला, रक्ता और रक्तोदा नदियों के परिवारनदियों की संख्या क्रम से हरित और हरिकान्ता, रोहित और रोहितास्या, गंगा और सिन्धु नदियों के परिवार नदियों की संख्या के समान है।

भोग भूमि को नदियों में त्रस जीव नहीं होते हैं। जम्द्वीप सम्बन्धी मूल नदियां अठहत्तर हैं। इनकी परिवारनदियों की संख्या पन्द्रह लाख बारह हजार है। जम्बूद्वीप में विभंग नदियां बारह हैं।

इस प्रकार पश्चिममेरु सम्बन्धी मूल नदियां तीन सौ नब्बे हैं और इनकी परिवारनदियों को सखंया पिचहत्तर लाख साठ हजार है। विभंग नदियों की संख्या साठ है।

जंबूद्वीप का भरत क्षेत्र छह खण्डों में विभाजित है- पांच खण्ड तो म्लेच्छ खण्ड कहलाते हैं और छठा खण्ड आर्य कहलाता है। हम लोग इसी आर्य खण्ड में रहते हैं। आज जितनी भी दुनिया ज्ञात है अर्थात् एशिया, यूरोप, अफ्रीका, अमेरिका आदि महाद्वीप और प्रशान्त आदि महासागर इसी आर्य खण्ड के कुछ ही भाग में है।

भरत और ऐरावत क्षेत्र में षट्काल परिवर्तन होता हैं, किन्तु हेमवत, हरि, रम्यक, और हैरण्यवत क्षेत्रों मेंभोग भूमियां हैं, यहाँ सदा एक सा काल रहता है, षट्काल परिवर्तन नहीं होता। हेमवत और हैरण्यवत में जघन्य तक हरि और रम्यक क्षेत्र मे मध्यम भोग भूमियां है। विदेह क्षेत्रों के चार भाग हैं - 1. पूर्व विदेह जिसमें सीमंधर और युगमंधर नाम के दो तीर्थंकर सदा काल रहते है। 2. पश्चिमी विदेह जिसमें बाहु और सुबाहु नाम के दो तीर्थंकर सदा रहते हैं 3. उत्तर कुरु-इसमें इसके पूर्व उत्तर (ईशान देशों) में जंबू (जामुन) का पृथ्वीकाय का एक अकृत्रिम अनादिनिधन विशाल वृक्ष है। 4. देवकुरु - यह दक्षिण में है। उत्तर कुरु और देवकुरु की उत्तम भोग-भूमियां है, यहाँ भी काल परिवर्तन नहीं होता।

3. ऊर्ध्वलोक - सुमेरु पर्वत की 40 योजन ऊँची चूलिका के सबसे ऊपर के भाग से एक बाल का अन्तर छोड़कर ऊपर के अन्तिम तनुवातवलय के अंत तक का क्षेत्र "ऊर्ध्वलोक" कहलाता है। इसकी त्रस नाड़ी में वैमानिक देव और सिद्ध निवास करते हैं। सिद्धशिला वाली आठवी प्रागभार पृथ्वी के नीचे का भाग "स्वर्ग" कहलाता है। स्वर्ग मे कुल 84,17,023 विमान है, इनमें रहने वाले देव वैमानिक देव कहलाते है। ये सब विमान 16 स्वर्ग, 9 ग्रैवेयक, 9 अनुदिश और 5 अनुत्तरों में स्थित है। 16 स्वर्गो के आठ जोड़े अर्थात् दो-दो के आठ जोड़े है। प्रथम जोड़ा अर्थात् सौधर्म और ऐशान स्वर्ग मध्यलोक के उपर डेढ़ राजू तक है। इसमे 31 पटल है।

एक लाख योजन ऊँचा मेरु पर्वत है। मेरु पर्वत की चोटी और सौधर्म-स्वर्ग के इन्द्रक ऋतुविमान मे एक बालमात्र का अन्तर है। मेरु के ऊपर ऊर्ध्वलोक, मेरु से नीचे अधोलोक और मेरु के बराबर मध्यलोक या तिर्यक् लोक है।

सौधर्म और ऐशान स्वर्ग के इकतीस पटल हैं, उनमें प्रथम ऋतुपटल है। ऋतुपटल के बीच मे ऋतु नामक पैंतालीस लाख योजन विस्तृत इन्द्रक (मध्यवर्ती) विमान है। ऋतुविमान से चारो दिशाओ में चार विमान श्रेणियां है। प्रत्येक विमान श्रेणी में बासठ विमान है। विदिशाओं में प्रकीर्णक विमान हैं। ऋतु पटल से ऊपर प्रभा नामक अन्तिम पटल पर्यन्त प्रत्येक पटल के प्रत्येक श्रेणी विमानों की संख्या क्रम से एक-एक कम होती गई है। इस प्रकार अन्तिम पटल में, प्रत्येक दिशा मे बत्तीस श्रेणी विमान है। प्रभः नामक इकतीसवें पटल के मध्य में प्रभा नामक इन्द्रक विमान है। इन्द्रक विमान की चारों दिशाओं मे चार विमान श्रेणियां हैं। प्रत्येक विमान श्रेणी में बत्तीस विमान है। दक्षिण दिशा मे जो विमान श्रेणी है, उसके अठारहवें विमान में सौधर्म इन्द्र का निवास है, और उत्तर दिशा के अठारहवें विमान में ऐशान इन्द्र रहता है। उक्त दोनों विमानों के तीन-तीन कोट है। बाहर के कोट में अनीक और पारिषद जाति के देव रहते हैं। मध्य के कोट में त्रायस्त्रिंश देव रहते हैं और तीसरे कोट के भीतर इन्द्र रहता है। इस प्रकार सब स्वर्गों में इन्द्रों का निवास समझना चाहिये।

पूर्व, पश्चिम और दक्षिण दिशा की तीन विमान श्रेणियां और आग्नेय और नैऋत्य दिशा से

प्रकीर्णक विमान सौधर्म स्वर्ग की सीमा में है। उत्तर दिशा की एक विमान श्रेणी और ईशान दिशा के प्रकीर्णक विमान ऐशान स्वर्ग की सीमा में है।

इसके ऊपर सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग है। इनके सात पटल हैं। प्रथम अञ्जन पटल के मध्य में अञ्जन नामक इन्द्रक विमान है। इन्द्रक विमान की चारों दिशाओं में चार विमान श्रेणियां है। प्रत्येक श्रेणी में इकतीस विमान है। प्रथम पटल से अन्तिम पटल पर्यनत प्रत्येक पटल में, प्रत्येक श्रेणी मे विमानों की संख्या क्रमशः एक-एक कम है। सातवें पटल में इन्द्रक विमान की चारो दिशाओं मे चार विमान श्रेणिया है। प्रत्येक श्रेणी में पच्चीस विमान है। इस पटल श्रेणी के पन्द्रहवे विमान मे सानत्कुमार और उत्तर श्रेणी के पन्द्रहवें विमान माहेन्द्र इन्द्र रहते है।

इसके ऊपर ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर स्वर्ग है। इनके चार पटल है। प्रथम अरिष्ट पटल के मध्य मे अरिष्ट नामक इन्द्रक विमान की चारो दिशाओं में चार विमान श्रेणिया हैं, प्रत्येक श्रेणी में चौबीस विमान हैं। ऊपर के पटलो में श्रेणी विमान की सख्या क्रमशः एक-एक कम है। चौथे पटल मे प्रत्येक श्रेणी मे इक्कीस विमान है। इस पटल की दक्षिण श्रेणी के बारहवे विमान मे ब्रह्मेन्द्र और उत्तर श्रेणी के बारहवे विामन में ब्रह्मोत्तर इन्द्र रहते है।

इसके ऊपर लान्तव कापिष्ट स्वर्ग है। इनके दो पटल है - ब्रह्म ह्रदय और लान्तव।प्रथम पटल की प्रत्येक विमान श्रेणी मे बीस विमान है, और द्वितीय पटल की प्रत्येक विमान श्रेणी मे उन्नीस विमान है। इस पटल की दक्षिण श्रेणी के नौवें विमान मे लान्तव और उत्तर श्रेणी के नौवे विामन मे कापिष्ट इन्द्र रहते है।

इसके ऊपर शुक्र और महाशुक्र स्वर्ग है। इनमें महाशुक्र नामक एक ही पटल है। इस पटल के मध्य महाशुक्र नामक इन्द्रक विमान है। चारो दिशाओ मे चार विमान श्रेणिया है। प्रत्येक विमान श्रेणी मे अठारह विमान हैं। दक्षिण श्रेणी के बारहवे विमान में शुक्र और उत्तर श्रेणी के बारहवे विमान मे महाशुक्र इन्द्र रहते है।

इसके ऊपर शतार और सहस्त्रार स्वर्ग है। इनमें सहस्त्रार नामक एक ही पटल है। चारो दिशाओ मे प्रत्येक श्रेणी मे सत्रह विमान है। दक्षिण श्रेणी के नौवे विमान मे शतार और उत्तर श्रेणी के नौवे विमान मे सहस्त्रार इन्द्र रहते है।

इसके ऊपर आनत, प्राणत, आरण और अच्युत स्वर्ग है। इनमे छह पटल हैं। अन्तिम अच्युत पटल के मध्य में अच्युत नामक इन्द्रक विमान है। इन्द्रक विमान से चारो दिशाओं में चार विमान श्रेणिया है। प्रत्येक विमान में आरण और उत्तर श्रेणी के छठवे विमान मे अच्युत इन्द्र रहते है।

इस प्रकार लोकानुयोग नामक ग्रथ में चौदह इन्द्र बतलाये है। श्रुतसागर आचार्य मत से तो बारह ही इन्द्र होते हैं। आदि चार और अन्त के चार इन आठ स्वर्गों के आठ इन्द्र और मध्य के आठ स्वर्गो के चार इन्द्र अर्थात् ब्रह्म, लान्तव, शुक्र और शतार इस प्रकार सोलह स्वर्गों मे बारह इन्द्र होते हैं।

विमानों की संख्या - सौधर्म स्वर्ग में बत्तीस लाख, ऐशान स्वर्गों मे अठ्टाईस लाख, सानत्कुमार स्वर्ग में बारह लाख, माहेन्द्र में आठ लाख ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर में चालीस लाख, लान्तव और कापिष्ट में पचास हजार, शुक्र और महाशुक्र में चालीस हजार, शतार और सहस्रार में छह हजार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत स्वर्ग में सात सौ सात और ऊपर के तीन ग्रैवेयकों मे एक सौ ग्यारह, मध्य के तीन ग्रैवेयकों में एक सौ सात और ऊपर के तीन ग्रैवेयकों मे एकानवे विमान हैं। नव अनुदिशों में नौ विमान है। सर्वार्थसिद्धि पटल में पाच विमान है, जिनमें मध्यवर्ती विमान का नाम सर्वार्थसिद्धि है, पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशा में क्रम से विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित विमान है।

विमानों का रंग - सौधर्म और ऐशान स्वर्ग के विमानों का रंग श्वेत, पीला, हरा, लाल और काला है। सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग में विमानों का रंग श्वेत, पीला, हरा, लाल है। ब्रह्म ब्रह्मोत्तर, लान्तव और कापिष्ट स्वर्ग मे विमानों का रंग श्वेत, पीला और लाल है। शुक्र से अच्युत स्वर्ग पर्यन्त विमानो का रंग श्वेत और पीला है। नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश और अनुत्तर विमानों का श्वेत ही है। सर्वार्थसिद्धि विमान परमशुक्ल है और इसका विस्तार जम्बूद्वीप के समान है। अन्य चार विमानों का विस्तार असख्यात करोड़ योजन है।

उक्त त्रेसठ पटलों का अन्तर भी असंख्यात करोड़ योजन है।

मेरु से ऊपर डेढ़ राजू पर्यन्त श्रेत्र में सौधर्म और ऐशान स्वर्ग हैं। पुनः डेढ़ राजू प्रमाण श्रेत्र में सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग है। ब्रह्म से अच्युत स्वर्ग पर्यन्त दो-दो स्वर्गों की ऊंचाई आधा राजू है और ग्रैवेयक से सिद्धशिला तक एक राजू ऊंचाई है। उर्ध्व लोक में जितने विमान है, सभी में जिनमन्दिर हैं।

16 स्वर्गो के ऊपर, ग्रैवेयको की तीन अधो, मध्य और ऊर्ध्व तिकड़ी के 9 पटल ग्रैवेयक कहलाते है। ये मध्य लोक से 7वे राजू से आरभ होकर आधा राजू मे है। तिकड़ी के ऊपर चौथाई राजू से कुछ ही कम में पांच अनुत्तरों का एक पटल हैं, इस पटल की चारों दिशाओ में अर्थात् पूर्व मे विजय, दक्षिण में वैजयत, पश्चिम मे जयत और उत्तर में अपराजित-ये चार विमान है। एक सर्वार्थ-सिद्धि नाम का विमान मध्य में स्थित है। इस प्रकार यहाँ तक कुल 63 पटल है स्वर्ग के इद्र के नगर के बाहर अशोकवन, आम्रवन आदि होते हैं। इन वनों में एक हजार योजन ऊँचा और 500 योजन विस्तार का एक चैत्यवृक्ष होता है। इनके चारों दिशाओं में पर्यंकासन मे जिनेन्द्रदेव की प्रतिमाएं होती हैं।

इन्द्र के इस स्थानमंडप के अग्रभाग में एक मानस्तभ होता है। इस स्तंभ में एक रत्नमयी पिटारा होता है। जिसमें तीर्थंकर के गृहस्थावस्था में पहनने, योग्य वस्त्राभूषण आदि होते है। सौधर्म के मानस्तंभ पिटारे में भरत क्षेत्रो के तीर्थंकरो के, ऐशान के मानस्तंभपिटारों में ऐरावत क्षेत्रों के, सनत्कुमारो के मानस्तंभ पिटारे में पूर्व विदेहो के तथा माहेन्द्र के मानस्तंभपिटारे में पश्चिम विदेहों के तीर्थंकरों के वस्त्रादि रहते हैं। इसी से यह मानस्तंभ देवों से पूजनीक है। इन

मानस्तंभो के समीप ही उपपादगृह होते है। इन उपपादगृह में दो रत्न शैय्या होती है। यही इन्द्र का जन्म स्थान है।

सिद्ध लोक - उर्ध्वलोक का अग्र भाग सिद्ध लोक कहलाता है। सर्वार्थ सिद्धि इन्द्रक के ध्वजदण्ड से 12 योजन मात्र, ऊपर जाकर ईषत् प्राग्भार नामक आठवीं पृथिवी स्थित है। इसके ऊपरी और अधास्तन तल में से प्रत्येक तल का विस्तार पूर्व-पश्चिम में वातवलयो की मोटाई सहित एक राजू प्रमाण है। ईषत्प्राग्भार पृथ्वी उत्तर-दक्षिण भाग मे कुछ कम सात राजू लम्बी है। इसकी मोटाई आठ योजन है यह ईषत्प्राग्भार पृथ्वी घनोदधिवात, घनवात और तनुवात- इन तीन वायुओ से युक्त है। इस पृथ्वी के अधस्तन तल (नीचे का तल) पर प्रत्येक वायु की मोटाई बीस-बीस हजार योजन प्रमाण है, किन्तु इस पृथ्वी के उपरिम तल पर वातवलयों की मोटाई क्रमश: 4000 धनुष (घनोदधि वातवलय की); 2000 धनुष (घनवातवलय की); और 1575 धनुष (तनुवातवलय की जो लोक के सबसे अन्त में है) प्रमाण है। सिद्धों का निवास स्थान इसी वातवलय में है। ईषत्प्राग्भार पृथ्वी का बहुमध्य भाग उल्टा धवल छत्र के आकार का ईषत्प्राग्भार नामक क्षेत्र है जो पैतालीस लाख योजन प्रमाण है,यही सिद्धशिला का विस्तार है।

संसार किसे कहते है? अपने शुद्ध स्वरुप से भली भाँति हट जाना ही ससार है। जब जीव स्त्री, पुत्र, धन-दौलत आदि में, जो पर पदार्थ हैं, अपनेपन की कल्पना करके उन्हें इष्ट-अनिष्ट मानता है तब इस अशुद्ध भाव को ससार कहते है। दूसरे शब्दो में जन्म मरण करने का नाम ही ससार है। अनादि काल से जन्म-मरण करते हुए इस जीव ने एक एक करके लोक के सर्वपरमाणुओं को, सर्व प्रदेशो को, काल को सर्वसमयो को, सर्व प्रकार के कषायभावों को और नरकादि सर्वभावो को अनन्त-अनन्त बार ग्रहण करके छोड़ा है। इस प्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव और भव के भेद से यह संसार पंच परिवर्तन रुप कहा जाता है।

संसार का चिंतन हम इस प्रकार भी करते हैं -

कर्मों और कषायों के वश होकर प्राणी नाना-
कायों को धारण करता है तजता है जग जाना।
है संसार यही, अनादि से जीव यहीं दुःख पाते,
कर्म मदारी जीव-वानरों को हा! नाच नचाते॥१॥

कभी नरक गति में जाता है बीज पाप का बोकर,
घोर व्यथाएँ तब सहता है दीन नारकी होकर।
छेदन- भेदन ताड़न-फाड़न की है अकथ कहानी,
पड़े बिलखते सदा नारकी मिले न दाना-पानी॥२॥

निकल नरक से कभी जीव तिर्यञ्च योनि में आता,
बध-बन्धन के भार-वहन के कष्ट कोटिशः पाता।
एक स्वास में बार अठारह जन्म-मरण करता है,
आपस में भी एक दूसरा प्राण हरण करता है। ।३॥

मानव भव पाकर भी कितने मनुज सुखी होते है?
विविध व्याधियों के वश होकर अगणित नर रोते हैं।
अंगोपांगविकल हो अथवा पागल होकर अपना-
जीवन हाय बिताते, कब हो पूरा मन का सपना।।४॥

दानव-सा दारिद्र किसी को स्वजन वियोग किसी को।
पुत्र अभाव किसी को अप्रिय का संयोग किसी को।
नाना चिन्ताएँ डायन की भांति खड़ी रहती हैं,
इस प्रकार दुनियां में दुःख की सरिताएँ बहती हैं।।५॥

है अपार संसार न करना पल भर राग सयाने ,
यहाँ जीव ने अब तक पहने हैं कितने ही बाने।
सब जीवों से सब जीवों के सब सम्बन्ध हुए हैं,
लोक प्रदेश असंख्य जीव ने अगणित बार छुए हैं।।६॥

एक जन्म की पुत्री मर कर है पत्नी बन जाती ,
फिर आगामी भव में माता बनकर पैर पुजाती।
पिता पुत्र के रुप जन्मता बैरी बनता भाई,
पुत्र त्याग कर देह कभी बन जाता सगा जमाई।।७॥

देवराज स्वर्गीय सुखों को त्याग कीट होता है,
विपुल राज्य से भूपति पल में हाय! हाथ धोता है।
गोबर का कीड़ा स्वर्गों के दिव्य सौख्य पाता है,
अपना ही शुभ-अशुभ कृत्य यह अजब रंग लाता है। ।८॥

उच्च योनि में नीच योनि में काल अनन्त गँवाया,
शूकर श्वपच श्वान हो होकर ऊँचे कुल में आया।
फिर नहीं है अभिमान जाति का कुल का दंभ भरा है,
उच्च-नीचता-दंभ-महल यह बालू पर ठहरा है। ।९॥

सौख्य बूँद भर मिला कभी तो वह कब तक ठहरेगा?
अगले ही क्षण भोले प्राणी। दुःख सागर लहरेगा।
राई भर सुख के निमित्त क्यों दुःख सुमेर-भुलाया,
सन्तों के उपदेशों को भी तूने हाय! लजाया॥१०॥

होता यदि संसार सुखों का धाम त्याग क्यों करते
तीर्थंकर चक्री क्यों जाकर वन में कहो विचरतें?
बड़े-बड़े भूपालों ने क्यों जग से नाता छोड़ा?
अपना विस्तृत निष्कंटक क्यों राज्य उन्होंने छोड़ा॥११॥

जगत-जलधि से पार उतरने को शरीर नौका है,
मानव-भव शाश्वत सुख पाने का अनुपम मौका है।
जाग-जाग हे ज्योतिपुन्ज! अवसर बीता जाता है,
जो क्षण गया, गया सदैव को फिर न हाथ आता है। ।१२॥

जीव अपनी भूल से अनादि से मिथ्यादृष्टि है, वह स्वतः अपनी पात्रता का विकास करके सत्समागम से सम्यग्दृष्टि हो सकता है। मिथ्यादृष्टि अवस्था के कारण परिभ्रमण अर्थात् परिवर्तन होता है। इस परिवर्तन के पांच भेद निम्न है अर्थात् पच परिवर्तन रुप ससार निम्न प्रकार से होता है -

1. **द्रव्य परिवर्तन** - जीव का विकार अवस्था में पुद्‌गलों के साथ जो सम्बन्ध होता है, उसे द्रव्य परिवर्तन कहते है। यह दो प्रकार का है - (1) नोकर्मद्रव्य परिवर्तन, (2) कर्मद्रव्य परिवर्तन।

(i) **नोकर्मद्रव्य परिवर्तन** - किसी एक जीव ने औदारिक, तैजस और कार्माण या वैक्रियक तैजस और कार्माण इन तीन शरीर और छह पर्याप्ति के योग्य जो पुद्‌गल स्कन्ध एक समय मे एक जीव ने ग्रहण किये, वह जीव पुनः उसी प्रकार के स्निग्ध, रुक्ष, स्पर्श, वर्ण, रस, गध आदि मे तथा तीव्र, मद या मध्यम भाव वाले स्कंधों को ग्रहण करता है, तब एक नोकर्म द्रव्य परिवर्तन होता है। इसमें पुद्‌गलों की संख्या और जाति बराबर उसी प्रकार के कर्मों की होनी चाहिए।

दूसरे शब्दों मे किसी एक जीव ने तीन शरीर और छह पर्याप्तियों के योग्य पुद्‌गलों को एक समय में ग्रहण किया। अनन्तर वे पुद्‌गल स्निग्ध या रुक्ष, स्पर्श तथा वर्ण और गन्ध आदि के द्वारा जिस तीव्र, मन्द और मध्यम भाव से ग्रहण किये थे उस रुप से उपस्थित होकर द्वितीयादि समयों में निजीर्ण हो गए। तत्पश्चात् अगृहीत परमाणुओं को अनन्त बार ग्रहण करके छोड़ा, मिश्र परमाणुओं को अनन्त बार ग्रहण करके छोड़ा और बीच में गृहीत परमाणुओ को अनन्त बार ग्रहण करके छोड़ा तत्पश्चात् जब उसी जीव के सर्वप्रथम ग्रहण किये गए वे ही परमाणु उसी

प्रकार से नोकर्म भाव को प्राप्त होते है, तब यह सब मिलकर एक नोकर्म द्रव्यपरिवर्तन कहलाता है।

(ii) **कर्मद्रव्य परिवर्तन** - एक जीव ने एक समय में आठ प्रकार के कर्म स्वभाव वाले जो पुद्गल ग्रहण किये थे वैसे ही कर्म स्वभाव वाले पुद्गलों को पुनः ग्रहण करे तब एक कर्म द्रव्य परिवर्तन होता है। बीच में उन भावों में किंचित् मात्रा अन्य प्रकार के दूसरे जो जो रजकण ग्रहण किए जाते हैं उन्हें गणना में नहीं लिया जाता। उन आठ प्रकार के कर्म पुद्गलों की संख्या और जाति बराबर उसी प्रकार के कर्म पुद्गलों की होनी चाहिए।

(2) क्षेत्र परिवर्तन- जीव की विकारी अवस्था में आकाश के क्षेत्र के साथ होने वाले सम्बन्ध को क्षेत्र परिवर्तन कहते हैं। लोक के आठ मध्य प्रदेशों को अपने शरीर के आठ मध्य प्रदेश बनाकर कोई जीव सूक्ष्म निगोद में अपर्याप्त सर्व जघन्य शरीर वाला हुआ और क्षुद्रभव (अर्थात् श्वास के अठारहवें भाग की स्थिति) को प्राप्त हुआ, तत्पश्चात् उपरोक्त आठ प्रदेशो से लगे हुए एक-एक अधिक प्रदेश को स्पर्श करके समस्त लोक को जब अपने जन्मक्षेत्र के रुप मे प्राप्त करता है तब एक क्षेत्र परिवर्तन पूर्ण हुआ कहलाता है। बीच में क्षेत्र का क्रम छोड़कर अन्यत्र जहाँ जन्म लिया उन क्षेत्रो को गणना में नहीं लिया जाता।

विशेष- मेरुपर्वत के नीचे से प्रारम्भ करके एक-एक प्रदेश आगे बढ़ते हुए संपूर्ण लोक में जन्म धारण करने में एक जीव को जितना समय लगे उतने समय में एक क्षेत्र परिवर्तन पूर्ण हुआ कहलाता है।

(3) काल परिवर्तन - एक जीव ने अवसर्पिणी के पहले समय में जन्म लिया, तत्पश्चात् अन्य अवसार्पिणी के दूसरे समय में जन्म लिया, पश्चात् अन्य अवसर्पिणी के तीसरे समय मे जन्म लिया, इस प्रकार एक-एक समय आगे बढ़ते हुए नई अवसर्पिणी के अंतिम समय में जन्म लिया, तथा उसी प्रकार उत्सर्पिणी काल में उस भांति जन्म लिया, और तत्पश्चात ऊपर की भांति ही अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी के प्रत्येक समय में क्रमशः मरण किया। इस प्रकार भ्रमण करते हुए जो काल लगता है उसे काल परिवर्तन कहते है। इस काल क्रम से रहित बीच में जिन-जिन समयों में जन्म-मरण किया जाता है वे समय गणना में नहीं आते हैं।

(4) भव परिवर्तन - नरक गति में सबसे जघन्य आयु दस हजार वर्ष की है। उस जीव उस आयु से वहाँ उत्पन्न हुआ पुनः घूम-फिर कर पुनः उसी आयु से वहाँ उत्पन्न हुआ। इस प्रकार दस हजार वर्ष के जितने समय हैं उतनी बार वही उत्पन्न हुआ और मर गया। पुनः आयु में एक-एक समय से बढ़ाकर नरक की तैंतीस सागर आयु समाप्त की। तदनन्तर नरक से निकलकर अन्तर्मुहूत आयु के साथ तिर्यंच गति में उत्पन्न हुआ और पूर्वोत्तम क्रम से उसने तिर्यञ्च गति की तीन पल्य आयु समाप्त की। इसी प्रकार मनुष्य गति में अन्तर्मुहूर्त से लेकर तीन पल्य आयु समाप्त की तथा देवगतियों में नरक गति के समान आयु समाप्त की, किन्तु देवगति में यह विशेषता है कि यहाँ 31 सागर आयु समाप्त होने तक कथन करना चाहिये, क्योंकि ऊपर नव अनुदिश आदि

के देव संसार में भ्रमण नहीं करते। इस प्रकार यह सब मिलकर एक भव परिवर्तन होता है।

(5) भाव परिवर्तन - 1. असंख्यात योगस्थान एक अनुभागबन्ध (अध्यवसाय) स्थान को करता है। (कषाय के जिस प्रकार से कर्मों के बन्ध में फल दान शक्ति की तीव्रता आती है उसे *अनुभागबन्ध स्थान* कहा जाता है।)

2. असख्यात, असंख्यात अनुभाग बन्ध, अध्यवसाय स्थान एक कषायभाव (अध्यव्साय) स्थान को कहते है (कषाय का एक प्रकार जो कर्मों की स्थिति को निश्चित करता है, उसे कषायअध्यवसायस्थान कहते हैं।)

3. असख्यात, असंख्यात कषाय अध्यवसाय स्थान पंचेन्द्रिय संज्ञी पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि जीव के कर्मो की जघन्य स्थिति बन्ध को कहते हैं, यह स्थिति अंतः कोड़ाकोड़ी सागर की होती है, अर्थात् कोड़ा कोड़ी सागर से नीचे और कोड़ी से ऊपर उसकी स्थिति होती है।

(नोट- जघन्य स्थिति बन्ध के कारण जो कषाय भाव स्थान हैं उसकी सख्या असंख्यात लोक के प्रदेशों के बराबर है, एक-एक स्थान में अनन्तानन्त अविभाग प्रतिच्छेद हैं जो अनन्त भाग हानि, असख्यात भाग हानि, संख्यात भाग हानि, संख्यातगुण हानि, असंख्यात गुण हानि, अनन्त गुण हानि तथा अनन्त भाग वृद्धि, अंसख्यात भाग वृद्धि, संख्यात भाग वृद्धि, संख्यात गुण वृद्धि, असंख्यात गुण वृद्धि, और अनन्तगुण वृद्धि- इस प्रकार छह स्थान असंख्यात हानि-वृद्धि सहित होता है।)

4. एक जघन्य स्थित बन्ध होने के लिए यह आवश्यक है कि जीव असंख्यात योग स्थानों मे से (एक एक योग स्थान में से) एक अनुभागबन्ध स्थान होने के लिए पार हो, और तत्पश्चात् एक एक अनुभागबन्ध स्थान में से एक कषाय स्थान होने के लिए पार होना चाहिये और एक जघन्य स्थिति बन्ध होने के लिए एक कषाय स्थान में से पार होना चाहिये।

5. तत्पश्चात् उस जघन्य स्थिति बन्ध में एक एक समय अधिक करके (छोटे से छोटे जघन्यबन्ध से आगे प्रत्येक अंश से) बढ़ते जाना चाहिये। इस प्रकार आठों कर्म और (मिथ्यादृष्टि के योग्य) सभी उत्तर कर्म प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति पूरी हो तब एक भाव परिवर्तन पूर्ण होता है।

भाव परिवर्तन का कारण मिथ्यात्व हैं - समस्त प्रकृति बन्ध, स्थिति बन्ध, अनुभाग बन्ध और प्रदेश बन्ध के स्थान रुप मिथ्यात्व के संसर्ग से जीव निश्चय से भाव संसार में भ्रमण करता है।

संसार के भेद करने पर भावपरिभ्रमण उपादान अर्थात् निश्चय है अर्थात् व्यवहार ससार है, क्योंकि वह परवस्तु है। निश्चयनय का अर्थ वास्तविक और व्यवहारनय का अर्थ है कथनरुप निमित्तमात्र। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के प्रकट होने पर भाव संसार दूर हो जाता है और तत्पश्चात् अन्य चार अर्थात् कर्म रुप, निमित्तों का स्वयं अभाव हो जाता है।

इस प्रकर जीव पंचपरावर्तन करता हुआ पूरे लोक मे घूमता आया है। यह जीव चार गतियों मे भ्रमता हुआ 24 स्थानों पर पाया जाता है, जिसे चौबीस दण्डक कहते है। इसका वर्णन इस प्रकार है-

सात दण्डक नरक गति के;

दस दण्डक भवन वासी देवो के;

एक दण्डक व्यतर देवो का;

एक दण्डक ज्योतिष देवों का;

एक दण्डक कल्पवासी देवों का;

एक दण्डक स्थावर जीवो का;

एक दण्डक विकलत्रय जीवो का;

एक दण्डक पचेन्द्रिय तिर्यञ्चो का;

एक दण्डक मनुष्यो का।

इस प्रकार कुल चौबीस दण्डक संसारी जीवों के हो जाते है।

इन चारो गतियो में जीव कहाँ से आते है और वहाँ से निकल कर कहाँ जाते है, इनका वर्णन इस प्रकार है-

सात दण्डक नरक गति के - नरको मे दो गतियो से जीव आते है - मनुष्य गति से और तिर्यञ्च गति से। असैनी तिर्यञ्च पहले नरक तक जाते है, क्योंकि इनके मन न होने से हिंसा कार्य अधिक नहीं होते है। सरीसर्प दूसरे नरक तक जाते है और पक्षी तीसरे नरक तक जाते है। सर्प चौथे नरक तक, और सिह पाँचवे नरक तक जाते है। नारी छठे नरक तक जाती है, किन्तु पुरुष व मच्छ सातवें नरक तक जाते है।

सातवे नरक से निकल कर नारकी पशुगति मे ही जायेगा अन्य किसी गति मे नहीं जायेगा।

छठे नरक से निकल कर नारकी मनुष्य या पशु होता है, कदाचित् सम्यक्दृष्टि श्रावक भी हो जाता है।

पाँचवें नरक से निकला नारकी मुनि तक हो सकता है।

चौथे नरक से निकला नारकी केवली भगवान् तक बन सकता है।

तीसरे नरक से निकला नारकी तीर्थंकर तक हो सकता है।

मनुष्य और तिर्यञ्च ही देवगति में जाते हैं।

यदि कोई प्रथम नरक में लगातार जावे तो आठ बार जा सकता है। अर्थात् कोई जीव प्रथम नरक में उत्पन्न हुआ, फिर वहाँ से निकल कर मनुष्य या तिर्यञ्च हुआ, पुनः प्रथम नरक में उत्पन्न हुआ। इस प्रकार वह जीव प्रथम नरक में ही जाता रहे तो आठ बार तक जा सकता है।

इसी प्रकार द्वितीय नरक में सात बार, तृतीय नरक में छह बार, चौथे नरक में पांच बार, पाँचवें, नरक में चार बार, छठवें नरक में तीन बार और सातवें नरक में दो बार तक लगातार उत्पन्न हो सकता है।

देवपर्याय से जीव पृथ्वीकायिक, जलकायिक, वनस्पतिकायिक, तिर्यञ्च और मनुष्य हो सकता है। दूसरे स्वर्ग से ऊपर के देव मर कर स्थावर जीवों मे जन्म नहीं लेते हैं। बारहवें स्वर्ग से ऊपर के देव अपनी आयु समाप्त कर निश्चय से मनुष्य ही होते है। भोग भूमि के तिर्यञ्च व मनुष्य अपनी आयु समाप्त कर दूसरे स्वर्ग तक ही जाते हैं।

कर्म भूमियाँ मनुष्य और पशु ही भोग भूमि में जन्म ले सकते है। कर्म भूमि के तिर्यञ्च व अणुव्रती श्रावक बारहवें स्वर्ग तक जा सकते हैं। अव्रती सम्यक्दृष्टि मनुष्य बारहवें स्वर्ग तक जाते हैं। अन्यमती पंचाग्नि आदि तप तपने वाले भवनत्रिक देव होते हैं, अर्थात् ज्योतिष देव या भवनवासी देव या व्यंतरदेव बनते है।

परिव्राजक त्रिदडी साधु पंचम स्वर्ग से ऊपर नहीं जा सकते हैं। परमहंस साधु बारहवें स्वर्ग से ऊपर नही जा सकते है। श्रावक, आर्यिका, अणुव्रती सभी सोलह स्वर्ग से ऊपर नहीं जा सकते है, जबकि द्रव्यलिगी मुनि नव ग्रैवेयक से ऊपर नहीं जा सकते है। नवअनुत्तर और पच अनुदिश मे केवल सम्यक्दृष्टि महामुनि ही जाते है। आज तक इन्द्र, शची, लोकपाल, लोकांतिक देव पचअनुत्तर नहीं गए।

मनुष्य चौबीसो दड़क मे जा सकता है। मुनष्यपर्याय और मुनिधर्म अगीकार किये बिना मोक्ष की प्राप्ति नही हो सकती। सम्यक्दृष्टि मुनि ही ससार से पार हो सकते है।

तीर्थकर दो गतियो से आ सकते है- एक तो स्वर्ग गति से और एक नरक गति से। यहाँ से आकर ये मनुष्य गति धारणकर मोक्ष को चले जाते है।

चक्री, अर्धचक्री, बलदेव ये सभी स्वर्ग से आते हैं। चक्री अपनी आयु पूर्ण करके नरक या स्वर्ग या मोक्ष जाते है। अर्धचक्री हमेशा अपनी आयु पूर्ण करके नरक गति को ही जाता है, अगले भवों से यह मोक्ष चला जाता है। बलदेव सदैव स्वर्ग या मोक्ष ही जाता है। कुलकर, नारद, रुद्र, कामदेव, तीर्थंकर के माता-पिता ये पद पाने के बाद ये अपना संसार परिभ्रमण का अन्त कर लेते हैं। कुलकर अपनी आयु पूर्ण करने के उपरान्त स्वर्ग ही जाता है। कामदेव स्वर्ग और मोक्ष दोनो जगह जाते है। नारद सदैव अपनी आयु पूर्ण करने के बाद नरक ही जाता है, आगे आने वाले भवों में इनका मोक्ष हो जाता है। तीर्थंकर के पिता स्वर्ग या मोक्ष ही जाते है, किन्तु माता स्वर्ग ही जाती है। अगले भवो मे इनका मोक्ष हो जाता है।

पंचेन्द्रिय पशु मर कर चौबीसों दण्डक में जा सकता है। तथा वहाँ से मरकर पशु गति मे आ सकता है।

विकलत्रय अर्थात् दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय और चर्तुइन्द्रिय के जीव पाँच स्थावर, विकलत्रय,

तिर्यञ्च-पंचेन्द्रिय जीवों में ही जन्म ले सकते हैं, मरकर इन्हीं जीवों में चले जाते हैं।

नरक के बिना विकलत्रय सब दण्ड़कों में जाते हैं।

इस प्रकार अनादि निधन "लोक" तो अकृत्रिम व स्थिर है, किन्तु "संसार" परिणमन शील है, पंचपरिवर्तन रुप है। यही लोक और संसार में सबसे बड़ा अन्तर है।

दूसरी ओर ससार केवल जीव द्रव्य से सम्बन्धित है। जब जीव की विभाव परिणति होती है तब जीव एक शरीर को छोड़ता है और दूसरे नये शरीर को ग्रहण करता है। इस प्रकार जीव अनादिकाल से आज तक अनेक बार शरीर को ग्रहण करता और छोड़ता आ रहा है। मिथ्यात्व, कषाय वगैरह से युक्त जीव का इस प्रकार अनेक शरीरों में जो यह परिभ्रमण होता है, यह ससार कहलाता है। अत: संसार परिणमनशील, गतिशील है। जबकि लोक स्थिर है, इसके आकार-प्रकार में कोई हलन-चलन नही है। यही दोनों में मुख्य अन्तर है। ससारी जीव लोक के चौबीस दण्ड़को मे पाये जाते हैं। चार गति के जीव इन्हीं दण्ड़कों मे परिभ्रमण करते हैं। संसारी जीव को अपना परिभ्रमण मिटाने के लिए, वीतराग भाव को धारण करना चहिए, विकारी भाव को छोड़कर, समस्त कर्मों की श्रृखलाएँ तोड़कर लोक के शिखर पर स्थिर होना चाहिए।

स्फुरदरसहस्त्ररुचिरं विमलमहारत्नकिरणनिकर-परीतम्
प्रहसिताकिरणसहस्त्रद्युति-मण्डलमग्रगामि-धर्मसुचक्रम्।।

जो दैदीप्यमान एक हजार आरों से शोभित है, चारों ओर अत्यन्त निर्मल महारत्नों की किरणों के समूह से शोभायमान है। जो अपनी कान्ति से सूर्य की कान्ति को भी तिरस्कृत करता है ऐसा धर्मचक्र तीर्थंकर केवली जिनेन्द्र के विहार करते समय सबसे आगे-आगे चलता है।

पुण्यार्जक

1.	मैसर्स मिट्ठन लाल चन्द्रभान जैन, चौपला गाजियाबाद	39,000
2.	श्री डी.के. जैन, विनयकुमार जैन, 223 गांधी नगर गाजियाबाद	32,500
3.	श्रीमती प्रेमवती जैन ध० प० श्री वी. रत्न जैन, आर. एस. स्टील्स नवयुग मार्केट, गाजियाबाद	32,500
4.	श्रीमती उमा जैन ध० प० श्री जीवेन्द्र जैन, KC-68/9 कविनगर, गाजियाबाद	32,500
5.	श्री मदन लाल जैन, श्री पवन कुमार जैन, 116 बाहुबली एनक्लेव, दिल्ली	32,500
6.	श्री सुरेन्द्र पाल जैन, अध्यक्ष जैन समाज, शकर नगर एक्सटेनसन, दिल्ली	32,500
7.	श्री जगदीश प्रसाद, दिनेश कुमार जैन (करनावल वाले), धर्मपुरा गांधी नगर ने ब्र० गुणामाला जैन की स्मृति में	32,500
8.	श्री विनयकुमार, अशोककुमार जैन, C-6/9 कृष्णा नगर, दिल्ली	21,000
9.	दिगम्बर जैन महिला समिति, तीरगरान मेरठ	13,500
10.	श्री सुनील कुमार जैन, B-K-19 पश्चिमी शालीमार बाग, दिल्ली	13,000
11.	श्री सुधीर चन्द जैन, R-14/127 राजनगर, गाजियाबाद	13,000
12.	श्रीमती सुमित्रा जैन धर्मपत्नी श्री सुधीर कुमार जैन, KB-90 कविनगर, गाजियाबाद	13,000
13.	श्री सुषमा जैन सुपुत्री श्री आर.वी. जैन, 38C दुर्गा नगर, अम्बाला कैंट	11,000
14.	श्रीमती उर्मिला जैन, 11/755 दयालपुरा, करनाल	9,945
15.	श्री ज्ञान चन्द संजय कुमार जैन (रामपुर मनिहारान वाले), C-6 यमुना विहार, दिल्ली	6,565
16.	श्री बी.डी. जैन, II-A-128 नेहरु नगर, गाजियाबाद	6,500
17.	श्री सुन्दर लाल जैन, KL-158 कविनगर, गाजियाबाद	6,500
18.	श्री संदीप जैन सुपुत्र श्री एन.सी. जैन, III-D-59 नेहरु नगर, गाजियाबाद	6,500
19.	श्री अरुण कुमार जैन सुपुत्र श्री जगजोत प्रसाद जैन, KL-155 कविनगर, गाजियाबाद	6,500
20.	श्री विपिन जैन, विकास जैन, KI-40 कविनगर, गाजियाबाद	6,500
21.	श्री जे.डी. जैन (प्रिंसीपल), KK-145 कविनगर, गाजियाबाद	6,500
22.	श्री शालभद्र जैन सुपुत्र स्व० श्री गुलशन राय जैन (कैरानावाले), II-A-20 नेहरु नगर, गाजियाबाद	6,500
23.	श्री जगरोशन लाल ऋषभ कुमार जैन, B-51 लोहिया नगर, गाजियाबाद	6,500
24.	श्री सुनील कुमार, सुधीर कुमार जैन, KI-156 कविनगर, गाजियाबाद ने अपनी पूज्य माता जी स्व. श्रीमती केला देवी जैन व पूज्य पिता जी स्व. श्री जगदीश प्रसाद जैन (रि. कानूनगो) की पुण्य स्मृति में	6,500

25. श्री अम्बुज जैन, मेरठ	6,500
26. श्री रमेश चन्द जैन, रघुवरपुरा, गांधीनगर	6,500
27 श्री किशन जैन c/o पी.टी.सी. ट्रैक्टर कम्पनी 2766/1 हेमिल्टन रोड़, मोरी गेट, दिल्ली	6,500
28. श्री प्रद्युमन कुमार जैन, c/o मै० मोती राम अनिल कुमार जैन, हांसी, हरियाणा	5,100
29 श्री इलम चन्द जैन, कमल कुज, बडौत	5,100
30 श्रीमती प्रेमवती जैन, 118 बाहुबली एक्लेव, दिल्ली	5,000
31 श्रीमती रेखा जैन, J-118 पटेल नगर, गाजियाबाद	3,315
32 श्रीमती पुष्पा जैन धर्मपत्नी श्री धनपाल सिह जैन, KI-20 कविनगर, गाजियाबाद	3,250
33. श्री लक्ष्मी चन्द जैन, जाम्बियां, अफ्रीका	3,100
34 श्रीमती उषा जैन ध.प., श्री ओम प्रकाश जैन, अधिशासी अभियन्ता, हाईड्रिल आफिसर्स कॉलोनी, मुजफ्फरनगर (उ० प्र०)	2,100
35. श्री महीपाल जैन, B-189 अशोक नगर, गाजियाबाद	2,100
36. श्रीमती चन्द्रमोहनी जैन धर्मपत्नी श्री नेमचन्द जैन, सोनीपत	2,001
37. श्रीमती रेनू जैन धर्मपत्नी श्री प्रद्युम्न कुमार जैन, 156 रणजीतपुरी, शहर मेरठ	2,001
38. श्री डी.के. जैन, सुशीला जैन, KB-156 कविनगर, गाजियाबाद	1,100
39 श्री राजेन्द्र जैन एवं सुधा जैन, K-678 दिलशाद गार्डन, दिल्ली	1,000
40 श्री ज्योति प्रसाद जैन, SA-5 शास्त्री नगर, गाजियाबाद	1,000
41. श्रीमती सुधा जैन ध.प इन्जी, श्री प्रदीपकुमार जैन, 588, तिलक रोड़, मेरठ	1,000
42 श्रीमती रूपवती जैन धर्मपत्नी श्री प्रेमचन्द जैन, छपरौली	501